श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

(बृहद्वृत्ति-लघुन्यास सहित)

द्वितीयो भागः

-: संपादक :-

आचार्यदेव रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि प्रणीतं

श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

[स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति एवं श्री कनकप्रभमनीषी विरचित
न्याससार-समुद्धार (लघुन्यास) सहितम्]

द्वितीयो भागः

-: संपादक :-

दीक्षा युग प्रवर्तक, परमशासन प्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न
बीसवीं सदी के महान्योगी, भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य श्री के
चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर
पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

257

卐 प्रकाशन 卐

दिव्य सन्देश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ.एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

आवृत्ति : द्वितीय • **मूल्य :** 1040/- रुपये • **प्रतियाँ :** 300
विमोचन दिनांक और स्थल : दि. 20-7-2025 • उदयपुर (राजस्थान)

प्रताकार में आद्य संपादक : विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय **उदयसूरीश्वरजी म.सा.**

पुस्तकाकार में प्रथम आवृत्ति संपादक : विद्वद्वर्य **पू.पं. श्री वज्रसेनविजयजी म.सा.** एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.**

पुस्तकाकार में द्वितीय आवृत्ति संपादक : मरुधर रत्न **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 4000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी नि:स्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि
जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 4000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डिंग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलोर-560 004. M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने गुजरात के सम्राट् **सिद्धराज** की हार्दिक विनती का स्वीकार कर **``सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्''** नाम के संस्कृत व्याकरण की रचना की थी ।

इस व्याकरण के ऊपर हेमचन्द्रसूरिजी म. ने 6000 श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति, 18000 श्लोक प्रमाण बृहद्वृत्ति तथा 84000 श्लोक प्रमाण बृहन्न्यास की रचना की थी । वर्तमान में लघुवृत्ति एवं बृहद्वृत्ति तो पूर्ण रुप से उपलब्ध है परन्तु बृहन्न्यास आंशिक रुप से उपलब्ध है । परंतु उसी बृहन्न्यास के आधार पर चांद्रगच्छीय देवेन्द्रसूरिजी म. के शिष्य आचार्य श्री कनकप्रभसूरिजी म. ने लघुन्यास की रचना की थी जो वर्तमान मे पूर्णरुप से विद्यमान है ।

इस बृहद्वृत्ति व लघुन्यास का प्रताकार रुप में प्रथम मुद्रण वि.सं. 1962 में विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय उदयसूरिजी म. ने करवाया था ।

उसके ठीक 80 वर्ष बाद वि.सं. 2042 में पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म. एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.** ने इस ग्रंथ का संपादन किया था ।

आज उस ग्रंथ की प्रतियाँ अप्राप्त हो गई है और वे प्रतियाँ जीर्ण भी हो गई है ।

उन ग्रंथों की वर्तमान स्थिति को देख मरुधररत्न **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के दिल में उन ग्रंथों के पुनः संपादन की भावना जागृति हुई । प्रवचन, लेखन व संघ शासन की अनेकविध जवाबदारियों के बीच भी पूज्यश्री ने इस ग्रंथ का पुनः संपादन कर पूर्व प्रकाशन में रही भूलों का परिमार्जन किया है ।

पूर्व प्रकाशित ग्रंथों में कंपोजिंग पद्धति से Type Setting किया जाता था, अतः कई बार कई अक्षर टूट जाते थें, इस कारण भी मुद्रण में कई अशुद्धियाँ रह जाती थीं ।

इस बार कम्प्यूटर Type Setting कराया गया और टिकाऊ कागजों पर स्वच्छ मुद्रण किया गया है ।

पूर्व में तीन भागों में प्रकाशित इन ग्रंथों को इस बार चार भागों में विभक्त किया है । परम शासन प्रभावक, दीक्षा युग प्रवर्तक **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की 34वीं पुण्यतिथि** असाढ वदी-14, दि. 23-7-2025 के शुभ दिन उन चार भागों का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है ।

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर पाठक गण संस्कृत व्याकरण का सत्य बोध प्राप्त कर सकेंगें ।

तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए संस्कृत भाषा का बोध खूब जरुरी है ।

भाषा बोध के साधनरुप इन ग्रंथों के स्वाध्याय के बल से पूर्वाचार्य विरचित तत्त्वज्ञान के अमूल्य खजाने को प्राप्त कर सकते है ।

बस, सभी आत्माएं संस्कृत भाषा में प्रवीणता प्राप्त कर उसके माध्यम से वीतराग कथित तत्त्वज्ञान का सम्यग्बोध प्राप्त कर अपने जीवन को सफल व सार्थक बनाएं, इसी मंगल कामना के साथ ।

आभार-दर्शन

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी विरचित

''सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासनम्''

(स्वोपज्ञ बृहद्‌वृत्ति एवं साहित्य मनीषी कनकप्रभसूरि विरचित न्याससार समुद्धार-लघुन्यास सहितम्) के द्वितीय भाग के प्रकाशन में

श्री जैन पोसली पार्श्वनाथ श्वे. ट्रस्ट, पोसालिया (राज.) ने

अपने ज्ञानखाते में से अमूल्य सहयोग प्रदान किया है ।

इसके लिए हम उनके आभारी है ।

✤ ✤ ✤ ✤ ✤

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में ज्ञानखाते की रकम का उपयोग हुआ है, अतः कोई भी सद्‌गृहस्थ उसका मूल्य ज्ञानखाते में जमा कराकर उसकी मालिकी रख सकते है ।

–: निवेदक :–

दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई

॥ अर्हम् ॥

संपादक की कलम से...

आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

अनंतज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवंतोंने ज्ञान के पाँच भेद बतलाए हैं–(1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मन: पर्यवज्ञान और (5) केवलज्ञान।

❖ इन पाँच ज्ञानों में मति और श्रुतज्ञान आत्म-परोक्ष हैं और अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष है।

❖ छद्मस्थ आत्मा को इन पाँचों ज्ञानों में से चार ज्ञान संभव / शक्य हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति एकमात्र वीतराग आत्मा को ही होती है।

❖ इन पाँच ज्ञानों में से प्रथम चार ज्ञान का विषय मर्यादित / सीमित है, जबकि केवलज्ञान का विषय अनंत है। केवलज्ञान के द्वारा आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों के समस्त पर्यायों को साक्षात् जान सकती है।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, शेष चार ज्ञान मूक हैं।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में परोपकार में समर्थ एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** ही है शेष चार ज्ञान स्वोपकार प्रधान है।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में से एकमात्र श्रुतज्ञान का ही आदान-प्रदान हो सकता है, शेष चार ज्ञानों का नहीं।

जैनशासन का लोकोत्तर-व्यवहार मार्ग 'श्रुतज्ञान' के ऊपर ही अवलंबित है और इस व्यवहार का पालन तीर्थंकर परमात्मा और अन्य केवली भगवंत भी करते हैं।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी समवसरण में बैठकर देशना के प्रारम्भ में **'नमो तित्थस्स'** कहकर द्वादशांगी रूप **'श्रुतज्ञान'** को नमस्कार करते हैं।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी केवलज्ञान द्वारा दृष्ट जगत् के भावों का निरूपण **'द्रव्य-श्रुत'** के माध्यम से ही करते है। इसीलिए प्रभु की वाणी **'सम्यग्श्रुत'** स्वरूप है।

❖ जैनागमों में **'नमो बंभीलिवीए'** कहकर श्रुत की जननी-स्वरूप ब्राह्मी-लिपि को भी नमस्कार किया गया है।

❖ 'श्रुत' के सम्यग् बोध के लिए और द्वितीय महाव्रत के पालन / रक्षण व संवर्धन के लिए व्याकरण का सम्यग्बोध अत्यंत ही जरूरी है।

'प्रश्नव्याकरण' रूप दसवें अंग में कहा गया है–

अह केरिसयं पुणाइ सच्चं भासिअव्वं ?
जं तं दव्वेहिं पज्जवेहिं य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं

सिप्पेहिं आगमेहिं य नामक्खायनिवायउवसग्ग-तद्धिअ-समास-संधि-पदहेतु-जोगिय-उणाइ-किरिआविहाण-धातु-सर-विभत्ति-वण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहं सच्चं....वत्तव्वं । (सूत्र 24)

अर्थ :– हे भगवंत ! किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिये ?

(भगवान–) जो द्रव्य, पर्याय, गुण, कर्म, बहुविधशिल्प तथा आगम से युक्त हो और नाम, आख्यात, उपसर्ग, तद्धित, समास, संधि, पदहेतु, योगिक, उणादि, क्रिया-विधान, धातु-स्वर, विभक्ति और वर्ण से युक्त हो, वैसा त्रिकालविषयक दसविध सत्य बोलना चाहिये ।

इस आगम-प्रमाण से स्पष्ट है कि मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु आत्मा को श्रुत के सम्यग् बोध के लिए व्याकरण-शास्त्र का अवश्य अभ्यास करना चाहिये ।

महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म. ने **'हैमलघुप्रक्रिया'** के मंगलाचरण में **'श्री हैमव्याकरण'** को भी नमस्कार किया है और उन्होंने युक्ति-प्रयुक्ति के द्वारा उसकी नमस्करणीयता को सिद्ध किया है ।

'श्रीहैमव्याकरण' सम्यग्दृष्टि द्वारा प्रणीत होने से श्रुतज्ञान रूप है और सकल शास्त्रों की व्युत्पत्ति बोध में हेतु रूप होने से लोक में भी महान् उपकारी है, अतः उसको नमस्कार समुचित ही है और यह व्याकरण सरस्वती रूप होने से व्याकरण को नमस्कार करने से सरस्वती को भी नमस्कार हो जाता है ।

व्याकरण की महिमा का गान करते हुए किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है–

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां, शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोधः शब्दानां, नास्ति व्याकरणं विना ।।

अर्थ :– विषयक प्रवृत्ति के रहस्य में शब्द ही कारण हैं और शब्दों का वास्तविक बोध व्याकरण के बिना संभव नहीं है ।

व्याकरण के सम्यग् बोध के अभाव में वाणी के विचित्र (उपहास्य) प्रयोगों पर कटाक्ष करते हुए किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

नाङ्गीकृतं व्याकरणौषधानां, अपाटवं वाचि सुगूढमास्ते ।
कस्मिंश्चिदुक्ते तु पदे कथंचित् स्वैरं वपुः स्विद्यति वेपते च ।।

भावार्थ :– 'जिन व्यक्तियों ने व्याकरण रूप औषध का सेवन नहीं किया है, उनकी वाणी में अत्यंत अपटुता होती है और इस कारण जब वे किसी व्याकरणविद् के मुख से कोई पद / वाक्य सुनते हैं...तो उस वाक्य के अनवबोध के कारण उनके देह में पसीना छूटने लगता है और उनकी देह काँपने लगती है ।'

अस्तु ! विद्वज्जन के आगे व्याकरण की महिमा का गान, यह तो माता के सामने, मामा के घर के वर्णन समान ही है, क्योंकि विद्वज्जन व्याकरण के माहात्म्य से सुपरिचित ही होते हैं ।

प्रस्तुत **'श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के ग्रन्थकर्ता कलिकालसर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** के पुण्यनाम से भला कौन अपरिचित होगा ? वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी

थे । गुर्जरसम्राट् सिद्धराज और परमार्हत् कुमारपाल को प्रतिबोध कर, उन्होंने जिनशासन की अद्‌भुत प्रभावना की हैं । उनके विराट् व्यक्तित्व का परिचय वाणी से अगोचर है, फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनके विराट् व्यक्तित्व को आंशिक रूप से शब्द-देह देने का प्रयास किया है ।

'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्' के तृतीय भाग में मैंने ग्रंथकार का संक्षिप्त जीवन-परिचय देने का अल्प प्रयास किया है, परन्तु वह परिचय तो बालक द्वारा अपने हाथ पसार कर उदधि / सागर का माप बतलाने तुल्य ही है ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य भगवंत के विराट् व्यक्तित्व का परिचय देने वाली तत्कालीन विद्वानों की अनेक काव्य-पंक्तियाँ इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर अंकित हैं, उनमें से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्‌धृत की जा रही है—

विराट् आत्मा का विराट् व्यक्तित्व और अद्‌भुत कृतित्व

(1) सम्यग्ज्ञाननिधेर्गुणैरनवधेः श्रीहेमचन्द्रप्रभोः ।
ग्रंथे व्याकृतिकौशलं, वसति तत् क्वास्मादृशां तादृशं ॥

अर्थ :— सम्यग्ज्ञान के निधि और गुणों से अवधि रहित श्री हेमचन्द्रप्रभु के ग्रन्थ में जो व्याकृति (व्याकरण-शब्दविज्ञान) का कौशल है, वैसा कौशल हमारे जैसे में कहाँ से हो ?

—श्री महेन्द्रसूरि कृत अनेकार्थ-कैरव कौमुदी

(2) विद्याम्भोनिधिमंथमंदरगिरिः श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ।

— श्री देवचन्द्रसूरि कृत चन्द्रलेखा नाटक

अर्थ :— विद्या रूपी समुद्र को मथने के लिए श्री हेमचन्द्र गुरु मंदरगिरि के समान हैं ।

(3) क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं, छन्दो नवं द्व्याश्रया-
ऽलंकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितौ श्री योगशास्त्रं नवं ।
तर्कः संजनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना, मोहः कृतो दूरतः ॥

अर्थ :— नवीन व्याकरण, नवीन छन्दोनुशासन, नवीन द्व्याश्रयमहाकाव्य, अलंकार शास्त्र, योग-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र तथा जिनेश्वर देवों के चरित्रों की रचना करके (श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने) किस-किस प्रकार से अपना मोह दूर नहीं किया है ? अर्थात् अनेक प्रकार से दूर किया है ।

— श्री सोमप्रभसूरिकृत शतार्थकाव्य-टीका श्लोक 93

(4) निःसीमप्रतिभैकजीवितधरौ, निःशेषभूमिस्पृशां,
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू, स्वांगैकरूपौ दधत् ।
यः स्याद्‌वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे,
सद्‌बुद्‌ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये, श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥1॥

ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थ-सेवामिषतः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां, पदं कलानामुचितं भवन्ति ।।

—श्री मल्लिषेणसूरिकृत स्याद्‌वादमंजरी

अर्थ :— समस्त पृथ्वीवासियों की पुण्यराशि को इकट्ठी करके असीम प्रतिभा से एक जीवित धारण करने वाली सरस्वती और बृहस्पति को जिन्होंने अपने शरीर में एक रूप करके धारण किया है और अपने देह के दृष्टांत से जिन्होंने स्याद्वाद को सिद्ध किया है, ऐसे चन्द्रतुल्य श्री हेमप्रभु मेरी सद्‌बुद्धिरूपी सागर के प्रबोध (विकास) के लिए चन्द्र समान हो ।

जो इस ग्रन्थ के अर्थ की सेवा के बहाने से श्री हेमचन्द्रमुनि का आश्रय लेते हैं, वे गौरव प्राप्तकर उज्ज्वल कलाओं के उचित स्थान रूप बनते है ।

(5) जयसिंहदेववयणाउ, निम्मियं सिद्धहेमवागरणं ।
नीसेससद्दलक्खणनिहाणमिभिणा मुणिंदेण ।।

अर्थ :— जयसिंह (सिद्धराज) राजा के वचन से इस मुनीन्द्र के द्वारा समस्त शब्द लक्षण के निधान स्वरूप सिद्धहैम व्याकरण रचा गया ।

(6) किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम् ।
एकेनापि हि येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम् ।।

अर्थ :— शब्द-समुद्र रूप हेमचन्द्रमुनि की बुद्धि की क्या स्तुति करें (कैसे स्तुति करें ?) ? क्योंकि जिन्होंने अकेले ही ऐसे (महान्) शब्दानुशासन की रचना की है ।

(7) शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्म-विधायिनां ।
श्रीहेमचन्द्रपादानां, प्रसादाय नमो नमः ।।

अर्थ :— शब्द, प्रमाण, साहित्य, छंद और व्याकरण के विधायक, श्री हेमचन्द्र भगवंत के प्रसाद गुण को बारबार नमस्कार हो ।

— श्री रामचन्द्रसूरि तथा श्री गुणचन्द्रसूरि कृत नाट्यदर्पण

(8) तुलीय-तवणिज्ज-कती-सयवत्त-सवत्त-नयण-रमणिज्जा ।
पल्लविय-लोयलोयण-हरिसप्पसरा सरीर-सिरी ।।1।।
आबालत्तणओ बिहु चारित्तं जणिय-जण-चमक्कारं ।
बावीस-परिसहसहण-दुद्धरं तिव्व-तव पवरं ।।2।।
मुणिय-विसमत्थसत्था-निमियवायरण-पमुह-गंथगणा ।
परवाइ पराजय-जायकित्तीमई जयपसिद्धा ।।3।।
धम्म पडिवत्तिजणणं, अतुच्छ-मिच्छत्त मुच्छिआणं पि ।
महु-खीरपमुह-महुरत्त-निम्मियं धम्मवागरणं ।।4।।
इच्चाइ गुणोहं हेमसूरिणो, पेच्छिऊण छेयजणो ।
सद्‌दवहइ अदिट्ठे वि हु तित्थंकर-गणहरप्पमुहे ।।5।।

अर्थ :– शतपत्र अर्थात् कमल समान नयन से रमणीय और लोगों के नयनों में हर्ष के प्रसार को पल्लवित करने वाली जिनकी शारीरिक संपदा तपनीय अर्थात् सुवर्ण की कांति के समान थी ।।1।।

बाल्यकाल से ही जिनका चारित्र लोगों में चमत्कार पैदा करने वाला और बावीस परीषहों को सहन करने से दुर्जय और तीव्र तप के कारण उत्तम था ।।2।।

विषमार्थ शास्त्र के बोध वाली, व्याकरणादि ग्रंथों को रचने वाली और परवादी का पराजय कर कीर्ति प्राप्त करने वाली जिनकी बुद्धि थी ।।3।।

मिथ्यात्व से मूर्च्छित बने हुओं को भी धर्मबोध देने वाला जिनका धर्मकथन अतुच्छ और मधु-क्षीर प्रमुख माधुर्य वाला था–इत्यादि गुणों वाले हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत को देखकर, चतुर-निपुणजन अदृष्ट तीर्थंकर और गणधर भगवंतों पर भी श्रद्धा करते हैं ।।4-5।।

–श्री सोमप्रभसूरि कृत प्रबंध

(9) **सप्तर्षयोऽपि सततं गगने चरन्तो, रक्षुं क्षमा न मृगीं मृगयोः सकाशात् ।**
जीयाच्चिरं कलियुगे प्रभुहेमसूरि-रेकेन येन भुवि जीववधो निषिद्धः ।।

–विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह

अर्थ :– आकाश में सतत घूमने वाले सप्तर्षि भी शिकारी के पास से हरिणी का रक्षण करने में समर्थ न बन सके, जबकि कलियुग में प्रभु हेमचन्द्राचार्यजी ने अकेले ही पृथ्वी पर जीववध का निषेध करा दिया, ऐसे हेमचन्द्र प्रभु दीर्घकाल तक जय पाए ।

(10) **गुरुर्गुर्जरराजस्य, चातुर्विद्यैकसृष्टिकृत् ।**
त्रिषष्टिनरसद्वृत्तकविर्वाचां न गोचरः ।।

–श्री मुनिरत्नसूरि कृत अममचरित्र

अर्थ :– गुर्जर सम्राट् के गुरु, चार प्रकार की विद्याओं का सर्जन करने में विशिष्ट और त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के पवित्र चरित्र को लिखने में कवि ऐसे **श्री हेमचन्द्राचार्यजी** वाणी से अगोचर हैं अर्थात् इस वाणी द्वारा उनकी स्तुति शक्य नहीं है ।

(11) **वैदुष्यं विगताश्रयं श्रितवति श्रीहेमचन्द्रे दिवम् ।**

–राजकवि सोमेश्वरदेवरचित सुरथोत्सव

अर्थ :– श्री हेमचन्द्र प्रभु के स्वर्ग-गमन पर विद्वत्ता आश्रयरहित हो गई ।

प्रचंड प्रतिभा के स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** भगवंत की दैविक-प्रतिभा के दर्शन हमें उनकी कृतियों में मिलते हैं । प्राचीन-अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनकी काव्य-कृतियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।

संस्कृतभाषा-बोध के लिए आज तक अनेक व्याकरण-ग्रन्थ रचे गए हैं, उन ग्रन्थों में इस व्याकरण-ग्रन्थ की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, जो अध्यापक व पाठकगण स्वयं ही समझ सकते हैं ।

`सिद्धहेम' के अध्ययन-अध्यापन में उपयोगी कतिपय प्राचीन-अर्वाचीन ग्रंथों की यहाँ सूची दी जा रही है–

1. क्रियारत्न-समुच्चय–**आ. गुणरत्नसूरि कृत** (सं. 1466)
2. स्यादि-समुच्चय-**आ. अमरचन्द्रसूरि कृत**
3. हैमविभ्रम-सटीक–**आ. गुणचन्द्रसूरि कृत**
4. हैमविभ्रम-सवृत्तिक–**आ. जिनप्रभसूरि कृत**
5. लिंगानुशासनवृत्ति–**आ. जयानंदसूरि कृत**
6. लिंगानुशासनदुर्गपदप्रबोधवृत्ति–**श्री वल्लभगणि कृत**
7. हैम-कविकल्पद्रुम–**पं. हर्षकुलगणि कृत**
8. स्यादिशब्ददीपिका–**आ. जयानंदसूरि कृत**
9. प्राकृतशब्द समुच्चय–**आ. अमरचंद्रसूरि कृत**
10. द्व्याश्रय-काव्यवृत्ति (संस्कृत)–**उपा. अभयतिलकगणि कृत**
11. द्व्याश्रयवृत्ति-प्राकृत–**पं. पूर्णकलश गणि कृत**
12. न्यायसंग्रह-न्यायार्थ मंजूषा न्यास–**हेमहंस गणि कृत**
13. अभिधान-चिंतामणि निर्णीति–**महो. भानुचन्द्र गणि कृत**
14. अभिधान-चिंतामणि-सारोद्धारवृत्ति–**श्री वल्लभ गणि कृत**
15. हैमीनाममाला–**आ. जिनदेवसूरि कृत**

सिद्धहेम पर से अवतरित व्याकरण–

1. सिद्ध सारस्वत–**आ. देवानंदसूरि कृत (सं. 1334)**
2. हैमलघुप्रक्रिया–**महो. विनयविजय गणि कृत (सं. 1712)**
3. हेमप्रक्रिया प्रकाश–**महो. विनयविजय गणि कृत**
4. चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी)–**महोपाध्याय मेघविजय गणि कृत (सं. 1758)**
5. हेमशब्दचन्द्रिका–**महो. मेघविजय गणि**
6. हैमप्रक्रिया–**वीरसी कृत**
7. बृहद् हेमप्रभा–**आ. विजयनेमिसूरि कृत**
8. सिद्ध प्रभा–**आ. सागरानंदसूरि कृत**
9. हेमबृहत् प्रक्रिया–**पं. गिरिजाशंकर शास्त्रीकृत**
10. हेमसंस्कृतप्रवेशिका (गुजराती)–**पं. शिवलाल कृत**

न्याय सारसमुद्धार (लघुन्यास) के कर्त्ता का संक्षिप्त परिचय–

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत विरचित **'श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के बृहन्न्यास में से पू. आचार्य श्री कनकप्रभसूरीश्वरजी म.सा. का परिचय देना भी अत्यंत अनिवार्य है। प्राचीन इतिहास के ग्रंथों के अवलोकन के बाद भी उनके जीवन संबंधी विशेष

जानकारी तो नहीं मिल पाई है, फिर भी न्याससार समुद्धार के अन्त में प्रशस्ति काव्यों के द्वारा उनकी विद्वत्ता का हमें अवश्य बोध होता है ।

प्रशस्तिकाव्य–

आसीद् वादिद्विरदपृतनापाटने पञ्चवक्त्र,
श्चान्द्रेगच्छेऽच्छतरधिषणो धर्म्मसूरिर्मुनीन्द्रः ।
पट्टे तस्याजनि जनमनोऽनोकहानन्दकन्दः,
सूरि सम्यग्गुणगणनिधिः ख्यातिभाग् रत्नसिंह ।।1।।
यस्योपरागसीमाया-मुदयः परभागभाग् ।
देवेन्द्रसूरिस्तत्पट्टे जज्ञे नव्य नभोमणिः ।।2।।
भूपालमौलिमाणिक्य-मालालालितशासनः ।
दर्शनषट्कनिस्तन्द्रो, हेमचन्द्रो मुनीश्वरः ।।3।।
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति, शिष्यःसंख्यावतां वरः ।
यावज्जीवमभूद्यस्य, व्याख्याज्ञानामृतप्रपा ।।4।।
तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरिशिष्यलवो व्यधात् ।
न्याससारसमुद्धारं, समनीषी कनकप्रभः ।।5।।

अर्थ :– चान्द्रगच्छ में वादी रूपी हाथियों की सेनाओं को फाड़ने में सिंह समान अत्यंत बुद्धि निधान आचार्य धर्मसूरि थे ।

जन-मन रूपी वृक्ष के आनंद रूपी कंद वाले सम्यग् गुण गण के महासागर और अत्यंत प्रसिद्ध रत्नसिंहसूरि उनके पट्टधर थे ।

``उपराग अर्थात् विपक्षाक्रमण की पराकाष्ठा में जिनका उदय गुणोत्कर्ष को भज रहा था, ऐसे नवीन सूर्य समान देवेन्द्रसूरिजी म. उनके पट्ट पर पैदा हुए । नवीनता का कारण यह है कि राहु ग्रहण की पराकाष्ठा में सूर्य तेजस्विताहीन उदित होता है, जबकि देवेन्द्रसूरिजी म. परवादियों के आक्रमण में अधिक दीप्तिमान हो रहे थे ।

माणिक्य की श्रेणी से सुशोभित मुकुट वाले राजा भी जिनकी आज्ञा का स्वीकार करते थे, ऐसे षड्दर्शन के ज्ञाता श्री हेमचन्द्रसूरिजी हुए ।

उनके अनेक शिष्यों में उदयचन्द्र नाम के शिष्य है, जो सदैव जीवन-पर्यन्त व्याख्या ज्ञान रूपी अमृत की प्रपा (प्याऊ) थे ।

उनके उपदेश से देवेन्द्रसूरि के शिष्य मनीषी कनकप्रभ ने न्याससारसमुद्धार की रचना की ।''

उपर्युक्त प्रशस्ति-काव्यों से स्पष्ट होता है कि **श्री हेमचन्द्रसूरिजी आचार्य भगवंत** के शिष्य पंडित उदयचन्द्र गणि की सत्प्रेरणा से **आचार्य देवेन्द्रसूरिजी** के शिष्य मनीषी पू. कनकप्रभमुनि ने **'न्याससारसमुद्धार'** की रचना की है ।

पू. कनकप्रभमनीषी चान्द्रगच्छ के अन्तर्गत राजगच्छ में हुए हैं ।

चान्द्रगच्छ में आचार्य धर्मघोषसूरि नाम के एक महान् प्रभावक आचार्य हुए है, जिनका दूसरा नाम 'धर्मसूरि' था । वे व्याकरण के पारगामी, न्याय-शास्त्र में निष्णात, सूत्र-अर्थ के समर्थ व्याख्याता और अपूर्व बुद्धिशाली थे । वे महावादी थे । अंबिका देवी के कृपा-पात्र थे ।

नागौर के राजा आल्हण, शाकंभरी के राजा अजयराज, अर्णोराज तथा विग्रहराज को उन्होंने प्रतिबोध किया था । उनके उपदेश से प्रभावित होकर विग्रहराज ने जैनधर्म स्वीकार किया था, और उसने अपने राज्य में पर्व-दिनों में अमारि पालन करवाया था ।

पू. आचार्य धर्मघोषसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. रत्नसिंहसूरिजी म. थे । वे भी अत्यंत प्रभावक और प्रतिभा संपन्न थे । उन्होंने भी अपने जीवन में अनेक ग्रन्थों की रचना की है ।

पू.आ. श्री रत्नसिंहसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. श्री देवेन्द्रसूरि हुए और उनके शिष्य पं. कनकप्रभ महर्षि थे । वे भी प्रतिभावंत और जिनशासन के अनुरागी थे ।

`जैन धर्म के रहस्य को समझना हो तो उसके लिए संस्कृत-प्राकृत भाषा का ज्ञान खूब जरुरी है, क्योंकि सभी आगम ग्रंथ प्राकृत भाषा में है और उन आगमों के रहस्य को जानना हो तो आगमों पर विवेचित टीकाएँ एवं अन्य पूर्वाचार्य विरचित ग्रंथों का अभ्यास जरुरी है और वे सभी ग्रंथ एवं टीकाएँ संस्कृत भाषा में है ।

☙ संस्कृत भाषा को समझने के लिए व्याकरण का बोध जरुरी है ।

☙ संस्कृत भाषा के सामान्य साहित्यबोध के लिए संस्कृत की दो बुक का अभ्यास पर्याप्त हैं, परंतु शब्दों के गहन रहस्य तक पहुंचना हो तो संस्कृत व्याकरण का बोध खूब जरुरी है ।

☙ प्रांतीय भाषाओं का स्वरुप समय समय पर बदलता रहता है ।

☙ 350 वर्ष पूर्व हो चूके महोपाध्याय यशोविजयजी म. के गुजराती टबा आदि की भाषा और वर्तमान की गुजराती भाषा में बहुत बडा अंतर है ।

परंतु संस्कृत भाषा का साहित्य, चिरंजीवी है । सैकडों हजारों वर्षों के बाद भी उस भाषा में परिवर्तन को अवकाश नहीं है ।

☙ आगम एवं पूर्वाचार्य विरचित संस्कृत साहित्य को समझने के लिए व्याकरण के बोध की उतनी ही आवश्यकता है ।

प्रस्तुत संपादन

वि.सं. 2033 में मेरी भागवती दीक्षा के बाद मेरे निरंतर चार चातुर्मास पाटण (उ.गु.) में हुए थे । पूज्यपाद गुरुदेव अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की आज्ञा एवं मेरे आत्महितैषी **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** के मार्गदर्शनानुसार मैंने

पंडितवर्य शिवलालभाई के पास **'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** संस्कृत व्याकरण का अभ्यास किया था। वि.सं. 2035 में लघुवृत्ति के साथ बृहद्वृत्ति का भी अध्ययस चल रहा था।

उस समय बृहद्वृत्ति के ऊपर बृहन्न्यास एवं लघुन्यास का भी निरीक्षण किया था।

उस समय **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** ने मुझे न्याससार समुद्धार-लघुन्यास के संपादन के लिए प्रेरित किया था।

बृहद्वृत्ति व लघुन्यास की प्रतियाँ जीर्णशीर्ण अवस्था में थी।

वि.सं. 2040 के रतलाम चातुर्मास दरम्यान मैंने उस ग्रंथ की पाण्डुलिपी—Press Copy तैयार की थी, जिसका तीन भागों में प्रकाशन वि.सं. 2042 दीपावली पर्व के शुभदिन दानसूरिज्ञान मंदिर-कालूपूर रोड अहमदाबाद में सौजन्यमूर्ति पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा. की शुभ निश्रा में भव्य समारोह के साथ हुआ था।

आज इस बात को 39 वर्ष बीत गए है। उन पुस्तकों की प्रतियाँ भी अप्राप्य हो गई है। उपलब्ध पुस्तके भी जीर्ण अवस्था में है।

उन पुस्तकों की जीर्ण अवस्था को देखकर उनके पुनरुद्धार की भावना पैदा हुई।

पुस्तक की मोटाइ Thickness को ध्यान में रखते हुए उन्हें चार भागों में एक साथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया।

वि.सं. 2080 के पोसालिया (राज.) के चातुर्मास दरम्यान इस महाकाय ग्रंथ के पुनः संपादन का कार्य प्रारंभ किया गया।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री की अदृश्य कृपा के फलस्वरुप 10 मास की अवधि में इन चारो भागों का संपादन कार्य पूर्ण हुआ।

यद्यपि प्रुफ रीडिंग आदि में पूर्ण सावधानी बर्ती गई है, फिर भी मतिमंदता आदि के कारण कहीं भी त्रूटियां रह गई हो तो उसके लिए **त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम्।**

श्री नागेश्वर पार्श्वनाथ जैन तीर्थ
भद्रंकर नगर-लुणावा (राज.)
चैत्र वदी 10, वि.सं. 2081
दि. 23-4-2025 बुधवार

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास
प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी
रत्नसेनसूरि

TABLE OF CONTENTS

अनुक्रमणिका

तृतीयोऽध्यायः

1. प्रथमः पादः 401

2. द्वितीयः पादः 519

3. तृतीयः पादः 586

4. चतुर्थः पादः 632

चतुर्थोऽध्यायः

5. प्रथमः पादः 675

6. द्वितीयः पादः 714

अर्हम्
।। अनंतलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ।।
।। पूज्यपादाचार्यदेवश्रीमद् दान-प्रेम-रामचन्द्र-भद्रङ्करसद्गुरुभ्यो नमः ।।

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीतं

।। श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ।।

[स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकाभिधबृहद्वृत्ति-मनीषिकनकप्रभसूरि-विरचितन्यासससारसमुद्धार (लघुन्यास) संवलितम्]

तृतीयोऽध्यायः

अथ प्रथमः पादः

धातोः पूजार्थस्वति–गतार्थाधिपर्यतिक्र-मार्थातिवर्जः प्रादिरुपसर्गः प्राक्–च ।। 3. 1. 1. ।।

धातोः संबन्धी तदर्थद्योती चाद्यन्तर्गतः प्रादिः शब्दगण उपसर्गसंज्ञो भवति, तस्माच्च धातोः प्राक् प्रयुज्यते न परो न व्यवहितः पूजार्थौ स्वती गतार्थावधिपरी अतिक्रमार्थमतिं च वर्जयित्वा। प्रणयति, परिणयति, अभिषिश्चति, निषिश्चति, प्रलम्भः उपलम्भः। एषूपसर्गसंज्ञायां णत्वषत्वनागमाः सिद्धाः। धातोरिति किम् ? वृक्षंवृक्षमभिसिश्चति। प्रगता नायका यस्मात्स प्रनायको देशः इत्यत्र तु सत्यपि धातुसंबन्धे येनैव धातुना संबद्धाः प्रादयस्तं प्रत्येवोपसर्गसंज्ञा इति गमिसंबन्धेऽपि नयतिं प्रत्यनुपसर्गत्वात् णत्वं न भवति। एवं प्रर्छको देश इत्यत्रारादेशो न भवति।

पूजार्थस्वत्यादिवर्जनं किम् ? पूजार्थौ स्वती-सुसिक्तम् भवता, सुस्तुतं भवता, अतिसिक्तं भवता-अतिस्तुतं भवता, धात्वर्थः प्रशस्यते,-अत्रोपसर्गसंज्ञाया अभावात् षत्वं न भवति। पूजाग्रहणं किम् ?–सुषिक्तं नाम किं तवात्र ? धात्वर्थोऽत्र कुत्स्यते। गतार्थावधिपरीअध्यागच्छत्यागत्यधि, पर्यागच्छति आगच्छति परि। उपरिभावः सर्वतोभावश्चान्यतः प्रकरणादेः प्रतीयत इति गतार्थत्वम्, अत्र प्राक्त्वनियमाभावः। अध्यागमनं प्रयोजनमस्याध्यागमनिकः, पर्यागमनिकः–अत्र 'प्रयोजनम्'

(6. 4. 117.) इतीकणि अधिपरिशब्दयोरादेरकारस्य वृद्धिर्न भवति। उपसर्गत्वाभावेन गतिसंज्ञाया अभावे समासाभावेन पृथक्पदत्वात्। पर्यानीतम्अत्रानुपसर्गत्वाण्णो न भवति। गतार्थग्रहणं किम् ? –अध्यागच्छति, पर्यागच्छति-अत्रोपरिभावस्य सर्वतोभावस्य च प्रकरणादेरप्रतीतस्य द्योतने उपसर्गसंज्ञास्त्येवेति प्राक्त्वनियमः। अतिक्रमार्थोऽतिः–यदर्थं क्रिया तस्मिन् निष्पन्ने क्रियाप्रवृत्ति-रतिक्रमः-अतिसिक्तं भवता, अतिस्तुतम् भवता,–अतिक्रमेण सेकः स्तुतिश्च कृतेत्यर्थः,–अत्र षत्वं न भवति। अतिसिक्त्वा, अतिस्तुत्वा,–अत्र समासाभावाद्यबादेशो न भवति। अतिक्रमग्रहणं किम् ? अतिशय्य। प्रादिग्रहणं किम् ? –पुनर्नमति, साधु सिञ्चति।

``धात्वर्थं बाधते कश्चित्, कश्चित्तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्योऽनर्थकोऽन्यः प्रयुज्यते'' ॥1॥

बाधते यथा-प्रतिष्ठते, प्रस्मरति, प्रवसति, प्रलीयते, प्रतीक्षते, प्रतिपालयति, तमनुवर्तते यथा-अधीते, अध्येति, आचामति, आचष्टे, अनुरुध्यते, प्रलोकयति, तमेव विशिनष्टि यथा-प्रपचति, प्रकरोति, प्राणिति, प्राश्नाति, निरीक्षते, निष्टपति, अनर्थको यथा-प्रलम्बते, प्रार्थयते, विजयते, विजानाति, निमीलति, निखञ्जति, निरजति, एषां चाऽऽपश्चभ्यः प्रायेण प्रयोगो भवति,–आहरति, व्याहरति, अभिव्याहरति, समभिव्याहरति, प्रसमभिव्याहरतीति।

अथ किं धातुः पूर्वं क्रियाविशेषकेणोपसर्गेण युज्यते उत साधनाभिधायिना प्रत्ययेनेति ? साधनेनेति केचित्। साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति तामुपसर्गो विशिनष्टि, अभिनिर्वृत्तस्य चोपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुं नानभिनिर्वृत्तस्य, तदयुक्तम्, यो हि धातूपसर्गयो रभिसंबन्धस्तमभ्यन्तरीकृत्य धातुः साधनेन युज्यते। यस्माद्विशिष्टैव क्रिया साधनेन साध्यते, न तु साधनाल्लब्धस्वरूपान्यतो विशेषं लभते, तस्मात्पूर्वमुपसर्गेणेति युक्तम्। तथा च समस्करोत्संचस्कारेत्यत्रान्तरङ्गत्वात् स्सटि कृते प्रत्ययनिमित्ते अडागमद्विर्वचने भवतः, अतश्चै वम्। पूर्वं हि धातोः साधनेन संबन्धे आस्यते गुरुणेत्यकर्मकः, उपास्यते गुरुरिति सकर्मको धातुः केन स्यात्? ? न चैतद्वाच्यम् प्रत्ययसंबन्ध-मन्तरेण क्रियाविशेषस्यानभिव्यक्तेर्न धातोः पूर्वमुपसर्गेण संबन्धो युज्यते। यतः

``बीजकालेषु संबद्धा, यथा लाक्षारसादयः।
वर्णादिपरिणामेन, फलानामुपकुर्वते ॥1॥''
``बुद्धिस्थादभिसंबन्धात्तथा धातूपसर्गयोः।
अभ्यन्तरीकृतो भेदः, पदकाले प्रकाश्यते ॥2॥''

यद्येवमुपेत्याधीत्येत्यादावन्तरङ्गत्वादेत्वदीर्घत्वयोः कृतयोर्ह्रस्वाभावात्तोऽन्तो न प्राप्नोति, सत्यम्; ❆ `असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ❆ इति भविष्यति। प्रेजुः प्रोपुः इत्यत्र तु यज्वपोर्वृति द्वित्वे च सति अन्तरङ्गत्वात्समानदीर्घत्वे पश्चादेदोतौ। यद्वा पूर्वमेदोतौ ततोऽयवादेशे

'व्यञ्जनस्यानादेर्लुक्' (4. 1. 44.) इति लुकि पुनरेदोतौ । ननु कर्तुं प्रकर्षेणेच्छति प्रचिकीर्षति इत्यादौ धात्वन्तरसंबद्धस्योपसर्गस्य तदर्थप्रतिपादकप्रत्ययादेव प्राक्प्रयोगः प्राप्नोति, नैवम्, तस्याधातुत्वात्, समुदायस्यैव धातुत्वात् । एवं मनः—शब्दात् सुभवतौ, दुर्भवतौ, अभिभवतौ, क्यङ्प्रत्यये सुमनायते, दुर्मनायते, अभिमनायते, हस्तिनातिक्रामति-अतिहस्तयति, सेनया अभियाति; अभिषेणयतीत्यादावपि द्रष्टव्यम् ।

धातोरिति प्राक्चेति चाधिकारो गतिसंज्ञां यावत् । प्र परा अप सम् अनु अव निस् दुस् निर् दुर् वि आङ् नि अधि प्रति परि उप अति अपि सु उत् अभि इति प्रादिः ।।1।।

न्या०स०—धातोः पूजार्थ० । अनेकार्थत्वाद्धातूनां कुत्रापि श्रूयमाणार्थबाधयाऽर्थान्तरं द्योतयति, कुत्रापि श्रूयमाणमेवेत्युक्तं—*तदर्थद्योतीति* । प्राक्शब्दस्याऽव्यवहिते वर्त्तनादाह-न पर इति । *धात्वर्थः प्रशस्यते* इति-शोभनत्वोद्भावनेन सिचिस्तौत्योरर्थस्य कर्तुः पूजा प्रतीयत इत्यर्थः । *गतार्थावऽधिपरी* इति गतो ज्ञातोऽर्थोऽभिधेयं ययोस्तौ गतार्थौ, योऽर्थोऽनयोर्द्योत्यस्तस्य प्रकरणादिवशादऽवगमे निष्प्रयोजनावेतावुच्येते इत्ति गतार्थत्वं, यद्येवं प्रकरणादिनोक्तत्वात्तदर्थस्य तयोः प्रयोगाऽयोगः ? उच्यते, प्रकरणादिवशादऽवगतार्थानामऽपि स्फुटतरार्थाऽवगत्यर्थः प्रयोगो लोके भवति । यथा-अपूपौ द्वौ ब्राह्मणो द्वावानयेत्यपूपावित्यादौ द्विवचनादवगतेऽपि द्वित्वे द्विशब्दस्य प्रयोग इति । *समासाभावादिति* । गतिसंज्ञाया अभावात् 'गतिक्वन्य०' (3. 1. 42.) इत्यनेन । 'अतिरतिक्रमे च' (3. 1. 45.) इत्यपि बाहुलकान्न । *वृक्षंवृक्षमऽभिसिञ्चतीति*-वीप्स्यार्थेनाऽभिना योगात् 'लक्षणवीप्स्य०' (2. 2. 36.) इति द्वितीया । *धात्वर्थं बाधत* इति, प्रादेरव्ययत्वादनेकार्थतां दर्शयति, धातुपाठे योऽर्थस्तदपेक्षया धात्वर्थं बाधते इत्युक्तं, अन्यथाऽनेकार्थत्वाद् धातूनामयमर्थो न स्यात् । *अतिशय्येति*-जित्वा इत्यर्थः ।

प्रतिष्ठते इत्यादि-अत्र तिष्टत्यादयश्चत्वारो गतिनिवृत्त्यादिलक्षणं प्रसिद्धमर्थं परित्यज्य तत्प्रतिपक्षभूते प्रस्थानविस्मरणप्रवासप्रलयलक्षणे वर्त्तन्ते, तदुत्तरौ त्वर्थान्तरमात्रे पालने इति । *आचामतीति* इदं मतान्तरेणोक्तं, स्वमते तु बाधा धात्वर्थस्य । *अभ्यन्तरीकृत्येति*-बुद्धिस्थीकृत्येत्यर्थः । *यस्माद्विशिष्टैव क्रियेति* । क्रियायाः क्षणिकत्वात्, सामान्यक्रियाया उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादुपसर्गयोगे न स्याद् विशिष्टत्वमित्यर्थः ।

अन्तरङ्गत्वादेत्वदीर्घत्वयोरिति-संपन्नकारणत्वादेत्वदीर्घत्वयोरन्तरङ्गत्वं तागमस्य तु संपत्स्यमानकारणत्वाद् बहिरङ्गत्वम्, कृते च यबादेशे एकपदत्वात्तागमस्यैवान्तरङ्गत्वम् । 'व्यञ्जनस्यानादेर्लुक्' (4. 1. 44.) *इतीति*-उभयोः स्थाने निष्पन्नत्वात् यकारवकारयोर्धातुव्यपदेशात् पुनरपि 'व्यञ्जनस्यानादेर्लुक्' (4. 1. 44.) भवति । *तस्याधातुत्वादिति* सन्नादेः प्रत्ययस्य

क्रियार्थत्वेऽपि न धातुत्वं भ्वादिसाहचर्यात् भ्वादयोऽप्रत्यया एव धातवोऽन्येऽपि तथा । अमनो मनः सुभवति दुर्भवति अभिभवतीति वाक्यं कर्त्तव्यं 'च्व्यर्थे भृशादेः स्तोः' (3. 4. 29.) क्यङ् सलोपश्च सुशब्दस्य भवतिना संबन्ध इति, यदा तु असुमनाः सुमना इति मनसा संबन्धस्तदा सुशब्दस्य प्राक्त्वं सिद्धमेव ।

ननु सुकटंकराणि वीरणानि, दुष्कटंकराणि वीरणानीत्यत्र गतिसंज्ञकस्य सुशब्दस्य धातोः प्राक् प्रयोगः प्राप्नोति ? नैवम्, 'दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात् खल्' (5. 3. 139.) 'च्व्यर्थे कर्त्राप्याद्भूकृगः' (5. 3. 140.) इत्यत्र च खित्करणात् तस्य ह्येतत् प्रयोजनं खिति मोऽन्तो यथा स्यात्, यदि च सुशब्दस्य प्राग् धातोः प्रयोगः स्यात्तदा खित्करणमनर्थकं स्यादिति, सुशब्दादिना कटादेर्व्यवधानात्, सुशब्दात्त्वव्ययत्वान्न भवति ॥3. 1. 1.॥

ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः ॥ 3. 1. 2. ॥

ऊर्यादय, अनुकरणानि, च्व्यन्ता, डाजन्ताश्च शब्दा, उपसर्गाश्च धातोः संबन्धिनो गतिसंज्ञा भवन्ति, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यन्ते । ऊर्यादिः—ऊरीकृत्य, उररीकृत्य, ऊरीकृतम्, उररीकृतम् । अनुकरण-खाट्कृत्य, फूत्कृत्य, कथं खाडिति कृत्वा निरष्ठीवदिति ? इति शब्देन व्यवधानान्न भवति । च्व्यन्तः-शुक्लीकृत्य, घटीकृत्य । डाजन्त-पटपटाकृत्य, सपत्राकृत्य । उपसर्गः—प्रकृत्य, पराकृत्य, प्रकृतम्, पराकृतम् । ऊरी, उररी, अङ्गीकरणे, विस्तारे च, उररी-अङ्गीकारे—एते त्रयो भृशार्थप्रशंसयोरपि । पाम्पी-विध्वंसमाधुर्यकरुणविलापेषु । ताली, आताली, वर्णोत्तमार्थयोः । धूशी-कान्तिकाङ्क्षयोः । पाम्प्यादयो विस्तारेऽपि । शकला, शंसकला, ध्वंशकला, भ्रंशकला, आलम्बी, केवाशी, शेवाली, पार्दाली, मस्मसा, मसमसा, एते हिंसायाम्, आद्याश्चत्वारः परिभवेऽपि, ततः परे चत्वारश्चाविष्कारेऽपि, अन्त्यौ च द्वौचूर्णसंवरणयोरपि ।

पार्दाली-शब्दार्थेऽपि, मस्मसा, मसमसानुकरणेऽपि केचित्तु मस्मसेत्यत्र ऋकारौ निपात्य मृस्मृसेति पठन्ति, केचिदालम्बीस्थाने आलोष्टीति पठन्ति । गुलुगुधाक्रीडापीडयोः । गुलूगुधेत्यन्ये मन्यन्ते । सजूः—सहार्थे । फलू, फली, विक्ली, आक्ली,—एते विकारे । आद्यौ क्रियासंपत्तिकर्मसिद्ध्यकण्टकेष्वपि, अन्त्यौ तु विचार विभागयोरपि। श्रौषट्, वषट्, वौषट्, स्वाहा, स्वधा,—देवतासंप्रदानदानमात्रयोः, वषट्-पूजायामपि, स्वधा तृप्तिप्रीतिप्रत्यभिवादनेष्वपि, श्रत् श्रद्धाने शीघ्रे च । प्रादुस्, आविस्, प्राकाश्ये-पशू केवाली,—हिंसायाम् । वेताली-विस्तारे । केचित्तु धूली वर्षाली पाम्पालीविचालीशब्दानप्यधीयते, इत्यूर्यादयः । एषां च्विडाच्साहचर्यात् कृभ्वस्तिभिरेव योगे गतिसंज्ञा । श्रतश्च दधातिकरोतिभ्याम् । प्रादुराविः—शब्दौ कृग्योगे विकल्पार्थं साक्षादादावपि पठ्येते गतिप्रदेशाः 'गतिः' (1. 1. 36.) इत्यादयः ॥2॥

न्या० स०—ऊर्याद्य० / सोऽयमित्यभेदोपचारेण कुतश्चित् सादृश्यात् येनानुक्रियते तदनुकरणमित्याह-अनुकरणानीति-च्विडाचोः प्रत्ययत्वात् प्रकृतेराक्षेपात् प्रत्ययमात्रस्य धातुसंबन्धासंभवाच्च तदन्तप्रतिपत्तिरित्याह-च्व्यन्ता इति। डाजिति चित्करणाप्तिता कृत्वेत्यादौ पितृशब्दात् 'ऋदुशनस्' (1. 4. 84.) इत्यनेन डा इति तदन्तस्यागतित्वात्ततो यबादेशाभावः। *खाडिति कृत्वेति*—कृत्वेत्यस्य इतिना संबन्धः, इतेश्च खाट्इत्यनेन अतो धातोः खाटश्च परस्परं न संबन्धः। *खाट्कृत्येत्यत्र*-खाडिति मूर्द्धन्यान्तोऽनुकरणशब्दोऽव्युत्पन्नः, एवं पूच्छब्दोऽप्यव्युत्पन्नः। *विस्तारे चेति*-अत्र एकत्रावस्थितस्य स्वावयवैरनियतदिग्देशव्याप्तिर्विस्तारः। *उरुरीत्यत्र* 'महत्त्युर्च्चे' 737 (उणादि) इति 'उ' प्रत्यये उरुः तं रीयते। *माधुर्यकरुणेत्यत्र*-रसनेन्द्रियग्राह्यो मनः प्रीतिजनको गुणविशेषो माधुर्यम्, इष्टवियोगजनितं शब्दं रोदनं करुणविलापः। पाम्पीत्यत्र च पिबतेः 'अर्तीरिस्तु' 338 (उणादि) इति मे पामस्तत्पूर्वात्पीयतेः क्विपि निपातनात् पूर्वपदान्तलोपे पाधातोर्लेखने तु आकारस्य ईकारे वा *पाम्पी*।

तालीत्यत्र-केवलादाङ्पूर्वाच्च तालयतेः 'तृस्तृतन्द्रितन्त्री' 711 (उणादि) इति बहुवचनादीकारे ताली आताली च। *धूशीत्यत्र* धूनोतेः क्विपि धूस्तत्र शेते इति क्विपि धूशी, कान्तिस्तेजस उत्कर्षतः, काङ्क्षा अभिलाषः। *शकलेत्यत्र* शशि प्लुप्तिगतावित्यचि शशः, खलतेरचि खलः शशाः खला अस्या पृषोदरादिदर्शनादत एव निपातनादेकस्य शस्य लोपे खस्य च कत्वे आपि शकला। *संशकलेति* हत्वा हत्वा शशाः संचीयन्तेऽस्यामिति हिंसोच्यते, संगता शकला संशकला, ध्वस्ता शकला भृशं शकला पृषोदरादित्वात् पूर्वपदयोर्ध्वंभावे भ्रंभावे च *ध्वंशकला भ्रंशकला*। आङ् पूर्वाल्लम्बेः 'तॄ स्तृतन्त्रिं 711 (उणादि) इति बहुवचनादीकारे *आलम्बी*। 'केवृङ् सेचने' अचि केवः, तत्पूर्वात् 'शोंच् तक्षणे' इत्यतो बाहुलकात् कितीकारे पृषोदरादित्वात् पूर्वपदान्तस्याकारे केवाशी। शेतेः 'शीङापः' 506 (उणादि) इति वः तदालीयते इति क्विपि शेवाली। पारयतीति क्विपि पाः, पारं ददाति विचि पार्दाः, तं लीयते इति *पार्दाली*।

मस्मसेत्यत्र 'मसैच् परिणामे' क्विपि अचि च मसो मसा इति षष्ठीतत्पुरुषे *मस्मसा*, पूर्वस्याप्यचि *मसमसा*। *चूर्णसंवरणयोरपीति*। अत्रावयविनः सूक्ष्मावयविभागश्चूर्णम्, सर्वत्र अपिशब्दो हिंसासंबन्धद्योतनार्थः। 'गुंत् पुरीषोत्सर्गे' ततो विचि कुटादित्वात् गुणाभावे गुवं लुनातीति क्विपि तं गुध्नातीति 'मूलविभूजादयः' (5. 1. 144.) (इति) के निपातनादूकारस्य ह्रस्वत्वे आपि *गुलुगुधा* फलनिष्पत्तावित्यतो बाहुलकादूकारे ईकारे च फलू फली। विपूर्वादाङ् पूर्वाच्च क्रीणातेः क्विपि ऋपिडादित्वाल्लत्वे *विक्ली* आक्ली।

क्रियासंपत्तिकर्मसिद्ध्यकण्टकेष्वपीत्यत्र-क्रियासंपादनं पाठादिक्रियायाः फलप्राप्तिः, कण्टकरहितो देशादिः। *विभागयोरपीत्यत्र* विभागो विभक्तप्रत्ययनिमित्तं गुणविशेषः श्रौषडित्यत्र

श्रूयते, वाति, उच्यते च बाहुलकात् क्विबन्ताः साधवः । *देवतासंप्रदाने*त्यत्र देवतासंप्रदानं देवताभ्यः संप्रदीयमानं हविर्द्रव्यं दानमात्रं दानसामान्यं स्वधा पितृभ्य इति श्रुतेः । कथं स्वधा देवतासंप्रदाने वर्त्तते ? उच्यते, पितॄणामपि देवतारूपत्वाददोषः ।

स्वधा तृप्तिप्रीतीत्यत्र तृप्तिः श्रद्धोच्छेदः, प्रीतिरानन्दः, प्रत्यभिवादनं प्रतिनमस्क्रिया । *श्रद्धाने* इत्यत्र धर्मकर्मविषयोऽभिलाषः श्रद्धानं, केवालीत्यत्र 'केवृङ सेवने' इत्यचि केवलमालीयते क्विपि *केवाली* । योगे गतिसंज्ञेति च्विडाचोः कृभ्वस्तिभिरेव योगे भावात् तदेकवाक्यतया चैषां निर्द्देशात्तद्योग एव गतित्वमित्यर्थः । *श्रतश्च दधातिकरोतिभ्यामि*ति । 'मृगयेच्छया' (5. 3. 101.) इत्यत्र श्रद्धेतिनिर्देशात् तथैव प्रयोगदर्शनाच्छास्त्रस्यानुवादकत्वादिति शेषः ॥ 3. 1. 2. ॥

कारिका स्थित्यादौ ॥ 3. 1. 3. ॥

कारिकाशब्दः स्थित्यादावर्थे धातोः संबन्धी गतिसंज्ञो भवति । तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यते । स्थितिर्मर्यादा वृत्तिर्वा, आदिशब्दाद्यत्नधात्वर्थनिर्देशौ गृह्येते । कारिकाकृत्य, स्थितिं यत्नं क्रियां वा कृत्वेत्यर्थः । स्थित्यादाविति किम् ? कारिकां कृत्वा,—कर्त्रीं कृत्वा इत्यर्थः ॥3॥

*न्या० स०—कारिका-कारिकाकृत्ये*ति करणं कारिका भावे णकः, कारिका करणं पूर्वं इति वाक्येऽपि अनेन गतिसंज्ञायां 'अव्ययस्य' (3. 2. 7.) इति षष्ठ्या लुप्, एवं सर्वत्र । श्लोकवाचिनस्तु कारिकाशब्दस्य सत्यपि धातुसंबन्धसंभवे प्रयोगादर्शनात् ग्रहणाभाव इति ॥3. 1. 3 ॥

भूषा-ऽऽदर–क्षेपेऽलं-सद-ऽसत् ॥ 3. 1. 4. ॥

अलं, सत्, असत् इत्येते शब्दा यथासंख्यं भूषादरक्षेपेष्वर्थेषु वर्तमाना धातोः संबन्धिनो गतिसंज्ञा भवन्ति तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यन्ते । भूषामण्डनम्-अलंकृत्य, अलंकृतम्, प्रीत्या संभ्रम-आदरः—सत्कृत्य, सत्कृतम्, क्षेपोऽनादरः—असत्कृत्य, असत्कृतम् । भूषादिष्विति किम् ? अलं कृत्वा माकारीत्यर्थः, सत् कृत्वा, विद्यमानं कृत्वेत्यर्थः, असत्कृत्वा-अविद्यमानं कृत्वेत्यर्थः ॥4॥

अग्रहा-ऽनुपदेशेऽन्तरदः ॥ 3. 1. 5. ॥

अन्तर् अदस् इत्येतौ शब्दौ यथासंख्यमग्रहेऽनुपदेशे चार्थे गम्यमाने । धातोः संबन्धिनौ गतिसंज्ञौ भवतः, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्येते ।

अग्रहोऽस्वीकारः । अन्तर्हत्य, मध्ये हिंसित्वा शत्रून् गत इत्यर्थः । स्वयं परामर्शोऽनुपदेशो

विशेषानाख्यानं वा । अदःकृत्यैतत्करिष्यतीति चिन्तयति । अग्रहानुपदेशे इति किम् ? अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः—परिगृह्य गत इत्यर्थः । अदः कृत्वा गत इति परस्य कथयति अदस्शब्दस्त्यदादौ । अव्ययमिति केचित् ।।5।।

न्या० स०—अग्रहानु० । *मध्ये हिंसित्वे*ति-अन्तःशब्दो मध्येऽधिकरणभूते वर्त्तते परिग्रहे च, तत्र परिग्रहे प्रतिषेधादितरत्र गतिसंज्ञा विज्ञायते इति दर्शयति, विशेषानाख्याने चिन्तयतीत्यस्य स्थाने कथयतीति प्रयोगो ज्ञेयः ।। 3. 1. 5. ।।

कणे-मनस्-तृप्तौ ।। 3. 1. 6. ।।

कणे मनस् इत्येते अव्यये तृप्तौ गम्यमानायां धातोः संबन्धिनी गतिसंज्ञे भवतः, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्येते । तृप्तिः—श्रद्धोच्छेदः । कणेहत्य पयः पिबति । मनोहत्य पयः पिबति, तावत् पिबति यावत्तृप्तः इत्यर्थः । तृप्ताविति किम् । तन्दुलावयवे कणे हत्वा गतः, मनो हत्वा गतः, चेतो हत्वेत्यर्थः ।।6।।

न्या० स०—कणेमनः कणतेरचि-सप्तम्यां कणे इति सप्तमीप्रतिरूपकमव्ययमश्रद्धायां वर्त्तते । *अव्यये* इति अव्ययः सन् तृप्ति वक्ति, अत एव वृत्तौ अव्ययमिति संभवद्विशेषणं सूत्रेऽव्ययमित्यस्याकरणात् । कणे-मनस् इत्येते अव्यये इति स्वरूपनिरूपणमात्रमेवेति, तृप्ताविति व्यावृत्तेर्न द्व्यङ्गवैकल्यम् ।।3. 1. 6.।।

पुरोऽस्तमव्ययम् ।। 3. 1. 7. ।।

पुरस् अस्तम् इत्येते अव्यये धातोः संबन्धिनी गतिसंज्ञे भवतः, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्येते, पूर्वपर्यायः—पुरः शब्दः, अनुपलब्ध्यर्थोऽस्तंशब्दः ।

पुरस्कृत्य गतः—पुरस्कृतम्, अस्तंगत्य पुनरुदेति सविता—अस्तंगतानि दुःखानि । अव्ययमिति किम् ? पुरः कृत्वा,—नगरीरित्यर्थः । अस्तं कृत्वा काण्डं गतः—क्षिप्तमित्यर्थः । सकारोऽप्यत्र न भवति ।।7।।

न्या० स०—पुरोस्त० । *पुरःकृत्वेत्यत्र* पुर्शब्दः शसि सकारान्तोऽस्त्येवेति न द्व्यङ्गवैकल्यम् । नन्वत्र गतिसंज्ञायामपि गतिसमासे सति स्यादिनिवृत्तिभावात् पुरसिति असन्तस्य संज्ञिरूपस्या-संभवात् संज्ञाया निवृत्तेस्तन्निमित्तस्य समासादिकार्यस्यापि निवृत्तेः किमव्ययविशेषणेनेति ? नैवं,

स्यादिनिवृत्ताप्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् स एवायं संज्ञीति संज्ञा न निवर्त्तते, यस्मिन् वा तद्रूपं न निवर्त्तते तत्प्रत्युदाहरणं यथा पुरः करोतीति नानार्थकमव्ययविशेषणमुत्तरार्थम् ॥3. 1. 7. ॥

गत्यर्थ-वदोऽच्छः ॥ 3. 1. 8. ॥

अच्छेत्यव्ययमभिशब्दार्थे दृढार्थे च वर्तते, तत् गत्यर्थानां वदश्च धातोः सम्बन्धिगतिसंज्ञं भवति, तेभ्यश्च धातुभ्यः प्रागेव प्रयुज्यते । अच्छगत्य, अच्छव्रज्य, अच्छोद्य । गत्यर्थवद इति किम् ? अच्छ कृत्वा गतः । अव्ययमित्येव ।–उदकमच्छं गत्वा ॥8॥

न्या० स०–गत्यर्थवदो० । अत्र समासान्तविधेरनित्यत्वादत एव निर्देशाद् वा 'चवर्गदषहः' (7. 3. 68.) इति समासान्तो न भवति, अवतेरचि पृषोदरादित्वाद् वकारस्य छत्वे 'स्वरेभ्यः' (1. 3. 30.) इति द्वित्वे अच्छ इति अभ्यादावर्थेऽव्ययं निर्मलादावनव्ययम् ॥3. 1. 8.॥

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥ 3. 1. 9. ॥

तिरः शब्दोऽन्तर्द्धौ व्यवधाने वर्तमानो धातोः संबन्धिगतिसंज्ञो भवति तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यते । तिरोभूय, तिरोधाय । अन्तर्धाविति किम् । तिरो भूत्वा स्थितः, तिर्यग्भूत्वेत्यर्थः ॥9॥

कृगो नवा ॥ 3. 1. 10. ॥

तिरस् इत्यव्ययमन्तर्द्धौ वर्तमानं कृगो धातोः संबन्धिगतिसंज्ञं वा भवति तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यते । तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य, तिरस्करोति, तिरः करोति, पक्षे-तिरःकृत्वा । अन्तर्धावित्येव । तिरः कृत्वा काष्ठं गतः– तिर्यगित्यर्थः ॥10॥

मध्ये-पदे-निवचने-मनस्युरस्यनत्याधाने ॥ 3. 1. 11. ॥

एतानि सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपकाण्यव्ययानि अनत्याधानेऽर्थे वर्तमानानि कृगो धातोः संबन्धीनि गतिसंज्ञानि भवन्ति वा, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यन्ते, अत्याधानम् उपश्लेष आश्चर्यं च, ततोऽन्यदनत्याधानम् । मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा, पदेकृत्य, पदे कृत्वा, निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा, निवचने-वचनाभावः, वाचं नियम्येत्यर्थः, मनसि कृत्य, मनसि कृत्वा, उरसि कृत्य उरसि कृत्वा-उभयत्र निश्चित्येत्यर्थः । अनत्याधान इति किम् ? मध्ये कृत्वा धान्यराशिं स्थिता हस्तिनः, पदे कृत्वा शिरः शेते, मनसि कृत्वा सुखं गतः, उरसि कृत्वा पाणिं शेते । अव्ययमित्येव । मध्ये कृत्वा वाचं तिष्ठतीत्यादि ॥11॥

न्या० स०–मध्येपदे० । *अनत्याधाने इति* अत्र 'विभक्तिसमीप' (3. 1. 39.) इत्यनेनार्थाभावेऽव्ययीभावः, तस्मिन्नपि 'सप्तम्या वा' (3. 2. 4.) इति विकल्पादम् भावाभावः, तत्पुरुषो वा । *सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपकेत्यत्र*-प्रतिगतं सादृश्येन प्रतिपन्नं रूपं शब्दस्य तत्त्वं श्रुतिर्यैस्तानि प्रतिरूपकाणि सप्तम्या एकवचनं तदन्तानां प्रतिरूपकाणि सप्तम्येकवचनान्तानि प्रतिरूपकाण्येषामिति वा विग्रहः । *उपश्लेष इत्यत्र* सन्निपत्ययोगः सर्वप्रकारं साधारणमुच्यते, न तु संयोगमात्रं मध्ये इत्यादीनां अव्ययत्वात् पृषोदरादिनिपातनादेकारान्तत्वमिकारान्तत्वं च ।

निवचन इत्यत्र तु ब्रुगो वचेर्वा 'करणाऽऽधारे' (5. 3. 129.) इति अनटि वचनस्याभाव इति निशब्देनाऽव्ययीभावे पृषोदरादित्वादेकारे च निवचने इति । *मध्ये कृत्वा वाचं तिष्ठतीति* मध्ये इति औपचारिकोऽयमाधार इति वाचोऽनत्याधानमस्ति, वचनं हि शब्दप्रकाशनफलं न केनाऽपि सह समवैति ॥3. 1. 11.॥

उपाजेऽन्वाजे ॥ 3. 1. 12. ॥

एते अव्यये सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपके स्वभावाद्दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधाने वर्तमाने कृगो धातोः संबन्धिनी गतिसंज्ञे वा भवतः । तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्येते । उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा, अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा,–दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः ॥12॥

न्या० स०–उपाजे० । 'उप अनु' इत्येवं पूर्वादजतेर्घ्ञि पृषोदरादित्वादेकारे उपाजे अन्वाजे । *भग्नस्य वा बलाधानमित्यत्र* शकटस्य धुरोऽक्षस्य वा भग्नस्य यत्काष्ठमुपधीयते तदुपाजे अन्वाजे इति चोच्यते ॥3. 1. 12.॥

स्वाम्येऽधिः ॥ 3. 1. 13. ॥

अधीत्येतदव्ययं स्वामित्वे गम्यमाने कृगो धातोः संबन्धिगतिसंज्ञं वा भवति, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यते । चैत्रं ग्रामेऽधिकृत्याधि कृत्वा वा गतः,–स्वामिनं कृत्वेत्यर्थः ।

स्वाम्य इति किम् ? चिन्तया ग्राममधिकृत्य, उद्दिश्येत्यर्थः । सार्थकत्वे उपसर्गसंज्ञकत्वात् नित्यं प्राप्ते पक्षे प्रतिषेधार्थं वचनम्, अनर्थकत्वे तु विधानार्थम् । प्रादिरुपसर्ग इति वर्तते, तेनोपसर्गसंज्ञापि विकल्प्यते इति कृत्वाधीति प्राक्त्वेऽप्यनियमः ॥13॥

न्या० स०–स्वाम्येऽधिः । *प्रादिरुपसर्ग* इति वर्त्तते इति । अत्रैव सूत्रे मण्डूकप्लुतिन्यायेन प्रादिरुपसर्ग इति वर्त्तते, न ऊर्यादिसूत्रेषु, तेन ऊर्यादीनां न उपसर्गसंज्ञा, ततश्च ऊरी स्यादित्यादौ

'प्रादुरुपसर्गा,' (2. 3. 58.) इति न षत्वम् । प्राक्त्वेऽप्यनियम इति न केवलं समास एवेत्यर्थः । नन्वधिपूर्वः करोतिर्विनियोगे वर्त्तते, तत्कथं *स्वामित्वे गम्यमान* इत्युच्यते ? सत्यं, विनियोगोऽपि चेत् स्वामित्वविषयो भवति ।। 3. 1. 13. ।।

साक्षादादिश्च्व्यर्थे ।। 3. 1. 14. ।।

साक्षादादयः शब्दाश्च्व्यर्थे वर्तमानाः कृगो धातोः संबन्धिनो गतिसंज्ञा वा भवन्ति, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यन्ते । साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा, असाक्षाद्भूतं साक्षाद्भूतं कृत्वेत्यर्थः, एवं-मिथ्याकृत्य, मिथ्या कृत्वा । च्व्यर्थ इति किम् ? यदा साक्षाद्भुतमेव किंचित् करोति, तदा साक्षात्कृत्वेत्येव भवति । च्व्यन्तानां तु 'ऊरी'– (3. 1. 2.) आदिसूत्रेण, नित्यमेव गतिसंज्ञा, लवणीकृत्य, उष्णीकृत्य ।

साक्षात्, मिथ्या, चिन्ता, भद्रा, रोचना, लोचना, अमा, आस्था, अग्धा, प्राजर्या, प्राजुरा, प्राजरुहा, बीजर्या बीजरुहा, संसर्पा । अर्थे-अग्नौ, वशे, विरूपने, प्रकपने, विसहने, प्रसहने, प्रतपने । अर्थेप्रभृतयः सप्तम्येकवचनान्तप्रति रूपकाः स्वभावात् निपाताद्वा । लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आर्द्रम्,–लवणादीनामेतत्सूत्रविहितगतिसंज्ञासंनियोग एव मान्तत्वं निपात्यते । प्रादुस् आविस्, नमस् इति साक्षादादिः ।।14।।

न्या० स०–साक्षादादि० । *च्व्यन्तानां त्विति* अर्थग्रहणात् च्व्यन्तानां विकल्पो न भवति, साक्षादिति सादृश्यप्रत्यक्षयोः । *मिथ्या* इति अलीके, *चिन्ता* इति मानसे व्यापारे, भद्रादयः त्रयः प्रशंसायाम्, *अमा* इति सहार्थे, *आस्था* इति आदरप्रतिज्ञयोः, *अग्धादयः* षट् शोभार्थे, *प्राजर्या* इति रहः समवाय-संयोग-सामर्थ्येषु, *बीजर्या बीजरुहा* इति बीजप्रसवनेऽपि, *संसर्पा* इति प्रयोजनसंवरणयोः, *अग्नौ* इति तैक्ष्ण्ये, *वशे* इति अस्वातन्त्र्ये, *विकपने प्रकपने* इति उभौ वैरूप्ये, विकपने हिंसायां प्रकपने इत्यन्ये ।

विसहने प्रसहने इति उत्साहे सामर्थ्ये च, *निपाताद्वेति* आकारान्तानां ध्वनीनां निपातनादाकारान्तत्वं, न तु आबन्तत्वम्, *लवणम्* इति रुच्यर्थे, *उष्णं* इति अभिभवे, *शीतं* इति अनादरे, *उदकं* इति क्लेदे द्रवे च, आर्द्र इति सोदकाभिनवयोः । *मान्तत्वं निपात्यत* इति तेन लवणी कृत्येत्यादौ पूर्वसूत्रविहितगतिसंज्ञासन्नियोगे न भवति, तथा लवणं कृत्वा यवागूं भुङ्क्ते, शीतः कृतः, शीता कृता, शीताः कृताः इत्यादावभिधेयवल्लिङ्गे गतिसंज्ञाया अभावान्मान्ताभावः ।। 3. 1. 14. ।।

नित्यं हस्तेपाणावुद्वाहे ।। 3. 1. 15. ।।

हस्तेपाणावित्येतौ सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपकावव्ययौ, सप्तम्यन्तावनव्ययावित्येके, तावुद्वाहे दारकर्मण्यर्थे गम्यमाने कृगो धातोः संबन्धिनौ गतिसंज्ञौ नित्यं भवतः, तस्माच्च धातोः प्राक् प्रयुज्येते। हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य,–भार्यां कृत्वेत्यर्थः। उद्वाह इति किम् ? हस्ते कृत्वा कार्षापणं गतः। नित्यग्रहणाद्वानिवृत्तिः ॥15॥

प्राध्वं बन्धे ॥ 3. 1. 16. ॥

प्राध्वमित्येतन्मकारान्तमव्ययमानुकूल्ये वर्तते, तच्चानुकूल्यं यदा बन्धहेतुकं भवति, तदा बन्ध इत्युच्यते, अनेकार्थत्वाद्वा निपातानां मुख्य एवास्य बन्धोऽर्थः, तत्र वर्तमानः प्राध्वंशब्दः कृगो धातोः संबन्धी गतिसंज्ञो भवति, तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्यते। प्राध्वंकृत्य, बन्धनेनानुकूल्यं कृत्वेत्यर्थः। बन्ध इति किम् ? प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः ॥16॥

*न्या० स०–प्राध्वं बन्धे । बन्धहेतुकमि*ति बन्धजनितमित्यर्थः, दुष्टाश्वादिर्हि बन्धनेनानुकूल्ये व्यवस्थाप्यते। *बन्ध इत्युच्यते* इति कार्ये कारणोपचारात्, कारणं बन्धः, कार्यमानुकूल्यं बन्ध एवानुकूल्ये वर्तते ॥3. 1. 16.॥

जीविकोपनिषदौपम्ये ॥ 3. 1. 17. ॥

जीविकोपनिषच्छब्दौ औपम्ये गम्यमाने कृगो धातोः संबन्धिनौ गतिसंज्ञौ भवतः तस्माच्च धातोः प्रागेव प्रयुज्येते। जीविकाकृत्य, उपनिषत्कृत्य, जीविकामिवोपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः। औपम्य इति किम् ? जीविकां कृत्वा, उपनिषदं कृत्वा गतः ॥17॥

न्या० स०–जीविकोपनिषदौपम्ये जीवनं जीविका 'भावे' (5. 3. 122.) इति णकः, तत आपीत्वे च जीविका अथवा जीव्यतेऽनया इति 'नाम्नि पुंसि च' (5. 3. 121.) इति णके जीविका जीवनोपायः, औपम्य इत्यत्र उपमीयतेऽनयेति 'उपसर्गादातः' (5. 3. 110.) इति अङि भिदादित्वाद् वा उपमा, तस्या भाव औपम्य, उपमानोपमेयभावलक्षणसंबन्धः, समासकृत्तद्धितेषु संबन्धाभिधानमिति संबन्धे भावप्रत्ययोत्पादात् ॥ 3. 1. 17. ॥

नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम् ॥ 3. 1. 18. ॥

नाम नाम्ना सहैकार्थ्ये एकार्थीभावे सति समाससंज्ञं भवति बहुलम्, ऐकार्थ्यं च सामर्थ्यविशेषः। स च पृथगर्थानां पदानां क्वचित्परस्परव्यपेक्षालक्षणं सामर्थ्यमनुभूय भवति, यथा-राज्ञः पुरुषो

राजपुरुषः, नीलं च तदुत्पलं नीलोत्पलम् । क्वचित् अननुभूयैव भवति, यथा-उपकुम्भम्, कुम्भकारः, वाक्यान्तरेण त्वर्थः प्रदर्श्यते कुम्भस्य समीपं कुम्भं करोतीति । क्वचिन्न भवत्येव, यथा छात्राणां पञ्चमः, रामो जामदग्न्यः इति लक्षणं चेदमधिकारश्च । तेन बहुव्रीह्यादिविशेषसंज्ञाभावे यत्रैकार्थता दृश्यते, तत्रानेनैव समाससंज्ञा भवति-विस्पष्टं पटुः, विस्पष्टपटुः, विचित्रं कटुकः; विचित्रकटुकः, एवं-विविक्तकषायः । व्यक्तलवणः, संपन्नमधुरः, पट्वम्लः, निपुणपण्डितः, कुशलदक्षः, चपलवत्सलः इत्यादिषु गुणविशेषणस्य गुणवचनेन समासः । काष्ठा परं प्रकर्षमध्यायकः— काष्ठाध्यायकः । दारुणमध्यायकः— दारुणाध्यायकः, अमातापुत्रमध्यायकः-अमातापुत्राध्यायकः, निष्ठुरमध्यायक इत्यर्थः, वेशं सुभगमध्यायकः-वेशाध्यायकः । एवमनाज्ञाताध्यायकः, अयुताध्यायकः, अद्भुताध्यायकः भृशाध्यायकः, घोराध्यायकः, परमाध्यायकः, स्वध्यायकः, अत्यध्यायकः इत्यादिषु क्रियाविशेषणस्य क्रियावता समासः । तथा-सर्वश्चर्मणा कृतः सर्वचर्मीणो रथः, अद्य श्वो वा विजायते अद्यश्वीना गौः, दशभिरेकादश गृह्णाति दशैकादशिकः, ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवम्—ऊर्ध्वमौहूर्तिकम्, एवमौर्ध्वदेहिकम्, और्ध्वदमिकम्; कृतः पूर्वं कटोऽनेन कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम्, गतपूर्वी ग्राममित्यादिषु तद्धितार्थे समासः । तथा कन्येइव, दंपतीइव, वाससीइव, रोदसीइवेत्यादिष्विवेनालुप् समासः । एकपद्यं च समासफलम् । तथा-भूतः पूर्वं भूतपूर्वः, एवं दृष्टपूर्वः, श्रुतपूर्वः । सर्वेषु चैषु विशेषसंज्ञाऽप्राप्तौ अनेनैव समासः ।

बहुलमिति शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् नामेति किम् ? चरन्ति गावो धनमस्य । नाम्नेति किम् ? चैत्रः पचति । बहुलवचनादेव क्वचिदनामापि समस्यते,—भात्यर्कोऽत्रेति भात्यर्कं नभः, नभसा सामानाधिकरण्यं समासफलम् । क्वचिदनाम्नापि-अनुव्यचलत्, अनुप्रावर्षत्, यद् व्यकरोत्, यत् परियन्ति । अत्र नित्यसंध्यादिः समासफलम्, समासस्य च नामत्वेऽपि संख्यायास्त्यादिभिरेवोक्तत्वात्स्यादयो न भवन्ति, पदत्वार्थमुत्पन्नस्य वा प्रथमैकवचनस्य त्याद्यन्तार्थप्राधान्यात् नपुंसकत्वे लोपो भवति । समासप्रदेशा 'वौष्ठौतौ समासे' (1. 2. 17.) इत्यादयः ॥18॥

न्या० स०—नाम नाम्नैकार्थ्ये० । ननु चात्र सहग्रहणं कर्त्तव्यं, सहभूतयोः समाससंज्ञार्थम्, न च नाम्नेति तृतीयया सहयोगाक्षेपात् 'वृद्धो यूना' (3. 1. 124.) इतिवत् एकैकस्य न भविष्यतीति वक्तव्यं, यथा पुत्रेण सहागत इति द्वयोरपि तातपुत्रयोरागमनेन संबन्ध एवमेकैकस्य समाससंज्ञा स्यात्, सहग्रहणात्त्वेका समाससंज्ञा सहभूतयोर्भवति, दोषाभावात् (एकैकस्य समाससंज्ञेतिशेषः) भवत्विति चेत्, यद्यपि समुदायरूपवाक्यवर्जनात् पर्युदासात् समाससमुदायस्य नामत्वे दोषाभावः, तथापि ऋक्पाद इत्यादौ समासान्ते दोषः ? सत्यं, यथा प्रत्यवयवं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टा यथा यज्ञदत्तदेवदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामिति, न चोच्यते प्रत्येकमिति

प्रत्येकं च भुजिक्रिया समाप्यते, एवमत्राऽपि (स) प्रत्येकं समाससंज्ञा सत्यपि नोच्यते, यद् वा समास इति महतीयं संज्ञा अन्वर्था विज्ञायते, समस्यन्ते, संक्षिप्यन्ते पदान्यस्मिन्निति, समुदायविषयायां तु संज्ञायां पूर्वोत्तरपदयोरेकत्वेन न्यसनं भवति, तस्मात् समास इति समुदायस्यैवेयं संज्ञा विज्ञायते, न प्रत्येकमिति, सहग्रहणमन्तरेणापि तदर्थलाभात् सहग्रहणं न कर्त्तव्यमिति ।

*क्वचिदि*ति यत्र सर्वाणि सत्वार्थाभिधायीनि पदानि भवन्ति, यत्र त्वेकमसत्वार्था-भिधाय्युपकुम्भमित्यादौ तत्र सामर्थ्यमननुभूयैव समासोऽत आह-*क्वचिदित्यादि* । *सामर्थ्य-मनुभूय भवती*ति ननु अनुभूयेत्यत्र भवनक्रियायाः सामर्थ्यविशेषः कर्त्ता अनुभवनक्रियायास्तु पदानि कर्तॄणि इति भिन्नकर्तृ कतायां क्त्वा न प्राप्नोति ? नैवं, वर्त्तनक्रियाऽपेक्षया तुल्यकर्तृत्वं, वर्त्तनक्रियायास्तु पदान्येव कर्तॄणि कोऽर्थः—पदानां सामर्थ्यमनुभूय वर्त्तमानानां सामर्थ्यविशेषो भवति, न च वाच्यमनुभवनक्रियाया भवनक्रियायाश्च सामर्थ्यविशेष एव कर्त्तेति तुल्यकर्तृत्वं, यतः परस्परव्यपेक्षा पदानामेव संभवतीत्यनुभवनक्रियायाः पदान्येव कर्तॄणि ।

*अननुभूयैवे*ति नित्यसमासत्वादिति शेषः, जामदग्न्य इति प्रथमापत्यस्याऽपि पौत्रकार्यकरणाद् वृद्धत्वविवक्षायां 'गर्गादेर्यञ्' (6. 1. 42.) । *राजपुरुष* इति ननु द्विधा वृत्तिरजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था च तत्राद्यायां राजपुरुष इत्यादौ विशिष्टस्य पुरुषस्यानयनं घटते द्वितीयायां तु पुरुषमात्रस्य न जातुचिद् राजविशिष्टस्य ? नैतदस्ति, जहदपि राजशब्दः स्वार्थं नात्यन्ताय जहाति, तद्यथा तक्षा राजकर्म्मणि प्रवर्त्तमानः स्वं तक्षकर्म राजकर्मविरोधि जहाति, नाऽविरुद्धं हसितकण्डूयितादि, तथा राजशब्दोऽपि विशेष्यार्थविरोधिनमर्थं जहाति न तु विशेषणत्वम् । अथवाऽन्वयाद् राजविशिष्टस्य ग्रहणं यथा चम्पकपुटो मल्लिकापुट इति ।

सुमनोमालास्तीति निष्ठितास्वपि, सुमनस्सु व्यपदेशोऽन्वयाद् भवति, तथेहापि, तेन राजविशिष्टस्यानयनं न पुरुषमात्रस्येति, क्वचिदननुभूयेत्यत्र तदयं वस्तुसंक्षेपः राजपुरुषादीनि शब्दान्तराण्येव न जातुचिद् राज्ञः पुरुषः इति वाक्यगम्यो व्यपेक्षालक्षणोऽर्थस्तस्मात् प्रतीयते, भिन्नार्थान्येव हि एतानि शब्दरूपाणि नित्यत्वाच्छब्दार्थसंबन्धानामदूरविप्रकर्षेण हि बालव्युत्पत्तये वाक्यमुपदर्श्यते, न हि वाक्यमेव समासीभवति, विभक्तेरपि स्वयमेव तदर्थाभावात् या निवृत्तिः सा ऐकार्थ्ये इत्यनेनानूद्यते, न तु विधीयते ।

*लक्षणं चेदमि*ति ननु अधिकारोऽयं लक्षणं वा उभयमपि ब्रूमः, अधिकारस्तावद् देवदत्तः पचतीत्यत्र विशेषसमासनिवृत्यर्थः, अन्यथा हि पचतीत्यनेन कर्तृसामान्यं यदुपात्तं तद्देवदत्त इत्यनेन कर्तृ विशेषेण विशेष्यते इति सामानाधिकरण्येन विशेषणविशेष्यभावोऽस्ति, नञित्यादावुत्तरपदानुपादाने उत्तरपदोपस्थानार्थश्च, लक्षणं च यस्य समासस्यान्यल्लक्षणं नास्ति तस्येदं लक्षणं, तेन विस्पष्टादीनि गुणविशेषणानि गुणवचनेन विस्पष्टं पटुः *विस्पष्टपटुः* इति समस्यन्ते, पट्वादयः शब्दाः

पटुत्वादिगुणयोगात् मुख्यतया गुणिनि वर्त्तमाना अपि गौणतया पाटवादावपीति । विस्पष्टादयः पट्वादीनां प्रवृत्तिनिमित्तस्य पाटवादेर्विशेषणानि, न तु द्रव्यस्येति विस्पष्टमिति नपुंसकत्वं, अत एव मुख्यं सामानाधिकरण्यं नास्ति इति कर्मधारयतत्पुरुषाभावः । काष्ठा परं प्रकर्षमिति काष्ठाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्य क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकत्वे 'अनतो लुप्' (1. 4. 59.) भवति, ह्रस्वत्वं तु बाहुलकान्न भवति, सोमपं कुलमित्यत्र कुलस्य विशेषणत्वे क्लीबत्वमेवेति ह्रस्वत्वं भवत्येव ।

*ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकमि*ति ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादयो भवः कालः तत्र भवः 'अध्यात्मादिभ्य इकण्' (6. 3. 78.) इकण्, सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्तिक इति निर्देशादुत्तरपदवृद्धिः । *वाससीइवे*ति अत्रोत्तरपदप्राधान्यात् से 'अव्ययस्य' (3. 2. 7.) इति लुप् । *एवं दृष्टपूर्व* इति पूर्वं दृष्टा इत्यपि कृते निपातनात् ह्रस्वत्वं, तेन न मे श्रुता, नापि च दृष्टपूर्वेति सिद्धम् । सामान्येन समासं कृत्वा पश्चाद् स्त्रीत्वे वा । *चरन्ति गावो धनमस्ये*ति अत्र समासे चरन्ति गुरिति स्यात् । *नित्यसंध्यादिरि*ति ऐकपद्यात् 'ह्रस्वोऽपदे वा' (1. 2. 22.) इति ह्रस्वविकल्पाप्रवृत्तेर्नित्यं यत्वादि भवतीत्यर्थः, अन्ये त्वाहुः एको द्वावित्यादिवदुक्तेष्वप्येकत्वादिषु नामार्थत्वात् केवलायाश्च प्रकृतेः प्रयोगाभावाद् भाव्यमत्र प्रथमैकवचनेन तस्य च 'दीर्घङ्याब्' (1. 4. 45.) इत्यनेन लुप् 'अनतो लुप्' (1. 4. 59.) इति तन्मतग्रहणायाह—*पदत्वार्थमि*ति । *त्याद्यन्तार्थप्राधान्यादि*ति त्याद्यन्तस्य साध्यार्थ प्रधानत्वादसत्त्ववाचित्वं असत्त्वं च सामान्यं, सामान्यं च नपुंसकं ततः 'अनतो लुप्' (1. 4. 59.) ॥ 3. 1. 18. ॥

सुज्वार्थे संख्या संख्येये संख्यया बहुव्रीहिः ॥ 3. 1. 19. ॥

सुचोऽर्थो वारः, वार्थो विकल्पः संशयो वा, सुज्वार्थे वर्तमानं संख्यावाचि नाम संख्येये वर्तमानेन संख्यावाचिना नाम्ना सहैकार्थ्ये समाससंज्ञं बहुव्रीहिसंज्ञं च भवति । द्विर्दश द्विदशाः, त्रिर्दश त्रिदशाः, द्विविंशतिः द्विविंशाः—एवं त्रिविंशा वृक्षाः, सुजर्थस्य समासेनैवाभिहितत्वात् सुचोऽप्रयोगः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः, त्रिचतुराः, पञ्चषाः, सप्ताष्टाः । सुज्वार्थ इति किम् ? द्वावेव न त्रय । संख्येति किम् ? गावो वा दश वा । संख्ययेति किम् ? दश वा गावो वा । संख्येये इति किम् ? द्विर्विंशतिर्गवाम् । बहुव्रीहिप्रदेशा वा बहुव्रीहे (2. 4. 5.) इत्यादयः ॥19॥

न्या० स०—सुज्वार्थे० । *विकल्पः संशयो वे*ति ननु विकल्पसंशययोः को भेदः ? उच्यते, निर्णये सति विकल्पः, यथा देवदत्तो भोज्यतां चैत्रो वा, यद्वा विकल्पे क्रियाप्रवृत्तिः संशये तु न । विकल्पे क्रियाप्रवृत्तिर्यथा द्वित्रेभ्यो देहि भोजनं, ततश्च द्वाभ्यां त्रिभ्यो वा देहीति विकल्पो गम्यते, अस्मिन् सति क्रियाप्रवृत्तिः, संशये क्रियाप्रवृत्त्यभावो यथा पुरुषेभ्यो देहीत्युक्ते त्रिभ्यो

दापितं चतुर्भ्यो वेति संशेते, न जाने त्रयश्चत्वारो वा आगता इति च संशयः अनिर्णयरूपः प्रतिभासः, ननु द्विदशा इत्यादौ वाऽर्थे द्वित्रा इत्यादौ तु सन्निकृष्टसंख्याभिधायिनि सुजर्थे समासः कस्मान्न क्रियते ? उच्यते, यदि नेष्यते तदाऽनभिधानात् ।।3. 1. 19.।।

आसन्नाऽदूराऽधिकाऽध्यर्द्धा-ऽर्द्धा दिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे ।। 3. 1. 20. ।।

आसन्न, अदूर, अधिक, अध्यर्ध इत्येतानि अर्धशब्दपूर्वपदं च पूरणप्रत्ययान्तं नाम संख्यावाचिना नाम्नैकार्थ्ये समस्यते द्वितीयाद्यन्तस्यान्यस्य पदस्यार्थे संख्येयरूपेऽभिधेये स च समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति । आसन्ना दशा दशत्वं येषां येभ्यो वा ते आसन्नदशाः, नवैकादश वा, एवमासन्नविंशाः, एकोनविंशतिः, एकविंशतिर्वा, आसन्नत्रिंशाः, एकोनत्रिंश-देकत्रिंशद्वा, एवम्– अदूरदशाः, अदूरविंशाः, अदूरत्रिंशाः, अधिका दश येभ्यो येषु वा तेऽधिकदशाः, एकादशादयः, अधिकत्वं च दशानाम् एकाद्यपेक्षम् ।

अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः । एवम्-अधिकविंशाः एकविंशत्यादयः, अधिकत्रिंशाः एकत्रिंशदादयः, अध्यर्धा विंशतिर्येषां तेऽध्यर्धविंशाः, त्रिंशदित्यर्थः, एवमध्यर्धत्रिंशाः, अध्यर्धचत्वारिंशाः । अर्धपञ्चमा विंशतयो येषां ते अर्धपञ्चमविंशाः–नवतिरित्यर्थः, एवमर्धचतुर्थविंशाः-सप्ततिरित्यर्थः, अर्धतृतीयविंशाः–पञ्चाशदित्यर्थः ।

आसन्नादिग्रहणं किम् ? संनिकृष्टा दश येषां ते संनिकृष्टदशानः । पूरणस्यार्धपूर्वत्वविशेषणं किम् ? पञ्चमी विंशतिर्येषां ते पञ्चमीविंशतयः ऊनपञ्चमा विंशतयो येषां ते ऊनपञ्चविंशतयः । पूरणमिति किम् ? अर्धद्वया विंशतयो येषां तेऽर्धद्वयविंशतयः । द्वितीयाद्यन्यार्थ इति किम् ? आसन्ना दश, अधिका दशभिः । तथाधिका षष्टिर्वर्षाण्यस्येति वाक्येऽधिकषष्टिशब्दयोरनेन द्विपदो बहुव्रीहिर्न भवति, यदि स्यात्, समासान्तो डः प्रसज्येत, न चासाविष्यते, उत्तरेण तु त्रिपदो बहुव्रीहिर्भवत्येव । अधिकषष्टिवर्षः–अधिका षष्टिर्येषां वर्षाणामित्यत्र त्वन्यार्थत्वेऽपि अनभिधानान्न भवति । 'एकार्थं चानेकं च' (3. 1. 22.) इत्यनेनैव सिद्धे प्रतिपदविधानं डप्रत्ययविधिवितत्संप्रत्ययार्थम्, एवमुत्तरसूत्रमपि ।।20।।

न्या०स०–आसन्नादूरा० । पूरणमभिधेयत्वेन विद्यते यस्य प्रत्ययस्य यस्मिन् । वा अभ्रादित्वादकारे पूरणार्थविहितः प्रत्यय उच्यते, तस्य च केवलस्यासंभवात्तदन्तः शब्दस्तस्य चार्द्धादीति विशेषणमित्याह–*पूरणप्रत्ययान्तमि*ति अर्द्धं आदिर्यस्य स चासौ पूरणश्च, द्वितीया आदिर्यासां विभक्तीनां ता *द्वितीयादयः* द्वितीयादयश्च तत् अन्यच्च तस्य अर्थः । *असन्नदशा* इति आ दशभ्यः संख्येत्यस्य प्रायिकत्वादत्र दशन्शब्दः संख्याने वर्त्तते, परं संख्येयेन सह

अभेदे बहुवचनं, यदि संख्येयवृत्तिना दशन्शब्देनासन्ना दश येषामित्येव । वाक्यं क्रियते, न दशत्वमिति तदा संख्यावाचिनेति, वृत्त्यंशेन निषेधान्न स्यादनेन समासः । नवैकादश वेति पर्यायश्च विघटेत, यत इत्थं कृते एकोनविंशत्यैकविंशतिसंख्याप्रतीतिः, यथा दशशब्दो दशत्वे संख्याने वृत्तस्तथा विंशत्यादयोऽपीत्याह-*एवमासन्नविंशा* इति आसन्नदशा इत्यादिषु क्ताः इत्यनेन पूर्वनिपातः सिद्ध एव । *अदूरदशा* इत्यादिषु तु 'विशेषणसर्व्वादि' (3. 1. 150.) इति संख्यायाः पूर्वनिपातो न भवति, 'प्रमाणीसंख्याड्डः' (7. 3. 128.) इति संख्यायाः समासान्त-विधानात् ।

अधिका दश येभ्यो येषु वेति एकाद्यवयवापेक्षया यद्दशानामधिकत्वं तत् एकादशादि-समुदायापेक्षयाऽपि ज्ञेयं, तेन अधिकयोगे 'अधिकेन भूयसस्ते' (2. 2.111.) इति सप्तमीपञ्चम्योः सिद्धये यच्छब्देन बहूनामेकादशादीनामभिधानात् पञ्चमीसप्तम्योर्बहुवचनमित्याह*येभ्यो येषु वे*ति एकादशादिषु दशानामधिकत्वं किमपेक्षमित्याह-*एकाद्यपेक्षमि*ति ननु तर्हि कथमधिका दश यस्येत्येकवचनेन वाक्यं न कृतम् ? उच्यते, बहुवचनमवयवावयविनोरभेदविवक्षया, एकादशादयोऽवयवाः, तत उपचारादवयवस्यैकस्यावयविनां बहुवचनं पश्चादवयवे च न विग्रहः क्रियतेऽधिकशब्देन एकादय आक्षिप्यन्ते इत्येकोऽवयवः दश इति द्वितीयोऽवयवस्तयोर्विग्रहः येषामिति समासार्थः, स तु समुदाय एकादशादिः । कोऽर्थः ? येभ्यो येषु वा एकादशादिसमुदायेषु एकाद्यपेक्षयाऽधिका दश इत्यर्थः ।

अधिकविंशा इति अव्युत्पन्नोऽयमधिकशब्दस्तेन 'तद्धिताक' (3. 2. 54.) इति न पुंवन्निषेधः, अन्यथा कोपान्त्यद्वारा तन्निषेधः स्यात्, एवमधिकत्रिंशा इत्यपि । अर्द्धपञ्चविंशा इति यद्यप्यध्यर्द्धस्यार्द्धादिपूरणस्य च 'क-समासेऽध्यर्द्धः' (1. 1. 41.) 'अर्द्धपूर्वपदः पूरणः' (1. 1.42.) इत्याभ्यां संख्यासंज्ञाऽस्ति तथापि पूर्वेण सुज्वार्थे संख्यायाः समासस्याविधीयमानत्वान्न सिध्यतीत्युपादानं, 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' (7. 4. 115.) इति न्यायेन पूरणप्रत्यये मटि पञ्चमीत्यस्य पूरणप्रत्ययान्तता नार्द्धपञ्चमेत्यस्य तेन 'तद्धिताक' (3. 2. 54.) इति न पुंवन्निषेधः, अर्धपञ्चमी विंशतिर्यायु 'पूरणीभ्यस्तत् प्राधान्येऽप्' (7. 3. 130.) अर्द्ध पञ्चम्याः चतस्रो विंशतय पूर्णा पञ्चमी विंशतिरर्द्धमित्यर्थः ।

संनिकृष्टवशान इति अत्र 'प्रमाणीसंख्याड्डः' (7. 3. 128.) इति न भवति, तत्र प्रतिपदोक्तस्य समासस्य ग्रहणात् । *अर्धद्वया विंशतयो येषामि*ति अर्द्धं द्वयं विंशतिर्यासु एकं दशकलक्षणमर्द्धं द्वितीयं तु द्विभागीकृतं किं भवति पञ्च । *अधिकषष्टिवर्ष* इत्यत्र अधिका षष्टिर्वर्षाण्यस्य इति विग्रहे 'दिगधिकं संज्ञा' (3. 2. 98.) इति कर्मधारयतत्पुरुष इति 'पुंवत् कर्मधारये' (3. 2. 57.) इत्यादिना बाधकबाधनार्थः पुंवद्भावो भवति, यदा तु 'आसन्नादूरा '

(3. 1. 20.) इत्यमुना द्विपदो बहुव्रीहिः स्यात्तदा 'तद्धिताक' (3. 2. 54.) इत्यादिना पुंवन्निषेधः स्यात् । ननु यथा बहुव्रीहिणा विभक्त्यर्थस्याभिधानात् षष्ठ्यादयो न भवन्त्येवं लिङ्गसंख्ययोरभिधानात् तयोर्द्योतकत्वात् ङ्यादयो न प्राप्नुवन्ति । स्वार्थिकत्वात् ङ्यादीनां समासेन अभिहितेऽपि स्त्रीत्वादौ तद्योतनाय भवन्ति, स्त्रियां यद्वर्त्तते नाम तस्मात् ङ्यादयो भवन्तीति हि तत्रार्थः, तथा चित्रगुरिति समासेन नामार्थमात्रस्य कर्मादिशक्तिरहितस्येकत्वादय उक्तास्ततः कर्म्मादिग तैकत्वप्रतिपादनाय वचनानि भवन्ति, चित्रगुं पश्य चित्रगुणा कृतमिति प्रथमा तर्हि न प्राप्नोति समासेन संख्याया अभिधानात् ?

नैवं, सापि न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न च केवलः प्रत्यय इति समयाद् भविष्यति, अथवा यदा चित्रगुरेकत्वविशिष्टो नामार्थः प्रतिपिपादयिषितस्तदा विभक्त्या विनाऽसौ न शक्यते प्रत्याययितुमिति प्रथमैकवचनं विधेयमेवं द्वित्वबहुत्वयोर्द्विवचनबहुवचनविधिः ॥ 3. 1. 20. ॥

अव्ययम् ॥ 3. 1. 21. ॥

अव्ययं नाम संख्यावाचिना नाम्नैकार्थ्ये समस्यते द्वितीयाद्यन्यार्थे संख्येयेऽभिधेये स च समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति । उप समीपे दश येषां ते उपदशाः, नवैकादश वा, एवमुपविंशाः, उपत्रिंशाः, उपचत्वारिंशाः । योगविभाग उत्तरार्थः ॥21॥

एकार्थं चानेकं च ॥ 3. 1. 22. ॥

एकः समानोऽर्थोऽधिकरणं यस्य तदेकार्थम् समानाधिकरणम् एकमनेकं चैकार्थं नामाव्ययं च नाम्ना द्वितीयाद्यन्तस्यान्यस्य पदस्यार्थे समस्यते स च समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति । आरूढो वानरो यं स आरूढवानरो वृक्षः, ऊढः रथः येन स ऊढरथोऽनड्वान्, उपहृतो बलिरस्यै सा उपहृतबलिर्यक्षी, भीताः शत्रवो यस्मात् स भीतशत्रुर्नृपः, चित्रा गावो यस्य स चित्रगुश्चैत्रः के सब्रह्मचारिणोऽस्य किंसब्रह्मचारी, अर्धं तृतीयमेषामर्धतृतीयाः, वीराः पुरुषाः सन्त्यस्मिन् वीरपुरुषको ग्रामः, अनेकं च-आरूढा बहवो वानरा यं स आरूढबहुवानरो वृक्षः, ऊढा बहवो रथा अनेन ऊढबहुरथोऽनड्वान् ।

शोभनाः सूक्ष्मजटाः केशा अस्य सुसूक्ष्मजटकेशः, शोभनं नतमजिनंवासोऽस्य सुनताजिनवासाः, संजातानि अन्तेषु शितीनि रन्ध्राण्यस्मिन् समन्तशितिरन्ध्रः, पञ्च गावो धनमस्य पञ्चगवधनः, पञ्च नावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियः, मत्ता बहवो मातङ्गा यत्र तन्मत्तबहुमातङ्गं वनम्, पञ्च पूला धनमस्य पञ्चपूलधनः, पञ्च कुमार्यः प्रिया अस्य पञ्चकुमारीप्रियः, 'नाम नाम्ना0' (3. 1. 18.) इति विवक्षितसंख्यत्वादनेकस्य समासो न स्यादित्यनेकग्रहणम् । अव्ययं

खल्वपि-उच्चैर्मुखमस्य उच्चैर्मुखः, एवं नीचैर्मुखः, अन्तरङ्गान्यस्यान्तरङ्गः, एवं बहिरङ्गः-कर्तुं कायोऽस्य कर्तु कामः, हर्तुं मनोऽस्य हर्तु मनाः। व्यधिकरणत्वादव्ययस्य न प्राप्नोतीत्यव्ययानुकर्षणार्थश्चकारः। सामानाधिकरण्ये तु 'एकार्थम्' (3. 1. 22.) इत्यनेनापि सिध्यति। अस्तिक्षीरमस्या अस्तिक्षीरा गौः, अस्तिधना राजधानीत्यादि क्रियावचनत्वे त्वस्त्यादीनां 'नाम नाम्ना'–(3. 1. 18.) इत्यादिनैव बहुलवचनात् सिद्धम् एकार्थग्रहणं किम् ? पञ्चभिर्भुक्तमस्य। द्वितीयाद्यन्यार्थ इत्येव, वृष्टे मेघे गतः, यथा मे माता तथा मे पिता, सुस्नातं भोः। इह करणा भवति-वृष्टे मेघे गतं पश्य, वहिरङ्गात्र द्वितीयान्ततेति। शब्दे कार्यासंभवादर्थे लब्धे यदर्थग्रहणं तदन्यपदार्थस्य या लिङ्गसंख्याविभक्तयस्ता यथा स्युरित्येवमर्थम्। बहुलाधिकारात् राजन्वती भूरनेन, प्राग्ग्रामोऽस्मात्, पञ्च भुक्तवन्तोऽस्य, इत्यादिषु न भवति ॥22॥

न्या० स०–एकार्थं च०। अत्र बहुव्रीहेरेव ग्रहणमत आह-एकः समानेत्यादि। उपहृतबलिर्यक्षीति अत्रोपहृतिक्रियाकर्म्मणा संबध्यमानाया यक्ष्याः संप्रदानत्वमुपहरणस्य दानरूपत्वात्। *समानोऽर्थोऽधिकरणमि*ति यथा आरूढो वानरो यमित्यत्र आरूढोऽपि सः वानरोऽपि सः। *चित्रगुश्चैत्र* इति ननु चित्रा गावो यस्येत्यत्र हि देवदत्तार्थो विशेषणं, चित्रगव्यो विशेष्यं, वृत्तौ च चित्रगव्यो विशेषणं, देवदत्तार्थो विशेष्यं तदेतत् कथमुच्यते ? विचित्रा हि शब्दशक्तय इति। नन्वन्यस्य पदस्यार्थाभिधाने चित्रगुश्चैत्र इत्यादावऽनुप्रयोगानुपपत्तिः चैत्रपदस्य हि यावानर्थस्तावान् बहुव्रीहिणा वक्तव्यो, द्वितीयाद्यन्यार्थे तस्य विधानात्ततो गतार्थत्वादनुप्रयोगो न प्राप्नोति, यथा चार्थे द्वंद्वविधानाद् द्वंद्वे चकारस्याप्रयोगः।

नैष दोषः, चित्रगुशब्देन तद्वन् मात्रसामान्यमुच्यते, न तु विशेष इति तत्रावश्यं विशेषणार्थिना विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यः। चित्रगुः कः ? चैत्र इति। ननु भवतु चित्रा गावोऽस्येत्येवं सामान्येन समासे कृतेऽन्यपदार्थसामान्यस्य बहुव्रीहिणाऽभिधानाद् विशेषस्याऽनुप्रयोगः। यदा तु चित्रा गावोऽस्य देवदत्तस्येति विशिष्टेऽन्यपदार्थे बहुव्रीहिः क्रियते, तदाऽनुप्रयोगासिद्धिः ? नैवं, यतो नेदमुभयं युगपद् भवति वाक्यं समासश्च, लौकिके प्रयोगे वृत्तिवाक्ययोर्युगपत्प्रयोगाभावादेकेनैवार्थस्य प्रत्यायितत्वादितराप्रयोगात्, तत्र यदा तु वाक्यं न, तदा समासः सामान्येन तदा वृत्तिः शब्दशक्तिस्वभावादन्यपदार्थसामान्यमभिधातुं शक्नोति न तु विशेषमिति।

वा विकल्पेन नरः वने रमते 'क्वचित्' (5. 1. 171.) इति डे वनरस्तस्यायमिति वा *वानरः, अन्तेषु शितीनी*ति अर्थकथनमिदं विग्रहस्तु अन्तशितीनीति, अवान्तरः समासः कार्यः। सूक्ष्मजटाः केशा इत्यत्र सूक्ष्मा जटा येषां केशानामिति ततस्त्रिपदो बहुव्रीहिः, शोभनं नतं ततः सुनतमजिनं वासोऽस्येति बहुव्रीहिः, वृत्तौ तूभयसमासप्रदर्शनाय सामान्येन वाक्यमुक्तं, अन्यथैकार्थत्वं

न स्यात् । पञ्चनावप्रिय इत्यत्राटि समासान्तात् ङीर्न बाधन्ते स्वार्थकाः क्वचिदित्यतः अकारान्तान्नाम्नो ङीविधानात् समासमध्ये ङीर्न भवतीति न्यासकारः, तर्हि कथं पूर्वगवीप्रिय इत्यादि ? कश्चित्तु मध्येऽपि ङीप्रत्ययमिच्छति ।

*यथा मे माता तथा मे पिते*ति, मे मातेत्याद्यर्थकथनमात्रं यावता मे माता मन्मातेति तु विग्रहः, ततो यथेति मन्मात्रिति तथेति च त्रयाणां पदानां मत्पित्रा सह समासः (प्राप्तः न च वाच्यं एकार्थत्वाभावान्न समासः), यतो स एव मातृसदृशः स एव मत्पितेत्येकार्थत्वमस्ति ।

*सुस्नातं भोरि*ति अन्यपदार्थोऽस्ति इति समासः प्राप्नोति, अत्रोच्यते-प्रत्यासत्तेः समस्यमानयोरेव पदयोरन्यपदार्थे समासोऽत्र तु समुदायस्य तस्य वाक्यस्य तात्पर्यार्थो नावयवभूतयोः पदयोर्वाच्योऽन्योऽर्थं इति न भवत्येव समासः, समासे हि यथामन्मातृ तथामत्पितृकः स्यात्, द्वितीयाद्यन्यार्थं इति प्रथमा व्यवच्छेद्या तथा वाक्यार्थश्च, तेन वाक्यार्थे न भवति यथा मे माता तथा मे पिता सुस्नातं भोरिति, एतदेवं भाव्यते ।

अस्योदाहरणस्यायमर्थः यथा कश्चित् केनचित् पृष्टः कीदृशः कुलशीलादिना तत्र पितेति ? स आह-यथा मे मातेति, अथवा स्नाहीति कश्चिदुक्तः स आह यथा मे मातेति, यथा शुद्धा मे माता तथा पितापीत्यभिजनशुद्धिरपि स्नानं किं बाह्येन स्नानेन, ततः सुस्नातं भो इति । ननु द्वितीयाद्यन्यार्थ इत्यत्र किमर्थग्रहणम् ? अन्यपदं हि शब्दः, शब्दस्य च कार्यं न संभवतीत्यर्थो लप्स्यत एवार्थः किंतु तत् सद्रव्यस्य सलिङ्गस्य ससंख्यस्य कृत्स्नस्य अभिधानं यथा स्यादित्येवमर्थं कृतमस्त्र्यारोपाभावे इति लिङ्गानुशासननिरपेक्षम् ॥ 3. 1. 22. ॥

उष्ट्रमुखादयः ॥ 3. 1. 23. ॥

उष्ट्रमुखादयो बहुलं बहुव्रीहिसमासा निपात्यन्ते । उष्ट्रमुखमिव, मुखमस्य उष्ट्रमुखः, वृषस्कन्ध इव स्कन्धोऽस्य, वृषस्कन्धः, हरिणाक्षिणी इवाक्षिणी यस्याः सा हरिणाक्षी, हंसगमनमिव गमनं यस्याः सा हंसगमना, इभकुम्भाविव स्तनौ यस्याः सेभकुम्भस्तनी, एवं नागनासोरुः, चन्द्रमुखी, कमलवदना, बिम्बोष्ठी, चक्रनितम्बा, पितुरिव स्थानमस्य पितृस्थानः, पितरीव स्थानीयमस्मिन् पितृस्थानीयः, इत्यादि ।

अत्रोपमानमुपमेयेन सान्यवाचिना च सह समस्यते । उपमेयसरूपस्य चोपमानपदस्य यथासंभवं लोपः—कण्ठे स्थिता इत्यलुप्समासः । ततः कण्ठेस्थिताः काला यस्य स कण्ठेकालः, एवमुरसिस्थितानि लोमान्यस्योरसिलोमा, एवमुदरेमणिः, वहेगडुः इत्यादिषु सप्तमीपूर्वपदं समानाधिकरणं समस्यते उत्तरपदस्य च लोपः । व्यधिकरणो वा कण्ठेकालादिषु बहुव्रीहिः । केशसंघातश्चूडा अस्य केशचूडः सुवर्णविकारोऽलंकारोऽस्य सुवर्णालंकारः इत्यादिषु संघातविकारा-

पेक्षया षष्ठ्या समस्तं समानाधिकरणं समस्यते उत्तरपदलोपश्च। केशसंघातचूडः, सुवर्णविकारालंकारः इत्यप्यन्यः। तथा प्रपतितानि पर्णान्यस्य प्रपर्णः, प्रपतितपर्णः, प्रपलाशः, प्रपतितपलाशः। उद्रश्मिः, उद्गतरश्मिरित्यादिषु प्रादिपूर्वं धातुजं पदं समस्यते तस्य च विकल्पेन लोपः। तथा अविद्यमानः पुत्रोऽस्य अपुत्रः, अविद्यमानपुत्रः इत्यादिषु नञ्पूर्वमस्त्यर्थं पदं समस्यते तस्य च वा लोपः। बहुवचनमाकृतिगणार्थ म्॥23॥

न्या० स०–उष्ट्रमुखादयः। उपमानमुपमेयेन समस्यमानं न एकार्थतां भेजे स एव चन्द्रस्तदेव मुखं न भवत्यतो भिन्नसूत्रम्। *सामान्यवाचिना चे*ति साधारणधर्मवाचिनावस्थानादिना रूपेणेत्यर्थः, आदिपदाद् गुरुस्थानमिव स्थानमस्येत्यादि। *वहेगडुरि*ति गडुशब्दस्योकारान्तत्वात् पुंस्त्वम्, न्यासकारस्तु क्लीबत्वमपि तथा एषु गम्यमानार्थत्वाद् द्वितीयमुखादि शब्दाप्रयोगः, मन्दमतिव्युत्पाद-नायेदमुच्यते न हि वाक्योपमर्देन समासो विधीयते नित्यत्वाच्छब्दानां पुरुषप्रयत्न निर्वर्त्तर्या हि शब्दाः, न हि येन प्रयत्नेनोष्ट्रमुखशब्दो निर्वर्त्यते तेनैवोष्ट्रमुखमिवेत्यादिकोऽपि भिन्नाधिकरणप्रयत्नत्वाद् भिन्नावैताविति, अत एवोच्यतेऽनादिशब्दप्रवाह इति। अनुवादकं च स्मृतिशास्त्र न विधायकमतिप्रसङ्गाच्च, अन्यथा दध्ना उपसिक्त ओदनो दध्योदनः, गुडेन मिश्रा धाना गुडधाना इत्यादौ समासेऽ श्यमानानामुपसिक्त इत्यादीनां लोपार्थं यत्नः कर्त्तव्यः स्यात्तस्माद्-वृत्तिविषये दधिशब्द उपसिक्तार्थवृत्तिर्गुडशब्दो मिश्रार्थवृत्तिरिति वाक्येनोपदर्श्यते॥ 3. 1. 23.॥

सहस्तेन॥ 3. 1. 24.॥

सह इत्येतन्नाम तुल्ययोगे विद्यमानार्थे च वर्तमानं तेनेति तृतीयान्तेननाम्नाऽन्यपदार्थे समस्यते स च समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति। तुल्ययोगे-सह पुत्रेण सपुत्र आगतः, सच्छात्र आगतः, –आगमनमुभयोस्तुल्यम्, विद्यमानार्थे-सहकर्मणा वर्तते सकर्मकः, एवं सलोमकः, सपक्षकः, सधनः, समदः, सदर्पः, सविद्यः,–विद्यमानतात्र सहार्थो न तुल्ययोगः। सह इति किम्? साकं सार्धं सत्रा अमापुत्रेण। बहुलाधिकारात् विद्यमानार्थे क्वचिन्न भवति। सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी, सहैव धनेन भिक्षां भ्रमति। प्रथमान्तान्यपदार्थार्थ आरम्भः। एवमुत्तरत्रापि॥24॥

*न्या० स०–सहस्तेन–*तेनेति तृतीयान्तप्रतिरूपकान्निपातात् तृतीया। *न तुल्ययोग* इतिननु तुल्ययोगविद्यमानार्थयोः को भेदः? उच्यते, क्रियागुणद्रव्यैरुभयोः सदृशः संबन्धस्तुल्ययोगः, विद्यमानार्थता तु न तथा, तथाहि–सकर्म्मकादात्मनेपदमित्युक्ते यथा धातोरात्मनेपदं भवति,

न तथा कर्म्मणोऽपि, तथा सलोमको भोज्यतामिति यथा देवदत्तो भोज्यते, न तथा लोमान्यपि, तथा सपक्षकः खगो हत इत्यत्र यथा पक्षी हतो, न तथा पक्षा अपीति भावः। *क्वचिन्न भवती*ति तुल्ययोगे तु भवत्येव। *वहति गर्द्दभी*ति अत्र तत्पुत्राणामस्तित्वमेव विवक्षितं, न तु वहनक्रियेति विद्यमानार्थता ॥ 3. 1. 24. ॥

दिशो रूढ्याऽन्तराले ॥ 3. 1. 25. ॥

रूढ्या दिशः संबन्धि नाम रूढ्यैव दिशः संबन्धिना नाम्नाऽन्तरालेऽन्यपदार्थेऽभिधेये समस्यते स च समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति। दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दक्षिणपूर्वा दिक्, एवं पूर्वोत्तरा, उत्तरपश्चिमा, दक्षिणपश्चिमा, 'सर्वादयोऽस्यादौ' (3. 2. 61.) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। कथं पश्चिमदक्षिणा, पश्चिमोत्तरा। कर्मधारयोऽयम्। बहुव्रीहौ हि सर्वनाम्नः पूर्वनिपातः स्यात्। रूढिग्रहणं यौगिकनिवृत्त्यर्थम्। तेनेन्द्र्याश्च कौबेर्याश्च दिशोर्यदन्तराल-मिति वाक्यमेव ॥25॥

न्या0स0–दिशो रूढ्या0–दिशि वर्तमाना नित्यस्त्रीलिङ्गा एवेति 'परतः स्त्री पुंवत्' (3. 2. 49.) न प्राप्नोतीति सर्वादयोऽस्यादावित्युक्तम्। ये पुनर्दिशि दृष्टाः शब्दास्तेषां स्त्रीत्वे परतः स्त्रीति भवति वाच्यलिङ्गत्वात्। समासस्त्वनेन भवति रूढिग्रहणात्। अन्तरालस्यान्यपदा-र्थत्वेऽपि प्रथमान्तत्वात् 'एकार्थं च' (3. 1. 22.) इत्यनेन न प्राप्नोतीति वचनं कजभावार्थं च, कथमिति चेत्? उच्यते, 'शेषा वा' (7. 3. 175.) इत्यत्र हि शेष सामान्यविहिते बहुव्रीहौ न त्वन्यस्मिन्निति व्याख्यानात् अथ अन्य पदार्थत्वादिदमपि न कर्त्तव्यं स्यात्, द्वितीयाद्यन्यार्थ इति द्वितीयादिग्रहणमकृत्वाऽन्यपदार्थ इति कृते साध्यसिद्धेः, अनिष्टविषयपरिहारस्तु बहुलग्रहणाद् भविष्यति, तस्मादिदं सूत्रं कजभावार्थमेव, एवं 'सुज्वार्थे' (3. 1. 19.) इत्यादिसूत्रत्रयमपि ॥3. 1. 25.॥

तत्राऽऽदाय मिथस्तेन प्रहृत्येति सरूपेण युद्धेऽव्ययीभावः ॥ 3. 1. 26. ॥

तत्रेति, सप्तम्यन्तं नाम, मिथ आदायेति क्रियाव्यतिहारे, तेनेति तृतीयान्तं, मिथः प्रहृत्येति क्रियाव्यतिहारे, सरूपेण समानरूपेण नाम्ना युद्धविषयेऽन्यपदार्थे समस्यते, स च समासोऽ❊व्ययीभावसंज्ञो भवति। केशेषु च केशेषु च मिथो गृहीत्वा कृतं युद्धं केशाकेशि, एवं कचाकचि, बाहूबाहवि, दण्डैर्दण्डैश्च मिथः प्रहृत्य कृतं युद्धं दण्डादण्डि, एवं यष्टायष्टि,

मुष्टामुष्टि, अस्यसि । तत्रेति तेनेति च किम् ? केशांश्च केशांश्च गृहीत्वा कृतं युद्धम्, मुखं च मुखं च प्रहृत्य कृतं युद्धम् । आदायेति प्रहृत्येति किम् ? केशेषु च केशेषु च स्थित्वा कृतं युद्धं गृहकोकिलाभ्याम्, दण्डैश्च दण्डैश्चागत्य कृतं युद्धमेताभ्याम् मिथ इति क्रियाव्यतिहारः किम् ? केशेषु च केशेषु च गृहीत्वा युद्धमनेन । सरूपेणेति किम् ? हस्ते च पादे च गृहीत्वा कृतं युद्धम् । युद्ध इति किम् ? हस्ते च हस्ते च गृहीत्वा कृतं सख्यम्, युद्ध इति विषयनिर्देशात् युद्धोपाधिकायामन्यस्यामपि क्रियायां भवति-बाहूबाहवि व्यासजेतामिति । अव्ययीभावप्रदेशाः 'अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः' (3. 2. 2.) इत्यादयः ॥26॥

न्या० स०—तत्रादाय० । ❁ काकाक्षिगोलकन्यायेन ❁ *मिथः* प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते, अत एव सूत्रे मध्ये पठितः । *प्रहृत्येति* इति शब्दो वाक्यस्वरूपपरामर्शार्थः, स च प्रत्येकं संबध्यते, तत्रादाय मिथ इति मिथस्तेन प्रहृत्येति । *अव्ययीभावसंज्ञ* इति ननु 'संज्ञा संज्ञान्तरबाधिका न' इति न्यायात् बहुव्रीहिसंज्ञाप्यस्तु ? नैवं, द्विगुश्चेति चकारकरणाद् द्वितीया संज्ञा न । ननु युद्धक्रियायामेवायं समासः स चान्यपदार्थ इति 'एकार्थं च' (3.1. 22.) इति बहुव्रीहिणैव सिद्ध्यतीति किं संज्ञान्तरेण इजन्तश्च, परमदण्डादण्डीति पदान्तरेण समासव्युदासार्थं तिष्ठद्ग्वादिषु पठनीयः, तस्य च अव्ययत्वं किमनेन, न च अन्यपदार्थस्य प्रथमान्तत्वात् कथं तेन समास इति वाच्यं, केशानां च केशानां चान्योऽन्यस्य ग्रहणं यस्मिन् युद्धे इति विग्रहात्, द्वितीयादिग्रहणं वा बहुव्रीहिविधानसूत्रे न विधास्यामः ?

उच्यते, एकशेषबाधनार्थं,—तथाहि केशेषु च केशेषु च गृहीत्वा युद्धं, दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य युद्धं, ग्रहणप्रहरणे च सहविवक्षितत्वात् रूपत्वादेकशेषप्राप्तौ वचनसामर्थ्यात् समूहान्यथाऽनुपपत्त्या समूहविषययाऽनयाऽव्ययीभावसंज्ञयाऽनवकाशया बाध्यते, पूर्वेण तु बहुव्रीहावेकशेषो न शक्येत बाधितुमन्यत्र सावकाशत्वात्तस्य । वृक्षा इति द्वंद्ववत् ।

केशाकेशीति नन्वन्यचिकीर्षितायाः क्रियाया अन्येन करणं क्रियाव्यतिहारः, ततश्च यदेकेन केशग्रहणमकारि तत् अपरो न विधत्ते परचिकीर्षितमिति, क्रियाव्यतिहारो नास्तीति कथं समासः ? उच्यते, एवमत्रापि केशेषु च स्थित्वेत्यत्र केशेषु च स्थित्वेतीजेषु इत्यर्थः । *केशेषु च केशेषु च गृहीत्वा युद्धमनेनेति*, एकश्च सकेशः अन्यश्च मुण्डोऽतो न मिथोभावः हस्ते च पादे च *गृहीत्वेति* यदा तु हस्तश्च पादश्चेति कृत्वा 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' (3. 1. 137.) इत्येकत्वे हस्तपादे च हस्तपादे च मिथो गृहीत्वा कृतं युद्धमिति क्रियते, तदा हस्तपादाहस्तपादीति भवति । *व्यासजेतामिति* बाह्वोश्च बाह्वोश्च मिथो गृहीत्वा व्यासङ्गः कृतः, क्रियाव्यतिहारे आत्मनेपदं ह्यस्तनी आताम् व्यासङ्गं कृतवन्तावित्यर्थः—

रोषावेशादाभिमुख्येन कौचित्पाणिग्राहं रंहसो वोपयान्तौ ।
हित्वा हतीर्मल्लवन्मुष्टिघातैर्घ्नन्तौ बाहाबाहवि व्यासजेताम् ॥1॥ माघे॥ 3. 1. 26. ॥

नदीभिर्नाम्नि ॥ 3. 1. 27. ॥

नदीवाचिभिर्नामभिर्नाम समस्यते, नाम्नि संज्ञायामन्यपदार्थे, स च समासोऽव्ययीभावसंज्ञो भवति । उन्मत्ता गङ्गा यत्र स उन्मत्तगङ्गं देशः, एवं लोहितगङ्गम्, तूष्णींगङ्गम्, शनैर्गङ्गम्, इमानि देशनामानि । नदीभिरिति बहुवचननिर्देशात् तद्विशेषाणां स्वरूपस्य च ग्रहणम् । नाम्नीति किम् ? शीघ्रगङ्गो देशः, अन्य पदार्थ इत्येव ? कृष्णा चासौ वेण्णा च कृष्णावेण्णा, एवं शुष्कतापी ॥27॥

न्या० स०–नदीभिर्नाम्नि । शनैर्गङ्गमिति शनैर्योगात् गङ्गाऽपि शनैः सा विद्यते यत्र । *स्वरूपस्य च ग्रहणमिति* उत्तरसूत्रे पञ्चनदमित्यत्र स्वरूपग्रहणाच्च पर्यायाणां स्रोतस्विनी-निम्नगासिन्धुप्रभृतीनां न ग्रहः ॥ 3. 1. 27. ॥

संख्या समाहारे ॥ 3. 1. 28. ॥

अन्यपदार्थ इति निवृत्तम् । संख्यावाचि नाम नदीवाचिभिर्नामभिः सह समस्यते, समाहारे गम्यमाने, स च समासोऽव्ययीभावसंज्ञो भवति द्वयोर्मुनयोः समाहारो द्वियमुनम्, एवं त्रियमुनम्, पञ्चनदम्, सप्तगोदावरम्, अत्राव्ययीभावत्वे समासान्तोऽम्भावश्च सिद्धो भवति । समाहार इति किम् ? एका नदी एकनदी । द्वीरावतीको देशः, द्विगुबाधनार्थं वचनम् । अन्ये तु पूर्वपदप्राधान्येऽव्ययीभावः-गोदावरीणां सप्तत्वं सप्तगोदावरम्, समाहारे तु द्विगुरेवेत्याहुः, सप्तानां गोदावरीणां समाहारः सप्तगोदावरि, द्विगोदावरि इत्यादि ॥28॥

न्या० स०–संख्या समा० । निवृत्तमिति समाहारे इति भणनात्, उभयपदप्रधानः समासोऽनेन विधीयते, *समाहार इति किमिति* समाहृतिं विना द्वीरावतीको देश इत्यादौ द्विगोरिव बहुव्रीहेरपि बाधकः स्यात् । *द्विगुबाधनार्थमिति* ननु तर्हि तस्य क्वावकाशः ? सत्यं, नदीनाम्नोऽन्यत्र । *गोदावरीणां सप्तत्वमिति* आ दशभ्यः संख्या संख्येये वर्त्तते इत्यस्य प्रायिकत्वाद् वृत्तिविषये द्व्यादयः संख्यानेऽपि वर्त्तन्ते । *सप्तगोदावरीति*, अन्यस्तु सर्वो नपुंसकत्वे 'क्लीबे' (2. 4. 97.) इति ह्रस्वः, एवं द्विगोदावरि ॥ 3. 1. 28. ॥

वंश्येन पूर्वार्थे ॥ 3. 1. 29. ॥

विद्यया जन्मना वा प्राणिनामेकलक्षणसंतानो वंशः, तत्र भवो वंश्यः, स इहाद्यः कारणपुरुषो गृह्यते, तद्वाचिना नाम्ना संख्यावाचि नाम समस्यते, पूर्वस्य पदस्यार्थेऽभिधेयेऽव्ययीभावश्च समासो भवति । एको मुनिर्वंश्यो व्याकरणस्य एकमुनि व्याकरणस्य, एवं द्विमुनि व्याकरणस्य, त्रिमुनि व्याकरणस्य । यदा तु विद्यया तद्वतामभेदविवक्षा तदैकमुनि व्याकरणं, द्विमुनि व्याकरणमित्यादि सामानाधिकरण्यं भवति, सप्त काशयो वंश्या राज्यस्य सप्तकाशि राज्यस्य, एवं त्रिकोशलं राज्यस्य, एकविंशतिभारद्वाजं कोशलस्य । पूर्वार्थ इति किम् ? द्वौ मुनी वंश्यावस्य द्विमुनि, द्विमुनिकं व्याकरणम्, द्विमुनिरागतः । अन्यपदार्थे बहुव्रीहिरेव । अन्ये तु पूर्वार्थ इति विशेषं नेच्छन्ति, तन्मते-एकश्चासौ मुनिश्चेति कर्मधारयप्रसङ्गे, द्वौ मुनी समाहृताविति द्विगुप्रसङ्गे, एको मुनिर्वंश्योऽस्येति बहुव्रीहिप्रसङ्गे चाव्ययीभाव एव समासो भवति ॥29॥

न्या० स०—वंश्येन० । *स इहाद्य इति* ननु वंशे भवा इति व्युत्पत्त्या सर्वेऽपि पाठकाः कारकाश्च कथं न लभ्यन्ते, आद्य एव कथं गृह्यते ? उच्यते, 'गौणमुख्ययोः' इति न्यायात् । *एकमुनि व्याकरणस्येति* एको मुनिर्वंश्य एतावानेव विग्रहः, व्याकरणस्येत्येतत्तु भिन्नपदमतोऽन्यपदार्थाभावान्न बहुव्रीहिः, पूर्वपदार्थप्राधान्याच्च यथाक्रममेकवचन-द्विवचन-बहु-वचनानि तेषां च 'अनतो लुप' (3. 2. 6.) अभेदविवक्षायामनेनैव समासः परं व्याकरणात् प्रथमा भवति अयं विशेषः ।

सप्त काशय इति काशे राज्ञोऽपत्यानि 'दुनादि' (6. 1. 118.) इति ञ्यः 'बहुष्वस्त्रियां' (6. 1. 124.) लुप् । *एकविंशतिभारद्वाजमिति* भरद्वाजस्येमे इत्येव कार्यं 'तस्येदम्' (6. 3. 160.) इत्यण्, अपत्ये तु बिदाद्यञो 'यञञः' (6. 1. 54.) इति बहुषु लोपः स्यात्, यद्यप्यत्रैकविंशतिशब्दस्य विशेषलक्षणेनैकत्वं तथापि पूर्वपदार्थस्यैकविंशतिशब्दवाच्यस्य बहुत्वाद् भारद्वाजा इति बहुत्वमेव शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् । *आगत* इति अत्र ग्रन्थ इति गम्यते, अन्यथा वंश्य इति विशेषणं न घटते ॥ 3. 1. 29. ॥

पारे-मध्ये-ऽग्रे-ऽन्तः षष्ठ्या वा ॥ 3. 1. 30. ॥

पारेप्रभृतीनि नामानि षष्ठ्यन्तेन नाम्ना सह पूर्वपदार्थे वा समस्यन्तेऽव्ययीभावश्च समासो भवति, तत्संनियोगे चाद्यानां त्रयाणामेकारान्तता निपात्यते । पारं गङ्गायाः पारेगङ्गम्, पारेसमुद्रम्, मध्यं गङ्गायाः मध्येगङ्गम्, मध्येसमुद्रम्, अग्रं वनस्य अग्रेवणम्, अग्रेसेनम्, अन्तर्गिरेः अन्तर्गिरम्,

अन्तर्गिरि । वावचनात्पक्षे षष्ठीसमासोऽपि भवति, गङ्गायाः पारम् गङ्गापारम्, गङ्गामध्यम्, वनाग्रम्, गिर्यन्तः । षष्ठ्येति किम् ? पारं शोभनम् ।।30।।

न्या० स०—पारेमध्ये० । समासे निपातयिष्यमाणैकारान्तानामिदमनुकरणम् । *पारं गङ्गाया* इति विग्रहः, दिग्मात्रमेतत् गङ्गायाः पारमित्यपि कृते पारेगङ्गमिति भवत्येव 'प्रथमोक्तम्' (3. 1. 148.) इत्यतः । *पारेगङ्गमिति* ननु एकारान्ततानिपातनं किमर्थं बहुलवचनादलुप्यपि सिद्ध्यति ? नैवं, सिद्ध्यति यदा पारं गङ्गाया इति, सप्तमी यदा तु पारे गङ्गायाः कृतमित्यादौ सप्तम्यर्थाभावात् सप्तम्या अभावान्न सिद्ध्यति । *वावचनादिति* ननु 'नित्यं प्रतिनाल्पे' (3. 1. 37.) इति नित्यग्रहणलब्धया विभाषयैव सर्वत्र पारं गङ्गाया इत्यादौ वाक्यस्य सिद्धत्वात्तत्पक्षे च गङ्गापारमिति षष्ठीसमासस्याऽपि सिद्धेर्वावचनमतिरिच्यते, न च षष्ठीसमासे प्राप्तेऽव्ययीभाव-स्यारम्भात्तस्याऽपि बाधा स्यादिति वाच्यं, यतो विभाषाधिकाराद् विकल्पेनाऽस्य बाधनात् षष्ठीसमाससिद्धेस्तस्याऽपि विकल्पेन विधानाद् वाक्यस्य सिद्धिः ?

उच्यते, विकल्पस्यावचने पूर्वकायवदंशिसमासविमुक्ते पक्षे यथा षष्ठीसमासो न भवति किंतु वाक्यमेव, एवमत्राऽपि न स्यात् । किं पुनः कारणमंशिसमासेन मुक्ते षष्ठीसमासो न भवति ? उच्यते, समासतद्धितानां वृत्तिर्विकल्पेन वृत्तिविषये नित्यैवापवादप्रवृत्तिः, इह पुनः वावचनेनैकेन वृत्तेर्विभाषा अपरेण वृत्तिविषयेऽपवादविकल्पः, अयं वस्त्वर्थः इह वाक्येनाभिधाने प्राप्ते वृत्तिरारभ्यमाणा वाक्यस्य बाधिका प्राप्नोति इति विकल्पेन पक्षे तस्याभ्यनुज्ञानं क्रियते, तत्रापवादेऽपि विकल्पेन विधीयमाने विकल्पो वाक्यस्यैवाभ्यनुज्ञानं करोतीत्युत्सर्गस्य नित्यमेव बाधेन भाव्यं, तत्र वा ग्रहणेनोत्सर्गोऽपि पक्षेऽभ्यनुज्ञायत इति त्रैरूप्यं सिद्ध्यतीति, इदमेव वावचनं 'वोदश्वितः' (6. 2. 144.) इति च ज्ञापकमुत्सर्गो भवतीति, वा इति प्रत्येकं संबध्यते, तेन यत्र षष्ठीसमासः प्राप्नोति, तत्रानुज्ञायते । गिर्यन्तः इत्यत्र तु 'तृप्तार्थ' (3. 1. 85.) इत्यादिना निषिद्धोऽपि वावचनाद् विधीयते ।। 3. 1. 30. ।।

यावदियत्त्वे ।। 3. 1. 31. ।।

इयत्त्वमवधारणम्-तस्मिन् गम्यमाने यावदिति नाम नाम्ना समस्यते, पूर्वपदार्थेऽव्ययी-भावश्च समासो भवति । यावन्त्यमत्राणि यावदमत्रम्, यावानोदनो यावदोदनम्, यावानवकाशो यावदवकाशम्,-अतिथीन् भोजय यावन्त्यमत्राणीति निर्ज्ञातपरिमाणेनामत्रादिना तावन्त इति अतिथिपरिमाणमिहावधार्यते । इयत्त्व इति किम् ? यावद्दत्तं तावद्भुक्तम्, कियद्भुक्तमिति नावधारयति । यावदित्यव्ययमनव्ययं चेह गृह्यते । अव्ययमेवेत्यन्ते ।।31।।

न्या० स०—यावदियत्त्वे । इयतां परिच्छिन्नसंख्यानामियतो वा परिच्छिन्नपरिमाणस्य भाव इयत्त्वं तस्मिन् । *यावन्तोति* अव्यये तु यावदमत्राणीति कार्यम् । *यावदमत्रमिति* पूर्वार्थप्रधानत्वादव्ययत्वे सिः, अनव्ययत्वे तु जस् समासात् । यावद्दत्तमिति असमस्तमिदम्, अत एव तावदित्युपादीयते, समासे हि गुणीभूतत्वात्तावदित्यस्योपादानाभावः स्याद्यथा यावदमत्रमित्यत्र ।। 3. 1. 31. ।।

पर्यपा-ऽऽङ्-बहिरच् पञ्चम्या ।। 3. 1. 32. ।।

पर्यादीनि नामानि पञ्चम्यन्तेन नाम्ना सहैकार्थ्ये पूर्वपदार्थेऽभिधेये समस्यन्ते स च समासोऽव्ययीभावसंज्ञो भवति । परि त्रिगर्तेभ्यः परित्रिगर्तम्, अपत्रिगर्तेभ्यः अपत्रिगर्तम्, आ ग्रामात् आग्रामम्, बहिर्ग्रामात् बहिर्ग्रामम्, प्राग् ग्रामात् प्राग्ग्रामम्, प्रत्यग्ग्रामात् प्रत्यग्ग्रामम्, अपाग्ग्रामात् अपाग्ग्रामम्, उदग् ग्रामात् उदग्ग्रामम् वृष्टो मेघः । पर्यादिसाहचर्यादञ्चतिर्धेन-लुबन्तोऽव्ययं गृह्यते, तेनेह न भवति-प्राङ् ग्रामात् चैत्रः । प्रतिपदविहितायाश्च पञ्चम्या ग्रहणादिहाव्ययीभावो न भवति-अपगतः शाखायाः अपशाखः । पञ्चम्येति किम् ? परि वृक्षं विद्योतते विद्युत्, यदत्र मां परि स्यात् ।।32।।

न्या० स०—पर्यपाङ् । *पञ्चम्या ग्रहणादिति* ननु पञ्चमीग्रहणं किमर्थं तदन्तरेणाऽपि विशिष्टपञ्चमीप्रतिपत्तेस्तथाहि—अपपरिशब्दो परस्परसाहचर्याद् वर्जनार्थौ ग्रहीष्येते, तद्योगे च पञ्चम्येव विहिता, आङ् शब्दोऽपि ङिदत्रोपात्तः, वाक्यस्मरणयोस्तु ङित्त्वाभावादीषदादिषु चतुर्ष्वर्थेषु वर्त्तमानो ग्राह्यः, तत्रापीषदर्थे 'आङल्पे' (3. 1. 46.) इति परत्वात्तत्पुरुषविधानात् पारिशेष्यान्मर्यादाभिविध्यर्थवृत्तेर्ग्रहणम्, बहिर्गतो ग्रामादित्यादावपादानपञ्चम्यन्तादसामर्थ्यान्न भविष्यति । प्राग्ग्राम इत्यादौ च पूर्वपदार्थप्राधान्य एव सति संभवेऽव्ययीभावस्य विधानात् समासाभाव इति पञ्चम्यन्तेनैव समासस्य सिद्धत्वात् किं तदुपादानेनेति अत आह—*पञ्चम्येति किमिति* 'लक्षणवीप्स्येत्थंभूते' (2. 2. 36.) इत्यधिकृत्य 'भागिनि च' (2. 2. 37.) इत्यनेन परियोगे द्वितीया, तया सह माभूदित्यर्थः । अथात्र वर्जनार्थपरिग्रहणाच्च न भविष्यतीति चेत्तर्हि न्यायानुवादकमेव पञ्चमीग्रहणं भवति ।

परित्रिगर्त्तमिति पञ्चम्यर्थप्रधानात् प्रथमा, क्रियाविशेषणत्वविवक्षायां तु द्वितीया यथा आमेखलं संचरतामित्यत्र एवं सर्वत्र । प्राङ् ग्रामाच्चैत्र इति यदा गमनार्थस्याञ्चतेः क्विपि कर्म्मणि षष्ठी तदा प्राङ्ग्रामस्येत्यपि प्रयोगो भवति, कोऽर्थः ? गच्छन्ग्रामामित्यर्थः । *प्रतिपदविहितायाश्चेति* लक्षणप्रतिपदोक्तयोरिति न्यायात् । *अपशाख* इति न च वाच्यं शाखाया अपेन सह

संबन्धाभावादेव न भविष्यति समासः, यतो गतार्थस्यापेनैवाभिधानादस्त्यपेन शाखायाः संबन्ध इति, न च परत्वात् 'प्रात्यव' (3. 1. 47.) इति तत्पुरुषणास्य बाधा इति वाच्यं, तत्रान्यग्रहणात् ॥3. 1. 32.॥

लक्षणेनाऽभिप्रत्याभिमुख्ये ॥ 3. 1. 33. ॥

लक्षणं चिह्नम्, तद्वाचिना नाम्ना आभिमुख्ये वर्तमानावभिप्रतीत्यैकार्थ्ये सति पूर्वपदार्थेऽभिधेये समस्येतेऽव्ययीभावश्च समासो भवति । अभि अग्निम्–अभ्यग्नि, प्रत्यग्निप्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति,–अग्निं लक्षीकृत्याभिमुखं पतन्तीत्यर्थः । लक्षणेनेति किम् ? स्रुग्घ्नं प्रति गतः–प्रतिनिवृत्य पुनः स्रुग्घ्नमेवाभिमुखं गत इत्यर्थः । अभिप्रतीति किम् ? येनाग्निस्तेन गतः । आभिमुख्य इति किम् ? वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् । पूर्वपदार्थ इत्येव ? अभिमुखोऽङ्को यासां ता अभ्यङ्का गावः ॥33॥

न्या०स०–लक्षणेना ० । अभिप्रपन्नो मुखमभिमुखस्तस्य भावः कर्म वा 'पतिराजान्त' (7. 1. 70.) इति घ्यण् आभिमुख्यम् । *प्रत्यग्निमिति* वैचित्र्यार्थं ससन्धि वाक्यम् । *अभ्यग्नीति* अत्राग्निना शलभपातो लक्ष्यते इत्यग्निर्लक्षणं भवति, तस्य चाभिप्रतिभ्यामाभिमुख्यं प्रतिपाद्यते, अग्नौ हि शलभाः संमुखा एव पतन्ति, ननु *लक्षीकृत्य* इत्ययुक्तं लक्षणीकृत्येति भणनीयं न लक्षीकृत्येति कोऽर्थः, अग्निं लक्षणत्वेन लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । कोऽर्थो दर्शनक्रियाऽपेक्षयाऽग्निर्लक्ष्यः पतनक्रियापेक्षया लक्षणं यतः पूर्वं पश्यन्ति ततः पतन्ति, अव्ययीभावात् क्रियाविशेषणत्वादुत्पन्नस्यामो लुप् । *स्रुग्घ्नं प्रति गत* इति प्रतिगतस्य मध्ये प्रतिशब्दोऽर्थवानस्ति इति तेनाऽपि सह संबन्धोऽस्तीति समासः स्यात् ।

पुनः स्रुग्घ्नमिति अत्र प्रतिगतोऽयं देवदत्तः कोऽर्थः ? अभिमुखं गत इत्यर्थः, किं कृत्वा ? पुनरपि निवृत्य इति, अत्र स्रुग्घ्नादन्यन्नगरान्तरं गन्तुकामः पथि व्यामोहात्तमेव प्रत्यागत इति नास्ति गमनं प्रति स्रुग्घ्नस्य लक्षणता, यदुद्दिश्य हि गमनं क्रियते तल्लक्षणं भवति, अत्र तु व्यामोहादेवेत्थं गतः, गतक्रियापेक्षया च स्रुग्घ्नस्य कर्म्मत्वम् *येनाऽग्निस्तेनगत* इति येनतेनौ प्रत्यर्थौ, अग्निरित्युभयत्राऽपि संबन्धनीयं येनाऽग्निर्गतस्तेनाऽग्निर्गत इत्युदाहरणद्वयं द्रष्टव्यं, गतो देवदत्तः किमत्र लक्षणं येनाऽग्निः अग्निर्लक्षणमित्यर्थ,ः एवं तेनाऽग्निरिति भिन्नं च यथा एकमेवेदमुदाहरणमित्यर्थः, गत इति लक्ष्यं तेनेति लक्ष्यस्य द्योतकमग्निर्लक्षणं येनेति लक्षणस्य द्योतकमिति लक्ष्यलक्षणभावः ॥3. 1. 33.॥

दैर्घ्येऽनुः ।। 3. 1. 34. ।।

अनु इत्येतन्नाम दैर्घ्ये आयामविषये यल्लक्षणं तद्वाचिना नाम्नैकार्थ्ये सति पूर्वपदार्थेऽभिधेये समस्यते, स च समासोऽव्ययीभावसंज्ञः । अनु गङ्गां दीर्घा अनुगङ्गं वाराणसी, गङ्गाया लक्षणभूताया आयामेन वाराणस्या आयामो लक्ष्यते, एवमनुयमुनं मथुरा । दैर्घ्ये इति किम् ? वृक्षमनु विद्योतते विद्युत् । लक्षणेनेत्येव ? लक्ष्येण वाराणस्यादिना माभूत् ।।34।।

न्या० स०—दैर्घ्येऽनुः । *वृक्षमनुविद्योतत* इति । अत्र वृक्षो विद्योतनस्य लक्षणत्वेन विवक्ष्यते न दैर्घ्यस्येति ।।3. 1. 34.।।

समीपे ।। 3. 1. 35. ।।

अनु इत्येतन्नाम समीपेऽर्थे वर्तमानमर्थात् समीपिवाचिना सहैकार्थ्ये सति पूर्वपदार्थेऽभिधेये समस्यते, स च समासोऽव्ययीभावसंज्ञः । अनु वनस्य अनुवनमशनिर्गता, अनुनृपं पिशुनाः अनोरव्ययत्वात् 'विभक्तिसमीप'– (3. 1. 39.) इत्यादिनैव समासे सिद्धे विकल्पार्थम्, तेन वाक्यमपि भवति । पृथग्वचनं लक्षणेनेत्यस्य निवृत्त्यर्थम् ।।35।।

न्या० स०—समीपे । समापशब्दोऽव्युत्पन्नः वर्णानुपूर्वीनिर्ज्ञानार्थं च संगता आपो यत्रेति । *अनुवनमशनिर्गतेति* समासाच्चात्र गमन क्रियाकर्मभूतसामीप्याभिधायकात् अमोऽम्भावः, सप्तमी वा । *निवृत्त्यर्थमिति* पूर्वे तु अत्राऽपि लक्षणेनेत्यनुवर्त्तयन्ति, यदुत्पलः । अनुशब्दः समीपसमीपिनो-र्लक्ष्यलक्षणसंबन्धद्योतकस्तथा हि वनसामीप्यगताया अशनेर्वनं लक्षणम् ।।3. 1. 35. ।।

तिष्ठाद्ग्वित्यादयः ।। 3. 1. 36. ।।

तिष्ठद्गुप्रभृतयः समासशब्दा अव्ययीभावसंज्ञा भवन्ति, यथायोगमन्यपदार्थे पूर्वपदार्थे चाभिधेये । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले गर्भग्रहणाय दोहाय वाहाय वत्सेभ्यो निवासाय जलपानार्थं वा स कालस्तिष्ठद्गु, वहन्ति गावो यस्मिन् काले स कालो वहद्गु, आयन्ति गावो यस्मिन् स काल आयतीगवम्,–अत्र पूर्वपदस्य पुंवद्भावाभावः समासान्तश्च निपातनात् एतेऽन्यपदार्थे काले । तथा-खले यवा यस्मिन् स कालः खलेयवम्, खलेबुसम्, निपातनात्सप्तम्या अलुप् लूनयवम्, लूयमानयवम्, पूनयवम्, पूयमानयवम्, संहृतयवम्, संह्रियमाणयवम्, संहृतबुसम्, संह्रियमाणबुसम्, एते प्रथमैकवचनान्ता एवान्यपदार्थे काले । देशेऽपीत्यन्ये-तेन

खलेयवं पश्य, खलेयवेन कृतम्, खलेयवे कृतम् इत्यादयः प्रयोगा असाधवः, द्वितीयादिविभक्त्यन्ता अपि एते साधव इत्यन्ये । नाभेरधः अधोनाभम् निपातनादत् समासान्तः, पूर्वपदार्थप्रधानोऽयम् । तथा-समत्वं भूमेः समभूमि,—एवं समपदाति, पक्षे पूर्वपदस्य मान्तत्वमपि निपात्यते समंभूमि, समंपदाति । एतौ देशकालभावेष्वन्यपदार्थेष्वित्यन्ये, उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु समा भूमिः समभूमिः समपदातिरिति कर्मधारय एव । तथा-शोभनत्वं समस्य शोभनत्वं समायाः शोभने समा यत्र सुषमम्, एवं विषमम् निष्षमं, दुष्षमम्, अपरसमम् । उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु तत्पुरुष एव । शोभना समा सुषमा । शोभने समे सुषमे । समशब्देनाव्ययीभाव इत्यन्ये, तथा-समाया आयतीत्वम् आयती समा यत्र आयती समेति वा आयतीसमम्, एवं पापसमम्, पुण्यसमम्, समशब्देन तृतीयासमास इत्यन्ये । आयत्या समम्-आयतीसमम् । एवं पापसमम्, पुण्यसमम्, तथा प्रकृष्टत्वं चाह्नः प्राह्णम् निपातनादह्नादेशः, एवं प्ररथम्, प्रमृगम्, प्रदक्षिणम् । कालभावलक्षणेऽन्यपदार्थेऽपीत्यन्ये,-प्रक्रान्तमहरस्मिन् प्राह्णम्, प्रगता रथा अस्मिन् प्ररथम्, प्रनष्टा मृगा अस्मिन् प्रमृगम्, प्रकृता दक्षिणा अस्मिन् प्रदक्षिणम्, अन्यत्र प्रगता मृगा अस्मात् प्रमृगो देशः, देशेऽप्यन्ये । उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु तत्पुरुष एव, प्राह्णः, प्ररथः, प्रमृगः, प्रदक्षिणा । तथैकत्वमन्तस्य एकोऽन्त इति वा एकान्तम्, देशेऽन्यपदार्थेऽपीत्यन्ये । एवं प्रान्तं समपक्षम्, समानतीर्थम्, समानतीरम्, तथा-संप्रत्यसंप्रत्यप्रदक्षिणानि यथासंख्यं वर्तमानावर्तमानवामेषु । तथा-युद्धे इजन्तं च, केशाकेशि, दण्डादण्डि, द्विदण्डि, द्विमुसलि ।

'तिष्ठद्गु'— इत्यत्रेतिशब्दः स्वरूपपरिग्रहार्थः । तेनेह समासान्तरं न भवति-परमं तिष्ठद्गु तिष्ठद्गु प्रियमस्येति वाक्यमेव भवति । अत एव प्रदक्षिणसंप्रतिभ्यां सह नञ्समासेन सिद्धावप्रदक्षिणासंप्रत्योः पाठः । इजन्तस्य च तिष्ठद्ग्वादिपाठः 'इच् युद्धे' (7. 3. 74.) इत्यनेनेजन्तस्य समासान्तरप्रतिषेधार्थः, द्विदण्ड्यादेरव्ययीभावार्थश्च । अन्ये तु परपदेनैव समासं प्रतिषेधन्ति, तन्मते-परमतिष्ठद्गु, आतिष्ठद्गु, जपन् सन्ध्यामित्यादयोऽपि साधवः । तिष्ठद्ग्वादिराकृतिगणः—तेन प्रसव्यम्, अपसव्यम्, यत्प्रभृति, तत्प्रभृति, इतः प्रभृति इत्यादि सिद्धम् ॥36॥

न्या० स०—तिष्ठद्ग्विति । आयतीगवमिति इंणक् आयन्ति शतरि 'ह्विणोरप्' (4. 3. 15.) इति यत्वे ङ्यॉं आयत्यो गावो यस्मिन्निति कार्यम्, वृत्तौ त्वर्थकथनमात्रमेवं पूर्वत्र तिष्ठद्ग्वित्यत्रापि । असाधव इति द्वितीयाद्यन्ता इति शेषः । समा शब्दः संवत्सरवाची । *आयतीसममिति* अत्र यदा शत्रन्तात् ङीस्तदा गणपाठात् पुंवद्भावाभावः यदा त्वायतिशब्दः नित्यस्त्री ङ्यन्तस्तदा पुंवत्प्राप्तिर्नास्ति । *तृतीयासमास* इत्यन्ये इति तृतीयातत्पुरुष इत्यर्थः,

पीयते पुरुषस्य माहात्म्यमनेन पाति रक्षति शुभस्थाने प्रवर्त्तमानं पुरुषमिति वा पापम् ।

प्राह्णमिति 'नपुंसकाद् वा' (7. 3. 89.) इति विकल्पेनाति प्राप्तेऽन्हादेशः । एवं *प्रान्तमिति* प्रगतत्वमन्तस्य प्रगतोऽन्तः प्रगतोऽन्तोऽस्मिन्निति वा, समत्वं समानत्वं वा पक्षस्य तीर्थस्य तीरस्य चेति विग्रहत्रयं दर्शनीयं, एवं प्रान्तमिति स्वमतं परमतं चेहापि द्रष्टव्यमित्येवं शब्दार्थः । *तथा संप्रतीत्यादि* संभूतिरिदानीं न संभूतिरिदानीं न प्रकृष्टत्वं दक्षिणत्वस्य न प्रगतं दक्षिणेनेत्यादिवाक्यानि, तथा द्वौ दण्डौ अस्मिन् प्रहरणे द्वे मुसले प्रहरणमस्य द्विदण्ड्यादिः, इन । *प्रसव्यमित्यादि* प्रगतत्त्वं सव्यस्य सव्याद्वेति वाक्यं, यस्मात् प्रभृति इति वाक्यं *यत्प्रभृत्यादिषु* इतिकरणाच्च कृतापसव्यादिषु समासो न भवति, यत्र च दृश्यते तत्र चिन्तनीयम् । आतिष्ठद्गु इति तिष्ठद्गु आ इति सः ।।3. 1. 36. ।।

नित्यं प्रतिनाल्पे ।। 3. 1. 37. ।।

अल्पेऽर्थे वर्तमानेन प्रतिना नाम्ना नाम नित्यं समस्यतेऽव्ययीभावश्च समासो भवति । शाकस्याल्पत्वं शाकप्रति, सूपस्य मात्रा-सूपप्रति । अल्प इति किम् ? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । नित्यग्रहणं वाक्यनिवृत्त्यर्थम्– तेनान्यत्र समासो वाक्यं च भवति ।।37।।

न्या० स०–नित्यं प्रति० । *शाकप्रतीति* पूर्वार्थ इत्यधिकारेऽप्यसंभवादस्योत्तरपदार्थप्रधान एवाऽयं समासः, अथवाऽव्ययानां दोषामन्यमहर्दिवामन्या रात्रिरितिवद्वृत्तिविषये सत्वप्रधानत्वद-र्शनान्मात्रावति प्रतिशब्दस्य वृत्तेरविरोधादल्पः सूप इति विग्रहः ।।3. 1. 37.।।

संख्या-ऽक्ष-शलाकं परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ ।। 3. 1. 38. ।।

संख्यावाचि नामाक्षशलाके च द्यूतविषयेऽन्यथावर्तने वर्तमानेन परिणा नाम्ना सहैकार्थ्ये नित्यं समस्यन्तेऽव्ययीभावश्च समासो भवति, वर्तने चैषां कर्तृत्वात्तृतीयान्तत्वम्, अक्षशलाकयोस्त्वेक-वचनान्तयोरेवेष्यते । पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति, तत्र यदा सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति तदा पातयितुर्जयः अन्यथापाते पराजयः ।

एकेनाक्षेण शलाकया वा न तथावृत्तम् यथा पूर्वं जये एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि, परमेण चतुष्परि, पञ्चसु त्वेकरूपेषु जय एव भवति । अक्षेणेदं न तथा वृत्तम् यथा पूर्वं जये अक्षपरि, शलाकापरि । संख्यादीति किम् ? पाशकेन न तथा वृत्तम् । परिणेति किम् ? अक्षेण परिवृत्तम् । द्यूत इति किम् ? रथस्याक्षेण न तथा वृत्तम् । अन्यथावृत्ताविति किम् ? पञ्चपरीति माभूत् । केचित् समविषमद्यूते सममित्युक्ते यदा विषमं भवति, तदा अक्षपरि शलाकापरीति प्रयुज्यत इत्याहुः ।

अन्ये पूर्वं पदमाहूतं तच्च पतितमिष्टं सिद्धं पुनस्तदाहूतं यदा न पतति, तदायं प्रयोगोऽक्षपरि शलाकापरीत्याहुः ।।38।।

न्या०स०—संख्याक्षशलाकं० । ननु 'नाम नाम्नैकार्थ्ये' (3. 1. 18.) इत्यतः सूत्रात् ऐकार्थ्ये सतीत्यनुवर्त्तते, तत ऐकार्थ्ये सति समासः ऐकार्थ्यं च ऐकपद्यं तच्च समासे सति भवति, तत इतरेतराश्रयदोषे समासः कथम् ? उच्यते, यत्र यत्र येन सूत्रेण समासः कर्तुमिष्यते तत्र तत्र तस्मादेव ऐकार्थ्यं प्रथमं ज्ञातव्यम् ततः समासः, अन्यथा हि सर्वाण्यपि सूत्राणि निरर्थकतां भजेरन् इति हि न्यासविदः । षडादिभिर्द्यूताभावात् षट्परीत्यादि न भवति, उत्कर्षतस्तु चतुष्परीत्येव नित्यसमासोऽयमिति परिप्रयोगो वाक्ये नाऽकथि, किंतु न तथा वृत्तमिति पर्यायः । समविषमद्यूते इति एकिकाद्विकारूपे । अन्ये पूर्वमिति तस्मिन्नेव द्यूते ।।3. 1. 38.।।

विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यद्ध्यर्थाभावा-त्ययाऽ-संप्रति-पश्चात् क्रमख्याति-युगपत्-सदृक्-संपत्-साकल्यान्तेऽव्ययम् ।। 3. 1. 39. ।।

विभक्त्यादिष्वर्थेषु वर्तमानमव्ययं नाम नाम्ना सहैकार्थ्ये सति पूर्वपदार्थेऽभिधेये नित्यं समस्यते, स च समासोऽव्ययीभावसंज्ञो भवति । विभक्तिर्विभक्त्यर्थः कारकम्, अधिस्त्रि निधेहि-स्त्रीषु निधेहीत्यर्थः, एवमधिकुमारि, समीपे उपकुम्भं, कुम्भस्य समीप इत्यर्थः, एवमुपाग्नि, उपशरदम्, ऋद्धेराधिक्यं समृद्धिः—सुमद्रम्, मद्राणां समृद्धिरित्यर्थः, एवं सुमगधम्, सुभिक्षम्, विगता ऋद्धिः व्यृद्धिः—ऋद्ध्यभावः, दुर्यवनं—यवनानामृद्ध्यभाव इत्यर्थः, एवं दुर्भिक्षम्, अर्थाभावो धर्मिणोऽसत्त्वम्—निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणामभाव इत्यर्थः, एवं निर्मशकम्, अमक्षिकम्, उन्मशकम्, निवातम् ।

अत्ययोऽतीतत्वम्-सत एवातिक्रान्तत्वम्, अतिवर्षं वर्षाणामतीतत्वमित्यर्थः, एवमतिशीतम्, निशितम्, निहिमम्, अतृणम्, नितृणम्, असंप्रतीति वर्तमानकाले उपभोगादेः प्रतिषेधः,—अतिकम्बलं, कम्बलस्योपभोगं प्रति नायं काल इत्यर्थः, एवमतितैसृकम्, अत्याम्रम्, पश्चादर्थे, अनुरथं याति-रथस्य पश्चादित्यर्थः, एवम् अनुपादातम्, क्रम-आनुपूर्व्यम्, अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु-ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः, एवमनुवृद्धं साधूनर्चय, ख्यातिः- शब्दप्रथा, इतिभद्रबाहु, तद्भद्रबाहु, अहोभद्रबाहु, भद्रबाहुशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः, युगपदेककालार्थः—सचक्रं धेहि-चक्रेण सहैककालं चक्राणि वा युगपद्धेहीत्यर्थः, एवं सधुरं प्राजः, सदृगर्थे—सव्रतम्—व्रतस्य सदृशमित्यर्थः, एवं सशीलम्, सकिखि, सदेवदत्तम्, अव्ययीभावे सहस्य सभावः । संपत् सिद्धिः—सब्रह्म साधूनां संपन्नं ब्रह्मेत्यर्थः, एवं सवृत्तं

मुनीनाम्, सक्षत्रमिक्ष्वाकूणाम्-साकल्यमशेषता-सतृणमभ्यवहरति-न किंचित् त्यजतीत्यर्थः, एवं सतुषम्, अन्तः—समाप्तिः—सपिण्डैषणमधीते-पिण्डैषणापर्यन्तमधीत इत्यर्थः, एवं सषड्जीवनिकायमधीते,—अत्र समाप्तिरसकलेऽप्यध्ययने प्रतीयत इति साकल्ये अनन्तर्भावः। पूर्वपदार्थ इत्येव ? समृद्धा मद्राः—सुमद्राः। अव्ययमिति किम् ? समीपं कुम्भस्य ॥39॥

न्या०स०—विभक्तिसमीप० । अव्ययं नाम इति अत्र नाम नाम्नेति समुदायः संज्ञी समास इति संज्ञा, समासः संज्ञी अव्ययीभाव इति संज्ञा एतावती पदयोजना । *समस्यत इति* अन्वर्थरूपत्वं समाससंज्ञायाः प्रदर्श्याव्ययीभावसंज्ञो भवतीत्युपसंहरतीति । *अधिस्त्री*ति अत्राधिशब्दस्य क्लृप्तानेकार्थवृत्तेराधाररूपविभक्त्यर्थवृत्तित्वं प्रकाशयितुमुक्ताधारस्याऽपि सप्तम्यन्तेन स्त्रीशब्देन समासः । *ऋद्ध्यभाव इति* ऋद्धेरुत्तरपदार्थधर्म्मस्याभावो न तूत्तरपदार्थस्येव धर्म्मिण इत्यर्थाभावाद् भिद्यते, तत्र हि धर्मिण एवाभावः यवनानां ऋद्ध्यभावः इत्यत्र 'राष्ट्रक्षत्रियात्' (3. 1. 114.) इत्यञो 'बहुष्वस्त्रियाम्' (6. 1. 124.) इति लोपे ।

*धर्म्मिणोऽसत्त्वमि*ति धर्म्मिणोऽनुत्पत्तिरेव न तु सतोऽभाव इत्यर्थाभावोऽत्ययाद् विशिष्यते, अत्ययो हि सतोऽतिक्रान्तकालसंबन्धिनी सत्तैवोच्यते । उपभोगादेः प्रतिषेध इति न तु वस्तुन इति तदऽभावाद्भिद्यते न सांप्रतिकवस्त्वभाव इत्यर्थाभावाद्भिद्यते । ननु च वर्षाणामत्ययो नाम वर्षाणामभाव एव प्रध्वंसाभावो हि सः, तत्रार्थाभाव इत्येव सिद्धे किमर्थमत्ययग्रहणम् ? उच्यते, अर्थाभाव इति धर्म्मिणोऽभवनमात्रमुच्यते, तथाहि निर्मक्षिकं निर्मशकं वर्त्तते इति तत्र मक्षिकादयो भूत्वा माभूवन्नभूत्वा वा सर्वथा ते तत्र न सन्तीत्येतावन्मात्रमेव प्रतीयते, न तु प्राक् पश्चाद् वेति विशेषः, अतोऽत्ययो नार्थाभाव इति । असंप्रतीति अत्र न संप्रत्यसंप्रतीति बाहुलकादसमर्थसमासोऽयं यथा असूर्यंपश्याः, संप्रतीति हि इदानीमित्यर्थः ।

*तैसृकमि*ति त्रयो मुख्या आसां 'सोऽस्यमुख्यः' (7. 1. 190.) इति कः, पृषोदरादित्वात्ति-स्रादेशः, तिसृकासु भवोऽण् । अनुरथं यातीति ननु यथा नित्यसमासत्वात् पश्चाद्रूपेणार्थान्तरेणान्वित्यव्ययं समस्यते तथा पश्चाच्छब्दोऽपि अव्ययत्वादप्यर्थान्तरेण समस्यतां नित्यसमासत्वात् प्रयोगसमवायि वाक्यं नाप्नोति ? उच्यते, 'सर्व्वपश्चादादयः' (3. 1. 80.) इति वचनात् पश्चाच्छब्दस्य अव्ययीभावसमासं प्रत्यव्ययत्वं नाङ्गीकार्यम्, अव्ययत्वे हि अव्ययीभावः स्यात् तत्र चान्य इत्यधिकारात् समासान्तर-प्राप्ताव्रन्यत्वाभावात् तत्पुरुषो न स्यात् ।

*अनुपादातमि*ति अत्र पदातीनां समूहः पादाभ्यामतत्यचि वा पादातं पादातः । *लोके प्रकाशते इत्यर्थ इति* अत्रेति तत् अहोऽव्ययानि शब्दं प्रद्योतयन्ति, अव्ययानामन्यत्राऽसत्व-

वृत्तित्वेऽपि वृत्तिविषये निष्कौशाम्बिरतिखट्वः प्रकटो विकट इत्यादिवत् । सत्त्ववृत्तिदर्शनात् । *युगपद्वेहीति* शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चान्यपदार्थप्रधानोऽयम् । सकिखीति लोमशिका जीवविशेषः किखिः, यस्य लोके लुकटीति प्रसिद्धिः, यमगोत्रविशेषश्च ।

*संपत्सिद्धिरि*ति सिद्धिरात्मभावनिष्पत्तिः समृद्धिस्त्वन्यभावनिष्पत्तिरिति सिद्धिः समृद्धेरन्या । ब्रह्मणः संपत् *सब्रह्म* । *पिण्डो* भक्तमिति पिण्डो भक्तमिष्यतेऽन्विष्यते कल्प्याकल्प्यविभागेन विचार्यतेऽस्मिन्निति 'इषोऽनिच्छायाम्' (5. 3. 112.) इति व्युत्पत्तेः । *सषट्जीवनिकायमधीत* इत्यत्र जीवानां निकायाः षट् जीवनिकाया यत्र पठितव्ये, अथवा षण्णां जीवानां निकायस्ततः षट्जीवनिकायेनान्तः षड्जीवनिकायं ग्रन्थमन्तं कृत्वा न तु सकलमित्यर्थः । *अनन्तर्भाव इति* अत्र श्रुतस्कन्धादिरन्यपदार्थः, स्वभावात्तत्प्रधानोऽयं समासः ॥ 3. 1. 39. ॥

योग्यता-वीप्सा-ऽर्थानतिवृत्ति-सादृश्ये ॥ 3. 1. 40. ॥

एष्वर्थेष्वव्ययं नाम नाम्नैकार्थ्ये पूर्वपदार्थे समस्यतेऽव्ययीभावश्च समासः । योग्यतायाम्-अनुरूपं चेष्टते-रूपस्य योग्यां चेष्टां कुरुते । वीप्सायाम्-प्रत्यर्थं शब्दा अभिनिविशन्ते-अर्थमर्थं प्रतीत्यर्थः, एवं प्रतिपर्यायम्, वीप्सायां द्वितीयाया विधानात् वाक्यमपि भवति-अर्थमर्थं प्रतीति । अर्थानतिवृत्तिः पदार्थानतिक्रमः—यथाशक्ति पठ-शक्तेरनतिक्रमेणेत्यर्थः, एवं यथाबलम्, नात्र विन्यासविशेष इति क्रमाद्भेदः । सादृश्ये-सशीलमनयोः—शीलस्य सादृश्यमित्यर्थः, एवं सव्रतमनयोः, सकिखि-किख्या सादृश्यमित्यर्थः । सदृगित्यनेनैव सिद्धे सादृश्यग्रहणं मुख्यसादृश्य-परिग्रहार्थम् ॥40॥

न्या० स०—योग्यतावीप्सा० । *प्रत्यर्थमि*ति 'वाऽभिनिविशः' (2. 2. 22.) इति विकल्पेन कर्मण आधारसंज्ञा, समासेन वीप्साया द्योतितत्वात् तन्निमित्ता द्विरुक्तिर्न प्रवर्त्तते । वाक्ये तु लक्षणादेरनेकस्यार्थस्य द्योत्यस्य संभवाद् विभक्तिमन्तरेण वीप्सा द्योतयितुं न शक्येति । *पदार्थानतिक्रम* इति पदमुत्तरपदं शक्त्यादिरूपं तस्यार्थः सामर्थ्यं तस्यानतिवृत्तिः । *विन्यासविशेष इति* मूर्त्तस्यानेकस्य पदार्थस्य नियतदेशाद्यपेक्षं व्यवस्थापनं विन्यासः स एव विशेषः, यदि सदृगित्येव कुर्यात्तदा सकिखि देवदत्त इति सामानाधिकरण्यमेव स्यादित्याह—*सादृश्यग्रहणमित्यादि* तेन देवदत्तस्य सकिखीति वैयधिकरण्यमपि सिद्धम्, सदृग्शब्दो हि धर्मिवाची सादृश्यशब्दस्तु धर्मवाची ॥3. 1. 40.॥

यथाऽथा ॥ 3. 1. 41. ॥

थाप्रत्ययरहितं यथेत्येतदव्युत्पन्नमव्ययं नाम नाम्ना सहैकार्थ्ये नित्यं समस्यते, पूर्वपदार्थेऽभिधेये स च समासोऽव्ययीभावः । यथारूपं चेष्टते–रूपानुरूपमित्यर्थः, यथावृद्धमभ्यर्चय-ये ये वृद्धास्तानित्यर्थः, यथासूत्रमनुतिष्ठति-सूत्रानतिवृत्त्येत्यर्थः । अथा इति किम् ? यथा चैत्रः तथा मैत्रः । पूर्वेणैव सिद्धे सादृश्ये प्रतिषेधार्थं वचनम् ।।41।।

न्या0स0–यथाऽथा । *यथावृद्धमि*ति अत्र क्रमोऽपि प्रतीयते तत् कथमुक्तं ये ये वृद्धा इत्यादि, उच्यते, प्रतीयतां क्रमो वीप्साऽपि प्रतीयते, न ह्येकोऽनेकार्थो न भवति । *पूर्वेणैव सिद्ध इति* पूर्वसूत्रोपात्तेष्वेवार्थेषु अस्याऽपि प्रवृत्तेः । सादृश्ये प्रतिषेधार्थमिति ननु यथा चैत्र इत्यादौ चैत्रसदृशो मैत्र इत्यर्थः, ततश्च थाप्रत्ययान्तः सादृश्ये न प्रवर्त्ततेऽपि तु सदृशि ततः किमुक्तं सादृश्ये प्रतिषेधार्थम् ? उच्यते, सादृश्योपाधिकत्वात् सदृगपि सादृश्य शब्देनोच्यतेऽतो वचनं, सदृशि तु 'विभक्तिसमीप' (3. 1. 39.) इति प्राप्ते निषेधः, अव्युत्पन्नस्य सादृश्यं विना योग्यतादिष्वर्थेषु 'योग्यता' (3. 1. 40.) इति सिद्धः समासः परं व्युत्पन्नस्य सदृगर्थे 'विभक्ति' (3. 1. 39.) इत्यादिना समासः प्राप्तस्तन्निषेधार्थं वचनम् ।।3. 1. 41.।।

गति क्वन्यस्तत्पुरुषः ।। 3. 1. 42. ।।

कु इत्यव्ययं पापाल्पयोर्वर्तते, गतिसंज्ञकाः कुश्च नाम नाम्ना सह नित्यं समस्यन्ते, स च समासोऽन्यो बहुव्रीह्यादिलक्षणरहितस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । ऊरीकृत्य, खाट्कृत्य, शुक्लीकृत्य, पटापटाकृत्य, प्रकृत्य, कारिकाकृत्य, कु–कुत्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः, एवं कुपुरुषः, ईषदुष्णं कोष्णं, कवोष्णं, कदुष्णम्, एवं कामधुरम् । अव्ययमित्येव कुर्विशाला–पृथिवीत्यर्थः । अन्य इति किम् ? कुत्सिताः पुरुषा यस्य स कुपुरुषकः,–अत्र बहुव्रीहित्वात् कच् भवति । तत्पुरुषप्रदेशाः 'गोस्तत्पुरुषात्' (7. 3. 105.) इत्यादयः ।।42।।

न्या0स0–गति क्वन्य0 । *कु इत्यव्ययमि*ति गतिसाहचर्यादव्ययमित्यधिकाराद् वा संभवव्यभिचारेति न्यायात् कु इत्यस्य विशेषणं न तु गतिसंज्ञानां तेषामव्यभिचारात् । *कुब्राह्मण इति* नित्यसमासत्वात् कुत्सितो ब्राह्मण इत्यस्वपदविग्रहः ।। 3. 1. 42. ।।

दुर्निन्दा-कृच्छ्रे ।। 3. 1. 43. ।।

दुरित्यव्ययं नाम निन्दायां कृच्छ्रे चार्थे वर्तमानं नाम्ना नित्यं समस्यते, स च

समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । निन्दित पुरुषः दुष्पुरुषः, कृच्छ्रेण कृतं दुष्कृतम् । अन्य इत्येव ? निन्दिताः पुरुषा यस्य स दुष्पुरुषः,–अत्रापि बहुव्रीहित्वात्कच् ।।43।।

सुः पूजायाम् ।। 3. 1. 44. ।।

सु इत्यव्ययं पूजायां वर्तमानं नाम्ना नित्यं समस्यते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । शोभनो राजा सुराजा । अन्य इत्येव ? मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम्,–अत्राव्ययीभावत्वादम् ।।44।।

न्या०स०–सुः पूजायाम् । पूजाया अन्यत्रातिशयार्थेऽनुक्ताऽपि व्यावृत्तिर्द्रष्टव्या ।।3. 1. 44.।।

अतिरतिक्रमे च ।। 3. 1. 45. ।।

अतीत्यव्ययमतिक्रमे पूजायां च वर्तमानं नाम्ना नित्यं समस्यते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । अतिस्तुतं भवता, अतिसिक्तं भवता,–अतिक्रमेण स्तुतिसेकौ कृतावित्यर्थः, अतिस्तुत्य, अतिसिच्य, पूजायाम्-शोभनो राजा अतिराजा । बहुलाधिकारादतिक्रमे क्वचिन्न भवति-अति श्रुत्वा, अति सिक्त्वा ।।45।।

आङल्पे ।। 3. 1. 46. ।।

आङित्यव्ययमल्पेऽर्थे वर्तमानं नाम्ना नित्यं समस्यते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । ईषत्कडारः-आकडारः, एवमापिङ्गलः । आबद्धमायुक्तमित्यादौ तु क्रियायोगे गतिलक्षण एव समासः ।।46।।

प्रात्यव-परि-निरादयो गत-क्रान्त-क्रुष्ट-ग्लान-क्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः ।। 3. 1. 47. ।।

प्रादयः शब्दा गताद्यर्थेषु वर्तमानाः प्रथमान्तेन, अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थेषु द्वितीयान्तेन, अवादयः क्रुष्टाद्यर्थेषु तृतीयान्तेन, पर्यादयो ग्लानाद्यर्थेषु चतुर्थ्यन्तेन निरादयः क्रान्ताद्यर्थेषु पञ्चम्यन्तेन, नाम्ना सह नित्यं समस्यन्ते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । प्रादयः प्रगत आचार्यः प्राचार्यः, एवं प्रान्तेवासी, प्रवृद्धो गुरुः प्रगुरुः, प्रकृष्टो वीरः प्रवीरः, संगतोऽर्थः समर्थः, विरुद्धः पक्षो विपक्षः, प्रत्यर्थी पक्षः प्रतिपक्षः, प्रतिबद्धं वचः प्रतिवचः, । उपश्लिष्टः पतिरुपपतिः, उपपन्नोऽनुकूलः प्रतिकूलो वा नायकः–उपनायकः, अनुनायकः, प्रतिनायकः,

अत्यादयः-अतिक्रान्तः खट्वाम् अतिखट्वः, उद्गतो वेलाम् उद्वेलः, प्रतिगतोक्षं प्रत्यक्षः, अनुगतः प्रतिगतो वा लोमानि अनुलोमः, प्रतिलोमः, अभिप्रपन्नो मुखमभिमुखः, अवादयः— अवक्रुष्टः, कोकिलया-अवकोकिलः, परिणद्धो वीरुद्भिः परिवीरुत्, संनद्धो वर्मणा संवर्मा, अनुगतमर्थेनान्वर्थं नाम, संगतमक्षेण समक्षम् वस्तु, वियुक्तमर्थेन व्यर्थं वचः, संगतमर्थेन समर्थं पदम्, पर्यादयः—परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः, उद्युक्तः संग्रामाय उत्संग्रामः, शक्तः कुमार्यै अलंकुमारिः, शक्तः पुरुषेभ्यः अलंपुरुषीणः, अलंशब्दस्य चतुर्थ्यन्तेन वाक्यमपीच्छन्त्यन्ये, अलं जीविकायै-अलंजीविकः, अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः ।

निरादयः— निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः, अपगतः शाखायाः अपशाखः, अन्तर्गतोऽङ्गुल्या अन्तरङ्गुलो नखः, उत्क्रान्ता कुलादुत्कुला कुलटा, एवमुद्वेलः समुद्रः, उच्छास्त्रं वचः, उत्सूत्रो न्यायः, उच्छृङ्खलः कलभः, अपगतमर्थादपार्थं वचः, एवमपक्रमं कार्यम् । बहुलाधिकारात् षष्ठ्यन्तेनापि-अन्तर्गतो गार्ग्यस्य अन्तर्गार्ग्यः, एवमन्तरङ्गुलो नखः, सप्तम्यन्तेनापिप्रतिष्ठितमुरसि प्रत्युरसम् । गताद्यर्था इति किम् ? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्, साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । अन्य इत्येव । प्राचार्यको देशः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।47।।

न्या0स0—प्रात्यवपरि0 । *गताद्यर्थेषु वर्त्तमाना* इति अनेन प्रादीनां गम्यादिक्रियाविशिष्ट-साधनेषु प्रवृत्तिर्वृत्तिविषये विज्ञायते, तत्रास्यास्मिन्नर्थे वृत्तिरिति विशेषनिर्ण्णयो लक्ष्यानुसारेण भवति, तत्राऽपि प्रयोगपर्यालोचनया विशिष्टार्थवृत्तित्वं प्रादीनां वाक्यैराचष्टे । *प्रगत आचार्य* इत्यत्र वाक्ये प्रादेर्द्योतकत्वं गम्यमानप्रादेशप्रगतार्थस्य वाचकत्वं प्रार्थत्वाद् गतस्य प्राचार्यो देश इति न भवति । *प्रान्तेवासीति* अन्ते वसतीत्येवं व्रती 'व्रताभीक्ष्ण्ये' (5. 1. 157.) णिन् 'शयवासिवासेषु' (3. 2. 25.) इत्यलुप् । *अनुलोम* इति 'प्रत्यन्वव' (7. 3. 82.) इति अत् समासान्तः, 'नोपदस्य' (7. 4. 61.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपः । अन्तरङ्गुल इति 'संख्याव्ययादङ्गुले' (7. 3. 124.) इति डः । प्रत्युरसमिति 'प्रत्युरसः' (7. 3. 84.) इत्यत् समासान्तः ।।3. 1. 47.।।

अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ।। 3. 1. 48. ।।

अव्ययं नाम प्रवृद्धादिभिर्नामभिर्नित्यं समस्यते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । पुनःप्रवृद्धं बर्हिः, पुनरुत्स्यूतं वासः, पुनर्निष्क्रान्तो रथः, पुनरुक्तं वचः, पुनर्नवं वयः, पुनःशृतं पयः, स्वर्यातः, अन्तर्भूतः, प्रातःसवनम्, उच्चैर्घोषः, नीचैर्गतम्, अधस्पदम्, अनद्धापुरुषः,

असशक्तः पुरुषः, प्रायश्चित्तम्, सद्यस्क्रीः, प्राग्वृत्तम्, पुराकल्पः, श्वःश्रेयसम्, श्वोवसीयसम् इति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥48॥

न्या० स०–अव्ययं प्र० । *पुनः प्रवृद्धमि*ति कालवाचकात् पुनः शब्दात् 'कालाध्वभाव' (2. 2. 23.) इति विकल्पेन द्वितीया सप्तमी वा सर्वत्र, पुनः प्रवर्द्धते स्मेति कार्यं, न तु भूयः प्रवृद्धमिति तस्याप्यव्ययत्वादनेनैव नित्यसमासत्वात् समुदायस्यैवाऽयं पर्यायो भवति, एवमुत्तरेष्वपि, श्राति श्रायति वा पयः स्वयमेव तद् श्रायद् वा चैत्रेण प्रयुज्यते स्म, ततः पुनः श्रप्यते स्म ।

अन्तर्भूत इत्यत्र अन्तःशब्देन मध्यस्थोऽप्युच्यते तदा प्रथमा । *अधस्पदमिति* अधस्थाने पदमित्येव कार्यं न त्वधस्तादिति तस्याप्यव्ययत्वात्, अनिर्णयोऽनद् वा तेन पुरुषः न विद्यते द्वा संशयोऽस्येति व्युत्पत्त्याद् वा धर्मी उच्यते, न अद्वा अनद् वा संशयितः पुरुषः ससंशयः पुरुषो वा *अनद् वा पुरुषः* । भ्रातुष्पुत्रकस्कादित्वात् सत्वे *सद्यस्क्रीः* । 'निसश्च श्रेयसः' (7. 3. 122.) इति श्वः श्रेयसम् । श्वोवसीयसमिति वसुशब्दान्मतौ ईयसि 'विन्मतोः' (7. 4. 32.) इति मत्लोपे शोभनं वसीयः 'श्वसो वसीयसः' (7. 3. 121.) अत् ॥3. 1. 48.॥

ङस्युक्तं कृता ॥ 3. 1. 49. ॥

कृत्प्रत्ययविधायके सूत्रे ङसिना पञ्चम्यन्तेन नाम्नोक्तं ङस्युक्तम् । तत् कृदन्तेन नाम्ना नित्यं समस्यते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । कुम्भं करोति कुम्भकारः, शरलावः, अग्निचित्, सोमसुत् अन्यथाकारं भुङ्क्ते, अतिथिवेदं भोजयति, इह च गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्यन्तानामेव कृदन्तैर्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समास इष्यते–तेन प्रस् स्थ इत्यादौ, चर्मन् टा क्रीत, अभ्र टा विलिप्त इत्यादौ, कच्छ अम् प इत्यादौ च समासे च सति अकारान्तत्वात् ङीः सिद्धः–प्रष्ठी, चर्मक्रीती, अभ्रविलिप्ती, कच्छपी इत्यादि ।

यदि पुनर्विभक्त्यन्तैः कृदन्तैः समासः स्यात् तदान्तरङ्गत्वाद्विभक्तेः प्रागेव आपः प्राप्तावकारान्तत्वाभावात् ङीर्न स्यात् । तथा-माषान् वापिन् व्रीहीन् वापिन् इत्यादौ समासे नकारस्यानन्तत्वाण्णत्वं सिद्धम्-माषवापिणी, व्रीहिवापिणी । विभक्त्यन्तेन तु समासेऽन्तरङ्गत्वाद्विभक्तेः प्रागेव ङीप्राप्तौ नकारस्यान्त्यत्वाण्णत्वं न स्यात् । पूर्वपदस्य च विभक्त्यन्तत्वनियमात् चर्मक्रीतीत्यादिषु पदकार्यं नकारलोपादि सिद्धं भवति । ङस्युक्तमिति किम् ? कारकस्य व्रज्या, कारकस्य गतिः, अलं कृत्वा, खलु कृत्वा । कृतेति किम् ? धर्मो वो रक्षतु ॥49॥

न्या० स०–ङस्युक्तं० । *कृदन्तेने*ति प्रत्यासत्त्या तत्सूत्रविहितनैव । *आपः प्राप्ताविति* आप् किल स्त्रीत्वमात्रनिमित्तः, स्यादिस्तु कश्चित् संख्यानिमित्तः कश्चित् कर्मादिनिमित्तः । *कारकस्येति*

'क्रियायां क्रियार्था' (5. 3. 13.) इति सप्तम्युक्तत्वाणकच् अभाणि ङस्युक्तं यदि न भण्यते तदा व्रज्याकारकगतिकारकौ इति स्याताम् ।।3. 1. 49.।।

तृतीयोक्तं वा ।। 3. 1. 50. ।।

'दंशेस्तृतीयया' (5. 4. 73.) इत्यारभ्य यत्तृतीयोक्तं नाम तत् कृता नाम्ना वा समस्यते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । मूलकेनोपदंशं, मूलकोपदंशं भुङ्क्ते, दण्डेनोपघातं, दण्डोपघातं गाः कलयति, पार्श्वयोः पार्श्वाभ्यां वोपपीडं, पार्श्वोपपीडं शेते । वाशब्दो नित्यसमासनिवृत्त्यर्थः तेनोत्तरेषु वाक्यमपि भवति ।।50।।

न्या0स0—तृतीयोक्तं0 । वाशब्द इति-इह पृथग्योगादेव नित्यत्वस्य निवृत्तिर्वाशब्दस्तु नित्यसमासाधिकार निवृत्त्यर्थ इति ।। 3. 1. 50. ।।

नञ् ।। 3. 1. 51. ।।

नञित्येतन्नाम नाम्ना समस्यते, स च समासोऽन्यस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । न गौः अगौः, अनुच्चैः, असः निवर्त्यमानतद्भावश्चोत्तरपदार्थः पर्युदासे नञ्समासार्थः—स चायं चतुर्धा-तत्सदृशः, तद्विरुद्धः, तदन्यः, तदभाव इति । अब्राह्मणः, अशुक्ल इति तत्सदृशः—क्षत्रियादिः पीतादिश्च प्रतीयते, अधर्मः, असित इति तद्विरोधी-पाप्मा कृष्णश्च प्रतीयते, अनग्निः अवायुरित्यग्निवायुभ्यामन्यः प्रतीयते, अवचनम् अवीक्षणमिति वचनवीक्षणाभावः प्रतीयते । नन्वस्योत्तरपदार्थप्राधान्येन तल्लिङ्गसंख्यत्वे सति कथं 'भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः' इत्यादौ अनेके इति बहुवचनम्—असाधव एवेदृशाः शब्दाः ।

प्रसह्यप्रतिषेधे तु नञ् पदान्तरेण संबध्यत इति उत्तरपदं वाक्यवत् स्वार्थ एव वर्तते-तत्रासामर्थ्येऽपि यथाभिधानं बहुलकात् समासः—सूर्यमपि न पश्यन्ति असूर्यपश्या राजदाराः, पुनर्न गीयन्ते अपुनर्गेयाः श्लोकाः, श्राद्धं न भुङ्क्ते अश्राद्धभोजी, अलवण-भोजी भिक्षुः, तथा कर्णवेष्टकाभ्यां न शोभते अकार्णवेष्टकिकं मुखम्,—'शोभमाने (6. 4. 102.) इतीकण्, वत्सेभ्यो न हितोऽवत्सीयो गोधुक्, 'तस्मै हितः' (7. 1. 35.) इतीयः, वधं नार्हत्यवध्यो ब्राह्मणः, 'दण्डादेर्यः' (6. 4. 178.) इति यः, संतापाय न शक्त असांतापिकः सदुपदेशः,— 'तस्मै योगादेः शक्ते' (6. 4. 94.) इतीकण् । अन्य इत्येव ? न विद्यन्ते मक्षिका यत्र सोऽमक्षिकाकः, मक्षिकाणामभावोऽमक्षिकमिति ।।51।।

न्या० स०—नञ् । ननु न इत्येव निरनुबन्धः पठ्यतां किं सानुबन्धेन नात्युपादानेन ? सत्यं, चादिषु ञकारोपदेशं स्मारयितुं ञकारो निर्दिश्यते प्रतिषेध-शङ्काव्युदासार्थं च, नेत्युक्ते हि समासस्य प्रतिषेधः सम्भाव्यते । *अगौरिति* नञा विशेषित आरोपितगवादिस्वरूपो गवयादिरित्यर्थः । निवर्त्त्यमानतद्भाव इति । घटादेः पटादिभावो यः कुतश्चिद् व्यामोहादाशङ्कितः स निवर्त्त्यमानस्तिरस्क्रियमाणो यत्रोत्तर पदार्थे स निवर्त्त्यमानतद्भावः, निवर्त्त्यमानो यस्तस्य उत्तरपदस्य भाव उत्तरपदप्रवृत्ति-निमित्तगोत्वब्राह्मणत्वादि तद्वानिहार्थ उत्तरपदस्यैवार्थः । नञ् समासस्यापि निवृत्तिविशिष्टोत्तरपदार्थ-प्राधान्यमित्यर्थः । स *चायमि*ति उत्तरपदार्थ इत्यर्थः । *अवचनं* इत्यादिषु कश्चिद् वचनमवचनं च एकमेव जानाति पश्चाद्वचनं न भवति, कोऽर्थः ? यद् वचनं वर्त्तते तद्वचनं न भवति । एतेन किमुक्तं भवति ? अवचनस्य वचनाभावः प्रतीयते इत्यर्थः एवं अवीक्षणम् इत्यत्राऽपि ज्ञेयम् । प्रतीयते इति सर्वत्र शब्दशक्तिस्वाभाव्यादिति योज्यम् ।

अश्राद्धभोजी-इत्यादिषु 'व्रताभीक्ष्ण्ये' (5. 1. 157.) इति णिन्, कर्णौ वेष्ट्येते आभ्यामिति नाम्नि पुंसि च एकः । *अकार्ण्णवेष्टकिकम्* इत्यादिषु नञः शुभिक्रिययैव संबन्धानाकारस्य वृद्धिः, एवं सर्वोदाहरणेषु ज्ञातव्यम् । नन्विदं सूत्रं विनाप्यब्राह्मण इत्यादयो विशेषणमित्यनेन कर्मधारयेऽपि सेत्स्यन्ति, यतो नञ् विशेषणम् ब्राह्मणो विशेष्यमिति ? उच्यते, पूर्वापरभावनियमार्थं वचनं, यत्र द्वौ गुणशब्दौ भवतः, तत्रानियमेन पूर्वनिपातः, यथा अखञ्जः, नञ् निषेधमात्रे वर्त्तते, खञ्जशब्दोऽपि गुणमात्रे इत्यनियमेन प्राप्नोतीति वचनम् । प्रसज्ञ कृत्वा प्रतिषेधः *प्रसज्यप्रतिषेधः* 'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः' (3. 1. 48.) सः ।

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुने-स्तिरोहिताश्चित् प्रहरन्ति देवताः ।
कथं त्वमी संततमस्य सायका, भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ॥1॥ किराते

अनेके इति अत्र न एक इति कृत्वा विशेष्यलिङ्गसंख्यां चाश्रित्य अनेक इत्यपि समर्थ्यते उत्पलेन । कश्चिदेकशब्दस्यान्यार्थस्य एकशेषादेक इति साधयित्वा पश्चान्नञ्समासं मन्यते ॥3. 1. 51.॥

पूर्वा-ऽपरा ऽधरोत्तरमभिन्नेनांशिना ॥ 3. 1. 52. ॥

अंश एकदेशस्तद्वानंशी, पूर्वादयः शब्दाः सामर्थ्यादंशवाचिनोंऽशिना समस्यन्ते, अभिन्नेन 'न चेत्सोंऽशी भिन्नः प्रतीयते' तत्पुरुषश्च समासो भवति । पूर्वः कायस्य पूर्वकायः, एवम् अपरकायः, अधरकायः, उत्तरकायः, पूर्वादिग्रहणं किम् ? दक्षिणं कायस्य । अभिन्नेनेति किम् ? पूर्वं छात्राणामामन्त्रयस्व प्रसज्यप्रतिषेधः किम् ? पूर्वं पाणिपादस्य-अत्र हि

समाहारस्यैकत्वेऽपि पाणिः पाद इति भेदप्रतीतेर्न भवति । पूर्वग्राम इत्यादौ तु न ग्रामशब्दात्प्रासादादिभेदप्रतीतिः । अंशिनेति किम् ? पूर्वो नाभेः कायस्य ।।52।।

न्या0स0–पूर्वापराध । *पूर्वः कायस्ये*ति पूर्वो भागः कस्मात् ? नाभ्यादेः, कस्य ? कायस्येति संबन्धाद्दिक्पञ्चमी कायशब्दान्न भवति । *पूर्वं छात्राणामि*ति बहुवचनात् भेदप्रतीतिः, छात्राणां संबन्धिनं कस्मादपि छात्रात् पूर्वमित्यर्थः । *प्रसज्यप्रतिषेधः किमि*ति; यद्यत्राभिन्नेन भवतीति पर्युदासः स्यात्तदा समाहारस्यैकत्वादत्रापि समासः स्यात्, भिन्नेन न भवतीति प्रसज्यप्रतिषेधे तु विज्ञायमाने समाहारद्वंद्वस्य भेदपूर्वकत्वात् भेदनिमित्तः प्रतिषेधोऽपीति समासाभावः ।

*अंशिनेति किमि*ति ननु नाभेर्यः पूर्वो भागो व्यवस्थितः, स कायस्य शोभनो रिक्तो वेत्याद्यर्थोऽत्र विवक्षितस्तत्र पूर्वस्य कायापेक्षत्वेनासमर्थत्वादेव नाभ्या सह समासो न प्राप्तः किमंशिवर्जनेन ? सत्यं, यद्यपि कायापेक्षत्वं पूर्वस्य तथापि प्रधानसापेक्षत्वेऽपि वृत्तिर्भवतीति असत्यंशिनेत्यस्मिन्नवधिभूतया नाभ्या समासः संभाव्येत, अमुना कायेनांऽशिना सह समासो यथाभिधानमस्ति ततः प्रवर्त्तते पूर्वकायो नाभेरिति ।।3. 1. 52.।।

सायाह्नादयः ।। 3. 1. 53. ।।

सायाह्नादयः शब्दा अंशिना तत्पुरुषेण साधवो भवन्ति । सायमह्नः सायाह्नः, मध्यमह्नः मध्याह्नः, मध्यं दिनस्य मध्यंदिनम्, मध्यं रात्रेः मध्यरात्रः, उपारताः पश्चिमरात्रगोचरात् इत्यादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्–पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः इतिवत्समुदायवाचिनामंशेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् सामानाधिकरण्ये सति कर्मधारयेणैव सिद्धम् । पूर्वश्चासौ कायश्च पूर्वकायः, सायं च तदहश्च सायाह्न इति । तत्पुरुषविधानं त्विह पूर्वत्र चाह्नः सायं कायस्य पूर्वमिति षष्ठीसमासबाधनार्थम् ।।53।।

न्या0स0–सायाह्नादयः । स्यतेर्घञि औणादिको वा सायशब्दः, मान्तमव्ययं वा । *सायमह्न इति* ननु 'सायम्' शब्देनाऽहरन्त उच्यते इत्युक्तार्थत्वात् सायमह्न इति विग्रहेऽहन्शब्दस्य प्रयोगो न प्राप्नोति ? सत्यं, दिनान्ते यानि कार्याणि क्रियन्ते तान्यप्युपचारात् 'सायम्' शब्देनोच्यन्ते, ततः संदेहः किं कार्याण्यभिधीयन्ते उत दिनान्त इत्यहन्शब्दः प्रयुज्यते, सूत्रसामर्थ्यात् वा तस्माच्च दिनान्त एव लभ्यते ।

उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा-दपारयन्तः पतितुं जवेन गाम् ।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोन्मुखं, गवां गणाः प्रस्नुतपीवरोधसः ।।1।। किराते

*षष्ठीसमासबाधनार्थमि*ति ननु सायमोऽव्ययत्वात् 'तृप्त' (3. 1. 85.) इत्यादिना षष्ठीसमासस्य निषेधेन प्राप्तिरेव नास्ति किमुच्यते षष्ठीसमासबाधनार्थमिति ? उच्यते, यदाऽकारान्तः सायशब्दोऽनव्ययं नपुंसकलिङ्गस्तदा प्राप्नोति ॥ 3. 1. 53. ॥

समेंऽशेऽर्द्धं नवा ॥ 3. 1. 54. ॥

अर्धमित्येतत्समेंऽशे वर्तमानमंशिना अभिन्नेन वा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अर्धं पिप्पल्याः अर्धपिप्पली, पक्षे-पिप्पल्यर्धम्। एवमर्धकोशातकी, कोशातक्यर्धम्, अर्धपणः, पणार्धम्, अर्धवेदिः, वेद्यर्धम्, अर्धचापम् चापार्धम्, अर्धस्वरः, स्वरार्धम्, अर्धग्रामः, ग्रामार्धम्, अर्धापूपः, अपुपार्धम्, समेंऽश इति किम् ? ग्रामार्धः, नगरार्धः, ।

अर्धं च सा पिप्पली चेति कर्मधारयेणैव सिद्धे भेदविवक्षायां पक्षे षष्ठीसमासबाधनार्थमसमांशे चार्द्धश्चासौ ग्रामश्चेति कर्मधारयनिषेधार्थं वचनम्। अंशिनेत्येव ? पिप्पल्या अर्धं चैत्रस्य, अत्र चैत्रेण समासो न भवति। अभिन्नेनेत्येव ? अर्धं पिप्पलीनाम्। कथमर्धपिप्पल्यः, अर्धं पिप्पल्या इत्यभिन्नेन समासे। सत्येकशेषात्, अर्धराशिरित्यत्र राशेरभेदप्रतिभासाद्भविष्यति, अत्र समेंऽशे वर्तमानोऽर्धशब्द आविष्टलिङ्गी नपुंसकः, असमांऽशे तु पुंलिङ्गः। अन्ये त्वसमासे वाच्यलिङ्गमेनमाहुः। असमांश एव च षष्ठीसमासं, समांशे तु नित्यमंशितत्पुरुषमिच्छन्ति ॥54॥

न्या०स०—समेंऽशे । *अर्द्धं पिप्पल्या* इत्यत्रार्द्धशब्दस्य तुल्यभागेऽर्द्धमिति क्लीबत्वं, अर्द्धपिप्पलीति समुदायस्य तु परलिङ्गो द्वंद्वोऽशीति वचनात् स्त्रीत्वम्, एवमुत्तरत्र। अतुल्यभागे तु ग्रामार्द्ध इत्यादावर्द्धसुदर्शनेति पुंस्त्वम्। *षष्ठीसमासबाधनार्थमि*ति अयमर्थः सूत्राभावे भेदाभेदविवक्षायां प्रयोगद्वयं सिद्ध्यति। सूत्रकृतौ तु भेदविवक्षायामेव पक्षे षष्ठीसमासं बाधित्वा प्रयोगद्वयं सिद्धम्, अन्यथा भेदे षष्ठीसमास एव स्यात्। अर्द्धं *पिप्पलीनामि*ति पिप्पल्याख्य-स्यांशिनोऽनेकद्रव्यस्वभावत्वादभिन्नत्वाभावात् समासाभावः, षष्ठीसमासस्तु भवत्येव पिप्पल्यर्द्धमिति। प्रकरणादिना बहुत्वस्याप्यन्तर्गतबहुवचनान्तस्यापि प्रवृत्तिरविरुद्धा ॥ 3. 1. 54. ॥

जरत्यादिभिः ॥ 3. 1. 55. ॥

असमांशार्थ आरम्भः, अर्धशब्दो जरत्यादिभिरंशिभिरभिन्नैः सह वा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अर्धो जरत्या अर्धजरती तत्तुल्यम् अर्धजरतीयम्, अर्धवैशसम्, अर्धोक्तम्, अर्धविलोकितम्,—पक्षे जरत्यर्ध इत्याद्यपि भवति। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। इदमपि षष्ठीसमासबाधनार्थम् ॥55॥

न्या० स०—जरत्यादि । अर्द्धजरतीयमित्यत्र 'काकतालीयादयः' । अर्द्धवैशसम् इति 'शसू हिंसायाम्' विशसनं ''कृतसंपदादिभ्यः'' (5. 3. 114.) विशसैव प्रज्ञाद्यण् अर्द्धो वैशसस्यार्द्धमरणमित्यर्थः ।।3. 1. 55.।।

द्वि त्रि-चतुष्पूरणाऽग्रादयः ।। 3. 1. 56. ।।

द्वित्रिचतुर् इत्येते पूरणप्रत्ययान्ता अग्र इत्यादयश्च शब्दा अंशवाचिनोंऽशिनाऽभिन्नेन वा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । द्वितीयं भिक्षाया, द्वितीयभिक्षा, एवं तृतीयभिक्षा, चतुर्थभिक्षा, तुर्यभिक्षा तुरीयभिक्षा, अग्रं हस्तस्य अग्रहस्तः, एवं तलपादः, ऊर्ध्वकाय इत्यादि, पक्षे भिक्षाद्वितीयम्, भिक्षातृतीयम्, भिक्षाचतुर्थम्, भिक्षातुर्यम्, भिक्षातुरीयम्, हस्ताग्रम्, पादतलम्, कायोर्ध्वमित्यादि । नित्याधिकाराभावादेव पक्षे वाक्यस्य सिद्धत्वाद्वानुवृत्तिः पक्षे षष्ठीसमासार्थम्-तेन पूरणेन निषिद्धोऽपि षष्ठीसमासो भवति । द्व्यादिग्रहणं किम् ? पञ्चमं भिक्षायाः । पूरणेति किम् ? द्वौ भिक्षायाः । अशिनेत्येव ? भिक्षाया द्वितीयं भिक्षुकस्य, भिक्षुकेण समासो न भवति । अभिन्नेनेत्येव ? द्वितीयं भिक्षाणाम् । अग्रादिराकृतिगणः ।।56।।

न्या० स०—द्वित्रिचतुः । द्विश्च त्रिश्च चत्वारश्च द्वित्रिचतुस्तच्च सूत्रत्वात् पूरणशब्दस्य विशेषणस्यापि न पूर्वनिपातः । पञ्चमं भिक्षाया इति । षष्ठीसमासोऽपि वा ग्रहणेन यस्यैवायमंशिसमासस्तस्यैव प्राप्नोतीत्यत्र न भवति । द्वितीयं भिक्षाणामिति अत्र बहुत्वाद् भिक्षा भिन्ना ।।3. 1. 56.।।

कालो द्विगौ च मेये: ।। 3. 1. 57. ।।

अंशांशिनिवृत्तौ तत्संबद्धं वेति निवृत्तम् । कालवाचि नामैकवचनान्तं द्विगौ च विषये वर्तमानं मेयवाचिना नाम्ना समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । मासो जातस्य मासजातः, मासजातौ, मासजाताः, मासजाता स्त्री, एवं संवत्सरजातः मासमृतः, संवत्सरमृतः द्विगौ-एको मासो जातस्य एकमासजातः, द्वे अहनी सुप्तस्य द्वयह्नसुप्तः, त्र्यह्नाध्यापितः । कथं द्व्यहजातः त्र्यहजातः ? समाहारद्विगोर्जातेन काल इत्यंशेन समासेन भविष्यति । इह च यद्यपि विग्रहे जातादि कालस्य विशेषणम् तथापि शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् समासो जातादिप्रधानस्तेन समासे लिङ्गं संख्या च तदीयतदीयमेव भवति । काल इति किम् ? द्रोणो धान्यस्य, काल इति चैकवचनं द्विगोः अन्यत्र प्रयोजकम्-तेन मासौ मासा वा जातस्येत्यत्र न भवति । द्विगौ तु द्वौ त्रयो वा मासा जातस्य द्विमासजातः त्रिमासजात इत्यपि भवति, द्विगुग्रहणं त्रिपदसमासार्थम् । अन्यथा नाम

नाम्नेत्यनुवृत्तेर्द्वयोरेव स्यात् । चकारो द्विगुरहितकालपरिग्रहार्थः । मेयैरिति किम् ? मासश्चैत्रस्य । जातादेरेव हि मेयत्वम् जन्मादेः प्रभृति जातादिसंबन्धित्वेनैवादित्यगतेः परिच्छेदात्, न द्रव्यमात्रस्य, क्तान्तेनैव च मेयेन प्रायेणायं समास इष्यते तेन मासो गच्छतः, वर्षमधीयानस्य, मासो गन्तुं वर्तते इत्यादौ न भवति, अयमपि षष्ठीसमासापवादो योगः ॥57॥

न्या०स०–कालो द्वि । अंशांशिनिवृत्ताविति कालमेयैरित्यभिनवार्थग्रहणात्, जातोत्तरपदानि मासजात इत्यादीनि बहुव्रीहावपि सिध्यन्ति । परं मासो मृतस्य मासमृत इत्यत्राऽन्यपदार्थाऽसंभवात् द्विगौ च द्व्यह्नसुप्त इत्यादाविति वचनम् । *शब्द शक्तिस्वाभाव्यादिति* अन्यथा मासो जाताया इति स्त्रीत्वविवक्षायां मासजाता इत्यत्र ह्रस्वत्वं स्यात्, पूर्वपदप्राधान्याच्च पश्चादाप् न स्यात् ।

द्वे अहनी सुप्तस्येति द्वे इति चाऽहनी, इति च नामद्वयं सुप्तस्येति नाम्ना समस्यते । ततस्त्रिपदे समासे जाते सुप्त इत्युत्तरपदे परे 'सख्या समाहारे च' (3. 1. 28.) इति द्विगुसंज्ञायां द्विगुविषये द्वे रुत्तरपदनिमित्ते द्विगौ भाविनि त्रयाणां तत्पुरुषः । *अन्यत्र प्रयोजकमिति* अन्यत्र चरितार्थमित्यर्थः, द्विगौ तु द्विवचनाद्यन्तमपि समस्यते इति भावः । मासश्चैत्रस्येति अत्र न मासश्चैत्रस्य परिच्छेदकत्वेन संबन्धी किं तूत्सवास्पदत्वेनाऽन्येन वा प्रकारेणेति ॥3. 1. 57.॥

स्वयं सामी क्तेन ॥ 3. 1. 58. ॥

स्वयं सामि इत्येते अव्यये क्तान्तेन नाम्ना सह समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । स्वयंधौतौ पादौ, स्वयंविलोनमाज्यम्-आत्मनेत्यर्थः, सामिकृतम्, सामिभुक्तम्, अर्धमित्यर्थः । समासे सत्यैकपद्यादेकविभक्तिस्तद्धिताद्युत्पत्तिश्च भवति । स्वायंधौतिः, सामिकृतिः, सामिकृतायनिः इत्यादि । क्तेनेति किम् ? स्वयं कृत्वा, सामि भुक्त्वा ॥58॥

न्या०स०–स्वयं सामी० । धौत इत्यत्र करणे कर्म्मकर्त्तरि वा क्तः, यतः करणशक्तेः कर्तृशक्तेर्वा वाचकः स्वयंशब्दः । *आत्मनेत्यर्थ इति* अत्र करणे कर्त्तरि वा तृतीया । *सामिकृतमित्यत्र* 'विशेषणं विशेष्येण' (3. 1. 96.) इत्यनेन कर्म्मधारयेणैव सिद्ध्यति, परं यदृच्छया पूर्वापरभावः स्यात् तद्बाधनार्थमिहोपादीयते ॥3. 1. 58.॥

द्वितीया खट्वा क्षेपे ॥ 3. 1. 59. ॥

खट्वा इत्येतन्नाम द्वितीयान्तं क्षेपे गम्यमाने क्तान्तेन नाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च

समासो भवति । क्षेपः समासार्थो न वाक्येन गम्यते इति नित्य एवायं समासः । खट्वारूढः, खट्वाप्लुतो जाल्मः– उत्पथप्रस्थित एवमुच्यते । खट्वा, पल्यङ्क, आचार्यासनं वा, अधीत्य गुरुभिरनुज्ञातेन हि खट्वारोढव्या, यत्त्वन्यथा खट्वारोहणं तदुत्पथप्रस्थानम्, उपलक्षणं चेह खट्वारोहणमुत्पथप्रस्थानस्य, तेन सर्वोऽपि विमार्गप्रस्थितः खट्वारूढ इत्युच्यते । क्षेप इति किम् ? खट्वामारूढ उपाध्यायोऽध्यापयति ।।59।।

न्या० स०–द्वितीया खट्वा० । *क्षेपः समासार्थ इति* तत्रैव तस्य प्रसिद्धेः । *नित्य एवेति* यत्तु खट्वामारूढ इति वाक्यं तत्पूर्वोत्तरपदविभागमात्र दर्शनार्थम् ।।3. 1. 59.।।

कालः ।। 3. 1. 60. ।।

कालवाचि नाम द्वितीयान्तं नाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । रात्रिमतिसृताः–रात्र्यतिसृताः, एवं रात्र्यारूढाः, रात्रिसंक्रान्ताः, अहरतिसृताः– षड् मुहूर्ताश्चराचराः– ते हि दक्षिणायने रात्रिं गच्छन्ति, उत्तरायणे त्वहरिति, मासं प्रमितो मासप्रमितः, प्रतिपच्चन्द्रमाः-मासं प्रमातुमारब्ध इत्यर्थः । अव्याप्त्यर्थ आरम्भः ।।60।।

न्या० स०–कालः । कालयति भूतानि अच् । *अव्याप्त्यर्थ इति* । *क्तेनेति निवृत्तमिति* पृथग्योगादिति शेषः । *सर्वरात्रकल्याणीति* यद्यपि सर्वशब्दो न कालवृत्तिस्तथाप्युत्तरपदप्रधानत्वेन समासस्य सर्वरात्र इति समुदायोऽपि कालः । *मासं पूरक इति* पूरयिष्यतीति 'क्रियायां क्रिया' (5. 3. 13.) इति णकचि णके तु 'कर्मणि कृतः' (2. 2. 83.) इति षष्ठी स्यात् णकचि तु 'तृन्नुदन्त' (2. 2. 90.) इति निषेधान्न ।। 3. 1. 60. ।।

व्याप्तौ ।। 3. 1. 61. ।।

व्याप्तिर्गुणक्रियाद्रव्यैरत्यन्तसंयोगः, व्याप्तौ या द्वितीया तदन्तं कालवाचि नाम व्यापकवाचिनाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति, क्तेनेति निवृत्तम् । मुहूर्तं सुखं-मुहूर्तसुखम्, मुहर्तरमणीयः, सर्वरात्रकल्याणो, सर्वरात्रशोभना, मुहूर्ताध्ययनम्, मुहूर्तगुडः । व्याप्ताविति किम् ? मासं पूरको व्रजति । काल इत्येव ? क्रोशं कुटिला नदी ।।61।।

श्रितादिभिः ।। 3. 1. 62. ।।

द्वितीयान्तं नाम श्रितादिभिर्नामभिः समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । धर्मं श्रितः—धर्मश्रितः, श्रीश्रितः, संसारातीतः, नरकपतितः, निर्वाणगतः । श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न, गमिन्, गामिन्, आगामिन् इति श्रितादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन ओदनबुभुक्षुः, हिताशंसुः, तत्त्वबुभुत्सुः, सुखेच्छुः इत्यादि सिद्धम् ।।62।।

न्या0स0—श्रितादिभिः । धर्मं श्रित इति प्राप्त्यर्थत्वात् 'गत्यर्थाकर्मक' (5. 1. 11.) इति क्तः प्राप्त इत्यर्थः, यद्यपि बहुव्रीहिणैव धर्म्मश्रित इत्यादीनि सिध्यन्ति, तथापि यत्तत्पुरुषं शास्ति तत् ज्ञापयति यत्र समासेऽर्थे विग्रहभेदात्तत्पुरुषबहुव्रीही प्राप्नुतस्तत्र तत्पुरुष एव, तेन राजसख इत्यादौ न बहुव्रीहिः, किं च बहुव्रीहौ कच् स्यात् ।

संसारातीत इत्यत्र अत्येति स्म उल्लङ्घते स्म 'गतिक्वन्य' (3. 1. 42.) इति समासः, अतिक्रमार्थातिवर्ज इत्यनेन नोपसर्ग इति न वाच्यं, यदर्थं क्रिया तस्मिन्निष्पन्ने क्रियाप्रवृत्तिरतिक्रमः, यथाऽतिसिक्तं पुष्पफलादौ निष्पन्नेऽपि पुनः सेकक्रियाप्रवृत्तेः । *निर्वाणगत* इति क्ते निर्वाति सुखीभवत्यत्रेत्यनटि वा, प्राप्ता जीविका ययेत्यादि बहुव्रीहिणाऽपि सिध्यति । *प्राप्तगवीत्यादौ* तु समासान्तो न स्यादिति वचनम् । *स्त्रीलिङ्गार्थमि*ति स्त्र्येकार्थोत्तरपदा भावात् 'परतः स्त्री' (3. 2. 49.) इति पुंभावो न प्राप्नोतीत्यत्करणम् ।। 3. 1. 62. ।।

प्राप्ता-ऽऽपन्नौ तयाऽच्च ।। 3. 1. 63. ।।

प्राप्तापन्नौ सामर्थ्यात् प्रथमान्तौ तथा द्वितीयान्तेन नाम्ना सह समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति तत्संनियोगे चानयोरन्तस्याकारो भवति । प्राप्ता जीविकां-प्राप्तजीविका, आपन्ना जीविकाम्-आपन्नजीविका, एवं प्राप्तगवी, आपन्नगवी स्त्री, प्राप्तो जीविकां-प्राप्तजीविकः, आपन्नजीविकः, प्राप्तगवः, आपन्नगवः—पुरुषः, प्राप्तं जीविकां-प्राप्तजीविकम्, आपन्नजीविकं कुलम् । अद्वचनं स्त्रीलिङ्गार्थम्, प्राप्तापन्नयोः प्रथमोक्तत्वात् पूर्वनिपातार्थं वचनम् । श्रितादित्वाच्चानयोर्द्वितीयाया अपि प्रथमोक्तत्वेन प्राग्निपातः—तेन जीविकाप्राप्तः, जीविकापन्न इत्यपि भवति ।।63।।

ईषद्-गुणवचनैः ।। 3. 1. 64. ।।

ईषदित्येतदव्ययं गुणवचनैर्नामभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति, ये गुणे वर्तित्वा तद्योगे गुणिनि वर्तन्ते ते गुणमुक्तवन्तो गुणवचनाः । ईषदल्पं पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः

एवमीषत्कडारः, ईषद्विकटः, ईषदुन्नतः, ईषद्रक्तः। गुणवचनैरिति किम्? ईषत्कारकः, ईषद्गार्ग्यः, गुणैः क्रियया वा हीनो गार्ग्य एवमुच्यते। समासे तद्धितकाम्य समासान्तराणि च वसाद्यादेशाभावादयश्च प्रयोजनम्-ईषत्पिङ्गलस्येदमैषत्पिङ्गलम्, ऐषत्पिङ्गलकाम्यत्, कोपेनेषद्रक्तः, कोपेषद्रक्तः, ईषत्पिङ्गल युष्माकमथो पुत्र इति ॥64॥

न्या० स०—ईषद् गुण० । गुणं वचन्तीति रम्याद्यनटि गुणवचनाः । *ईषत्पिङ्गल* इति पिङ्गत्वमस्यास्ति सिध्मादित्वाल्लः । न च वाच्यमीषत्पैङ्गल्ययोगात् पुरुषोऽपीषत् स चासौ पिङ्गलश्चेति कर्मधारयेण सिद्ध्यति, यतस्तत्र पूर्वनिपातकामचारः, ईषत्शब्दात् क्रियाविशेषणत्वादाम्, उन्नतरक्तशब्दावौणादिको पुतपितेति साधू ततो गुणवचनौ, क्ते तु क्रियावचनौ स्याताम् । *समासान्तराणी*ति अन्यथा 'नाम नाम्ना' (3. 1. 18.) इत्यनुवर्त्तमाने *कोपेन ईषद्रक्त* इति त्रिपदो न स्यात्, कोपेषद्रक्त इत्यत्र 'ऊनार्थ' (3. 1. 67.) इति समासः, ईषद्रक्त इति न गुणवचनः, तेनोत्तरेण न समासः ॥3. 1. 64.॥

तृतीया तत्कृतैः ॥ 3. 1. 65. ॥

तृतीयान्तं नाम तत्कृतैस्तृतीयान्तार्थकृतैर्गुणवचनैर्नामभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। शङ्कुलया कृतः खण्डः—शङ्कुलाखण्डश्चैत्रः एव गिरिकाणः मदपटुः क्षारशुक्लः,

कुसुमसुरभिः, कृतार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति कृतशब्दो न प्रयुज्यते। तत्कृतैरिति किम्? अक्ष्णा काणः पादेन खञ्जः, शङ्कुलया हेतुना खण्डः, काणत्वादि ह्यत्र काण्डादिना कृतम्, नाक्ष्यादिना, अक्ष्यादिना परं संबन्धमात्रम्, यदा तु तत्कृतत्वविवक्षायां कर्तरि करणे वा तृतीया तदा भवत्येव समासः। अक्षिकाण इत्यादि गुणवचनैरित्येव? गोभिर्वपावान्, दध्ना पटुः पाटवमित्यर्थः, न ह्येतौ पूर्वं गुणमुक्त्वा सांप्रतं द्रव्ये वर्तेते इति गुणवचनौ न भवतः। अत एव शुद्धगुणवाचिनापि समासो न भवति-घृतेन पाटवम्, विद्यया धार्ष्ट्यम्-अत्रापि समासो भवतीति कश्चित्। अन्ये तु गुणवचनैर्गुणमात्रवृत्तिभिरपि समासमिच्छन्ति-शङ्कुलाखण्डश्चै त्रस्य, गिरिकाणश्चैत्रस्येति ॥65॥

न्या० स०—तृतीया० । प्रत्ययः प्रकृत्यविनाभावीति तृतीयान्तं नामेह गृह्यते। *अत एवे*ति गुणवचनत्वाभावादेवेत्यर्थः ॥3. 1. 65.॥

चतस्राद्धम् ॥ 3. 1. 66. ॥

अर्द्धशब्दस्तृतीयान्तस्तत्कृतार्थेन चतसृशब्देन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अर्धेन कृताश्चतस्रोऽर्धचतस्रो मात्राः, एवमर्धचतस्रः खार्यः चतस्रेति किम् ? अर्धेन कृताश्चत्वारो द्रोणाः ॥66॥

ऊनार्थपूर्वाद्यैः ॥ 3. 1. 67. ॥

तृतीयान्तं नाम ऊनार्थैः पूर्वादिभिश्च नामभिः समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। माषेणोनम्-माषोनम्, एवं कार्षापणोनम्, माषविकलम्, कार्षापणविकलम्, पूर्वाद्यः—मासेन पूर्वः—मासपूर्वः, संवत्सरपूर्वः, एवं मासावरः, संवत्सरावरः। पूर्व, अवर, सदृश, सम, कलह, निपुण, मिश्र, श्लक्ष्ण, इति पूर्वादयः। आकृतिगणोऽयम्-तेन धान्येनार्थो, धान्यार्थः, हिरण्यार्थः, आत्मनापञ्चमः, आत्मनाषष्ठः, 'एतावलुप्समासौ' माषेणाधिकं-माषाधिकम्, कार्षापणम्, एवं द्रोणाधिका खारी भ्रात्रा तुल्याः—भ्रातृतुल्याः, एकेन द्रव्यवत्त्वम्-एकद्रव्यवत्त्वम् इत्यादि सिद्धम्। पूर्वादियोगे यथायोगं हेत्वादौ तृतीया ॥67॥

न्या० स०—ऊनार्थ० । पूर्वादियोगे इत्यत्र पूर्वादीनां हि पूर्वादिभावे मासादिर्हेतुरिति अत्र हेतौ तृतीया। *हेत्वादावि*ति आदिशब्दात्तुल्यार्थैरित्यादि। एकेन द्रव्यवत्त्वमिति एकं च तत् द्रव्यं चेति कर्म्मधारये एकद्रव्यमस्यास्तीति कृते 'एकादेः कर्म्मधारयात्' (7. 2. 58.) इतीकण् स्यादित्येवं समासः ॥3.1.67.॥

कारकं कृता ॥ 3. 1. 68. ॥

कारकवाचि नाम तृतीयान्तं सामर्थ्यात्कर्तृकरणरूपं कृदन्तेन नाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कर्तृ-आत्मना कृतम्-आत्मकृतम्, परकृतम्, 'कृत्सगतिकारकस्यापि' (7. 4. 117.) चैत्रेण नखनिर्भिन्नः चैत्रनखनिर्भिन्नः, एवं सुजनसुलभः, दुर्जनदुर्लभः, अरिदुर्जयः, करणे,—परशुना छिन्नः—परशुच्छिन्नः, एवं नखनिर्भिन्नः—पादप्रहारः, पादाभ्यां ह्रियते-पादहारकः, तलाहृतिः, शस्त्रप्रहृतिः, बहुलाधिकारात् स्तुतिनिन्दार्थतायां प्रायेण कृत्यैः समासः।

कर्तृ-काकपेया नदी, एवं नाम पूर्णेत्यर्थः, श्वलेह्यः, कूपः एवं—नामासन्नोदक इत्यर्थः, कुक्कुटसंपात्या ग्रामाः, एवं नामासन्ना इत्यर्थः। करणकण्टकसंचेय ओदनः। एवं नाम विशद इत्यर्थः, वाष्पच्छेद्यानि तृणानि एवं नाम मृदूनीत्यर्थः, अन्यत्रापि बुशोपेन्ध्यम्, तृणोपेन्ध्यम्,—तेजसः अल्पता ख्याप्यते, घनघात्यः—कृच्छ्रसाध्यत्वमुच्यते। कारकमिति किम् ? विद्ययोषितः, अन्नेनोषितः,

तेन हेतुनेत्यर्थः । पुत्रेण गतः, छात्रेणागतः, तेन सहेत्यर्थः । कृतेति किम् ? गोभिर्वपावान्, धान्येन धनवान् । बहुलाधिकारादेव क्तवतुना क्त्वया तव्यानीयाभ्यां च न भवति, दात्रेण लूनवान्, परशुना छिन्नवान्, दात्रेण कृत्वा, परशुना छित्त्वा, काकैः पातव्यः, श्वभिर्लेढव्यः ।।68।।

न्या0स0—कारकं0 । *आत्मना कृतमि*ति अर्थकथनमात्रमिदम् । आत्मना क्रियते स्मेति कार्यं गतिकारकेति न्यायात् । काकपेया नदी इत्यादिषु निन्दा सुगमौवेति न दर्शिता । *अल्पता ख्याप्यते* इति नाऽत्र निन्दा स्तुतिर्वा किंतु स्वरूपकथनम् । *घनघात्य* इति घात्यस्य काठिन्यं प्रतिपाद्यते । *तेन सहेत्यर्थ* इति । एवं शिक्षया परिव्राजक इतीत्थंभूतलक्षणेऽप्युक्तमपि ज्ञेयम् । अनीयप्रयोगे श्वभिर्लहनीय इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् ।।3. 1. 68.।।

नविंशत्यादिनैकोऽच्चान्तः ।। 3. 1. 69. ।।

एकशब्दस्तृतीयान्तो नविंशत्यादिनाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति एकशब्दस्य चादन्तो भवति । एकेन नविंशतिः—एकान्नविंशतिः, पक्षे एकाद्नविंशतिः, एवमेकान्नत्रिंशत्, एकाद्नत्रिंशत्, एकान्नचत्वारिंशत्, एकाद्नचत्वारिंशत् । नविंशत्यादिनेति निर्देशात् 'नञत्' (3. 2. 125.) न भवति ।।69।।

न्या0स0—नविंशत्यादिनै0 । नञत् न भवतीति 'नञव्ययात् संख्याया डः' (7. 3. 123.) इत्यपि न भवति, विधानसामर्थ्यात् 'लुगस्य' (2. 1. 113.) इत्यादिना अलोपो न भवति, अन्यथा तू इति कुर्यात् इति ।।3. 1. 69.।।

चतुर्थी प्रकृत्या ।। 3. 1. 70. ।।

प्रकृतिः—परिणामि कारणम्, चतुर्थ्यन्तमर्थाद्विकृतिवाचि नाम प्रकृतिवाचिना नाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । यूपाय दारु-यूपदारु, कुण्डलहिरण्यम् । प्रकृत्येति किम् ? रन्धनाय स्थाली, अवहननायोलूखलम्, मूत्राय संपद्यते यवागूरित्यादौ तु विकारस्याप्रधानस्य संपद्यते इत्यादिक्रियासापेक्षत्वात् न भवति ।।70।।

न्या0स0—चतुर्थी0 । प्रक्रियते परिणामरूपतयेति वा प्रकरोति कार्यमिति वा बाहुलकात् क्तिः, प्रक्रियादिति वा 'तिक्कृतौ नाम्नि' (5. 1. 71.) । प्रकृतिः, परिणामि इत्यत्र तेन रूपेण यूपादिलक्षणेन भवनं तद्भावः परिणामः सोऽस्याऽस्तीति । *रन्धनाय स्थाली*ति । यथा

यूपाद्यात्मना दार्वादि प्रतिष्ठमानं यूपादेः प्रकृतित्वेन विज्ञायते, नैवं रन्धनादेः स्थाल्यादीनि । *मूत्राय संपद्यते* इति यद्यप्यार्थ्या विधेयतया मूत्रस्य प्राधान्यं तथापि शाब्द्या प्रथमं यवाग्वा सह क्रियासंबन्धः । यथा राज्ञः पुरुष इति आर्थ्या राज्ञः प्राधान्येऽपि शाब्द्या पुरुषस्यैव इति अप्राधान्यं । ततश्च अप्रधानसापेक्षे समासो न भवति, प्रधानसापेक्षे तु भवत्येव ।।3. 1. 70.।।

हितादिभिः ।। 3. 1. 71. ।।

चतुर्थ्यन्तं नाम हितादिभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । गोभ्यो हितं–गोहितम्, एवं गोसुखम्, गोरक्षितः, हित, सुख, रक्षित, बलि, इति हितादयः । आकृतिगणन्नायम्-तेन अश्वघासः, श्वश्रूसुरा, श्वश्रूसुरम्, हस्तिविधानम्, धर्मनियमः, धर्मजिज्ञासा, नाट्यशाला, आत्मनेपदम्, परस्मैपदम् इत्यादि सिद्धम् । कृत्यप्रत्ययान्तं चेह पठ्यते-देवदेयम्, ब्राह्मणदेयम्, वरप्रदेया कन्या, इह न भवति ब्राह्मणाय दातव्यम् ।।71।।

न्या० स०–हितादि० । *गोभ्यो हितमि*ति 'हितसुखाभ्याम्' (2. 2. 65.) इत्यनेन चतुर्थी, आशीर्विवक्षायां तु 'तद्भद्रायुष्य' (2. 2. 66.) इति आशंसायां हितयोगे या चतुर्थी तदन्तस्य समासो न भवति समासादाशिषोऽनवगमादिति । आत्मनेपदमिति पचत इत्येवमादीनामात्मा स्वभावस्तदर्थं पदं ते आते इत्यादिना आत्मनेपदम् । तिवाद्यवयवापेक्षया प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः पचतीत्यादिलक्षणः परोऽर्थस्तदर्थं तिवादिकं पदं परस्मैपदम् ।।3. 1. 71.।।

तदर्थार्थेन ।। 3. 1. 72. ।।

तस्याश्चतुर्थ्या अर्थो यस्य स तदर्थः, चतुर्थ्यन्तं नाम तदर्थेनार्थशब्देन नाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । पित्रे इदं-पित्रर्थं पयः, महदर्थं धनम्, उदकार्थो घटः, आतुरार्था यवागूः । 'ङेर्थो वाच्यवत्' इति वाच्यलिङ्गता, नित्यसमासश्चायम्, चतुर्थ्यैव तदर्थस्योक्तत्वात् अर्थशब्दाप्रयोगे वाक्यासंभवात्, समासस्तु वचनाद्भवति । तदर्थेत्यर्थविशेषणं किम् ? पित्रेऽर्थः, मात्रेऽर्थः, तदर्थं धनमित्यर्थः ।।72।।

न्या० स०–तदर्था० । *तस्याश्चतुर्थ्या अर्थो यस्य* इत्युष्ट्रमुखादित्वाद् व्यधिकरणो बहुव्रीहिस्ततस्तदर्थश्चासावर्थश्चेति कर्म्मधारयः, यद्वा तस्या अर्थस्तदर्थस्तस्मिन् अर्थस्तेन तदर्थाऽर्थेन । *समासस्त्वि*ति पित्रर्थ इत्यादिसमासे अर्थशब्दप्रयोगः इत्यर्थः ।।3. 1. 72.।।

पञ्चमी भयाद्यैः ॥ 3. 1. 73. ॥

पञ्चम्यन्तं नाम भयाद्यैर्नामभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । वृकाद्भयम्-वृकभयम्, एवं वृकभीतः, भयभीता । भय, भीत, भीति, भी, भीरु, भीलुक, निर्गत, जुगुप्सु, अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त इति भयादयः । आकृतिगणश्चायम्-तेन द्वीपान्तरानीतः, स्थानभ्रष्टः, तात्परः, तपरः इत्यादि सिद्धम् । बहुलाधिकारादिह न भवति । प्रासा दात्पतितः, भोजनादपत्रस्तः ॥73॥

क्तेनासत्त्वे ॥ 3. 1. 74. ॥

असत्वे वर्तमाना या पञ्चमी तदन्तं नाम क्तप्रत्ययान्तेन नाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः, कृच्छ्रान्मुक्तः, कतिपयान्मुक्तः, दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः, अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः, कृच्छ्राल्लब्धम्, 'असत्वे ङसेः' (3. 2. 10.) इत्यलुप् । क्तेनेति किम् ? स्तोकान्मोक्षः । असत्वे इति किम् ? स्तोकात् वर्द्धितः स्तोकाद्द्रव्यादित्यर्थः, एवमल्पात् प्रवृद्धम् । समासे तद्धिताद्युत्पत्तिः फलम्—स्तौकान्मुक्तिः इत्यादि ॥74॥

परः शतादिः ॥ 3. 1. 75. ॥

परःशतादिः पञ्चमीतत्पुरुषः साधुर्भवति । शतात्परे-परःशताः, सहस्रात्परे-परःसहस्राः, लक्षाल्लक्षाया वा परे परोलक्षाः—परशब्दस्य पूर्वनिपातः सकारागमश्च निपातनात् । परशब्देन समानार्थः परस्शब्दः सकारान्तोऽप्यस्तीत्यन्ये ॥75॥

षष्ठ्ययत्नाच्छेषे ॥ 3. 1. 76. ॥

शेषे या षष्ठी तदन्तं नाम नाम्ना सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । अयत्नात्न चेत् स शेषो 'नाथः' (2. 2. 10.) इत्यादेर्यत्नाद्भवति । राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः, यतिकम्बलः, राज्ञो गोक्षीरं राजगोक्षीरम्, राजगवीक्षीरम् । ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः, जिनभद्रगणेः क्षमाश्रमणस्य भाष्यमित्यादौ सापेक्षत्वान्न भवति । कथं देवदत्तस्य गुरुकुलम् ? जिनदत्तस्य दासभार्येति, सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वाद्भवति । अयत्नादिति किम् ? सर्पिषो नाथितम्, मातुःस्मृतम्, सर्पिषो दयितम्, मातुरीशितम्, एधोदकस्योपस्कृतम्, चौरस्य रुग्णम्, चौरस्योज्जासितम्, शतस्य द्यूतम्, शतस्य द्यूतश्चैत्रः, कटकरणस्यायुक्तः शेष इति किम् ? सर्पिषो ज्ञानम्, रुदतः

प्रव्रजितः, मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः, गवां कृष्णा संपन्नक्षीरतमा, अध्वगानां रथगामी शीघ्रतमः। कथं सर्पिर्ज्ञानम् ? मातृस्मरणमित्यादि, कृद्योगेऽत्र षष्ठीत्युत्तरेण भविष्यति, संबन्धे त्वनेनैव। गोस्वामी, पृथिवीश्वरः, विद्यादायाद इत्यादिषु त्वयत्नजा शेष एव षष्ठी। 'स्वामीश्वरा' (2. 2. 68.) दिसूत्रस्य नित्यं षष्ठीप्राप्तौ पक्षे सप्तमीविधानार्थत्वात्। संघस्य भद्रं भूयात्, शासनस्य भद्रं भूयादित्यादौ त्वाशिषि षष्ठ्याः समासो न भवति, असामर्थ्यात् अनभिधानाद्वा। नहि संघभद्रं भूयादित्युक्ते संघस्य भद्रं भूयादित्यर्थः प्रतीयते, अपि तु संघभद्रं नाम संघसंबन्धितया प्रसिद्धं किंचिद्भद्रं कस्य चिद्भूयादिति ।।76।।

न्या० स०–षष्ठ्ययत्न० । अयत्नान्न चेदिति तुल्यार्थयोगे यत्नजाया अपि षष्ठ्याः समासो भवति, तुल्यार्थानां याजकादिदृष्टेः । गमकत्वादिति अवश्यसापेक्षत्वादित्यर्थः । *मनुष्याणामित्यादिषु* त्रिषु योगेष्वपादानपञ्चमीप्रसक्तौ 'सप्तमी चाऽविभागे' (2. 2. 109.) इति षष्ठी । असामर्थ्यादिति तत्त्वं भूयादिति सापेक्षत्वात्। अनभिधानेति अभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा भवन्तीति न्यायात् विवक्षितार्थाप्रतिपादनात् ।।3. 1. 76.।।

कृति ।। 3. 1. 77. ।।

'कर्मणि कृतः' (2. 2. 83.) 'कर्तरि' (2. 2. 86.) इति च या कृति कृत्प्रत्ययनिमित्ता षष्ठी विहिता तदन्तं नाम नाम्ना समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । सिद्धसेनकृतिः, गणधरोक्तिः, इध्मव्रश्चनः, पलाशशातनः, धर्मानुस्मरणम्, तत्त्वानुचिन्तनम्, सर्पिर्ज्ञानम्, एधोदकोपस्करणम्, चौरोज्जासनम् ।।77।।

न्या० स०–कृति । ***चौरोज्जासनमि***ति 'कर्म्मणि कृतः' (2. 2. 83.) 'कर्त्तरि' (2. 2. 86.) वाऽस्या विधानात् यत्नजाया अपि षष्ठ्याः समासः ।। 3. 1. 77. ।।

याजकादिभिः ।। 3. 1. 78. ।।

षष्ठ्यन्तं नाम याजक इत्येवमादिभिर्नामभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । ब्राह्मणानां याजकः- ब्राह्मणयाजकः, एवं गुरुपूजकः, याजक, पूजक, परिचारक, परिवेषक, स्नापक, अध्यापक, आच्छादक, उन्मादक, उद्वर्तक वर्तक होतृ भर्तृ । आकृतिगणोऽयम्तेन तुल्यार्था अपि-गुरुसदृशः, गुरुसमः, दास्याःसदृशः, वृषल्याःसमः 'षष्ठ्याः क्षेपे' (3. 2. 30.) इत्यलुप् । तथा–अन्यत्कारकम्, विश्वगोप्ता, तीर्थकर्ता, तत्प्रयोजको हेतुश्च,

जनिकर्तुः प्रकृतिः, इत्यादि सिद्धं भवति । 'कर्मजा तृचा च' (3. 1. 83.) इति प्रतिषेधापवादो योगः, तुल्यार्थैः विध्यर्थश्च ॥78॥

न्या० स०—याजका० । *याजके*ति याजकः ऋत्विक् । भर्त्रीति भर्तृशब्दस्य पतिवाचकस्यैवात्र पाठः, कृतीत्यनेनैव सिद्धे किमर्थोऽयं योगः ? इत्याह *कर्म्मजा तृचा चेती*ति । *विध्यर्थश्चे*ति तुल्यार्थैरिति या षष्ठी सा शैषिका न भवतीति अप्राप्तौ ॥3. 1. 78॥

पत्ति रथौ गणकेन ॥ 3. 1. 79. ॥

पत्तिरथशब्दौ षष्ठ्यन्तौ गणकेन नाम्ना समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । पत्तीनां गणकः—पत्तिगणकः, एवं रथगणकः । पत्तिरथाविति किम् ? कार्षापणानां गणकः । गणकेनेति किम् ? रथस्य दर्शकः, कथं ज्योतिर्गणकः ? 'अकेन क्रीडाजीवे' (3. 1. 81.) इति भविष्यति । 'कर्मजा तृचा च' (3. 1. 83.) इत्यस्यापवादोऽयम् ॥79॥

सर्वपश्चादादयः ॥ 3. 1. 80. ॥

सर्वपश्चादित्यादयः षष्ठीतत्पुरुषाः साधवो भवन्ति । सर्वेषां पश्चात् सर्वपश्चात्पदं वर्तते, सर्वचिरं जीवति, तदुपरिष्टात् रुक्मं निदधाति इत्यादि,—अव्ययेन प्रतिषेधं वक्ष्यति तस्यापवादोऽयम् । बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् ॥80॥

न्या० स०—सर्व्वप० । *सर्वेषां पश्चादि*ति यदा संबन्धे षष्ठी तदा निषेधे प्राप्ते समासः, यदा तु रिरिष्टेति तदा अप्राप्ते समासः । *प्रतिषेधं वक्ष्यती*ति यदा संबन्धे षष्ठी तदा इत्यर्थः, तत्र संबन्धषष्ठीग्रहणात्, उपलक्षणमिदं तेन यदा रिरिष्टेति षष्ठी तदाऽप्राप्ते समासः ॥3. 1. 80.॥

अकेन क्रीडा-ऽऽजीवे ॥ 3. 1. 81. ॥

आजीवो जीविका, षष्ठ्यन्तं नामाकप्रत्ययान्तेन नाम्ना समस्यते, क्रीडायामाजीवे च गम्यमाने तत्पुरुषश्च समासो भवति । उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वारणपुष्पमचायिका, शालभञ्जिका, कस्याश्चित् क्रीडायाः संज्ञा । आजीवे, दन्तलेखकः, नखलेखकः, अवस्करसूदकः, रमणीयकारकः, दन्तलेखनादिरस्याजीवो गम्यते । क्रीडाजीवौ वाक्येन न गम्येते इति नित्यसमासा एते । क्रीडाजीव इति किम् ? ओदनस्य भोजकः, पयसः पायकः, 'कर्मजा तृचा च' (3. 1. 83.) इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ॥81॥

न्या० स०—अकेन० । 'कर्मजा तृचा च' (3. 1. 83.) इत्यस्यापवादस्ततश्च भनक्तीति भञ्जिका उद्दालकपुष्पाणां भञ्जिकेति कृते 'कृति' (3. 1. 77.) इति प्राप्नोति, तत उत्तरेण निषेधस्तदाऽस्य सूत्रस्य फलं, यदा तु उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायामिति विग्रहस्तदा निषेधाभावे 'कृति' (3. 1. 77.) इत्यनेनैव सिद्धत्वादस्य न किञ्चित् फलम् ।

ननु भनक्तीति भञ्जिकेति कर्त्तरि कथं साधयन्ति यत *उद्दालकपुष्पभञ्जिके*ति क्रीडानाम ततस्तस्याः क्रीडाया भङ्गे कर्तृत्वं न संगच्छते अपि तु क्रीडाकारिणाम्, उच्यते । अस्यां क्रीडायां भञ्जनक्रियाकरणादुपचारात् सापि कर्त्री भण्यते, शालशब्दोऽपि तालव्याद्यो वृक्षवाचकोऽस्ति ॥3. 1. 81.॥

न कर्तरि ॥ 3. 1. 82. ॥

कर्तरि विहिता या षष्ठी तदन्तं नामाकप्रत्ययान्तेन नाम्ना न समस्यते । भवतः शायिका, भवत आशिका, भवतोऽग्रगामिका कर्तरीति किम् ? इक्षुभक्षिकां मे धारयसि, पयःपायिकां मे धारयसि ॥82॥

न्या० स०—न कर्त्तरि० । *अग्रगामिके*ति कृत् सगतिकारकस्येति न्यायादग्रगामिकेति अस्यापि कृदन्तत्वम् ॥ 3. 1. 82. ॥

कर्मजा तृचा च ॥ 3. 1. 83. ॥

कर्तरीत्यनुवर्तते तच्चाकस्य विशेषणम्, कर्मणि विहिता षष्ठी कर्मजा, तदन्तं नाम कर्तरि विहितो योऽकप्रत्ययस्तदन्तेन तृजन्तेन च नाम्ना सह न समस्यते । ओदनस्य भोजकः, सक्तूनां पायकः, अपां स्त्रष्टा, पुरां भेत्ता । कर्मजेति किम् ? संबन्धषष्ठ्याः प्रतिषेधो माभूत्, गुणो गुणिविशेषकः—गुणिनः संबन्धी विशेषक इत्यर्थः कर्तरीत्येव ? इक्षुभक्षिकां मे धारयसि, पयःपायिकां मे धारयसि । कथं भूभर्ता ? वज्रभर्तेति,—भर्तृशब्दो यः पतिपर्यायस्तेन संबन्धषष्ठ्या याजकादिपाठात् कर्मषष्ठ्या वाऽयं समासः, क्रियाशब्दस्य तु तत्राग्रहणादनेन प्रतिषेधः भुवो भर्ता, वज्रस्य भर्ता ॥83॥

न्या० स०—कर्म्मजा० । *तच्चाकस्ये*ति तृचोऽव्यभिचारात् 'अकस्याऽपि' ग्रहः तृच् सन्निहितस्य । *गुणी*त्यत्र शिखादित्वादिन् । *क्रियाशब्दस्य त्वि*ति बिभर्त्तीति भरणक्रियामात्रमुपादाय वर्त्तमानस्येत्यर्थः, पतिपर्यायभर्तृशब्द औणादिकोऽव्युत्पन्नोऽप्यस्ति ॥3. 1. 83.॥

तृतीयायाम् ॥ 3. 1. 84. ॥

कर्तरि या तृतीया तस्यां सत्यां कर्मजा षष्ठी न समस्यते। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन, साध्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्येण। तृतीयायामिति किम्? साध्विदं शब्दानुशासनमाचार्यस्य, साध्वी कटचिकीर्षा चैत्रस्य, कर्तरि षष्ठ्यामपि न समास इति कश्चित्-विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्य। कर्तरीत्येव? साध्विदं शब्दानुशासनमाचार्यस्य नः पुण्येन। कर्मजेत्येव? मैत्रस्य संबन्धी कृतो मैत्रकृतश्चैत्रेण। कथं गोदोहो गोपालकेन? संबन्धषष्ठ्या भविष्यति ॥84॥

न्या० स०–तृतीयायाम् । *मैत्रस्य संबन्धी कृत* इत्यत्र ओदनोऽन्यो वाऽर्थप्रकरणादिना निर्ज्ञातः ॥3. 1. 84.॥

तृप्तार्थ-पूरणा-ऽव्यया-ऽतृश् शत्रानशा ॥ 3. 1. 85. ॥

तृप्तार्थैः पूरणप्रत्ययान्तैरव्ययैरतृशन्तैः शत्रन्तैरानशन्तैश्च नामभिः षष्ठ्यन्तं नाम न समस्यते। तृप्तार्थाः फलानां तृप्तः, फलानां सुहितः, सक्तूनां पूर्णः, ओदनस्याशितः, पयसो घ्राणः। पूरण-तीर्थकराणां षोडशः, चक्रधराणां पञ्चमः शान्तिः, चक्रधराणां द्वितीयः सगरः, वासुदेवानां तृतीयः स्वयंभूः। अव्यय-राज्ञः साक्षात्, ग्रामस्य पुरस्तात्, चैत्रस्य कृत्वा, मैत्रस्य प्रकृत्य, अव्ययीभावस्याप्यन्वर्थाश्रयणात्क्वचिदव्ययत्वम्-तेन चैत्रस्योपकुम्भमित्यत्र समासो न भवतीति केचित्।

अतृश्-रामस्य द्विषन्, रावणस्य द्विषन् शतृ-चैत्रस्य पचन्, अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः, चैत्रस्य पक्ष्यन्। आनश्–चैत्रस्य पचमानः, चैत्रस्य पक्ष्यमाणः, सर्वत्र संबन्धे षष्ठी। एतैरिति किम्? ब्राह्मणस्य कर्तव्यं ब्राह्मणकर्तव्यम्। इध्मव्रश्चनः, पलाशशातनः राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य धनम्, शुकस्य माराविदस्य शब्दः, सर्पिषः पीयमानस्य गन्धः, सूत्रस्याधीयमानस्यार्थ इत्यादौ सामानाधिकरण्ये धनादिपदापेक्षा षष्ठीत्यसामर्थ्यात्समासो न भवति, विशेषणसमासस्तु निरपेक्षत्वेन सामर्थ्याद्भवत्येव, पाटलिपुत्रकश्चासौ राजा च तस्य पाटलिपुत्रकराजस्येत्यादि। षष्ठीसमासे तु अनियमेन पूर्वनिपातः स्यात् ॥85॥

न्या० स०–तृप्तार्थ० । तृप्तोऽर्थोऽभिधेयो येषां, पूरणेत्यत्र अभेदोपचारात् पूरणप्रत्यया गृह्यन्ते। सति तृप्तसुहितयोः 'ज्ञानेच्छा' (5. 2. 92.) इति क्तः पूर्ण्णे कर्म्मणि क्तः। आशिते शील्यादित्वात् क्तः घ्राणे 'गत्यर्था' (3. 4. 11.) इति क्तः। *ग्रामस्य पुरस्तादि*ति अव्युत्पन्नमव्ययं

व्युत्पत्तौ तु 'रिरिष्ट' (2. 2. 82.) इति षष्ठ्या विधानात् समासो न प्राप्नोत्येव। *अध्वगानामि*ति अत्राऽपि संबन्धे षष्ठी न निर्द्धारणे तस्य सतोऽप्यविवक्षा। *माराविदस्ये*ति मारमावेत्ति मारवित् तस्याऽपत्यं 'ङसोऽपत्ये' (6. 1. 28.) अण्। *सर्वत्र संबन्धे षष्ठी*ति कर्म्मजषष्ठ्यपि न समस्यते, चैत्रस्य कर्मत्वभृतो द्विषन्। *अनियमेन पूर्वनिपातः स्यादि*ति 'षष्ठ्ययत्न' (3. 1. 76.) इत्यत्र विशेषणविशेष्ययोर्द्वयोरपि प्रथमोक्तत्वात् विशेषणसमासे तु प्रधानानुयायिनो व्यवहारा इति न प्राग्निपातः। *पाटलिपुत्रकस्ये*ति चतुर्षु उदाहरणेषु यथासंख्यं धनं गृहं गन्धः अर्थश्च ज्ञेयानि ॥3. 1. 85.॥

ज्ञानेच्छा-ऽर्चार्था-ऽऽधारक्तेन ॥ 3. 1. 86. ॥

ज्ञानार्थादिच्छार्थादर्चार्थाच्च वर्तमानो यः क्तो यश्च 'अद्यर्थाच्चाधारे' (5. 1. 12.) इत्याधारे विहितस्तदन्तेन नाम्ना षष्ठ्यन्तं नाम न समस्यते। राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञामिष्टः, राज्ञां मतः, राज्ञामर्चितः, राज्ञां पूजितः, इदमेतेषां यातम्, इदमेषां यातम्, इदमेषामासितम्, इदमेषां भुक्तम्, इदमेषां पीतम्। कथं राजपूजितः राजमहितः, राजसंमतः, कलहंसराममहितः ? कृतवान् इति बहुलाधिकारात् इष्टेन भूतकालक्तेन तृतीयासमासा एत इति केचित्। अन्ये तु कृद्योगजाया एव षष्ठ्या इह समासप्रतिषेध इति संबन्ध षष्ठीसमासा एत इत्याहुः ॥86॥

न्या0स0—ज्ञानेच्छा0 । ज्ञानेच्छार्चार्थाश्च आधारश्च तेषां क्त इति शकटन्यासः, सर्वत्र कर्त्तरि षष्ठी, सत्याधारे च क्तविधानात् 'क्तयोरसदाधारे (2. 2. 91.) इति षष्ठ्या न निषेधः। *इष्टेने*ति 'तेन प्रोक्ते' (6. 3. 181.) इत्यतस्तृतीयाधिकारे यदुपज्ञात इत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययं विधत्ते तत् ज्ञापयति, न वर्तमाने काले विहितोऽयंक्तप्रत्ययः किंतु भूते काले, तथा राजपूजित इत्यादावपि। *तृतीयासमासा* इति अत्र भूते क्तविधानात् 'क्तयोरसदाधारे' (2. 2. 91.) इति षष्ठीनिषेधात् तृतीयासमासा इत्यर्थः। *कृद्योग जाया* इति कर्तृकर्म्मविहिताया इत्यर्थः ॥3. 1. 86. ॥

अस्वस्थगुणैः ॥ 3. 1. 87. ॥

ये गुणाः स्वात्मन्येवावतिष्ठन्ते न द्रव्ये ते स्वस्थाः, तत्प्रतिषेधेनास्वस्थगुणवाचिभिर्नामभिः सह षष्ठ्यन्तं नाम न समस्यते। पटस्य शुक्लः, काकस्य कृष्णः, गुडस्य मधुरः, चन्दनस्य सुरभिः, घृतस्य तीव्रः, कुङ्कुमस्य मृदुः—अत्र अर्थात्प्रकरणाद्वापेक्ष्यस्य वर्णादेर्निर्ज्ञाने य इमे शुक्लादयस्ते पटादेरिति सामर्थ्योपपत्तेः समासः प्राप्नोतीति प्रतिषिध्यते। तथा—पटस्य

शौक्ल्यम्, काकस्य कार्ष्ण्यम्, गुडस्य माधुर्यम्—एषु पूर्वेषु च शुक्लादेर्गुणस्य शुक्लः पट इत्यादौ द्रव्येऽपि वृत्तिप्रदर्शनात् अस्वास्थ्यमस्त्येव ।

गुणशब्देन चेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शगुणा अभिप्रेतास्ततः तद्विशेषैरेवायं प्रतिषेधः—तेन यत्नस्य गौरवं-यत्नगौरवम्, वचनगौरवम्, प्रक्रियालाघवम्, बुद्धिकौशलम्, मतिवैगुण्यम्, करणपाटवम्, पुरुषसामर्थ्यम्, अङ्गसौष्ठवम्, हस्तचापलम्, वचनमार्दवम्, उत्तरपदार्थप्राधान्यम्, क्रियासातत्यम्, वर्तमानसामीप्यम्, सत्सामीप्यम्, अधिकरणैतावत्यम्, प्रयोगान्यत्वम्, गतताच्छील्यम्, पटहशब्दः, नदीघोषः, वचनप्रामाण्यम्, शब्दाधिक्यम्, वाङ्माधुर्यम्, गोविंशतिः, गोत्रिंशत्, गोशतम्, गोसहस्रम्, समाहारैकत्वमित्यादिषु प्रतिषेधो न भवति । अस्वस्थगुणैरिति किम् ? घटवर्णः, कन्यारूपम्, कपित्थरसः, चन्दनगन्धः, स्तनस्पर्शः, बहुलाधिकारात्कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम्, वृषलस्य धाष्ट्र्य मित्यादिषु समासो न भवति, कुसुमसौरभ्यम्, चन्दनसौरभमित्यादिषु भवतीति ।।87।।

न्या0स0—*अस्वस्थगु0* । *स्वात्मन्येवावतिष्ठन्त* इति ननु द्रव्याश्रयी गुण इति गुणलक्षणं ततः कथमिदमिति ? सत्यं, अभिधाव्यापारापेक्षया स्वस्थत्वं गुणानां यतः शौक्ल्यादिशब्दैर्द्धर्म्ममात्रमेवाभिधीयते । *सुरभिरि*ति सुष्ठु रभते 'पदिपठि' 607 (उणादि) इति इ प्रत्ययः, आगमस्यानित्यत्वात् 'रभोऽपरोक्षा' (4. 4. 102.) इति न । अर्थात् प्रकरणाद् वेति ननु शुक्लादिर्वर्णादेर्विशेषणम्, पटस्य शुक्लो वर्ण्ण इति ततश्च पटादेर्वर्णादिना संबन्धो न तु शुक्लादिविशेषणेनेति षष्ठ्यन्तस्य समासप्राप्तिरेव नास्तीत्याशङ्का । *अस्वास्थ्यमस्त्येवे*ति गुणग्रहणेन ये गुणा द्रव्यस्य विशेषणं भवन्ति, शुक्लः पट इत्यादौ ये च भूतपूर्वगत्या ट्यणाद्यन्ताः शौक्ल्यादयस्तेऽपि गृह्यन्ते, यतः शुक्लशौक्ल्यमिति, एवं मधुरमाधुर्यादीनामपि ।

ननु अनेनैव व्याख्यानेन पटस्य शुक्ल इत्यादिष्वेव निषेधः प्राप्तः यतो यथा शुक्लः पट इत्यादौ द्रव्येऽपि वृत्तिस्तथा न शौक्ल्यशब्दस्य द्रव्ये वृत्तिर्यतः शौक्ल्यशब्देन गुणमात्रमेवाभिधीयते न द्रव्यम् ? उच्यते, यद्यपि शौक्ल्यशब्दो द्रव्ये न वर्त्तते तथापि शौक्ल्यशब्दो गुणवचनः, ततो यद्यप्ययं द्रव्यं वक्तुं न शक्नोति तथापि आत्मीयशुक्ललक्षणेन शब्देन यदि वादयति तर्हि भवत्येव, आत्मीयत्वं चानयोर्गुणमात्रवृत्तित्वात्, यथा कश्चित् पुमान् भार्यायाः पार्श्वात् पित्रोर्भक्तिं कारयति ततो यद्यात्मना न करोति तथापि भक्तिं कुर्व्वन्नभिधीयते एवमत्राऽपि भविष्यति । *तद्विशेषैरेवायमि*ति तद्विशेषाश्च शुक्लादयो मधुरादयः सुरभ्यसुरभी शीतादयश्च गुणा गृह्यन्ते, तेषामेव द्रव्यविशेषणत्वसंभवात्, तेन रूपादीनां न ग्रहः, न हि ते द्रव्यस्य विशेषणं भवन्ति पटो रूपं, गुडो रसः, चन्दनं गन्धः स्तनस्पर्श इति । रूपादिविशेषा ये

शुक्लादयस्त एव गृह्यन्ते, तेन गौरवादयः संख्यादयो वैशेषिकप्रसिद्धाश्च न गृह्यन्ते ।

*वाङ्माधुर्यमि*ति रसनेन्द्रियग्राह्य एव रसो लोके मधुरशब्दस्य रूढोऽत्र तूपचारादिति न गुडस्य माधुर्यमितिवन्निषेधः, यतो गौणमुख्यन्यायेन मुख्यो लौकिको गुणः समासाभावं प्रयोजयतीति । *बहुलाधिकाराद*िति ननु कण्टकस्य तैक्ष्ण्यमित्यादौ तैक्ष्ण्यं स्पर्शनेन चक्षुषाऽपि च गृह्यते, ततो द्वीन्द्रियग्राह्याणां न गुणत्वं किं त्वेकेन्द्रियग्राह्याणामेवेति वैशेषिकमतम्, ततः समासः प्राप्तः, कुसुमसौरभ्यमित्यादौ च पटस्य शौक्ल्यमितिवत् समासाभावप्रसङ्गस्तदेतदुभयं कथमित्या-शङ्का ।।3. 1. 87.।।

सप्तमी शौण्डाद्यैः ।। 3. 1. 88. ।।

सप्तम्यन्तं नाम शौण्डाद्यैर्नामभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । पाने प्रसक्तः शौण्डः—पानशौण्डः, पानशौण्डो मद्यपः, अक्षेषु प्रसक्तः—शौण्ड इव अक्षशौण्डः, शौण्डशब्द इह गौणो व्यसनिनि वर्तते, वृत्तौ प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः, अक्षधूर्तः । अक्षकितवः ।

शौण्ड धूर्त, कितव, व्याल, सव्य, आयस, व्यान, सवीण, अन्तर, अधीन, पटु, पण्डित कुशल, चपल, निपुण, सिद्ध, शुष्क, पक्व बन्ध, बहुवचनमाकृतिगणार्थम् तेन शिरः शेखरः, हस्तकटकः, आपातरमणीयः, अवसानविरसः, पृथिवीविदितः पृथिवीप्रणतः, अन्तेगुरुः, मध्येगुरुः, 'ऋणेऽधम'—अधमर्णः, 'ऋणे उत्तमः'— उत्तमर्णः, राजदन्तादित्वात्परनिपात इत्यादि सिद्धं भवति ।।88।

न्या० स०—सप्तमी० । व्यालेति व्याङ्पूर्वादडतेरचि लत्वे च । आयसेति आयस्यतीत्यचि अलस इत्यर्थः । व्यानेति अनितेर्घि आनस्ततो विवृद्ध आनो बलमस्य आसक्त इत्यर्थः । *सवीणे*ति सह वीण इव दक्षिण इत्यर्थः, इह गौण इति परमार्थतो मद्यपः शौण्ड इत्युच्यते व्यसनी तु गौणवृत्त्या, आपतनं भावे घञि आपाते आरम्भे रमणीय आपातरमणीयः ।।3. 1. 88. ।।

सिंहाद्यैः पूजायाम् ।। 3. 1. 89. ।।

सप्तम्यन्तं नाम सिंहाद्यैर्नामभिः सह समस्यते, पूजायां गम्यमानायाम्, तत्पुरुषश्च समासो भवति । समरे सिंह इव-समरसिंहः । एवं रणव्याघ्रः, भूमिवासवः, कलियुधिष्ठिरः, उपमयात्र पूजावगम्यते बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।89।।

काकाद्यैः क्षेपे ।। 3. 1. 90. ।।

सप्तम्यन्तं नाम काकाद्यैर्नामभिः सह समस्यते, क्षेपे गम्यमाने, तत्पुरुषश्च समासो भवति। तीर्थे काक इव तीर्थकाकः, एवं तीर्थध्वाङ्क्षः, तीर्थवायसः, तीर्थबकः, तीर्थश्वा, तीर्थसारमेयः, तीर्थकुक्कुटः, तीर्थशृगालः,–अनवस्थित एवमुच्यते, उपमया चात्र क्षेपो गम्यते। क्षेप इति किम् ? तीर्थे काकस्तिष्ठति, बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।90।।

न्या० स०–काका० / *तीर्थसारमेय* इति सारो मेयोऽस्य यद्वा सरमा शुनी तस्या अपत्यं 'चतुष्पाद्भ्य एयञ्' (6. 1. 83.) कुर्कुर इत्यर्थः। *अनवस्थित* इति यथा काकादिस्तीर्थफलमजानन् अचिरस्थायी भवत्येवं यो देवदत्तादिः कार्याण्यारभ्य तेष्वनिर्वाहकः स तीर्थाधारेण काकादिनोपमीयमानः क्षिप्यत इत्यस्ति क्षेपस्य गम्यमानतेत्याह-*अनवस्थित*तेत्यादि ।।3. 1. 90. ।।

पात्रसमितेत्यादयः ।। 3. 1. 91. ।।

पात्रेसमितादयः सप्तमीतत्पुरुषा निपात्यन्ते, क्षेपे गम्यमाने । पात्र एव समिताः, पात्रेसमिताः, एवं पात्रेबहुलाः, गेहेशूरः, गेहेदाही, गेहेक्ष्वेडो, गेहेनर्दी, गेहेनर्ती । गेहमेव विजितमनेन गेहेविजिती, 'इष्टादेः' (7. 1. 168.) इतीनि 'व्याप्येक्तेन' (2. 2. 99.) इति सप्तमी, एवं गेहेविचिती, गेहेव्यालः, गेहेपटुः, गेहेपण्डितः, गेहेप्रगल्भः, गोष्ठेशूरः, गोष्ठेक्ष्वेडी, गोष्ठेनर्दी, गोष्ठेविजिती, गोष्ठेव्यालः, गोष्ठेपटुः, गोष्ठेपण्डितः, गोष्ठेप्रगल्भः, एषु अवधारणेन क्षेपो गम्यते ।

उदुम्बरे मशक इव उदुम्बरमशकः, एवमुदुम्बरकृमिः, कूपकच्छपः, कूपमण्डूकः, अवटकच्छपः, अवटमण्डूकः, उदपानमण्डूकः, अल्पदृश्चैवमुच्यते, नगरकाकः, नगरवायसः, नगरश्वा, एतैः सदृशो धृष्ट उच्यते, उदुम्बरमशकादिषूपमया क्षेपो गम्यते। गेहेमेही, पिण्डीशूरः, -य आवश्यकार्थमपि बहिर्न निर्गच्छति, भोजन एव च संरभते स एवमुच्यते, अत्रावधारणेन निरुत्साहता तया च क्षेपो गम्यते। पितरिशूरः, मातरिपुरुषः,–यः सदाचारं भिनत्ति स एवमुच्यते, अत्र प्रतिषिद्धासेवनेन क्षेपो गम्यते ।

गर्भेधीरः, गर्भेशूरः, गर्भेसुहितः, गर्भेतृप्तः, गर्भेदृप्तः,–योऽलीकाभिमानित्वादनुचित-चेष्टः स एवमुच्यते, तत एव च क्षेपो गम्यते। कर्णेटिरिटिरिः, कर्णेचुरुचुरः, कर्णेटिरिटिरा, कर्णेचुरुचुरा,–चापलेनानुचितचेष्टोच्यते,–टिरिटिरीति गत्यनुकरणम्, चुरुचुर्विति वाक्यानुकरणम्। तत् करोति णिजन्तादप्रत्ययो निपातनसामर्थ्याच्चानो न भवति। इतिशब्दः समासान्तरनिवृत्त्यर्थः

तेन परमाः पात्रेसमिताः, पात्रेसमितानां पुत्रः इत्यादिषु समासो न भवति। निपातनात् सप्तम्या अलुप्, बहुवचनम् आकृतिगणार्थम्, तेन-व्रणकृमिः, गृहसर्पः, गृहकलविङ्कः, आखनिकबकः इत्यादयो गृह्यन्ते ।।91।।

न्या० स०–पात्रेस० । *गेहेक्ष्वेडी*ति ञिक्ष्विदाङ् इति धातौ क्ष्विदः स्थाने क्ष्विडं केचित् पठन्ति, गेहे एव क्ष्वेडते 'ग्रहादिभ्यो णिन्' (5. 1. 53.) एवमग्रेतनद्वये। *गेहमेव विजितमनेने*ति 'व्याप्ये क्तेनः' (2. 2. 99.) इत्यनेन क्तप्रत्ययान्तात् यस्तद्धित इन् तदन्तस्य व्याप्ये वर्त्तमानात् सप्तमी विहितेति प्रथमान्तेन विग्रहः, यद्वा अर्थकथनमिदं गेहेविजीतीत्येव क्रियते। *गेहेविचिती*तिगेहमेव विचितं गवेषितमनेन, यथादृष्टं विचिन्वता तेन गवेषयतेत्यर्थः।

अवधारणेनेति पात्रेसमिता इत्यत्र पात्रशब्देन पात्रसहचारिभोजनं लक्ष्यते ततो भोजन एव समिता मिलिताः सन्ति न कार्यान्तरे इत्यवधारणात् क्षेपो गम्यते। उदपानमण्डूक इति। उदकं पीयतेऽस्मिन् 'नाम्न्युत्तर' (3. 2. 107.) इति उदादेशः। भोजन एवेति पिण्डीशब्दः ख्यापयित-व्योपलक्षणमित्युक्तं भोजन एवेति। गर्भेधीर इति। गर्भ एवं स्थैर्यादियुक्तो गर्भान्निः सृत्य तु चापलादिदोषयुक्तः इत्यर्थः।

चापलेनान्विति-कर्ण्णे किमपि जल्पित्वा जीवति नास्य विक्रमाद्गुण इति क्षेपो गम्यते। *आकृतिगणार्थमि*ति अत्र आकृतिः सादृश्यं तत्प्रधानो गण आकृतिगणः अथवा आकृतिशब्देन जातिरुच्यते सा यथा सकला व्यक्तीर्व्याप्नोति तद्वत् यः प्रचुरशब्दविषयं व्याप्नोति स जातिसादृश्यादाकृतिगणः। *सप्तम्या अलुबि*ति ननु पात्रेसमितेत्यादिकृत्प्रत्ययान्तेषु 'तत्पुरुषे कृति' (3. 2. 20.) इति शेषेषु 'अद्व्यञ्जनात्' (3. 2. 18.) इत्यलुप् प्राप्तस्तत् किं निपाताश्रयेण ? सत्यं, ताभ्यां बहुलं संज्ञायां चालुबुक्तेत्याहनिपातनादिति ।। 3. 1. 91. ।।

क्तेन ।। 3. 1. 92. ।।

सप्तम्यन्तं नाम क्तान्तेन नाम्ना सह समस्यते, क्षेपे गम्यमाने, तत्पुरुषश्च समासो भवति। भस्मनिहुतम्, प्रवाहेमूत्रितम्, उदकेविशीर्णम्,–निष्फलं कृतमेवमुच्यते, अवतप्तेनकुल-स्थितम्, कार्येष्वनवस्थितत्वमुच्यते,–सर्वत्रोपमानेन क्षेपो गम्यते। नित्यसमासाश्चैते पात्रेसमिता-दयश्च ।।92।।

न्या० स०–क्तेन० । *नित्यसमासाश्चैते* इति वाक्यस्य क्रियाकारकसंबन्धमात्रप्रत्यायकतया क्षेपप्रतिपादने सामर्थ्याभावात् समासस्यैव तत्र सामर्थ्यात् ।। 3. 1. 92. ।।

तत्राहोरात्रांशम् ॥ 3. 1. 93. ॥

पृथग्योगात्क्षेप इति निवृत्तम् । तत्रेत्येतत्सप्तम्यन्तं नामाहरवयवा रात्र्यवयवाश्च सप्तम्यन्ताः क्तान्तेन नाम्ना सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । तत्रकृतम्, तत्रभुक्तम्, पूर्वाह्णे कृतं पूर्वाह्णकृतम्एवमपराह्णकृतम् । पूर्वरात्रकृतम्, अपररात्रकृतम्, तद्धिताद्युत्पत्तिः समासफलम्–तात्रकृतिः । तत्राहोरात्रांशमिति किम् ? घटे कृतम् । कथमन्यजन्मकृतं कर्मेति ? 'कारकं कृता' (3. 1. 66.) इति तृतीयासमासोऽयम् । अहोरात्रग्रहणं किम् ? शुक्लपक्षे कृतम्, पक्षो मासांशः । अंशग्रहणं किम् ? अहनि भुक्तम् । एतत्तु ते दिवा वृत्तं रात्रौ वृत्तं तु द्रक्ष्यसि । कथं रात्रिवृत्तम् संध्यागर्जितमिति-बहुलाधिकारात् । क्तेनेत्येव ? तत्र भोक्ता, पूर्वाह्णे भोक्ता ॥93॥

न्या० स०–तत्राहोरा० । *पृथग्योगादि*ति तत्राहोरात्रांश च क्तेनेति चकारादन्यत् नाम । *तत्रेति सप्तम्यन्तमि*ति सप्तमीसाधर्म्यात् त्रप् प्रत्ययोऽप्यत्र सप्तमीसाधर्म्यं पुनस्त्रपोऽधिकरणार्थता यथैव ह्यधिकरणार्थप्रत्यायनाय सप्तमी प्रयुज्यते तथा त्रबपीति ॥3. 1. 93.॥

नाम्नि ॥ 3. 1. 94. ॥

सप्तम्यन्तं नाम नाम्ना समस्यते, नाम्नि संज्ञाविषये, समदायश्चेत्संज्ञा भवति स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । अरण्येतिलकाः, अरण्येमाषकाः, वनेकशेरुकाः, वनेवल्वजाः, कूपेपिशाचिकाः, वनेहरिद्रुकाः, पूर्वाह्णेस्फोटकाः, अपराह्णेस्फोटकाः, तथा स्तूपेशाणः, मुकुटेकार्षापणः, हलेद्विपदिका, –सप्तम्या अलुप्, नित्यसमासोऽयम्, नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते ॥94॥

न्या० स०–नाम्नि । *अरण्येतिलका* इति तिलप्रकारा माषप्रकाराः 'कोण्वादेः' (7. 2. 76.) इति कः । *कशेरुकवल्वज* वृक्षविशेषौ तृणे च । *पिशाचिका* भट्टारिका । *सप्तम्या अलुबि*ति अरण्येतिलका इत्यादिषु 'अद्व्यञ्जनात्' (3. 2. 18.) इत्यनेन स्तूपेशाण इत्यादिषु तु 'प्राक्कारस्य' (3. 2. 19.) इत्यनेन ॥3. 1. 94.॥

कृद्येनावश्यके ॥ 3. 1. 95. ॥

सप्तम्यन्तं नाम 'य एच्चातः' (5. 1. 28.) इति कृद्यप्रत्ययान्तेन नाम्ना समस्यते, आवश्यकेऽवश्यंभावे गम्यमाने, तत्पुरुषश्च समासो भवति मासेऽवश्यं देयम्-मासदेयम्, एवं

संवत्सरदेयम्, पूर्वाह्णेगेयम्, प्रातरध्येयम्, ग्रामदेयम्, नगरदेयम् । कृदिति किम् ? मासे पित्र्यम् । य इति किम् ? मासे स्तुत्य:, मासे पाच्यम्, मासे दातव्या भिक्षा । संवत्सरकर्तव्यमिति तु बहुलाधिकारात् । आवश्यक इति किम् ? मासे देया भिक्षा ।।95।।

न्या० स०—कृद्येना० । *मासेऽवश्यमि*ति 'यद्भावो भावलक्षणम्' (2. 2. 106.) इति सप्तमी मासे गते देयमिति हि मासादिभावो लक्ष्यते इति । अथवा मासाद्येकदेशे मासादिशब्द इत्याधार एव सप्तमी । अन्यथा उपचारं विना समग्रेऽवि मासे देयमिति यदि विवक्ष्यते तथा 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' (2. 2. 42.) इति द्वितीया स्यात् । *मासदेयमि*ति मासस्य पूरके त्रिंशत्तमे दिने देयमित्यर्थ: । अयमपि नित्यसमासो यतो न समासे अवश्यंशब्दस्य प्रयोग इति न्यास: । 'तत्पुरुषेकृति' (3. 2. 20.) इत्यलुप्प्राप्तौ बाहुलकात् सप्तम्या: लोप:, निरनुबन्धन्यायात् क्यप्घ्यणोर्ग्रहणाभावे मासे स्तुत्येत्यादौ न समास: । मासे दातव्या भिक्षेति ❊ अर्थवद्ग्रहणे ❊ इति न्यायात् कृत्तव्यप्रत्ययैकदेशस्य यकारस्य न ग्रहणम् ।। 3. 1. 95. ।।

विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च ।। 3. 1. 96. ।।

विशिष्यतेऽनेकप्रकारं वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यवच्छिद्यतेऽनेनेति विशेषणं, व्यवच्छेद्यं विशेष्यम्, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयो: शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिरैकार्थ्यं सामानाधिकरण्यमिति यावत्, तद्वदेकार्थम् । विशेषणवाचि नामैकार्थं विशेष्यवाचिना नाम्ना सह समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञ: कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलम्, कृष्णाश्च ते तिलाश्च कृष्णतिला:, पुमांश्चासौ गौश्च पुंगव:, मोषिका चासौ गौश्च मोषिकगवी, ।

विशेषणविशेष्ययो: संबन्धिशब्दत्वादेकतरोपादानेनैव द्वये लब्धे द्वयोरुपादानं परस्परमुभयोर्व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकत्वे समासो यथा स्यादित्येवमर्थम्, तेनेह न भवति, तक्षक: सर्प:, लोहितस्तक्षक इति, न ह्यसर्पोऽन्यवर्णो वा तक्षकोऽस्ति । कथं तर्हि आम्रवृक्ष: ? शिंशपावृक्षोऽस्तपर्वत इत्यादौ समासो न ह्यवृक्ष आम्र: शिंशपा वा भवति ? —नात्राम्रादय: शब्दा वृक्षविशेषाणामेव वाचका: किं तर्हि फलादेरपि तत्सहचरितमाधुर्यस्थैर्यादेर्गुणविशेषस्य च, एवं च तक्षकाहि: शेषाहिरित्यादयोऽपि भवन्ति । यदि वा आम्राणां फलानां संबन्धी वृक्ष: आम्रवृक्ष:, एवं शिंशपावृक्ष:, अस्तस्य पर्वतोऽस्तपर्वत:, एवमुदयपर्वत:, इत्यादय: षष्ठीसमासा द्रष्टव्या: ।

यद्येवमुभयोर्विशेषणत्वे उभयोश्च विशेष्यत्वे सति विशेष्यस्यापि विशेषणत्वमित्युत्पलशब्दस्यापि नीलादिना समासप्रसङ्ग:, तथा च 'प्रथमोक्तं प्राक्' (3. 1. 148.) इति वचनादुत्पलनीलमित यपि स्यात्, नैवम्, अविशेषेऽपि विशेषणविशेष्यभावस्य 'प्रधानानुयाय्यप्रधानम्' इति न्यायात्

अप्रधानस्यैव प्रधानेन समासः । प्राधान्यं च द्रव्यशब्दानां द्रव्यस्यैव साक्षात्क्रियाभिसंबन्धात्, यद्यपि चोत्पलादिशब्दा जातिशब्दास्तथापि उत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशाद्द्रव्येण जातेरभिसंबन्धाद्द्रव्यशब्दा उच्यन्ते, गुणक्रिययोस्तु तथा द्रव्येण संबन्धाभावान्न तन्निमित्ताः शब्दा द्रव्यशब्दा इति नीलोत्पलमित्याद्येव भवति, न तूत्पलनीलादीति । यस्तु गुणादिशब्दानामेव समासस्तत्रोभयोरपि पदयोरप्रधानत्वात्कामचारेण पूर्वापरनिपातः—खञ्जश्चासौ कुण्टश्च खञ्जकुण्टः, एवं कुण्टखञ्जः, शुक्लकृष्णः, कृष्णशुक्लः, एवं रोहितपाण्डुः 2, हरितबभ्रुः 2, पूर्वा चासावुत्तरा च पूर्वोत्तरा, एवमुत्तरपूर्वा, दक्षिणपूर्वा, पूर्वदक्षिणा-विदिक्, पाचकपाठक, पाठकपाचकः पुरुषः, कृष्णसारङ्गः, कृष्णशबलः, कृष्णकल्माषः इत्यादौ तु गुणशब्दत्वेऽपि सारङ्गादिशब्दानां समुदायवाचित्वात्प्राधान्यम् ।

कृष्णादिशब्दानां त्ववयववाचित्वेनाप्राधान्यम् इति कृष्णादीनामेव पूर्वनिपातः । एकार्थमिति किम् ? वृद्धस्योक्षा वृद्धोक्षा । कर्मधारये तु समासान्तः स्यात्बहुलाधिकारात्क्वचित्समासो न भवति-रामो जामदग्न्यः, अर्जुनः कार्तवीर्यः, दीर्घश्चारायणः, क्वचिन्नित्यः—कृष्णसर्पः, लोहितशालिः, गौरखरः, लोहिताहिः, नरसिंहः, पुरुषमृगः, करिमकरः, बकटिट्टिभः, नकुलसर्पः, पक्षिमार्जारः, कुक्कुटसर्पः,— जातिविशेषवाचित्वान्नित्यसमासा एते । न हि वाक्येन जातिर्गम्यते, जातिशब्दानां चावयवद्वारेण समुदायेऽपि वृत्तेः सामानाधिकरण्यम्, भूयोऽवयवाभिधायिनश्च प्राधान्याद्विशेष्यत्वमितरस्य तु विशेषणत्वम् । चकारस्तत्पुरुषकर्मधारयसंज्ञा समावेशार्थः । कर्मधारयप्रदेशाः 'कडारादयः कर्मधारये' (3. 1. 158.) इत्यादयः ।।96।।

न्या० स०—विशेषणं० । *वृत्तिरैकार्थ्यमि*ति एकः साधारणोऽर्थो द्रव्यलक्षणस्तदतदात्मको यस्य तदेकार्थं तस्य भावः । *तक्षकः सर्प्प* इति । सर्प्प इति विशेष्यं तक्षक इति विशेषणम्, व्यतिक्रमेण तु तक्षको विशेष्यमेव, न ह्यस्य सर्प्पो विशेषणं घटतेऽसंभवात् । *लोहितस्तक्षक* इति लोहित इति विशेष्यं तक्षको विशेषणं व्यत्ययेन तु तक्षको विशेष्यमेव लोहित इति विशेषणं न भवति तस्य रक्तत्वाव्यभिचारात् । *शिंशपा वा भवती*ति न च वाक्येऽपि, तर्हि वृक्षादिप्रयोगो न स्यादिति वाच्यं, द्वौ द्विरदावितिवद्गतार्थस्याऽपि लोके प्रयोगदर्शनात्, यद्वा पूर्वं वृक्षप्रयोगात् सामान्यावगतेर्विशेषावगमाय शिंशपेति प्रयुज्यते । *एवं च तक्षकाहिरि*ति यतस्तक्षकशेषशब्दावहिगुणादावपि वर्त्तेते । तक्षकः सर्प्प इत्यादौ तु तद्गुणविवक्षायामपि बाहुलकान्न भवति, विशेषणविशेष्यद्वयोपादानं हि बाहुलकप्रपञ्चार्थम् ।

*प्राधान्यं च द्रव्यशब्दानामि*ति नीलादि अन्याश्रितत्वादप्रधानमुत्पलं तु तस्याश्रयत्वात् प्रधानं । उत्पलं हि द्रव्यरूपत्वात् क्रियासिद्धये साक्षादुपयुज्यमानं प्राधान्येन विवक्ष्यते, नीलस्तु गुणत्वात्

द्रव्यव्यवधानेन क्रियायामुपयोगादुत्पलस्य विशेषणं संपद्यते इति । ननु प्राधान्यं च द्रव्यशब्दानामित्युक्त-मुत्पलादयस्तु जातिशब्दास्तत्कथमित्याहयद्यपीति । यस्तु गुणादीति आदिशब्दात् द्रव्यक्रिययोर्ग्रहः, क्रिया पाचक इत्यादिका दर्शितैव, द्रव्यं यथा दण्डी चासौ धन्वी चात्राऽपि पूर्व्वनिपाते कामचारः। *पदयोरप्रधानत्वादिति* द्रव्यव्यवधानेन क्रियायामुपयोगात् ।

पूर्वोत्तरेति रविपरिवर्त्तनसंयोगेन दिश उच्यन्ते अतोऽत्रापि गुणः प्रवृत्तिनिमित्तम् । *पूर्वदक्षिणा विदिगि*ति विदिगित्युपलक्षणं तत्संबन्धिन्यन्यत्राऽपि देशादौ भवति । सारङ्गो वर्ण्णसमूहः, *अर्जुनः कार्त्तवीर्य* इति कृतं वीर्यं येन तस्यापत्यमिति 'ऋषिवृष्णि' (6. 1. 61.) इत्यण् । *कृष्णसर्प्प* इत्यादिषु चतुर्षु उदाहरणेषु गुणवचनत्वात् कस्य पूर्वनिपातः? इत्याह- *भूयोवयवाभिधायिन* इत्यादि । *जातिशब्दानामि*ति यद्येवं कथं कृष्णसर्प्पशब्दयोः समानाधिकरण्यं द्वयोरेव तयोर्जातिविशेषवाच-कत्वादित्याशङ्का *चकारस्तत्पुरुषे*ति अत्र अनुवर्त्तते या तत्पुरुषसंज्ञा तया अस्याः कर्म्मधारयसंज्ञायाः समावेशो यथा स्यादित्येवमर्थश्चकारः । *समावेशार्थ* इति । यदि च चकारस्तत्पुरुष इत्यस्यानुकर्षणार्थ इत्युच्येत तदा चानुकृष्टं नोत्तरत्र इति विज्ञायेत ॥ 3. 1. 96.॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम् ॥ 3. 1. 97. ॥

पूर्वकाल इत्यर्थनिर्देशः पूर्वः कालो यस्यार्थस्य स पूर्वकालः, तद्वाचि नामैकादीनि चैकार्थानि परेण नाम्ना सह समस्यन्ते, तत्पुरुषः कर्मधारयश्च समासो भवति, पूर्वकालः संबन्धिशब्दत्वादपरकालेन । पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः—स्नातानुलिप्तः, एवं लिप्तवासितः, कृष्टमतीकृता भूमिः, छिन्नप्ररूढो वृक्षः, एकशब्दः संख्यान्यसहायाद्वितीयेषु वर्तते,—एका शाटीएकशाटी, शाटशब्देन त्वनभिधानान्न भवति-एकः शाटः, एकर्षयः, एकचौरः, एकधनुर्धरः, सर्वशब्दो द्रव्यावयवप्रकारगुणानां कात्स्न्र्ये वर्तते सर्वशैलाः, सर्वरात्रः, सर्वान्नम्, ।

सर्वशुक्लः, जरत्-जरद्गवः, जरद्राजः, जरद्वलिनः, पुराण-पुराणवैयाकरणः, नव-नवोदकम्, नवोक्तिः, केवल-केवलमसहायं ज्ञानं-केवलज्ञानम्, केवलजरत्, केवलपुराणम् । एकार्थमित्येव ? स्नात्वानुलिप्तः,—स्नात्वेत्यसत्त्ववाचिनो नानुलिप्तपदेनैकार्थ्यम् । पूर्वेणैव सिद्धे पुनर्वचनं स्पर्द्धे परमिति पूर्वनिपातस्य विषयप्रदर्शनार्थम् पूर्वापरकालवाचिनोरद्रव्यशब्दत्वादनियमे प्राप्ते पूर्वकालवाचिन एव पूर्वनिपातनार्थं च ॥97॥

न्या० स०—पूर्वकालैक० । पूर्वकालेत्यस्य कृतद्वंद्वैरेकादिभिर्द्वंद्वः, यदि पुनरेकादिभिरकृतद्वंद्वैः पूर्वकालेत्यस्य द्वंद्वः क्रियेत तदैकशब्दस्य स्वराद्यदन्तत्वात् पूर्वनिपातः स्यात्तथा च सर्वेषामेकरूपतायां स्वरूपग्रहणे पूर्वकालेत्यर्थनिर्देश इति यद् वक्ष्यते तदुपपन्नं न स्यात् । *मतीकृते*ति मतमस्या

अस्तीति मतिनी क्षेत्रभूमिः, अमतिनी मतिनी कृतेति च्वौ पुंवद्भावे दीर्घत्वे च मतीकृता, अथवा मतं लोष्टमर्दनकाष्ठं तदस्या अस्ति अभ्रादित्वादप्रत्ययः, ततोऽमता मता कृतेति, अद्रव्यशब्दत्वादिति शेषः, एतच्चोपलक्षणमेकादीनामपि, यदा क्रियाशब्देन वा सामानाधिकरण्यं तदा पूर्वेण समासे खञ्जकुण्टादिवत् पूर्वनिपातस्यानियमः स्यादुभयोरपि पूर्वोत्तरपदयोर्विशेषण-त्वादिति, केवलं न चेति कृते अकेवलमेव भवति. यतोऽयं योगो 'विशेषणं विशेष्येण' (3. 1. 96.) इति प्राप्तौ तत्समासश्च सर्वत्र 'विशेषणम्' (3. 1. 96.) इति सूत्रस्य बाधकः, अतो नञा सह सर्वोऽपि कर्मधारयो न भवति ॥3. 1. 97.॥

दिगधिकं संज्ञातद्धितोत्तरपदे ॥ 3. 1. 98. ॥

दिग्वाचि अधिकमित्येतच्च नामैकार्थं परेण नाम्ना सह समस्यते, संज्ञायां तद्धिते च प्रत्यये विषयभूते उत्तरपदे च परतः स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । दक्षिणाः कोशलाः—दक्षिणकोशलाः, उत्तरकोशलाः, दक्षिणपञ्चालाः, उत्तरपञ्चालाः, एवंनामानो जनपदाः, पूर्वेषुकामशमी, अपरेषुकामशमी, पूर्वकृष्णमृत्तिकाः, अपरकृष्णमृत्तिकाः, - एवंनामानो ग्रामाः, संज्ञायां नित्यसमासः, नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते, पूर्वोत्तरविभागप्रदर्शनार्थं तु विग्रहवाक्यम् ।

तद्धिते-दक्षिणस्यां शालायां भवः—दाक्षिणशालः, एवमौत्तरशालः, पौर्वशालः, आपरशालः, अधिकं खल्वपि-अधिकया षष्ट्या क्रीतः—अधिकां षष्टिं भूतो भावी वा अधिकषाष्टिकः, एवमधिकसाप्ततिकः,— अयमपि नित्यः समासः, न हि तद्धिते वाक्यमस्ति, उत्तरपदे, दक्षिणो गौर्धनमस्य दक्षिणगवधनः, एवमुत्तरगवधनः, पूर्वगवीप्रियः, अपरगवीप्रियः, अधिकगवप्रियः, अधिकगवीप्रियः,—एषु तत्पुरुषलक्षणः समासान्तः, उत्तरपदेऽपि नित्यसमासः, त्रयाणामेकार्थीभाव एवोत्तरपदसंभवात्-तत्र च द्वयोर्व्यपेक्षाभावात् । संज्ञादिग्रहणं किम् ? उत्तरा वृक्षाः । 'विशेषणं विशेष्येण'— (3. 1. 96.) इत्येव सिद्धे नियमार्थं वचनम् । दिगधिकं संज्ञातद्धितोत्तरपद एव समस्यते नान्यत्रेति । दक्षिणा गावोऽस्य सन्ति दक्षिणगुरित्यादौ सन्तीत्येतदनपेक्षयान्तरङ्गत्वेन बहुव्रीहिभावादुक्तार्थत्वेन मत्वर्थीयतद्धितविषयभाव एव नास्तीत्यनेन समासो न भवति ॥98॥

*न्या०स०—दिगधि० । दिग्वाची*ति एतदपि च न दिश्येव वर्त्तमानमपि तु तद्द्वारेण जनपदादौ च वस्त्वन्तर इति अर्थप्रधानो निर्देशः। संज्ञायां तद्धिते चेति एकापि सप्तम्युत्पन्ना विषयभेदात् यथालक्ष्यं भिद्यते इति । विग्रहवाक्यमिति विभिन्नं गृह्यतेऽनेनऽस्मिन् वा बाहुलकात् 'पुन्नाम्नि घः' (5. 3. 130.) विग्रहं च तत् वाक्यं च विग्रहवाक्यम् । यद्वा विग्रहणं 'युवर्ण्ण' (5. 3. 28.) इत्यल् विग्रहस्तस्य वाक्यं । न हि तद्धिते वाक्यमस्तीति तद्धिता हि नाम्न उत्पद्यन्ते न तु

समासारम्भकात् वाक्यात् *पूर्वगवीप्रिय* इति मतान्तरेणेदमुदाहरणं स्वमते तु अणाद्यन्तान्नाम्नो ङीरुक्तोऽत्र तु पूर्वगवीप्रिय इत्येवंरूपस्य नामत्वे पूर्व्वगवीत्यस्य नामत्वाभावे ङीर्न स्यात् ॥3. 1. 98॥

संख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम् ॥ 3. 1. 99. ॥

अनेकस्य कथंचिदेकत्वं समाहारः । संख्यावाचि नाम परेण नाम्ना सह समस्यते, संज्ञातद्धितयोर्विषयभूतयोरुत्तरपदे परे समाहारे चाभिधेये स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । अयमेव चानाम्नि असंज्ञायां द्विगुसंज्ञश्च भवति । संज्ञायाम्-पञ्चाम्राः, दशाम्राः, पञ्चर्षयः, सप्तर्षयः, दशार्हाः, पञ्चवटाः, दशवटाः, फलित एकः पञ्चाम्रः, पुष्पितौ द्वौ पञ्चाम्रौ, उदितास्त्रयः सप्तर्षयः ।

तद्धिते-द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः, पाञ्चनापितिः, पञ्चसु कपालेषु संस्कृत ओदनः पञ्चकपाल ओदनः, पञ्चभ्यो जनेभ्यो हितः पञ्चजनीनः, अध्यर्धेन कंसेन क्रीतः अध्यर्धकंसः, एवमध्यर्धशूर्पः, अर्धतृतीयैः शूर्पैः क्रीतः अर्धतृतीयशूर्पः, एवमर्धपञ्चमशूर्पः, उत्तरपदे-पञ्च गावो धनमस्य पञ्चगवधनः, पञ्च नावः प्रिया यस्य स पञ्चनावप्रियः, द्वे अहनी जातस्य द्व्यन्हजातः, अध्यर्धा नौर्धनमस्य अध्यर्धनावधनः, अर्धतृतीया नावो धनमस्य अर्धतृतीयानावधनः ।

समाहारे, पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली, दशपूली, पञ्चानां राज्ञां समाहारः पञ्चराजी, दशराजी, एवं पञ्चकुमारि, दशकुमारि, अध्यर्धानां पूलानां समाहारः अध्यर्धपूली, अर्धपञ्चमपूली, । समाहारे चेति किम् ? अष्टौ प्रवचनमातरः,—'विशेषणं विशेष्येण'—इत्यादिनापि न भवति, नियमार्थत्वादस्य । एकस्य समाहारायोगादपूपेन समासे कथमेकापूपीएकस्याप्यनेक-पर्यायोपनिपातिनोऽनेकत्वसंभवे समाहारोपपत्तेः । द्विगुश्चेति चकारः कर्मधारयतत्पुरुषसंज्ञा समावेशार्थः । अनाम्नीति किम् ? पञ्चर्षीणामिदं पाञ्चर्षम्, एवं दाशार्हम्,—अत्र द्विगुत्वेऽनपत्यप्रत्ययस्य लुप् स्यात् । अयंग्रहणमुत्तरत्र द्विगुश्चेत्यस्याननुवृत्त्यर्थम् । द्विगुप्रदेशाः 'द्विगोः समाहारात्' (2. 4. 22) इत्यादयः ॥99॥

न्या0स0—संख्या स । *पञ्चाम्रा* इति सन्निवेशादिविशेषविशिष्टानां पञ्चानामाम्राणामियं संज्ञा । *फलितः एकः पञ्चाम्र* इति समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते इति बहुसंख्याका म्राद्यभिधायकोऽपि पञ्चाम्रादिशब्द एकस्मिन्नप्याम्रादौ प्रयुज्यत इति । अध्यर्द्धकंस इति अत्र 'कंसार्द्धात्' (6. 4. 135.) इतीकट् क्रीतेऽर्थे 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' (6. 4. 141) । पञ्चनावप्रिय इति मतान्तरेऽपि बाहुलकाद् बाधन्ते, स्वार्थिकाः क्वचिदित्यतो वा ङीर्न, स्वमते तु अणन्तान्नाम्नो विहितेति न प्राप्नोत्येव । *द्व्यह्नजातः* त्रिमासजात इत्याद्यर्थमुत्तरग्रहणं कर्त्तव्यमेव अन्यथा

द्विगुविषयाभावात् 'कालो द्विगौ च मेयैः' (3. 1. 57.) इति समासाऽप्रवृत्तिः स्यादतो न वाच्यं, तद्धितविषयेऽप्येषु समासो भविष्यतीति। *पञ्चानाम् पूलानां समाहार* इति समाहारः समूहः इति सामूहिकप्रत्ययः प्राप्नोति ? न, समासेनैव तस्योक्तत्वात्। ननु समाहारसमूहयोरेकार्थत्वात् तद्धित इत्येव समासो भविता किं समाहारग्रहणेन, अथ तद्धितोत्पत्तिः प्राप्नोतीति चेत् उत्पद्यतां द्विगुत्वात् 'द्विगोरनपत्ये' (6. 1. 24.) इति लुप् भविष्यति इति न काचिद् हानिरिति ? सत्यं, 'परिमाणात्तद्धित' (2. 4. 23.) इति नियमात् पञ्चपूलीत्यादौ 'द्विगोः समाहारात्' (2. 4. 22.) इति ङीर्न स्यात्, तथा पञ्चकुमारि इत्यादौ 'ङ्यादेर्गौणस्य' (2. 4. 95.) इति ङ्यादेर्लोपः स्यात्। पञ्चगवमिति 'वाञ्चलेरलुकः' (7. 3. 101.) इत्यधिकृते 'गोस्तत्पुरुषात्' (7. 3. 105.) इत्यट् न स्यात्।

*अर्द्धपञ्चमपूली*ति संज्ञातद्धितोत्तरपदेषु नित्यसमासः, समाहारे तु विकल्पस्तत्र वाक्यमपि हि भवति, पञ्चानां पूलानां समाहार इति। समावेशार्थ इति तेन गोस्तत्पुरुषात् पञ्चसर्वविश्वा-दित्यादि सिद्धम्। *अयंग्रहणमि*ति यद्ययमिति सूत्रांशो न स्यात्ततो यथा कर्म्मधारयश्चेत्यनुवर्त्तते तथा द्विगुश्चेत्युप्युत्तरत्रानुवर्त्ततेति वक्ष्यमाणा अपि समासा द्विगुसंज्ञाः स्युः, ततः परमा नौः परमनौरिति 'नावः' (7. 3. 104.) इति समासान्तः स्यात्, समाहारे दिक्शब्दो न संभवति, समाहारो हि मूर्त्तानां युगपत्कालानां संभवति इति समाहारोदाहरणं दिग्शब्देन न दर्शितम्, पञ्च च ते गावश्चेत्यपि कृते समासान्तविषयेऽपि कृते समासान्तविषये समासो भवत्येव, ततः पञ्चगवा इत्यादयोऽपि ॥ 3. 1. 99. ॥

निन्द्यं कुत्सनैरपापाद्यैः ॥ 3. 1. 100. ॥

निन्द्यवाचि नामैकार्थं पापादिवर्जितैः कुत्सनैर्निन्दाहेतुभिः सह समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति। वैयाकरणश्चासौ खसूची च वैयाकरणखसूची, यः शब्दं पृष्टः सन्निष्प्रतिभत्वात् खं सूचयति स एवमुच्यते, वैयाकरणखसूचिरित्यन्ये, याज्ञिककितवः, अयाज्ययाजनात्तृष्णापरः, मीमांसकदुर्दुरूढः, दुर्दुरूटो नास्तिकः, क्षत्त्रियभीरुः, भिक्षुविटः, मुनिखेटः, ब्राह्मणचेलः, ब्राह्मणब्रुवः, राक्षसहतकः, ब्राह्मणजाल्मः, तापसापशदः, काण्डीर-काण्डपृष्टः, ग्राम्यधृष्टः, मुनिधूर्तः, कविचौरः, आरक्षितस्करः, पाषण्डिचाण्डालः।

निन्द्यमिति किम् ? वैयाकरणश्चौरः— प्रत्यासत्तेनिन्द्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामयं समास इष्यते, न चात्र चौर्येण वैयाकरणत्वं कुत्स्यते, किं तर्हि ? तदाश्रयो द्रव्यम्, वैयाकरणत्वं तदुपलक्षणमात्रम्, तेनात्र विशेषणसमासो भवति-चौरवैयाकरणः खलवैयाकरणः। कुत्सनैरिति किम् ? कुत्सितो ब्राह्मणः। बहुलाधिकाराद्विशेषणसमासोऽप्यत्र न भवति, भवतीत्यन्ये-कुत्सित-

ब्राह्मणः । अपापाद्यैरिति किम् ? पापवैयाकरणः, अणकवैयाकरणः, –प्रवृत्तिनिमित्तमेव कुत्स्यते, एवं पापकुलालः, अणकनापितः, हतविधिः, दग्धदैवम्, दुष्टामात्याः, क्षुद्रतापस इत्यादि । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥100॥

न्या० स०–निन्द्यं० । *काण्डीरकाण्डपृष्ट* इति शस्त्राजीवः काण्डस्पृष्टः । आरक्षी इत्यत्र 'ग्रहादिभ्यो णिन्' (5. 1. 53.) *कुत्सितो ब्राह्मण* इति । न हि ब्राह्मणः कुत्सनवचनः, अपि तु कुत्स्य एवेति व्यावृत्तिबलान्न समासः, ब्राह्मणश्चासौ कुत्सितश्चेत्यपि कृते कुत्सितशब्दस्य पापाद्यङ्गीकारादनेनाऽपि न समासः, पापवैयाकरणाणकवैयाकरणयोः पूर्वनिपाते कामचारः शेषेषु जातिशब्देषु पूर्वनिपात एव विशेषणस्य ॥ 3. 1. 100. ॥

उपमानं सामान्यैः ॥ 3. 1. 101. ॥

उपमीयतेनेनेत्युपमानम्, उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम्, उपमानवाचि नामैकार्थं सामान्यवाचिभिर्नामभिः सह समस्यते स, च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । शस्त्रीव शस्त्री, शस्त्री चासौ श्यामा च शस्त्रीश्यामा-शस्त्रीव श्यामेत्यर्थः, एवं न्यग्रोधपरिमण्डला, शरकाण्डगौरी, शुकहरिणी, कुमुदश्येनी, तडित्पिशङ्गी, तित्तिरिकल्माषी, कुम्भकपाललोहिनी, मृगीव मृगी सा चासौ चपला च मृगचपला, एवं हंसगद्गदा, काकवन्ध्या, अत्र शस्त्र्यादयः शब्दाः श्यामादयश्च श्यामादिकं गुणमुपादय यदोपमेये वर्तन्ते तदैकार्था भवन्ति । एवं च पुंवद्भावोऽपि सिद्धो भवति । उपमानमिति किम् ? देवदत्ता श्यामा ।

सामान्यैरिति किम् ? अग्निर्माणवकः । गौर्वाहीकः, फालास्तन्दुलाः, पर्वता बलाहकाः । 'विशेषणं विशेष्येण' (3. 1. 96.) इत्येव समासे उपमानोपमेययोः साधारणधर्मप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यै । पूर्वनिपाते च सिद्धे उपमानं सामान्यैरेवेति नियमार्थं वचनम्-तेनाग्निर्माणवक इत्यादौ विशेषणसमासोऽपि न भवति ॥101॥

न्या० स०–उपमानं । समानस्य भावः वर्णादृढादित्वात् ट्यण्, *फालास्तन्दुला* इति फाला इव दीर्घत्वाद् विशदत्वात् खरत्वाद् वा उपमेयमेतन्न पुनः साधारणधर्मवाचि । न्यग्रोधश्चासौ परिमण्डला च अनया रीत्या वाक्यं कार्यम् । कुमुदं च तत् श्येनी च कुमुदश्येनी । *नियमार्थमि*ति शस्त्रीश्यामेत्यादौ गुणमुपादाय प्रवर्त्तमानेन शस्त्र्यादिना श्यामादेर्विशेषणाच्छ्यामशस्त्रीत्युक्तेपि साधारणधर्म्मप्रतीत्यभावादुपमानस्य समासे पूर्वनिपाते च सिद्धे विधिरारभ्यमाणो विध्यसंभवान्नियमार्थो भवति ॥ 3. 1. 101. ॥

उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ ॥ 3. 1. 102. ॥

उपमेयवाचि नामैकार्थं सामर्थ्यादुपमानवाचिभिर्व्याघ्राद्यैर्नामभिः सह समस्यते, साम्यानुक्तौ न चेदुपमानोपमेययोः साधारणधर्मवाची शब्दः प्रयुज्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । व्याघ्र इव व्याघ्र पुरुषः स चासौ व्याघ्रश्च पुरुषव्याघ्रः, एवं पुरुषसिंहः, पुरुषवृषभः, वृषभसिंहः, राज्ञी चासौ व्याघ्री च राजव्याघ्री, शुनी चासौ सिंही च श्वसिंही, अत्रापि कर्मधारयात् पुंवद्भावः ।

साम्यानुक्ताविति किम् ? पुरुषव्याघ्रः शूर इति मा भूत् । इदमेव च प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्-प्रधानस्य सापेक्षत्वेऽपि समासो भवति-तेन राजपुरुषो दर्शनीय इत्यादि सिद्धम् । व्याघ्र, सिंह, ऋषभ, वृषभ, महिष, चन्दन, वृक, वराह, हस्तिन्, कुञ्जर, रुरु, पृषत, पुण्डरीक, पलाविका क्रुश्चा । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन—वाग्वज्रः, मुखपद्मं, पाणिपल्लवं, करकिसलयं, वदनेन्दुः, पार्थिवचन्द्रः, वानरश्वा, कुचकुम्भस्तनकलशादयोऽपि भवन्ति । उपमानं सामान्यैरेवेत्यवधारणेन विशेषणसमासे प्रतिषिद्धे समासविधानार्थं वचनम् ॥102॥

न्या०स०—उपमेयं० । *शब्दः प्रयुज्यत* इति । यदा प्रकरणादिवशान्नियतसाधारणगुण-प्रतिपत्तौ व्याघ्रादिशब्दः शौर्यादौ पुरुषार्थे एव वर्त्तते तदा साम्यानुक्तौ सामानाधिकरण्ये सति समासो भवति । यदा तु गुणान्तरव्यवच्छेदाय विशिष्टसाधारणगुणप्रतिपत्तये शूरादिशब्दप्रयोगस्तदा साम्यानुक्तिग्रहणात् समासाभावः । *पुरुषव्याघ्रः शूर* इति । नन्वत्र व्याघ्रः शूर इति व्याघ्रपदस्य शूरपदाऽपेक्षयाऽपि समासो न भविष्यति किं प्रतिषेधेन ? इत्याह-*इदमेव चे*ति । पलाविकेति पलतेरचि तस्याविका पलाविका पक्षिणी ॥ 3. 1. 102. ॥

पूर्वाऽपर प्रथम-चरम-जघन्य-समान-मध्य-मध्यम-वीरम् ॥ 3. 1. 103. ॥

पूर्वादीनि नामान्येकार्थानि परेण नाम्ना सह समस्यन्ते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । पूर्वश्चासौ पुरुषश्च पूर्वपुरुषः, एवमपरपुरुषः, प्रथमपुरुषः, चरमपुरुषः, जघन्यपुरुषः, समानपुरुषः, मध्यपुरुषः, मध्यमपुरुषः, वीरपुरुषः । 'विशेषणं विशेष्येण' (3. 1. 96.) इत्यादिनैव सिद्धे स्पर्धे परमिति पूर्वनिपातस्य विषयप्रदर्शनार्थमद्रव्यवाचिनोर-नियमेन पूर्वापरभावप्रसक्तौ पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम्—तेन पूर्वजरन्, वीरपूर्वः, पूर्वपटुः । कथमेकवीर इत्यादौ वीरादेः परस्य स्पर्धे पूर्वनिपातो न भवति ? बहुलाधिकारात् ॥103॥

न्या० स०–पूर्वाऽपर० । *पूर्व्वपुरुष* इत्यादि । दिग्वाचकत्वेऽपि सूत्रोपादान-सामर्थ्यात् समासः, न तु दिगधिकमित्यनेन निषेधः । पूर्व्वपटुरिति पूर्व्वशब्दो दिग्योगेन कालयोगेन वा द्रव्यं विशिनष्टि, पटुशब्दश्च पटुत्वेन । तत्र विशेषणसमासे द्वयोरपि गुणवचनविशेषणत्वात् खञ्जकुण्टादिवदनियमेन पूर्वनिपातः स्यात् । *बहुलाधिकारा*दिति अत्र सुधाकरस्त्वाह यद्यप्येकवीर इति शिष्टप्रयुक्तस्तथापि शिष्टप्रयोगात् साक्षात् स्मृतिरेव बलीयसीत्यसाधुरेवायमिति ॥ 3. 1. 103 ॥

श्रेण्यादि कृताद्यैश्च्व्यर्थे ॥ 3. 1. 104. ॥

श्रेण्यादि नामैकार्थं कृताद्यैर्नामभिः सह समस्यते, च्व्यर्थे गम्यमाने, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । अश्रेणयः श्रेणयः कृताः–श्रेणिकृताः पुरुषाः, अनूका ऊकाः कृता ऊककृताः–राशिस्थानीकृता इत्यर्थः, एवं पूगकृताः, श्रेणिमताः, श्रेणिमिताः, श्रेणिभूताः । च्व्यर्थे इति किम् ? श्रेणयः कृताः, किंचित् निगृहीता अनुगृहीता वेत्यर्थः- च्व्यन्तानां च्व्यर्थस्य च्विनैवोक्तत्वान्नानेन समासः, च्व्यर्थे हि समासेनाभिधेयेऽयं समासो भवति ।

गत्यादिसूत्रेण तु नित्यसमासो भवत्येव, श्रेणीकृताः, ऊकीकृताः, श्रेणि, ऊक, पूग, कुन्दुम, कन्दुम, राशि, निचय, विशिष्ट, निधन, कृपण, इन्द्र, देव, मुण्ड, भूत, श्रमण, वदान्य, अध्यायक, अध्यापक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण-इति श्रेण्यादिः । कृत, मत, मित भूत, उप्त, उक्त, समाज्ञात, समाख्यात, समाम्नात, संभावित, अवधारित, अवकल्पित, निराकृत, उपकृत, अपकृत, कलित, उदाहृत, उदीरित, उदित, दृष्ट, विश्रुत, विहित, निरूपित, आसीन, आस्थित, अवबद्ध इति कृतादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । यत्र सामर्थ्यं नास्ति तत्रेतिशब्दाध्याहारो द्रष्टव्यः-अनिर्धना निर्धना इत्युपकृता, अचपलाश्चपला-इत्यपाकृता, अभूता भूता इति निराकृताः । श्रेणिकृता इत्यादौ क्रियाकारकसंबन्धमात्रं न विशेषण विशेष्यभाव इति वचनम् ॥104॥

न्या० स०–श्रेण्यादि० । एकशिल्पपण्यजीविनां संघः श्रेणिः। च्व्यर्थः प्रागतत्तत्त्वलक्षणः स चेत् सस्य भवति न च्विप्रत्ययः । *च्व्यर्थे गम्यमाने* इति । यद्यप्युत्तरपदार्थ-प्रधानोऽयं समासस्तथाप्युपसर्जनतया च्व्यर्थोऽपि प्रतीयते । उपसर्जनमपि ह्यर्थो भवति । *ऊके*ति अवतेः 'विचिपुषि' 22 (उणादि) इति कित् कः, कुकेः *कुन्दुमः* । कन्दुं स्वेदनिकां मिमीते *कन्दुमः* कान्दविकः । *निचयः* समूहः गन्धद्रव्यं च । ब्रह्म अणतीति कर्म्मणोऽणि पृषोदरादित्वात् अकारलोपे दीर्घत्वे च । *यत्र सामर्थ्य*मिति अथ चपलापाकृता इत्यादौ चपलादीनां च्व्यर्थवृत्तीनामपाकृतादिभिः सामर्थ्याभावात् कथं समासः ? इत्याशङ्क्य *श्रेणिकृता इत्यादा*विति

नन्वत्रापि विशेष्यभावोऽस्ति, यतः कृताः के कर्म्मतापन्नाः श्रेणयः तन्न यतो न हि श्रेणयः एवंविधं विशेषणं किंतु अश्रेणयः श्रेणय इति पश्चात् श्रेणय इत्युक्ते अश्रेणय इत्यपेक्षते इति श्रेणय इति न भवत्येव किन्तु करणक्रियापेक्षया कारकमेवेति क्रियाकारकसंबन्ध एव । यतो यथा नीलोत्पलमिति नील एव विशेषणशब्दोऽस्ति, तथाऽत्र श्रेणय एवंविधो न यतो अश्रेणय इत्यपेक्षते इति ॥ 3. 1. 104. ॥

क्तं नञादिभिन्नैः ॥ 3. 1. 105. । ।

नञादयो नञ्प्रकाराः तैरेव भिन्नैर्नामभिः सह क्तान्तं नामैकार्थं सामर्थ्यादनञ् समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । कृतं च तदकृतं च कृताकृतम्, एवं भुक्ताभुक्तम्, अशितानशितम् । इटः क्तावयवत्वाद्विकारस्य त्वेकदेशविकृतानन्यत्वान्न भेदकत्वम्, तेन क्लिष्टाक्लिशितं, पूतापवितं, शाताशितं, छाताच्छितम्, आदिग्रहणात्कृतापकृतम्, भुक्तविभुक्तम्, पीतावपीतम् ।

क्तमिति किम् ? कर्तव्यमकर्तव्यं च । नञादिभिन्नैरिति किम् ? कृतं प्रकृतम् । कृताकृतादिषु हि ईषदसमाप्तिद्योतकस्य नञः प्रयोगात् तदादयोऽपीषदसमाप्तिद्योतिन एवापादयो गृह्यन्ते । नञादिभिरेव भिन्नैरित्यवधारणं किम् ? कृतं चाविहितं चेति प्रकृतिभेदे, कृतं चाकर्तव्यं चेति प्रत्ययभेदे, गतश्च प्राप्तोऽगतश्चाज्ञात इत्यर्थभेदे, सिद्धं चाभुक्तं चेति प्रकृत्यर्थयोर्भेदे च माभूत् । अवयवधर्मेण समुदायव्यपदेशात् कृताकृतादिष्वैकार्थ्यम् । 'विशेषणं विशेष्येण' –(3. 1. 96.) इत्येव समासः सिद्धः किंतु क्रियाशब्दत्वादनियमेन पूर्वापरनिपाते प्राप्ते पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम्,–तेनाकृतकृतम् अनशिताशातमित्यादि न भवति ॥105॥

न्या० स०–क्तं नञा० । न हि नञादयः पठ्यन्ते इत्यादिशब्दः प्रकारवाचीत्याह *नञादयो नञ्प्रकारा* इति । विसमाप्तिवचनोऽत्र नञ् । तेन विसमाप्तिद्योतिनो नञ्प्रकाराः । विसमाप्तिश्च ईषन्निष्पत्तिरीषदपरिसमाप्तिर्वा नञादिभिन्नैरित्यत्र विनाऽप्येवकारेण तदर्थावगतिरस्ति सावधारणाधिक्ये भिन्नशब्दस्य वर्त्तमानत्वात् । यथा देवदत्तो यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन भिन्न इति, अत्र स्वाध्यायेनैव भिन्नो विशिष्टोऽधिक इति सर्वमन्यदाढ्यत्वादि तुल्यमिति प्रतीयते । *तैरेवेति* न प्रकृत्या प्रत्ययेन शब्दान्तरेणार्थेन चेत्यर्थः । कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं अकर्त्तव्यं कर्तव्यं चेति, उभयत्राऽपि विशेषसमासो भवत्येव ।

नञादिभिन्नैरिति किमिति । अन्यथा भिन्नैरित्येवोच्येत । *कृताकृतादिष्विति* ननु नञादेरपठितत्वान्नञोऽव्ययत्वात्तदादिग्रहणे प्रशब्दस्याव्ययस्य कुतो न ग्रहणं येनापादय एव

दर्श्यन्ते ? इत्याशङ्का-अवयवधर्म्मेणेति अयमर्थः एकमनेकावयवं भवतीत्येकस्यावयवस्य कृतत्वादवयवावयविनोः कथंचितभेदात्तदेकं कृतमुच्यते ? अवयवान्तरस्य त्वकृतत्वादकृतमित्येकस्य कृतत्वाकृतत्वयोः संभवादेकार्थात् कृताकृतव्यपदेशो युज्यत इत्यर्थः ॥ 3. 1. 105. ॥

सेड्नानिटा ॥ 3. 1. 106. ॥

सेट् क्तान्तं नाम नञादिभिन्नेनानिटा नाम्ना न समस्यते, पूर्वस्यापवादः । क्लिशितम-क्लिष्टम्, पवितमपूतम्, इड्ग्रहणमर्थभेदाहेतोर्विकारस्य उपलक्षणम्, तेन शिताशितम्, छिताच्छातमित्यादि न भवति । कथं विन्नावित्तं त्राणात्रातम् ? 'क्तादेशोऽषि' (2. 1. 61.) इति परे समासे नत्वस्यासत्त्वाद्भविष्यति । सेडिति किम् ? कृताकृतम् । शाताशातम्, छाताच्छातम् । अनिटेति किम् ? अशितानशितेन जीवति,–शिताशितम्, छिताच्छितम् ।।106।।

न्या० स०–सेड्ना० । *उपलक्षणमि*ति तेन सविकारमविकारेण न समस्यते इत्यपि सिद्धम् । *कथं विन्नावित्तमि*ति ? –नन्वत्र विकारौ शब्दसादृश्यासादृश्यकृतो नान्यकार्यापेक्षौ इत्यत्राऽपि निषेधः प्राप्नोतीत्याशङ्का ॥ 3. 1. 106. ॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूजायाम् ॥ 3. 1. 107. ॥

सदादीनि नामान्येकार्थानि पूजायां गम्यमानायां सामर्थ्यात्पूज्यमानवचनैर्नामभिः सह समस्यन्ते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति ।

संश्चासौ पुरुषश्च सत्पुरुषः, एवं महापुरुषः, परमपुरुषः, उत्तमपुरुषः, उत्कृष्टपुरुषः । पूजायामिति किम् ? सन् घटः विद्यमान इत्यर्थः, उत्कृष्टो गौः कर्दमादुद्धृत इत्यर्थः । कथं महाजनः महोदधिः इति वैपुल्यं ह्यत्र गम्यते न पूजा ? बहुलाधिकाराद्भविष्यति पूजायामेवेति नियमार्थं वचनम् पूर्वनिपातव्यवस्थार्थं च, तेन सच्छुक्ल इत्यादौ खञ्जकुण्टादिवदनियमेन पूर्वनिपातो न भवति । परमजरन् महावीरः परममहान् इत्यादौ च स्पर्धे परमिति यथापरं पूर्वनिपातश्च सिद्धो भवति ।।107।।

न्या० स०–सन्महत्० । *परमपुरुष* इति अत्र परमं चासौ न चेति कृते अपरममेव भवति, यतोऽयं योगो 'विशेषणं विशेष्येण' (3. 1. 96.) इति सूत्रस्य बाधकः अतो नञा सह सर्वोऽपि कर्मधारयो न । उत्तमपुरुष इति उत्ताम्यतीति अचि उत्तम । उद्गतार्थवृत्तेरुच्छब्दाद् वा तमप् । द्रव्यप्रकर्षवृत्तित्वाच्चामभावः ॥ 3. 1. 107. ॥

वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः ॥ 3. 1. 108. ॥

पूजायां गम्यमानायामेभिर्नामभिः सामर्थ्यात्पूज्यमानवचनं नामैकार्थं समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । वृन्दारक इव वृन्दारकः, गौश्चासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः, एवमश्ववृन्दारकः, गोनागः, अश्वनागः, गोकुञ्जरः, अश्वकुञ्जरः, वृन्दारकादीनां जातिशब्दत्वेऽपि उपमानात्पूजावगतिः । पूजायामित्येव ? शोभना सीमा स्फटा यस्य स सुसीमो नागः,—नात्र नागशब्दः पूजां गमयति किंतु जातिमात्रम् । देवदत्तो नाग इव मूर्ख इत्यत्र तूपमानेनापि निन्दैव गम्यते । व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात् 'उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ' (3. 1. 102.) इत्येव सिद्धे पूजायामेवेति नियमार्थं साम्योक्तावपि विधानार्थं च वचनम्-तेन गोनागो बलवानित्यादि सिद्धम् ॥108॥

न्या० स०—वृन्दारक० । *वृन्दारकादीनामि*ति ननु वृन्दारकादयो जातिशब्दा न ते सदादिवत् पूजावचनाः कथं तैः समासे पूजा गम्यते ? इत्याह-*उपमानादि*ति अयमर्थः वृन्दारकादिगताः केचित् पूजानिमित्ता गुणाः स्वप्रवृत्तिनिमित्तैकार्थसमवायितया वृन्दारकादिशब्दैरुच्यन्ते तद्गतगुणोक्तावेव चोपमेयताऽपि । यथा संग्रामे विचरत्येष पुरुषः पुरुषो यथा ।

एवं वृन्दारकादिगुणप्रतिपादनपरे प्रयोगे उपमानगत्या पूजा गम्यत इत्यर्थः । *सुसीमो नाग* । इति अत्र सुसीमः संज्ञाशब्दस्तस्य नागेनाभिधेयं परिच्छिद्यते न तु पूजा प्रतिपाद्यत इत्याह-नात्रेत्यादि । इदं तु पूर्वदर्शितत्वाद्दर्शितं परमार्थतस्तु नेदं प्रत्युदाहरणम् यदुपाध्यायः सुसीमो नाग इति त्वनागस्य सुसीमत्वाभावात् सुसीमस्य नागविशेषसंज्ञात्वाद् विशेष्यत्वाभावान्न प्रत्युदाहरणमिति । अत एव द्वितीयं प्रत्युदाह्रियते *देवदत्तो नाग इव मूर्ख* इति । हस्तीव मूर्ख इत्यर्थः । अत्रोपमानेनाऽपि निन्दैव गम्यते न पूजा । कुञ्जरशब्दस्य व्याघ्रादिपाठे प्रयोजनं चिन्त्यम् ॥3. 1. 108.॥

कतर-कतमौ-जातिप्रश्ने ॥ 3. 1.109. ॥

कतरकतमावित्येतावेकार्थौ जातिप्रश्ने गम्यमाने सामर्थ्याज्जातिवाचिना नाम्ना सह समस्येते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । कतरश्चासौ कठश्च-कतरकठः, एवं कतरकालापः, कतमकठः, कतमकालापः, कतरगार्ग्यः कतमगार्ग्यः । जातिप्रश्न इति किम् ? गुणक्रियाद्रव्यप्रश्ने न भवति-कतरः शुक्लः, कतमः शुक्लः, कतरो गन्ता, कतमो गन्ता, कतरः कुण्डली, कतमः कुण्डली,—'विशेषणं विशेष्येण'— (3. 1. 96.) इत्येव सिद्धे जातिप्रश्न एवेति नियमार्थं वचनम् ॥109.॥

न्या० स०—कतरक० । *कतमगार्ग्य* इति कठ इत्यादि चरणं गार्ग्य इत्यादि गोत्रं, ततो गोत्रं च चरणैः सहेति जातिः । कुण्डलीति ज्योत्स्नाद्यण्प्राप्तौ 'शिखादिभ्य इन्' (7. 2. 4.) ॥ 3. 1. 109. ॥

किं क्षेपे ॥ 3. 1. 110. ॥

क्षेपो निन्दा तस्मिन् गम्यमाने किमित्येतन्नामैकार्थमर्थात् क्षिप्यमाणवाचिनाम्ना सह समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । को राजा किंराजा यो न रक्षति, एवं किंगौर्यो न वहति, किंसखा योऽभिद्रुह्यति, स किंवैयाकरणो यः शब्दं न ब्रूते, सर्वत्र तत्कार्याकरणात् क्षेपो गम्यते, तथा कुत्सितो नरोश्वमुखत्वात् किंनरः, एवं किंपुरुषः, कुत्सितः शुकः किंचिन्नीलत्वात्किंशुकः पलाशः, एवं किञ्जल्कः, किंकिरातमित्यादि—'न किमः क्षेपे' (7. 3. 70.) इति समासान्तप्रतिषेधः । क्षेपे इति किम् ? को राजा मथुरायाम् । 'विशेषणं विशेष्येण'— (3. 1. 96.) इत्येव सिद्धे क्षेपे एवेति नियमार्थं वचनम् ॥110॥

न्या० स०—किं क्षेपे । जल्कश्चूर्णः-किरातं । काञ्चनारवृक्षस्य पुष्पमित्यर्थः ॥ 3. 1. 110. ॥

पोटा-युवति-स्तोक-कतिपय-गृष्टि-धेनु-वशा-वेहद् बष्कयणी-प्रवक्तृ-श्रोत्रिया-ऽध्यायक-धूर्त्त-प्रशंसारूढैर्जातिः ॥ 3. 1. 111. ॥

जातिवाचि नामैकार्थं पोटादिभिर्नामभिः प्रशंसारूढेश्च सह समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । इभ्या च सा पोटा च इभ्यपोटा, आर्यपोटा, पुरुषवेषवारिणी स्त्री पोटा गर्भ एव दास्यं प्राप्ता वा उभयव्यञ्जना वा भुजिष्यदासी वा, इभ्या चासौ युवतिश्च इभ्ययुवतिः, नागयुवतिः, वृन्दारकयुवतिः, अग्निश्चासौ स्तोकं च अग्निस्तोकम्, विषस्तोकम्, दधि च तत् कतिपयं च दधिकतिपयम्, तक्रकतिपयम् ।

गौश्चासौ गृष्टिश्चेति गोगृष्टिः, अजगृष्टिः, गृष्टिः सकृत्प्रसूता, गोश्चासौ धेनुश्च गोधेनुः, अजधेनुः, धेनुर्नवप्रसूता, गोवशा, अजवशा, वशा वन्ध्या, गोवेहत्, अजवेहत्, वेहद्गर्भघातिनी, गोबष्कयणी अजबष्कयिणी,—बष्कयेण वृद्धवत्सेन या दुह्यते सा बष्कयिणी, कठप्रवक्ता कालापप्रवक्ता, प्रवक्ता उपाध्यायः, कठश्रोत्रियः, कालापश्रोत्रियः, श्रोत्रियश्छन्दोऽध्यायी, कठाध्यायकः, कालापाध्यायकः, अध्यायकोऽध्येता, मृगधूर्तः गार्ग्यधूर्तः,—'निन्द्यं कुत्सनैः-' (3. 1. 100.) इत्यत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायां समास उक्त इह तु तदाश्रयकुत्सायां समासो यथा

स्यादिति धूर्तग्रहणम् । प्रशंसायां रूढा मतल्लिकादय आविष्टलिङ्गास्तैः समासः,—गौश्चासौ मतल्लिका च गोमतल्लिका, एवमश्वमतल्लिका, गोमचर्चिका, गोप्रकाण्डम्, पुरुषोद्घः, गोकुमारी, अश्वकुमारी, गोतल्लजकः, कुमारतल्लजकः, तातपादाः, आर्यमिश्राः, केशपाशः, केशहस्तः, अंसभित्तिः, वक्षस्थलम्, कपोलपाली, उरःकपाटः, स्तनतटम्, रूढग्रहणादिह न भवति, गौः रमणीया, गौः शोभना, जातिरिति किम् ? देवदत्ता पोटा, कालाक्षी वशा, चैत्रः प्रवक्ता, मैत्रो मतल्लिका, विशेष्यस्य जातेः पूर्वनिपातार्थं वचनम् ॥111॥

न्या०स०—पोटायुवति० । *वृन्दारकयुवतिरि*ति अत्र 'वृन्दारकनागकुञ्जरैः' (3. 1. 108) इति बाधित्वा परत्वादऽयमेव विधिः । *अग्निस्तोकमि*ति स्तोचनं भावे घञि न्यङ् क्वादित्वात् कत्वे स्तोकः । सोऽस्यास्तीत्यत्राभ्राद्यप्रत्यये स्तोकम् । भिन्नलिङ्गयोरपि सामानाधिकरण्यं वरं विरोध इतिवत् । सामान्यविशेषभावेनाऽयं प्रयोगः । तेनाऽग्निस्तोक इत्यपि । *वेहदि*ति विहन्ति गर्भमिति 'संश्चत्' 882 (उणादि) इति निपातः ।

*बष्कयिणी*ति बस्कतेरधिपृषोदरादित्वात् 'निष्कतुरुष्क' 26 (उणादि) इति वा बष्का तां यातीति ये बष्कयः प्रौढवत् सः, सोऽस्या अस्ति । *तदाश्रयकुत्सायामि*ति न चात्र कठप्रोक्तग्रन्थाऽध्येतृत्वं वेदितृत्वं वा कठशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तेन कुत्स्यते, किं तर्हि प्रवृत्तिनिमित्तावच्छिन्नमभिधेयम् । *प्रशंसा-यामि*ति-असति तु रूढग्रहणे जातिगुणशब्दा अपिः परं स्तोतुमुपादीयमानाः प्रशंसायां वर्त्तन्ते इति तेऽपि गृह्येरन् । *आविष्टलिङ्गा* इति उपलक्षणत्वादाविष्टवचनाश्च तेन तातश्च ते पादाश्चेति सिद्धं । आविष्टं आगृहीतमपरित्यक्तं स्वं लिङ्गं यैः । लिङ्गान्तरसंबन्धेऽपि न विशेष्यलिङ्गमुपाददते ।

*मतल्लिके*ति मया लक्ष्म्या तल्लातीति 'कुशिक' 45 (उणादि) इति निपातः । *मचर्चिके*ति मां लक्ष्मीं चर्चयतीति णके 'ङ्यापो वा' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वत्वे । प्रकाण्डमिति प्रकृष्टतया कण्यते 'कण्यणि' 169 (उणादि) इति णिति डे । गोमतल्लिकादयो नित्यसमासाः परमर्थप्रदर्शनार्थमलौकिकं वाक्यं क्रियते । न हि वाक्येन पूजा गम्यते । *कुमारी* इत्यत्र वयोऽभावात् गौरादित्वात् 'ङी' प्रत्ययः । तल्ले आख्यातसरसि जातः सप्तम्या डे तल्लजः । तस्य तुल्ये कप्रत्यये *तल्लजकः* । यदा द्विरूपो जकारस्तदा लज्जते कर्त्तरि णकः, स लज्जको यस्य असौ तल्लज्जकः । *रूढग्रहणादि*ति रूढग्रहणस्योक्तरूपमतल्लिकादिपरिग्राहकत्वाद् रमणीय-शोभनशब्दयोश्च रमणीयत्वादिगुणमुपादाय प्रशंसायां वर्त्तमानात्वादाभ्यां जातिर्न समस्यत इति ॥ 3. 1. 111. ॥

चतुष्पाद् गर्भिण्या ॥ 3. 1. 112. ॥

चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पाद्गवादिजातिः । तद्वाचिनामैकार्थं गर्भिण्या गर्भिणीति नाम्ना सह समस्यते स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । गौश्चासौ गर्भिणी च गोगर्भिणी । एवमजगर्भिणी । अश्वगर्भिणी । महिषगर्भिणी । चतुष्पादिति किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी, जातिरित्येव ? कालाक्षी गर्भिणी, स्वस्तिमती गर्भिणी, संज्ञाशब्दाविमौ । जातेर्विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ॥112॥

न्या0स0–चतुष्पाद्0 / *ब्राह्मणी गर्भिणी*ति समासे हि सति ब्राह्मणीशब्दस्य पुंवद्भावः स्यात् । *संज्ञाशब्दाविमावि*ति एतौ चतुष्पादमाहतुर्न तु जातिं ॥3. 1. 112.॥

युवा खलति-पलित-जरद्-वलिनैः ॥ 3. 1. 113. ॥

युवन्नित्येतन्नामैकार्थं खलत्यादिभिर्नामभिः सह समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । युवा चासौ खलतिश्च युवखलतिः, एवं युवपलितः, युवजरन्, युववलिनः, वलयोऽस्य सन्ति वलिनः, अङ्गादित्वान्नः । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति युवतिश्चासौ खलतिश्च युवखलतिः, एवं युवपलिता, युवजरती, युववलिना । युवशब्दस्य विशेष्यत्वात्परनिपाते प्राप्ते द्वयोर्वा गुणवचनत्वात्खञ्जकुण्टादिवदनियमे पूर्वनिपातार्थं वचनम् ॥113॥

न्या0स0–युवा0 / *युवजरन्नि*ति अत्र जरत्युत्साहादियुवधर्मोपलम्भात् यूनि वालस्यादि-जरद्धर्मोपलम्भात् तद्रूपारोपात् सामानाधिकरण्यम् । विशेष्यत्वादिति विशेष्यो युवा शब्दोऽनया रीत्या युवत्वमग्रेऽपि प्रसिद्धं । ततो युवशब्देन पुरुष एवाभिधीयते, ततस्तस्य खलतीत्यादि विशेषणं ततः परनिपाते प्राप्ते । अथवा द्वयोरपि गुणवचनत्वं तदा युवत्वमप्रसिद्धं ततो युवशब्देन युवत्वविशिष्टो नरोऽभिधीयते, ततो गुणवचनत्वात् कामचारेण पूर्वनिपाते प्राप्ते । अथवा द्वयोरपि पूर्वनिपातनार्थं वचनमिति ॥ 3. 1. 113. ॥

कृत्य–तुल्याख्यमजात्या ॥ 3. 1. 114. ॥

कृत्यप्रत्ययान्तं तुल्याख्यं च तुल्यपर्यायं नामैकार्थमजात्याजाति-वाचिनाम्ना सह समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । भोज्यं च तदुष्णं च भोज्योष्णम्, एवं भोज्यलवणम्, पानीयशीतम्, पानीयोष्णम्, हरणीयपूर्णो घटः, पेयाम्लम्, भृत्यभरणीयः एकोऽत्र कृत्योऽर्हार्थेऽपरश्च शक्यार्थे, स्तुत्यपटुः पुरुषः । तुल्यारूप, तुल्यश्वे तः, तुल्यसन्,

तुल्यमहान्, सदृशश्वेतः, सदृशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्यः ओदनः, तुल्यो वैश्यः । सदृशी कन्या वोढव्या । कथं शीतपानीयम् । पानीयशब्दोऽयमौणादिको जलवाची तस्यायं विशेषणसमासः । जात्या समासस्याजातेः पूर्वत्वस्य च प्रतिषेधार्थं वचनम् ।।114।।

न्या०स०–कृत्यतुल्या० । आख्यायन्ते आभिरित्याख्याः नामधेयानि । तुल्यस्याख्यास्तुल्याख्याः, अथवा तुल्यमाचक्षते तुल्याख्याः 'दश्चाङः' (5. 1. 78.) इति ङः । आख्याग्रहणाद् ये पदान्तरनिरपेक्षास्तुल्यमर्थमाचक्षते इह ते गृह्यन्ते समानसदृशतुल्यप्रभृतयो न तु ये पदान्तरसान्निध्येन यथाऽग्निर्माणवक इति । अत्राऽपि तुल्यता प्रतीयते । परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दाः सादृश्यं गमयन्तीति । न त्वत्र तुल्यता पदार्थ इति । *भोज्यं च तदुष्णं* चेति । भोजनार्हं भोक्तुं वा शक्यमित्यर्थे घ्यणि । *लवणमि*ति नन्द्याद्यनो गणपाठात् णत्वं च । *भोज्य ओदन* इति ओदनत्वलक्षणाया जातेरोदनशब्दो वाचकः । पीयते तदिति 'गयहृदय' 370 (उणादि) इति पानीयम् ।। 3. 1. 114. ।।

कुमारः श्रमणादिना ।। 3. 1. 115. ।।

कुमार इत्येतन्नामैकार्थं श्रमणादिना नाम्ना सह समस्यते, स च समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च भवति । कुमारी चासौ श्रमणा च कुमारश्रमणा, एवं कुमारप्रव्रजिता, कुमारश्चासावध्यायकश्च कुमाराध्यायकः, कुमारी चासावध्यायिका च कुमाराध्यायिका, एवं कुमाराभिरूपकः, कुमाराभिरूपिका, श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, बन्धकी, दासी–एते सप्त स्त्रीलिङ्गा एव । अध्यायक, अभिरूपक, पटु, मृदु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण,–येऽत्र स्त्रीलिङ्गास्तैः सह स्त्रीलिङ्ग एव कुमारशब्दः समस्यते शेषैस्तूभयलिङ्गः । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति हि न्यायः श्रमणादीनां स्त्रीलिङ्गानां पाठात् ।

पुंलिङ्गैः पूर्वनिपाते कामचारः–कुमारश्रमणः, तापसकुमारः, कुमारशब्दस्य पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम् । इह केचित् 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलपूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीरपूजार्थसन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा' इति, वृन्दारकनागकुञ्जरैरिति युवा खलतिपलितजरद्वलिनैरिति, कृत्यतुल्याख्यमजात्येति, कुमारः श्रमणादिनेति, पञ्चसूत्रीं विरचय्य तस्यामेव प्रथमान्तानां समावेशे परसूत्रनिर्दिष्टमेव प्रथमान्तं पूर्वं निपतति, तृतीयान्तानां समावेशे परसूत्रनिर्दिष्टमेव तृतीयान्तं परं निपतति, एकसूत्रोक्तानां तु प्रथमान्तानां तृतीयान्तानां च समावेशे पूर्वापरनिपाते कामचार इतीच्छन्ति, प्रथमान्तसमावेशे, तुल्ययुवा, सदृशयुवा, कुमारपरमः, कुमारपरमा, कुमारसन्, कुमारसती । एवं महज्जघन्यप्रथमचरममध्यमध्यमादयोऽपि कुमारयुवा, कुमारतुल्यः,

कुमारतुल्या। तृतीयान्तसमावेशे, वृन्दारकपलितः, वृन्दारकवलिनः, नागजरन्, वृन्दारकश्रमणा, खलतिश्रमणा, वृन्दारकप्रव्रजिता, खलतिप्रव्रजिता, जरत्कुलटा, जरत्तापसी इत्यादि। श्रमणादीनां पुंलिङ्गत्वे त्वनियमः,—तेन वृन्दारकश्रमणः, श्रमणवृन्दारकः, नागतापसः, तापसनागः, कुञ्जरदासः, दासकुञ्जरः, तथा श्रमणखलतिः, खलतिश्रमणः। पलिततापसः तापसपलितः इत्यादि।

अध्यायकादयस्तु लिङ्गान्तरेऽपि परनिपातना एव। वृन्दारकाध्यायकः। वृन्दारिकाध्यायिका। खलत्यध्यायकः, खलत्यध्यायिका, पलिताभिरूपकः, पलिताभिरूपिका, एकसूत्रोक्तानां प्रथमान्तानां समावेशे,—प्रथमवीरः वीरप्रथमः, चरमजघन्यः जघन्यचरमः इत्यादि, तुल्यभोज्यः, भोज्यतुल्य इत्यादि। एकसूत्रे तृतीयान्तानां समावेशे,—खलतिपलितः, पलितखलतिः, जरद्वलिनः बलिनजरन् इत्यादि ॥115॥

न्या0स0—कुमारः। *श्रमणे*ति श्रमं समस्तन्नयतीति डे 'पूर्व्वपदस्थात्' (2. 3. 64.) इति संज्ञायां णत्वे श्राम्यतीति नन्द्यादित्वादने वा श्रमणा। *कुलटे*त्यत्र कुलात् कुलं चाटतीति कुलटा पृषोदरादिः। अभिरूपयत्यात्मानमिति णके *अभिरूपकः*। ननु कुमारशब्दस्य पुंलिङ्गस्य निर्द्देशात् कथं स्त्रीलिङ्गस्य समास ? इत्याह-*नामग्रहणे* इत्यादि। हि शब्दोऽत्र यस्मादर्थे, यद्येवं नामग्रहणपरिभाषयैव स्त्रीलिङ्गेऽपि समासस्य सिद्धत्वात् किमर्थं स्त्रीलिङ्गानां श्रमणादीनां पाठः ? इत्याह-*श्रमणादीनामि*त्यादि। *कुमारशब्दस्ये*ति 'विशेषणं' (3. 1. 96.) इति समासे हि श्रमणादीनां पूर्वनिपातः स्यात् क्रियाशब्दत्वात् तेषां न कुमारशब्दस्य पूर्वनिपात इत्यर्थः ॥ 3.1.115.॥

मयूरव्यंसकेत्यादयः ॥ 3. 1. 116. ॥

मयूरव्यंसकादयस्तत्पुरुषसमासा निपात्यन्ते। विगतावंसावस्य व्यंसस्तत्तुल्यो व्यंसकः, व्यंसयति वा छलयति व्यंसकः, व्यंसकश्चासौ मयूरश्च मयूरव्यंसकः, एवं छात्रव्यंसकः, मुण्डश्चासौ कम्बोजश्च कम्बोजमुण्डः, एवं यवनमुण्डः, व्यंसका चासौ मयूरी च मयूरव्यंसका, कर्मधारयलक्षणः पुंवद्भावः, एतेषु विशेष्यस्य पूर्वनिपातनम्। 'एहीडादयोऽन्यपदार्थे' एहि इडे स्त्रि इति जल्पो यस्मिन् कर्मणि काले वा तत् एहीडं वर्तते, एहि यवैरिति जल्पो यत्र कर्मणि काले वा तदेहियवं वर्तते, एतौ निपातनान्नपुंसकौ, एहि वाणिजेति जल्पो यस्यां क्रियायां सैहिवाणिजा, एवं प्रेहिवाणिजा, अपेहिवाणिजा, एहि स्वागता, अपेहिस्वागता, एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, एहिप्रघसा, अपेहिप्रघसा, एहिविघसा, अपेहिविघसा, एहिप्रकसा, अपेहिप्रकसा। प्रोह कटमिति जल्पो यस्यां सा प्रोहकटा क्रिया, एवं प्रोहकर्दमा, प्रोहकपर्दा।

उद्धम चूडे उद्धम चूडामिति वा जल्पो यस्यां सोद्धमचूडा क्रिया, आहर चेलमिति यस्यां सा आहरचेला क्रिया, एवमाहरवसना, आहरवितता, कृन्धि विचक्षणेति कृन्धि विचक्षणमिति वा यस्यां सा कृन्धिविचक्षणा क्रिया, भिन्धि लवणमिति यस्यां सा भिन्धिलवणा, एवं पचलवणा, उद्धरोत्सृजेति जल्पो यस्यां सोद्धरोत्सृजा, एवमुद्धरावसृजा, उद्धमविधमा, उद्वपनिवपा, उत्पतनिपता, उत्पचनिपचा। कृन्धि विक्षिणीहिति कृन्धि विक्षणु इति वा यस्यां सा कृन्धिविक्षणा । उन्मृजावमृजेति यस्यां सोन्मृजावमृजा, अत एव निपातनादिहैव च मृजेर्हौं शो भवति । 'आख्यातमाख्यातेन सातत्ये'—अश्नीत पिबतेति सातत्येनोच्यते यस्यां साश्नीतपिबता, अश्नीतपचता, एवं खादतमोदता, पचतभृज्जता, लुनीतपुनीता, खादाचामा, आहरनिवपा, आवपनिष्किरा, पचप्रकूला, इह द्वितीयेति यस्यां क्रियायां सेहद्वितीया, एवमिहपञ्चमी, अद्यद्वितीया, अद्यपञ्चमी।

एहिरे याहिरे इति यस्यां क्रियायां सैहिरेयाहिरा, एवमेहिरेगच्छरा, अहो अहं पुरुष इति यस्यां क्रियायां साहोपुरुषिका, अहं पूर्व इति यस्यां साहंपूर्विका, एवमहंप्रथमिका, अहमहमिति यस्यां साहमहमिका, विकृतं च प्रकृतं च यस्यां सा विचप्रका, निश्चितं च प्रचितं च यस्यां सा निश्चप्रचा, या इच्छा यस्यां सा यदृच्छा, एषु सर्वेषु क्रियैवान्यपदार्थः।

'ह्यन्तं स्वकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तरि समासाभिधेये'—जहि जोडमित्यभीक्ष्णं य आह स उच्यते जहिजोडः। एवमुज्जहिजोडः, जहिस्तम्बः, उज्जहिस्तम्बः, कुरुकटः बहुलवचनान्न च भवति-पचौदनमित्यभीक्ष्णमाह, स्नात्वा कालीभूतः स्नात्वाकालकः, एवं पीत्वास्थिरकः, भुक्त्वासुहितः, प्रोष्य विप्रयुक्तो भूत्वा पापीयान्निःस्नेहो भवति स प्रोष्यपापीयान्, उत्पत्याकाशे भूत्वा या पाकला पाण्डुर्भवति सोत्पत्यपाकला, निपत्य भूमौ निपतिता रोहिणी या रक्ता भवति सा निपत्यरोहिणी, निषद्य निषण्णा सती श्यामा जाता निषद्यश्यामा, निषण्णा श्यामा जाता निषण्णश्यामा, उदक् चावाक् च उच्चितं चावचितं चेति वा उच्चावचम्, उच्चैश्च नीचैश्च उच्चितं च निचितं चेति वा उच्चनीचम्, आचितं चोपचितं च आचोपचम्, आचितं च अवचितं च आचोवचम्, आचितं च पराचितं च अर्वाक् च परस्ताच्चेति वा आचपराचम्, निश्चितं च प्रचितं च निश्चप्रचम्, निष्कुषितं च निस्त्वचं च निश्चत्वचम् न भवति किंचन न क्वचिदुपयुज्यत इति अकिंचनम्, नास्य कुतोऽपि भयमस्तीत्यकुतोभयम्, 'गतप्रत्यागतादयः'—गतं च तत्प्रत्यागतं च गतप्रत्यागतम्, एवं यातानुयातम्, महान्क्रयोऽल्पः क्रयिका क्रयावयवयोगात् क्रयः क्रयिक्रावयवयोगात् क्रयिका क्रयश्चासौ क्रयिका च क्रयक्रयिका समुदायः, एवं पुटापुटिका, फलाफलिका, मानोन्मानिका,—एषु व्यवस्थितपूर्वोत्तरपदसमासः।

'शाकपार्थिवादयः'—शाकप्रियः शाकभोजी शाकप्रधानो वा पार्थिवः—पृथोरपत्यं शाकपार्थिवः, पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः इति वा तेन शाकपार्थिवः कुतपवस्त्रसौश्रुतः, सुश्रुतोऽपत्यं सौश्रुतः, कुतपसौश्रुतः अजापण्यस्तौल्वलिः, अजातौल्वलिः, यष्टिप्रहरणो यो मौद्गल्यः यष्टिमौद्गल्यः, एवं परशुरामः, घृतप्रधाना रोटिः घृतरोटिः, एवमोदनपाणिनिः, आणि-माण्डव्यः बलाकाकौशिकः, विदर्भीकौण्डिन्यः, सहस्रबाहुरर्जुनः सहस्रार्जुनः, त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या, एकाधिका दश एकादश, एवं द्वादश, षोडश, एकविंशतिः, द्वाविंशतिः, एकशतम्, द्विशतम्, दध्युपसिक्त ओदनो दध्योदनः, एवं घृतौदनः, गुडमिश्रा धाना गुडधानाः, एवं तिलपृथुकाः, अश्वयुक्तो रथः—अश्वरथः, एवं गजरथः, घृतपूर्णो घटः-घृतघटः,-अत्र शाकपार्थिवादिषु प्रियादेरुत्तरपदस्य लोपः ।

तृतीयो भागः त्रिभागः, तृतीयभागः त्र्यंशः तृतीयांशः, षड्भागः, षष्टभागः, षडंशः, षष्ठांशः, त्रिदिवं, तृतीयदिवम्, त्रिविष्टपं, तृतीयविष्टपमित्यादिषु पूरणप्रत्ययस्य वा लुग् भवति । तथा सर्वेषां श्वेततरः-सर्वश्वेतः, एवं सर्वमहान्-अत्र गुणेन तरबन्तेन निर्धारणषष्ठीसमास-स्तरब्लोपश्च, एवमविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः । यच्चेह लक्षणेनानुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात्सिद्धम् । इतिशब्दः स्वरूपावधारणार्थः-तेन परमो मयूरव्यंसक इति समासान्तरं न भवति । उत्तरपदेन भवत्येवेत्यन्ये-मयूरव्यंसकप्रिय इत्यादि । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन विस्पष्टं पटुः-विस्पष्टपटुः, पुना राजा-पुनाराजः, एवं पुनर्गवः, पादाभ्यां ह्रियत इति पादहारकः, गले चोप्यत इति गलेचोपकः, सायंदोहः, प्रातर्दोहः, पुनर्दोहः, सायमाशः, प्रातराश, इत्यादयो द्रष्टव्याः ।।116।।

न्या० स०—मयूरव्यंसक । तत्पुरुषसमासा इति कर्म्मधारयसमासा इत्यपि द्रष्टव्यम् । *निपात्यन्त* इति अत्र यादृशाः पठितास्तादृशाः एवाऽभ्यनुज्ञायन्ते साधुत्वेन, तेन लक्षणानन्वि-तदृष्टकार्याणामपि साधुत्वं प्रति विचिकित्सा न कार्येत्यर्थः, *व्यंसयती*ति मतान्तरेण दन्त्यः । *मयूरव्यंसक* इति प्रथमव्युत्पत्तौ तथाभूता मयूरप्रकृतिरुच्यते, यदा तु व्यंसयति छलयति चुरादेर्ण्णकः क्रियते तदा यो लुब्धकानां मयूरो गृहीतशैक्षो भवति अन्यानन्यान् मयूरान् छलयति स उच्यते । तदरूपेण लोकस्याऽपि वञ्चकः, व्यंसको विशेषणं मयूरो विशेष्यमिति विशेषणसमासे प्राप्ते मयूरव्यंसक इत्ययं समास इति दर्शयति । *कम्बोजमुण्ड* इति कम्बश्चासौ जश्च बाहुलकात् विभक्तेरलुप्, मुण्डनं मुण्डः । सोऽस्यास्तीति अभ्राद्यः, 'कंबोजयवनशब्दाभ्यामपत्ये राष्ट्रक्षत्रियात्' (3. 1. 114.) इत्यञः 'शक्रादिभ्यो द्रेः' (6. 1. 120.) इति लोपः। एवं च गोत्रं च चरणैः सहेति जातित्वमनयोरित्यत्राऽपि गुणशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते जातिशब्दस्य पूर्वनिपातार्थोऽयमारम्भः ।

एहि इडे स्त्रि इतीत्यत्र 'म्लेच्छीडेर्ह्रस्वश्च वा' 3 (उणादि) इति अप्रत्यये वा ह्रस्वत्वे इडा इला स्त्रीत्यर्थः, यथा महती इला महेलेति, तदामन्त्रणमिडे इति। अनुकार्यानुकरणयोर्भेदे विभक्तिरपि शब्दरूपेति 'अनतो लुप्' (1. 4. 59.) अथवा न दीयते विभक्तिः । *एहि स्वागता* इत्यत्र स्वाङ्पूर्वात् गमेर्भावे क्तः । तत एहि स्वागतमिति यस्यामिति बहुव्रीहिः । *एहिप्रघसे*त्यादिषु प्रात्तीत्यादिवाक्ये घस्लादेशे संबोधने वाक्यानि भवन्ति । *कपर्द* इति पर्दतेरचि कुत्सितः पर्दः पृषोदरादित्वात् कुशब्दस्य कभावे । *कृन्धिविक्षणेत्यत्र* कृन्धीत्यत्र 'धुटोधुटि' (1. 3. 48.) इति तलोपे समासे सति निपातनात् 'इ उ' इत्यवयवयोरकारः । ततः स्त्रीलिङ्गत्वादाप् ।

*उन्मृजावमृजे*ति आख्यातयोः क्रियासातत्ये समासस्य वक्ष्यमाणत्वादसातत्यार्थोऽयमारम्भः, बहुव्रीहौ कच्प्रत्ययप्रसङ्गः स्यात् । 'आख्यातमाख्यातेन सातत्ये' ( ) इति सूत्रं शाकटायनस्य । ह्यन्तं स्वकर्मणेत्यादि पाणिनीयं सूत्रमेतत् । 'गतप्रत्यागतादयः' ( ) पाणिनेरिदमपि सूत्रम् । 'शाकपार्थिवादयः' ( ) शाकटायनसूत्रम् । मोदतेति आत्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदम्, 'मुदण्‌संसर्गे' विकल्पणिजन्ताद् वा, इहपञ्चमीत्यत्र निपातनात् ह्रस्वत्वाभावः । *एहिरेयाहिरा* इत्यत्र निपातनादेकारस्याकारः, एवमन्यत्राऽपि ।

आहोपुरुषिका इत्यत्र निपातनाच्चौरादित्वाद् वाऽकञ्, अहोपुरुष आत्मसंभावितत्वात्तस्य भावः क्रिया आहोपुरुषिकोच्यते । *अहं पूर्विके*त्यत्र अहंशब्दो विभक्त्यन्तप्रतिरूपको निपातः । अहं पूर्वमहं पूर्वमहं पूर्वं प्रवर्ते इत्यर्थः । निपातनादकञ्यपि वृद्ध्यभावः । *एवमहंप्रथमिकादयोऽपि । निश्चप्रचा* इत्यत्र एषु सर्वेषु यल्लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् कर्त्तव्यम् । *जोडमि*ति 'जुडण् प्रेरणे' इत्यतोऽचि जोडो दासः, स्तम्भेः 'स्तम्बतुम्बादयः' ( ) इति बे निपातनात् भ-लोपे *स्तम्बः* । *स्नात्वाकालक* इत्यत्र कालात् कप् प्रत्ययः । *पीत्वास्थिरक* इत्यत्र तु निपातनात् कः । *भुक्त्वासुहित* इत्यत्र यो यत्किंचिदशित्वा तृप्तो भवति, स एवमुच्यते ।

उत्पत्यपाकला लताविशेषः, एवं सर्वत्राप्यभ्यूह्यम् । *प्रोष्यपापीयान्*िति प्रवसतेः । कित्व यबादेशे य्वृति 'घस्वसः' (2. 3. 36.) इति षत्वे, निषद्यश्यामान्तेषु स्नात्वाकालकादिष्वैकार्थ्याभावात् 'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः' (3. 1. 48.) इति नियमात् क्त्वाप्रत्ययस्याव्ययस्य समासाप्राप्तावनेनाऽयं समासो निपात्यते । *निषण्णश्यामे*ति 'विशेषणं' (3. 1. 96.) इति समासे पूर्वनिपातेऽनियमः स्यात् । *निश्चत्वचम्* इत्यत्र त्वचशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति *अकिंचनमि*ति नञ् स्याद्यन्तेन समास आरभ्यमाणः समुदायस्यानामत्वात् स्याद्यन्तत्वाभावान्नञ् समासाप्रवृत्तावनेन समासः । *गतप्रत्यागतम्* इत्यत्र एकदेशस्य प्रत्यागतत्वात् । एवं पूर्वं यातं पश्चादनुयातमिति ।

यातानुयातम् । *फलाफलिका* इत्यत्र एषु सर्वेष्वत एव निपातनात् पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । अत्रावयवधर्मेण समुदायव्यपदेशात् सामानाधिकरण्यात् विशेषणसमाससिद्धावत्र पाठस्य फलमाह- *एष्वित्यादि* शाकप्रिय इत्यत्र, कुत्सितं तपतीत्यचि कुतेः सौत्रात् 'भुजिभृति' 305 (उणादि) इत्यपे वा कुतपं मृगाजिनं, गोरोममयं केचित् कम्बलं कुतपं विदुस्तद्वस्त्रं यस्य । *अजातौल्वलिरि*त्यत्र 'तुलण् उन्माने' णिजन्तात् 'तुलवले' 500 (उणादि) इति किति वल प्रत्यये णिज्लोपे निपातनाद् गुणाभावे तुल्वलस्तस्यापत्यम् 'अत इञ्' (6. 1. 31.) । *आणिमाण्डव्य* इत्यत्र आणिशब्द आटिपर्यायादिषु वर्तते । *विदर्भी कौण्डिन्य* इत्यत्र विदर्भशब्दात् गौरादित्वात् ङीप्रत्ययः । कुण्डिनीशब्दे ग्रहादित्वात् णिनि ङ्यामपत्ये गर्गादियञि 'कौण्डिन्यागस्त्ययोः' (6. 1. 127.) इति निर्देशात् पुंवद्भावाभावे सिद्धम् । *सर्वं निपातनात् सिद्धमि*ति निपात्यन्ते गम्यन्तेऽनुरूपाण्यविहितान्यपि लक्षणान्यस्मिन्निति निपातनं सूत्रे लक्ष्यस्य स्वरूपेणोपादानमिति ।।3. 1. 116.।।

चार्थे द्वंद्वः सहोक्तौ ।। 3. 1. 117. ।।

नाम नाम्ना सह सहोक्तिविषये चार्थे वर्तमानं समस्यते, स च समासो द्वंद्वसंज्ञो भवति । प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च-प्लक्षन्यग्रोधौ, एवं धवाश्वकर्णौ, वाक्च त्वक्च-वाक्त्वचम्, छत्रोपानहम्, नाम नाम्नेत्यनुवर्तमानेपि 'लघ्वक्षरा' (3. 1. 160.) दिसूत्रे एकग्रहणाद्बहूनामपि द्वंद्वो भवति-धवश्च खदिरश्च पलाशश्च धवखदिरपलाशाः एवं होतृपोतृनेष्टोद्गातारः, द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वे हि होतापोतानेष्टोद्गातारः इत्येव स्यात्, पीठच्छत्त्रोपानहम्, चार्थ इति किम् ? वीप्सासहोक्तौ माभूत्, ग्रामो ग्रामो रमणीयः ।

सहोक्ताविति किम् ? प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च वीक्ष्यताम्, वाक् च त्वक् च गृह्यताम्, खञ्जश्चासौ कुण्टश्च खञ्जकुण्टः, इह समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहारभेदाच्चत्वारश्चार्थाः- तत्रैकमर्थं प्रति द्व्यादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यबलानाम् अविरोधिनामनियतक्रमयौगपद्यानाम् आत्मरूपभेदेन चीयमानता समुच्चयः- यथा चैत्रः पचति पठति च, चैत्रो मैत्रश्च पठति, राज्ञो गौश्चाश्वश्च, राज्ञो ब्राह्मणस्य च गौः, शुक्लश्चायं कृष्णश्च, नीलं च तदुत्पलं चेतिचशब्दमन्तरेणापि चायं संभवति, यथाहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी ।

गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः—यथा वटो भिक्षामट गां चानय, स हि भिक्षां तावदटति यदि च गां पश्यति तामप्यानयति । द्रव्याणामेव परस्परसव्यपेक्षाणामुद्भूताव-यवभेदः समूह इतरेतरयोगः- यथा चैत्रश्च मैत्रश्च घटं कुर्वाते, चैत्रमैत्रौ घटं कुर्वाते, चैत्रश्च मैत्रश्च दत्तश्च पटं कुर्वन्ति, चैत्रमैत्रदत्ताः पटं कुर्वन्ति, अत्रावयवानामुद्भूतत्वात्तत्संख्यानिबन्धनं द्विवचनं

बहुवचनं च भवति, स एव तिरोहितावयवभेदः संहतिप्रधानः समाहारः । धवश्च खदिरश्च पलाशश्च तिष्ठति, धवखदिरपलाशं तिष्ठति, अत्र तु समूहस्य प्राधान्यात् तस्य चैकत्वादेकवचनमेव भवतिएषु चाद्ययोः सहोक्त्यभावात्समासो न भवतिउत्तरयोस्तु चार्थयोः सहोक्तेर्विद्यमानत्वात्समासो भवति । का पुनरियं सहोक्तिः-यद्वर्तिपदैः प्रत्येकं पदार्थानां युगपदभिधानं सा सहोक्तिः । प्लक्षन्यग्रोधावित्यत्र हि प्लक्षोऽपि द्व्यर्थः, न्यग्रोधोऽपि द्व्यर्थः ।

प्लक्षश्च न्यग्रोधश्चेति वाक्येऽपि चकारेणायमेवार्थः कथ्यते-उत्तरपदेन समुदायेन वा यद्वर्तिपदार्थानां युगपदभिधानं सा सहोक्तिरित्यन्ये । वर्तिपदार्थानामेव सह क्रियादिसंबन्धस्य यत् वाक्येनाभिधानं सा सहोक्तिरित्यपरे । एकविंशतिः द्वाविंशतिरित्यादिसंख्याद्वंद्वः समुदायसंख्यैकत्वानुरोधेन विंशत्यादिवत्संख्येयमाचष्टे इतीतरेतरयोगेऽप्येकवचनान्तो भवति । समाहारेऽपि चाशताद्द्वन्द्व इति लक्षणात्स्त्रीलिङ्गो भवति । संख्याद्वंद्वादन्यत्र तु एको देवदत्ताय दीयतां विंशतिश्चैत्रायेति एकविंशती अनयोर्देहि, एवं त्रिंशश्चत्वारिंशतौ, षष्टिसप्तत्यशीतय इत्यादौ द्विवचनबहुवचनान्तता द्वन्द्वप्रदेशाः 'द्वंद्वे वा' (1. 4. 11.) इत्यादयः ॥117॥

*न्या0स0–चार्थे द्वंद्वः0 । एकग्रहणा*दिति तद्ध्यनेकस्य पूर्वनिपातप्रसक्तावेकस्य पूर्वनिपातनियमार्थं द्वयोश्च द्वंद्वेऽनेकस्य पूर्वनिपातप्रसङ्गाभावादेकग्रहणमनर्थकं स्यात् । यद्वा नाम नाम्नेति व्यक्तिः पदार्थो नाश्रीयते । अपि तु जातिः, अनुवृत्तस्य हि रूपस्य यथा लक्ष्याऽनुग्रहो भवति । तथाऽर्थकल्पना क्रियते इति बहूनामप्ययं समासः । इत्येव स्यादिति पूर्वपदस्योत्तरपदे प्रत्येकं 'आ द्वंद्वे' (2. 2. 39.) इत्याकारः स्यादित्यर्थः । *उद्गातार* इत्यत्र मतान्तरेण आरादेशः । *ग्रामो ग्राम* इति अत्र च वीप्सायां सहोक्तिसंभवेऽपि चार्थाभावात् द्वंद्वाभावः । *सहोक्तावि*ति *किमि*ति-यत्र समासे द्वयोर्द्धर्मयोर्धर्मिणोर्वा भिन्नयोः प्राधान्यं विवेद्यते सा सहोक्तिः, कर्मधारये तु धर्मिण आश्रयस्यैव प्राधान्यात्तस्य चैकत्वमतः खञ्जकुण्टादौ न सहोक्तिः ।

*प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च वीक्ष्यतामि*ति पूर्वत्रेत्थं संबन्धः, इतरेतरयोगे तिष्ठतः कस्कः प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च समाहारे तु प्लक्षश्च न्यग्रोधश्चेति समुदायस्तिष्ठति, इह तु प्रत्येकं क्रियया संबन्ध इति सहोक्त्यभाव इत्यर्थः । इह समुच्चयेति अत्र चार्थस्यानुवादेन द्वंद्वो विधीयते, अप्रसिद्धस्वरूपस्य चानुवदनं नोपपद्यते, अतस्तत्स्वरूपं प्रदर्शयति, चार्थानां लक्षणपूर्वमुदा-हरणन्याह-*तत्रैकमर्थं प्रती*त्यादि अर्थः क्रियाकारकद्रव्यरूपः । *द्व्यादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानामि*ति तत्रैकस्मिन् कारकेऽनेकक्रियाणामेकस्यां क्रियायामनेककारकाणामेकस्मिन् द्रव्येऽनेककारकाणामेकस्मिन्

कारकेऽनेकद्रव्याणामेकस्मिन् धर्मिण्यनेकधर्म्माणां ढौकनं समुच्चय इति, यथा चैत्रः पचति च पठति चेत्यादिषु यथाक्रमं दर्शयति। एकमर्थं प्रति द्व्यादीनामात्मरूपभेदेन चीयमानता समुच्चय इत्येव लक्षणमन्यस्तस्यैव प्रपञ्चः। तथा *अविरोधिनामि*ति यथा शीतोष्णादि विरुद्धं तथा न विरुद्धा भवन्ति, यथा बाल्ययौवनादीनां नियतः क्रमः यथा च शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानां नियतं यौगपद्यं, तथा येषां नियते क्रमयौगपद्ये न भवतस्तेषामित्यर्थः।

*आत्मरूपभेदेने*ति तनुप्रवृत्तिनिमित्तेनेति, अन्वाचयोऽप्येवंविध एव। इयता तु भिद्यते यत् समुच्चये समुच्चीयमानाः क्रियाकारकादिविशेषाः सर्वे तुल्यकक्षाः, अन्वाचये तु एकस्य गुणभावोऽन्यस्य प्रधानभावः। तद्यथा 'रुधां स्वराच्छ्नो न् लुक् च' (3. 4. 82.) इति, अत्र हि विधीयमानं श्नं न लोपोऽपेक्षते यत्र श्नस्तत्र न लोपो यथा 'भंजोंप् आमर्दने' भनक्ति।

श्नस्तु न लोपं नापेक्षते तदभावेऽपि प्रवृत्तेर्यथा युनक्तीति। *द्रव्याणामेव परस्परे*त्यत्र इतरेतरयोगः परस्परापेक्षाणां क्रियां प्रति द्रव्याणां ढौकनं, समाहारोऽपि तथैव। एतावांस्तु भेद उद्भूतावयवभेदा हि संहतिरितरेतरयोगः। अत एव द्व्यात्मकत्वे तस्यावयवार्थगते द्वित्वे द्विवचनं चैत्रमैत्राविति। बह्वात्मकत्वे तु बहुत्वे बहुवचनं चैत्रमैत्रदत्ता इति। न्यग्भूतावयवभेदा तु संहतिः समाहारोऽतस्तस्या एकत्वादेकवचनमेव न त्ववयवगतसमाश्रयणेन द्विवचनबहुवचने, अवयवानामत्यन्तमनुमीयमानस्वरूपत्वात्, न हि यथेतरेतरयोगे उद्भूतस्वरूपोपदर्शनपूर्वकं समुदायमवयवार्था उपकुर्वन्ति तद्वत् समाहारे।

*धवश्च खदिरश्च पलाशश्च तिष्ठतीत्य*त्र 'तरुतृणधान्यमृग' (3. 1. 133.) इति समाहारो भवति। एतावता चादीनां द्योतकानां व्युदासः। *एषु चाद्ययोः सहोक्त्यभावादि*ति ननु समुच्चयान्वाचययोः सामर्थ्याभावादेव समासो न भविष्यति किं सहोक्तिग्रहणेन। तथाहि परस्परानपेक्षाणामनियतक्रमयौगपद्यानां क्रियाकारकादीनां समुच्चयो दृष्यते। यथा गामश्वमित्यत्र नयनक्रियायां गवादीनां, अन्वाचयेऽपि गौणस्य प्रधानं प्रत्यपेक्षा न प्रधानस्य गौणं प्रतीत्यत्र सामर्थ्याभावः ? नैष दोषः।

यतः कारकाणि क्रिययोपश्लिष्यन्ते, न परस्परेण क्रिया चौपश्लेषिका समुच्चयान्वाचययोरपि संभवति तत्कथं समुच्चयेऽन्वाचये चासमर्थानि नामानि स्युः परस्परापेक्षा त्वविद्यमानापि न सामर्थ्यस्य विघातिका। सा हि न श्रौती किंतु वाक्यप्रकरणादिसमधिगम्या। तत्कथं श्रौतस्य सामर्थ्यस्य संभवे विपरीतस्य सामर्थ्यस्यासंभवः समासाप्रवृत्तौ निमित्तमिति सहोक्तिग्रहणमिति। *यद्वर्त्तिपदैरि*त्यादि अयमर्थः युगपत् द्वंद्ववाच्यं समुदायरूपं यदोच्यते तदा द्वंद्वो भवति। गामश्वमित्यादौ तु परस्परं निरपेक्षाः स्वतन्त्रा गवादयो भिन्नैरेव शब्दैः पृथक् प्रत्याय्यन्त इति।

युगपद्वाचित्वाभावात् द्वंद्वाभाव इति। यद्येवं पट्वीमृद्वयौ इत्यत्र एकैकेन शब्दे-

नार्थद्वयस्याभिधानात्ससामानाधिकरण्यात्पुंवद्भावप्रसङ्गः । अत्रोच्यते । अथेह दर्शनीयाया माता दर्शनीयाशब्दस्य वृत्तावेकार्थीभावान्मात्रर्थवृत्तित्वात् सामानाधिकरण्यसद्भावात् पुंवद्भावः कस्मान्न भवति । अथ वृत्तौ यत्सामानाधिकरण्यं तस्य व्यभिचाराभावात् वाक्यविषयं सामानाधिकरण्यमाश्रीयते इति चेत्तदा पट्वीमृद्व्यावित्यत्राऽपि न दोषः । यतो लौकिकं यद्वाक्यं प्रयोगार्ह तत्र सामानाधिकरण्यमाश्रीयते न त्वलौकिके प्रक्रियावाक्ये पट्व्यौ च मृद्व्यौ चेति ।

प्लक्षोऽपि द्व्यर्थ इति नन्वत्र प्लक्षन्यग्रोधाविति शब्दक्रमात् क्रमवदर्थानुगमान्न संभवति एकैकेनानेकस्याभिधानम् ? न, तर्हि द्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः, प्लक्षन्यग्रोधौ प्लक्षन्यग्रोधा इति । यतः प्लक्षशब्दः सार्थको निवृत्तोऽन्यो न्यग्रोधशब्दः उपस्थितः । तत्र न्यग्रोधार्थप्रतिपत्तिकाले यदि प्लक्षार्थस्यावगतिर्न स्यात्तदा न्यग्रोधशब्दादेकार्थत्वादेकवचनं स्यात्तस्मात् द्विवचनबहुवचनान्यथानुपपत्त्या प्लक्षन्यग्रोधावित्यादावेकैकोऽनेकार्थाभिधायीत्यभ्युपगन्तव्यम्, ततश्च एकैकेन युगपदनेकस्यार्थस्याभिधानात् प्लक्षोऽपि द्व्यर्थो न्यग्रोधोऽपि द्व्यर्थ इत्याह*प्लक्षन्यग्रोधावित्यत्रे*त्यादि नन्वेवं तर्हि कथं प्लक्षश्च । न्यग्रोधश्चेत्येकवचनान्तयोर्वाक्यं वृत्तौ प्रदर्शितं द्विवचनान्तयोर्हि न्याय्यम् ?

सत्यं, लौकिकमेतत् वाक्यं न प्रक्रियावाक्यम्, यदा तु परस्परशक्त्यनुप्रवेशेन द्वंद्वो भविष्यतीत्यभिधित्सयातिवाहिकशरीरस्थानीयं वाक्यं क्रियते तदा खल्वलौकिकं समीपगतपदान्तरवस्तुखचितं द्विवचनान्तयोर्वाक्यं क्रियते, यद्भाष्ये सति प्रदर्शियितव्ये वरमेवं वाक्यं धवौ च खदिरौ चेति, अलौकिकत्वाच्च वृत्तौ न प्रदर्शितम् । न चैवं प्लक्षन्यग्रोधयोर्द्विकद्वयसंकल्पनेनानेकार्थत्वाद् बहुवचनं प्राप्नोतीति वाच्यं, यतो नाऽत्र चत्वारोऽर्थाः, किं तर्हि द्वावेवार्थौ यकाभ्यामेवात्रैकः शब्दो द्व्यर्थस्ताभ्यामपरोऽपि । न हि द्वाभ्यां लक्षाभ्यामविभक्तो भ्रातरौ चतुर्लक्षौ भवतः । समुदायरूपो हि द्वंद्वार्थः प्रत्यवयवमवयविवत् प्रतिसंक्रान्त इति, यया वनविटपिविलोकने वनं विलोकितमित्यैकैकस्तथारूपप्रतिभासभाग् भवति । तदुक्तं–

अनुस्यूते च भेदाभ्यामेका प्रख्योपजायते ।
यद्वा सहविवक्षायां, तामाहुर्द्वंद्वशेषयोः ॥1॥

इति । ननु लौकिकात् प्रयोगात् शब्दानामर्थावधारणं तत्र यथा घटशब्दः पटार्थं न प्रत्याययति तथा प्लक्षन्यग्रोधशब्दौ परस्परार्थस्य प्रत्यायकौ न युक्तौ ? न, प्लक्षस्य शब्दस्य न्यग्रोधार्थत्वात् न्यग्रोधस्य च प्लक्षार्थत्वात् स्वार्थस्यैवाभिधानान्नैतयोरर्थान्तराभिधायित्वमुच्यते । वृत्तिविषये एकैकस्य द्वावर्थाविति स्वार्थावेव तौ । ननु परस्परसन्निधानेन यद्द्वयोः सामर्थ्यमाहितं तदन्यतरविगमेऽपि न हीयते वह्निनिवृत्तावपि वह्निसंपादितपाकजरूपादिवदिति प्लक्षेणोक्तत्वान्न्यग्रोधस्याप्रयोगः प्राप्नोति ? नैवं, न्यग्रोधार्थस्य प्लक्षेणाऽनुक्तत्वान्न्यग्रोधशब्दप्रयोगः । उक्तं

ह्येतत् द्वंद्वावयवानामेवानेकार्थाभिधायित्वं न केवलानां यथा वह्निसन्निधावेव ताम्रं द्रवरूपं भवति न तु तन्निवृत्ताविति । एवमिहाऽपि सहभूतावेवान्योऽन्यस्यार्थमाहतुर्न तु पृथग्भूतौ भारोद्वाहकवत् सहभूतानां परस्परशक्त्याविर्भावादिति । ततश्च प्लक्षस्य न्यग्रोधस्य चानेकार्थत्वे यद्यपि बहुत्वं प्राप्तं तथापि द्वंद्वाऽवयवत्वेन बाह्यमतो गौणं न तु मुख्यमिति न बहुवचनम् ।

*वाक्येनाभिधानं सा सहोक्तिरि*ति । नन्वस्तु यथाकथंचित् सहोक्तिः समाहारे तु न संभवति तस्यैकत्वात् सहोक्तेश्च भेदनिबन्धत्वादिति ? उच्यते, समाहारो हि संघातः । स च संहन्यमानानां धर्म्मः । संहन्यमानाश्च सहोच्यमाना एव, न पृथगुच्यमाना इति तत्रापि सहोक्ति-संभव इत्यदोषः । एकविंशतिरित्यादि संख्याद्वंद्वो यद्यवयवप्रधानस्तदैकविंशतिरिति द्विवचनं प्राप्नोति, द्वाविंशतिरिति बहुवचनम् । अथ समुदायप्रधानस्तदा नपुंसकत्वं स्यादित्याऽऽशङ्का । *एकविंशती* इति अत्राऽपि समाहारो यदा क्रियते तदा एकत्वं स्त्रीत्वं च, यथा एकविंशतिम-नयोर्देहि ।। 3. 1. 117. ।।

समानामर्थेनैकः शेषः ।। 3. 1. 118. ।।

अर्थेन समानां समानार्थानां शब्दानां सहोक्तौ गम्यमानायाम् एकः शिष्यते अर्थादन्ये निवर्तन्ते, तत्र विशेषानुपादानात्पर्यायेण शेषो भवति, बहुवचनमतन्त्रम्-तेन द्वयोरप्येकः शिष्यते । वक्रश्च कुटिलश्च वक्रौ कुटिलौ वा, वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ कुटिलदण्डाविति वा, एवं लोहिताक्षौ रक्ताक्षाविति वा, सितश्च शुक्लश्च श्वेतश्च सिताः शुक्लाः श्वेता वा, अर्थेन समानामिति किम् ? प्लक्षन्यग्रोधौ, धवखदिरपलाशाः, सहोक्तावित्येव ? वक्रश्च कुटिलश्च । द्वंद्वापवादो योगः ।।118।।

न्या० स०—समाना० । समानामिति निर्धारणषष्ठ्यन्तं समुदायिसमुदायसंबन्धषष्ठ्यन्तं वा न तु स्थानषष्ठ्यन्तं । तत्र हि समानां स्थाने एकः शिष्यत इत्येक आदेशो भवतीति । अविशेषेऽपि यस्तदभिधाने समर्थः स एव तेषामन्यतमः स्यात् । ततश्च बिसे बिसानीति कृतसकारस्य षत्वं स्यादिति । निर्धारणषष्ठ्यां तु समानामित्येकसंख्याकः समानार्थो विशेष्यते । समुदायिसमुदायसंबन्धषष्ठ्यां च समानार्थारब्धे समुदाये समानार्थ एवावयवो विशिष्यत इत्यदोषः । शिषेः कर्म्मणि घञि कर्त्तर्यचि वा शेषः । एकः शिष्यत इति-ननु जातिः शब्देनाभिधीयते, सा चैका ततो बहूनां प्रयोगाप्राप्तौ नार्थ एकशेषेण ? न, प्रत्यर्थं शब्दनिवेशाद् द्रव्यं द्रव्यं प्रति शब्दप्रयोगादेकेन शब्देनानेकस्य द्रव्यस्याभिधानं नोपपद्यत इत्यनेकस्यार्थस्य प्रतिपादनेऽनेकशब्दानां

वाचकानां प्रयोगः प्राप्नोतीति द्रव्यपदार्थदर्शने एकशेषारम्भः । अथ शेष इत्येकवचनादेक एव शेष इष्यते किमेकग्रहणेन ? उच्यते, शेषस्य विधीयमानत्वेन प्राधान्यात् प्रधाने च संख्याया अविवक्षणात् द्वयोस्त्रयाणां वा शेषप्रसक्तेस्तत्रापि शेषप्रक्रियागौरवापत्त्या एकस्यैव शेषस्य विधीयमानत्वेन प्राधान्यात् प्रधाने च संख्याया अपि संपत्त्यर्थमेकग्रहणं सुखार्थं वा ।

ननु समग्रमेवेदं सूत्रं नारम्भणीयं समानार्थैः शब्दैरनेकस्यार्थस्याभिधित्सायां व्यक्तावपि पदार्थे एकस्यैव तत्प्रत्यायने शक्तत्वादन्ये निवर्त्तन्ते उक्तार्थानामप्रयोग इति आरब्धेऽप्येकशेषे निवर्त्तमानार्थप्रत्यायने स्वाभाविकी शक्तिर्यावन्नानुसृता तावत् कथमसौ निवर्त्तमानानामर्थम-भिदधीतेति ? सत्यं, एवं सति अर्थानुवादत्वाददोषः । *प्लक्षन्यग्रोधावि*ति अर्थेन समानामिति वचनाल्लौकिक्याः समानार्थतायाः समाश्रयणादिहैकशेषो न भवति, लौकिकी तु समानार्थता द्वंद्वादन्यत्र विज्ञायते, द्वंद्वपदानां तु परस्परार्थसंक्रमात् समानार्थत्वे विज्ञायमानेऽर्थेन समानामित्यनर्थकं स्यादनुक्तावप्यत्रैकशेषस्य सिद्धत्वादिति ।

द्वंद्वापवादो योग इति इहैकशेषे षट् पक्षा संभवन्ति । तत्र प्रत्येकमेव विभक्तौ परतो विभक्तिपरित्यागेन नामैकशेषि स्यात् (1) अथवा सविभक्तिकानां वृक्षस् वृक्षस् इति स्थिते एकस्य वृक्षस् इत्यस्य शेषः अन्ये निवर्त्तन्ते (2) अथवा वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च इति द्वंद्वे कृते सत्येकस्य वृक्ष इत्यस्य शेषः अपरे निवर्त्तन्ते (3) अथवा विभक्तिमनुत्पाद्यैव नाममात्रेण वृक्षवृक्षेत्येवंविधानामेव शेषः कार्यः, ततो विभक्तिः (4) अथवा सहोक्तौ वृक्षश्च वृक्षश्चेति द्वंद्वो प्राप्ते एकशेषः (5) अथवा नामसमुदायस्यैवार्थवत्त्वान्नामसंज्ञायां द्विवचनाद्युत्पत्तौ एकशेषः (6) इति षट् पक्षाः । तत्राद्यं पक्षत्रयं सावद्यकमिति तत्परिहारेणेतरत् पक्षत्रयमिहाश्रीयते । यथा हि तत्र प्रथमे पक्षे नामैकशेषेऽनेकविभक्तिश्रवणं स्यादिति प्रथमपक्षे दोषः ।

द्वितीये विभक्त्यन्तस्य लोपे कृते विभक्तभ्रातृधनन्यायेन शिष्यमाणस्य निवर्त्तमानपदसंख्या-संबन्धेऽपि विभक्त्यन्तत्वाद् द्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः स्यात् । ततश्च वृक्ष इति नित्यमेव स्यादिति द्वितीयपक्षे दोषः । तृतीये तु समासान्तदोषः, तथाहि ऋक् चेति ऋक् चेति द्वंद्वे तत एकशेषे 'चवर्गदषहः' (7. 3. 98.) इति समासान्तः स्यात्, इति प्रथमपक्षत्रयं दुष्टं, इतरत्र तु पक्षत्रये न कश्चिद्दोषः, तथा हि वृक्षं वृक्षं इति स्थितानां नाम्नां विभक्तिमनुत्पाद्यैवैकशेषप्रवृत्तिरिति प्रथमपक्षो निर्दोषः, तथा तुल्यकालं नामानि यदा भारोद्यन्तृन्यायेन परस्परशक्त्यनुप्रवेशाद-भिधेयमाहुस्तदा द्वंद्वैकशेषौ इष्टाविति द्विवचनं बहुवचनं चोपपन्नमिति द्वितीयेऽपि न दोषः । तृतीयपक्षेऽपि न कश्चिद्दोषः । नामसमुदायस्यैवार्थवत्त्वान्नामत्वाद् विभक्त्युत्पत्तेरिति सोऽपीहाश्रीयते इति पक्षत्रयेऽपि द्वंद्वः प्राप्तोऽनेनापोद्यते इत्याह द्वंद्वापवादो योग इति ॥ 3. 1. 118. ॥

स्यादावसंख्येयः ॥ 3. 1. 119. ॥

सरूपार्थं वचनम् सर्वस्मिन् स्यादौ विभक्तौ समानां तुल्यरूपाणां सहोक्तौ गम्यमानायामेकः शिष्यते, असंख्येयः संख्येयवाचि शब्दरूपं वर्जयित्वा । अक्षश्च शकटाक्षः अक्षश्च देवनाक्षः अक्षश्च विभीतकाक्षः अक्षाः, एवं पादाः, माषाः, श्येनी च श्येनी च श्येन्यौ, एवं हरिण्यौ, रौहिण्यौ, वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ, वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः । स्यादाविति किम् ? माता च जननी माता च धान्यस्य मातृमातारौ, याता च देवरजाया याता च गन्ता यातृयातारौ, अत्र ह्येकत्र मातरौ यातरावित्यन्यत्र मातारौ यातारौ इति औकारे रूपं भिद्यते ।

अन्ये तु यस्मिन्स्यादो ये शब्दास्तुल्यरूपा भवन्ति तस्मिन् स्यादौ तेषां स्याद्यन्तरे विरूपाणामप्येकः शेषो भवति-तेन मातृभ्यां मातृभिः मातृभ्यः मात्रोः मातॄणां मातृषु इत्याद्यपि भवतीत्याहुः । अपरे त्वत्रापि बहुवचने ताभिस्तैरित्याद्यनुप्रयोगवैषम्यान्न भवितव्यमेकशेषेण द्विवचनेन तु ताभ्यां तयोरित्यनुप्रयोगसाम्याद्भवितव्यमेवेत्याहुः । असंख्येय इति किम् ? एकश्च एकश्च, द्वौ च द्वौ च, चत्वारश्च चत्वारश्च, द्वन्द्वोऽपि न भवत्यनभिधानात् । संख्येय इति कर्मनिर्देशात्संख्यानवाचिनो भवत्येवविंशतिश्च विंशतिश्च विंशती, नवतिश्च नवतिश्च नवतिश्च नवतयः, द्वन्द्वापवादोऽयं विधिः—तेनाकृतद्वन्द्वानामेवैकशेषे वाक् च वाक् च वाचावित्यादि सिद्धम्, अन्यथा द्वन्द्वे कृते परत्वात्समासान्ते कृते वैरूप्यादेकशेषो न स्यात् ॥119॥

न्या० स०—स्यादावसं० । *सरूपार्थमि*ति अन्यथा अर्थसाम्यस्य स्यादावप्यभिद्यमानत्वात् पूर्वेणाऽपि सिद्ध्यति । पादा इति पादोऽह्रिश्लोकचतुर्थांशरश्मिप्रत्यन्तगिरिषु । *माषो* माने धान्यभेदे मूर्खत्वग्दोषभिद्यपि । *औकारे रूपं भिद्यत* इति अयमर्थः 'तृस्वसृ' (1. 4. 38.) इति सूत्रे तृग्रहणेनैव नप्त्रादिग्रहणे सिद्धे यन्नप्त्रादीनां पृथगुपादानं तदेवं ज्ञापयति अत्र सूत्रे औणादिकानामेषामेव ग्रहणमिति जननीदेवरजायावाचिनोमातृयातृशब्दयोरौणादिकयोरौकारे आर् न प्राप्नोति । द्वितीययोस्तु तृजन्तयोस्तृज्द्वारा प्राप्नोतीति रूपभेदः ।

*वाचावित्यादी*ति अत्र समाहारद्वंद्वविषयेऽप्येकशेषे वाग्शब्दात् द्विवचनमेव भवति । कुतः 'क्लीबमन्येनैकं च वा' (3. 1. 128.) इत्यत्र समाहारेतरेतरविवक्षया विकल्पेनैकत्वे सिद्धेऽप्येकग्रहणात् । तेन विशेषाभावे सर्वत्र एकशेषे द्विवचनाद्येव भवति । असंख्येय इति कर्मोपादानफलमाह-*विंशतिश्चे*त्यादि । असंख्येय इति कर्म्मप्रधानस्य निषेधो विंशत्यादयस्तु न संख्येयप्रधानाः विंशतिर्गाव इति संख्येयसमानाधिकरणा अपि भवन्ति । संख्येयं संख्यानरूपमेवासाद्य तन्निष्ठा एव सन्तो भवन्ति न संख्येयरूपनिष्ठाः । अत एव विंशतिर्गवामित्यसामा-

नाधिकरण्यवत् सामानाधिकरण्येऽपि गुणलिङ्गसंख्या एव नैकादिवत् संख्येयलिङ्गसंख्या इत्यसंख्येयवाचित्वादेकशेषः। रूपसाम्येऽप्यनेकशब्दस्य सहोक्तौ द्वंद्वः प्राप्नोतीत्ययमपि तदपवाद एवेत्याह–*द्वंद्वापवादोऽयं विधिरिति*। *एकश्च एकश्चेति* 'त्यदादिः' (3. 1. 120.) इत्यनेनापि न भवत्येकशेषः, व्यावृत्तिबलात्। ननु अन्यस्य संख्यावाचिनो व्यावृत्तिश्चरितार्था भविष्यति ? नैवं, व्यावृत्तेर्व्यक्त्या व्याप्त्या वा प्रवृत्तेः ॥ 3. 1. 119. ॥

त्यदादिः ॥ 3. 1. 120. ॥

त्यदादि नान्येन च सहोक्तौ त्यदादिरेवैकः शिष्यते। स च चैत्रश्च तौ, यश्च मैत्रश्च यौ, अयं च चैत्रश्च इमौ, कश्च मैत्रश्च कौ, स्पर्धे परमिति त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यद्यत्पाठे परं तत्तदेवैकं शिष्यते–स च यश्च यौ, यश्च एष च एतौ, एष च अयं च एतौ, स च त्वं च युवाम्, त्वं च भवांश्च भवन्तौ, भवांश्च अहं च आवाम्, अहं च कश्च कौ, अहं च स च त्वं च वयम्।

बहुलाधिकारात् क्वचित् पूर्वमपि स च यश्च तौ, अयं च एष च इमौ, त्वं च भवांश्च युवाम्। त्यदादेः कृतैकशेषस्य स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानां युगपत्प्रयोगात् पर्यायप्राप्तौ शिष्यमाणलिङ्ग-प्राप्तौ वा स्त्रीपुंनपुंसकानां सह वचने स्यात्परमिति यथापरमेव लिङ्गं भवति-सा च चैत्रश्च तौ, स च देवदत्ता च तौ,– अत्र स्त्रीपुंसलिङ्गयोः परं पुंलिङ्गमेव भवति, सा च कुण्डे च तानि-अत्र स्त्रीनपुंसकयोः परं नपुंसकमेव भवति, स च कुण्डं च ते,– तच्च चैत्रश्च ते,-अत्र पुंनपुंसकयोः परं नपुंसकमेव भवति। कथं स च कुक्कुटः सा च मयूरी ते कुक्कुटमयूर्यौ ? उच्यते, परलिङ्गो द्वन्द्वोऽशीति समासार्थस्य लिङ्गातिदेशात् तद्विशेषणस्य त्यदादेरपि तल्लिङ्गतैव न्याय्येति ॥120॥

न्या0स0–त्यदादिः। *अन्येन चेति* सहोक्ताविति वर्तनात् सहार्थस्य च द्वितीयमन्तरेणा-भावात् द्वितीयो लभ्यते, स च विशेषानुपादानात् त्यदादिरन्यश्च ग्रह्यते, इत्याह-*त्यदादिनान्येन चेत्यादि*। अन्यत्वं च प्रत्यासत्तेस्त्यदाद्यपेक्ष्यमेव। *स च चैत्रश्चेति* ननु च त्यदादेः सामान्यशब्दत्वाच्चैत्रोऽपि स चेति निर्देष्टुं शक्यो न च तावित्युक्ते स च चैत्रश्चेति प्रत्ययः किन्तु स च स चेति तत्र च स्यादौ सरूपत्वात् पूर्वेणैव सिध्यतीति व्यर्थोऽस्योपन्यासः ? न व्यर्थः, स च चैत्रश्चेत्येवंविवक्षायां द्वंद्वः प्राप्नोतीति, तथाहितच्छब्दो यथा चैत्रव्यतिरिक्तार्थपरा-मर्शीति प्रकरणादिनाऽवगतं तदा गोबलीवर्द्धवत्तच्चैत्राविति स्याद्वाक्यवत्तच्छब्दस्य वृत्तावप्यपेक्षा प्रतीयते इति द्वंद्वनिवृत्तिप्रदर्शनार्थोऽस्योपन्यास इत्यदोषः।

पूर्व्वमपीति न केवलं तावत् स्पर्द्धे यत्परं तच्छिष्यत इति क्वचिच्च पूर्व्वमपीत्यर्थः।

शिष्यमाणस्य लिङ्गानुशासने लिङ्गस्य चिन्तायां कृतायामपि विस्मरणशीलं प्रति स्मारयतुमाह- *त्यदादेः कृतैकशेषस्येत्यादि* । *कथमि*ति यदि लिङ्गानां सहविवक्षायां परमेव लिङ्ग भवति, कथं ते कुक्कुटमयूर्यौ इति स्त्रीलिङ्गता ? इत्याशङ्कार्थः । उच्यतेइत्यादिनाऽत्र परिहारमाह-अयमर्थो द्वंद्वस्य परलिङ्गत्वात् त्यदादेश्चात्र द्वंद्वशेषत्वात् द्वंद्वलिङ्गतैव द्रष्टव्या । द्वंद्वाभावे तु सहोक्तौ तौ कुक्कुटो मयूरीति चार्थे गम्ये तौ कुक्कुटो मयूरी चेत्येकचयोगे तौ कुक्कुटश्च मयूरी चेति चकारद्वययोगे च भवति, स्त्रीपुंनपुंसकानामिति वचनात् ।

*अंशी*ति तच्चार्द्धं पिप्पल्या इति अर्द्धकथनम् । तत् पिप्पल्यर्द्धं सा च अर्द्धपिप्पलीत्यपि कृते 'समानामर्थे' (3. 1. 118.) इति सूत्रेणांशिसमासवाचिनः शेषे तस्य च परलिङ्गत्वात् तद्विशेषणानामपि तल्लिङ्गतैव । षष्ठीतत्पुरुषवाचितत्पददेशे तु उत्तरपदप्राधान्यान्नपुंसकत्वं ततः तद्विशेषणानामपि तथैव भवति । परं ते इति क्लीबे स्त्रियां च न विशिष्यते दिगम्बरसमाधिवत् । ततश्च स्वाद्व्यौ अर्धपिप्पल्यौ स्वादुनी पिप्पल्यर्द्धे इति युक्ते उदाहरणे । पिप्पल्यर्द्धस्य अर्द्धपि- प्पल्याश्च शेषत्वाभावे तद्विशेषणानामेकशेषे तु नपुंसकलिङ्गतैव स्त्रीनपुंसकानां सहेति भणनात् ॥ 3. 1. 120.॥

भ्रातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः ॥ 3. 1. 121. ॥

बहुवचनं पर्यायार्थम् स्वस्त्रर्थेन सहोक्तौ भ्रात्रर्थः शब्दो दुहित्रर्थेन सहोक्तौ पुत्रार्थ एकः शिष्यते । भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ, सोदर्यश्च स्वसा च सोदर्यौ, भ्राता च भगिनी च भ्रातरौ, पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ, सुतश्च दुहिता च सुतौ, पुत्रश्च सुता च पुत्रौ ॥121॥

न्या0स0–भ्रातृपुत्राः0 / *बहुवचनमि*ति ननु भातृपुत्रयोः स्वसृदुहित्रोश्च द्व्यर्थत्वात् द्विवचनेन भाव्यं किमर्थं बहुवचनम् ? इत्याशङ्का, बहुवचनाऽभावे हि 'पिता मात्रा' (3. 1. 122.) इतिवद् उच्चारितरूपस्य परिग्रहः स्यान्न तदर्थशब्दान्तराणाम् । बहुवचने तु द्वयोर्बहुत्वायोगात् भ्रातरश्च पुत्राश्चेति तदर्थप्रतिपत्तौ तदर्थशब्दा निर्दिश्यन्त इति । *भ्रातरावि*त्यत्र स्त्रीपुंनपुंसकानां सहवचने स्यात् परमिति पुंलिङ्गमेव भवति । भ्रातरौ शोभनाविति, एवं च भ्राता च भ्राता च भ्रातरौ, भ्राता च स्वसा च भ्रातरावित्युभयप्रतिपत्तावपि प्रकरणादिना विशेषावगतिः । *सोदर्ये*त्यत्र समानोदरे जातो निपातनात् समानस्य सभावो यश्च प्रत्ययः ॥ 3. 1. 121. ॥

पिता मात्रा वा ॥ 3. 1. 122. ॥

मातृशब्देन सहोक्तौ पितृशब्द एकः शिष्यते वा । पिता च माता च पितरौ, पक्षेमातापितरौ ।

मातुरर्च्यत्वात्पूर्वनिपातः ॥122॥

न्या० स०–पिता मात्रा:0 । पितृशब्दसाहचर्यात् संबन्धिशब्दत्वाज्जनयित्र्या एव मातुः परिग्रहो न धान्यमातुरिति ॥ 3. 1. 122. ॥

श्वशुरः श्वश्रूभ्यां वा ॥ 3. 1. 123. ॥

श्वश्रूशब्देन सहोक्तौ श्वशुरशब्द एको वा शिष्यते । श्वशुरश्च श्वश्रूश्चश्वशुरौ, श्वश्रूश्वशुरौ । द्विवचनं जातौ धवयोगे च वर्तमानयोः श्वश्र्वोः परिग्रहार्थम्, तेन-जातौ तन्मात्रभेदे 'पुरुषः स्त्रिया' (3. 1. 126.) इति नित्यविधिर्न भवति ॥123॥

न्या० स०–श्वशुरः । द्विवचनमिति अत एव पूर्वेण योगविभागः पितृश्वशुरौ मातृश्वश्रूभ्यां चेत्येकयोगे हि द्विवचनं श्वश्रूशब्दद्वयपरिग्रहार्थमिति विज्ञातुं न शक्यमिति । तेन जाताविति धवयोगे तु तन्मात्रभेदो न भवति । धवयोगादिलक्षणस्यार्थस्यापि भिन्नत्वात् इति जाता-वित्युक्तम् ॥ 3. 1. 123. ॥

वृद्धो यूना तन्मात्रभेदे ॥ 3. 1. 124. ॥

वृद्धः पौत्रादिर्युवा जीवद्वंश्यादिः । वृद्धस्य यूना सहोक्तौ वृद्धवाच्येकः शिष्यते, तन्मात्र एव चेद्भेदो विशेषो भवति, न चेत्प्रकृतिभेदोऽर्थभेदो वान्यो भवतीत्यर्थः । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ, दाक्षिश्च दाक्षायणश्च दाक्षी, औपगवश्च औपगविश्च औपगवौ वृद्ध इति किम् ? गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्गगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् ? गार्ग्यश्च गर्गश्च गार्ग्यगर्गौ । तन्मात्रभेद इति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ-अत्र प्रकृतिरन्या । भागवित्तिभागवित्तिकौ-अत्र कुत्सा सौवीरदेशत्वं चान्योऽर्थः ॥124॥

न्या० स०–वृद्धो यूना० । लोकेऽपूर्ववया वृद्ध उच्यते । शास्त्रे तु व्यवहितमपत्यं पौत्रप्रभृति । ततश्च कृत्रिमाकृत्रिमयोरिति परिभाषया पौत्रप्रभृत्यपत्याभिधायिन एव वृद्धशब्दस्य ग्रहणं न वयोवृद्धस्य, एवं युवशब्दस्यापि । ननु 'पौत्रादि वृद्धम्' (6. 1. 2.) इति सूत्रे वृद्धमिति नपुसंकमत्र तु पुंलिङ्गस्तत् कथं सोऽयं भवति ? उच्यते, सर्व्ववस्तुनः सर्व्वलिङ्गयोगित्वस्योक्तत्वात् स्ववाच्ये प्रसवे वृद्धशब्देन लिङ्गद्वयोपादानाददोषः ।

तन्मात्र एवं चेत् भेद इति । अत्र अनयाऽपि रीत्या मात्रशब्दस्याऽवधारणं याति तावेव

तन्मात्रम्, तच्चासौ भेदश्चेति । वृत्तौ तु तौ वृद्धयुवानावेव मात्रं स्वभावो यस्येति कर्त्तव्यमन्यथा पुंस्त्वं न स्यात्, वृद्धयुवमात्र एवेत्यर्थः । गार्ग्यावित्यत्र गार्ग्यश्च गार्ग्यश्च गार्ग्याविति सिद्ध्यति, गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्चेति विवक्षायां तु द्वंद्वः स्यादिति शेषारम्भः । *गार्ग्यगर्गावि*ति अत्र लघ्वक्षराद्यभावात् पूर्वनिपातानियमः । यदा तु गर्गस्यार्च्यत्वविवक्षा तदा तस्य पूर्वनिपातः । *भागवित्ती*त्यत्र भागेन वित्तस्तस्यापत्यमत इञि भागवित्तिः । तस्य सौवीरवृद्धस्यापत्यं युवा गर्हित इति 'भागवित्तिताार्णबिन्दवः' (6. 1. 105.) इति इकण्, ततो द्वंद्वः ॥ 3. 1. 124. ॥

स्त्री पुंवच्च ॥ 3. 1. 125. ॥

वृद्धस्त्रीवाची शब्दो युववाचिना सहोक्तावेकः शिष्यते पुंवत् पुंलिङ्गा चेयं भवति, स्त्र्यर्थः पुमर्थो भवतीत्यर्थः, तन्मात्रभेदे । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्सी च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ, दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी । गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गाः, -अत्र पुंवद्भावात् ङीनिवृत्तौ यञो लुप्,—गर्गानिति 'शसोऽता सश्च नः पुंसि' (1. 4. 49.) इति नत्वं च । इमौ गार्ग्यावित्यनुप्रयोगस्यापि पुंस्त्वम् ॥125॥

न्या०स०—स्त्री पुंवच्च० । नन्वत्र पुंवद्ग्रहणं किमर्थं, स्त्रीत्येवोच्यतां ततश्च स्त्रीवाचिनो युववाचिना पुंसा एकशेषे स्त्रीपुंनपुंसकानामित्येव पुंस्त्वं भविष्यति । न च वाच्यं युववाचिनो यदा स्त्रीत्वं तदा किं भविष्यतीति । अस्त्री युवेति भणनात् स्त्रीवाचिनो युवत्वसंज्ञाया अभावात्, नापि युववाचिनो नपुंसकत्वं वाच्यं ।

आपत्यतद्धितस्य स्त्रीपुंस्त्वस्यैवोक्तत्वात् ततः पुंस्त्वस्य सिद्धत्वात् पुंवत्ग्रहणमतिरिच्यते ? न, स्त्रीपुन्नपुंसकानामित्यस्य प्रायस्त्यदादिविषय एव प्रवर्त्तनात्तेन प्रायिकत्वात् नियमार्थं वचनम् । किं च अरुणाचार्येण अपत्यप्रत्ययान्तानामाश्रयलिङ्गत्वमुक्तंः ततश्च गार्गी च गार्ग्यायणं चेत्यपि कृते तन्मतेऽपि पुंस्त्वं यथा स्यात् । *स्त्र्यर्थः पुमर्थो भवती*ति स्त्रीलक्षणोऽर्थो यस्य शब्दस्य स पुमर्थः । यद्वा शब्दस्येति वृत्तावध्याहर्त्तव्यं तस्य संबन्धी स्त्रीलक्षणोऽर्थः पुमर्थः । अर्थग्रहणाच्च विशेषणानामपि पुंस्त्वं सिद्धं, शब्दस्यैव पुंस्त्वे विशेषणानां न स्यात् । गार्ग्यावित्यत्र पुंवद्भावेनानुप्रयोगे विशेषः, शोभनौ गार्ग्यौ ॥ 3. 1. 125. ॥

पुरुषः स्त्रिया ॥ 3. 1. 126. ॥

पुरुषशब्दोऽयं प्राणिनि पुंसि रूढः, स्त्रीवाचिना शब्देन सहोक्तौ पुरुषवाची शब्द एकः शिष्यते, तन्मात्रभेदे स्त्रीपुरुषमात्रभेदश्चेद्भवति । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ, कुक्कुटश्च

कुक्कुटी च कुक्कुटौ, मयूरश्च मयूरी च मयूरौ, कारकश्च कारिका च कारकौ, गोमांश्च गोमती च गोमन्तौ, पटुश्च पट्वी च पटू, गौश्चायं गौश्चेयम् इमौ गावौ । पुरुष इति किम् ? तीरंनदनदीपतेः, घटघटीशरावोदश्चनानि । तन्मात्रभेदे इत्येव ? हंसश्च वरटा च हंसवरटे, अश्ववडवौ, पुरुषयोषितौ, द्रुणीकच्छपौ, ऋश्यश्च रोहिच्च ऋश्यरोहितौ, क्षेमधृतयश्च क्षत्रियास्तनुकेश्यश्च तत्स्त्रियः क्षेमधृतितनुकेश्यः, अङ्गारकाश्च शकुनयः कालिकाश्च तत्स्त्रियः कालिकाङ्गारकाः—एषु प्रकृति भेदः ।

गणकगणक्यौ, इन्द्रेन्द्राण्यौ, भवभवान्यौ, एषु धवयोगलक्षणोऽर्थभेदः, कुक्कुटमयूर्यौ, अजावर्करौ, अश्वाकिशोरौ, कलभहस्तिन्यौ, गोवत्सौ-एषु प्रकृत्यर्थयोर्भेदः । कथं ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च ब्राह्मणवत्सा ब्राह्मणीवत्सौ-न ह्यत्र स्त्रीपुरुषमात्रभेदादन्यो भेदोऽस्ति ? सत्यम्-तदित्यनेन प्रधानस्त्रीपुरुषौ परामृश्येते तेन प्रधानस्त्रीपुरुषमात्रकृत एव भेदे भवति, अत्र तु विशेषणीभूताप्रधानस्त्रीपुरुषकृतोऽपि भेदोऽस्तीति न भवति । अन्ये तु तन्मात्रभेदादधिके प्रकृतिभेदे एवैकशेषं नेच्छन्ति, अर्थभेदे त्विच्छन्त्येव । इन्द्रश्च इन्द्राणी च इन्द्रौ, तथा वरुणाविन्द्रौ भवौ शर्वौ रुद्रौ मृडाविति, एवं पूर्वसूत्रेऽपि भागवित्तिश्च भागवित्तिकश्च भागवित्ती ॥126॥

न्या० स०—पुरुषः स्त्रिया० । अत्र वृद्धो यूनेति नानुवर्त्तते अघटनात्, तदनुवृत्तौ हि वृद्धः पुरुषो यूना युवसंज्ञया स्त्रियेति स्यात्, न चैतदस्ति । अस्त्रीति वचनात् स्त्रिया युवसंज्ञाया अभावात् इति सामान्येनाह-*स्त्रीवाचिनेत्*यादि । *ब्राह्मणावि*ति ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणावित्यादौ जातिसामान्यविवक्षायामविवक्षितविशेषत्वात् 'समानामर्थेन' (3. 1. 118.) इत्येकशेषः सिद्ध्यति । भेदविवक्षायां तु द्वंद्वः प्राप्नोतीति वचनम् । *कारकश्च कारिका* चेत्यत्र यद्यपि 'अस्यायत्तत्' (2. 4. 111.) इति प्रति रित्वं भवति । तथापि प्रकृतिरेकैव न त्वन्या । *इमौ गावावि*ति 'स्यादावसंख्येयः' (3. 1. 119.) इत्यनेन त्वेकशेषे कदाचिदिमाविति स्यात् । कदाचिदिमे इति अथ स्त्रीपुंनपुंसकानां सहवचन इति परं भविष्यति ? सत्यं, ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणावित्यादिसिद्ध्यर्थमवश्यकर्त्तव्येनाऽनेनैव परत्वादिहाऽप्येकशेष इत्यदोषः ।

*तीरं नदनदीपतेरि*ति नन्वत्र 'नदीदेश' (3. 1. 142.) इति सूत्रेणैकार्थता कथं न भवति । तथा च 'क्लीबे' (2. 4. 97.) इति ह्रस्वत्वे नदनदिपतेरिति स्यात् ? उच्यते, नदीत्युक्ते नदीविशेषो गृह्यते, अयं तु सामान्यवाचीति । *घटघटीशरावोदश्चनानी*ति चतुर्णामपि सहोक्तौ द्वयोरपि सहोक्तिरस्तीति घटघट्योरेकशेषे घटशरावोदश्चनानीति प्राप्तं । एवं पूर्वसूत्रेष्वपि बहूनामपि सहोक्तौ यथाप्राप्तयोः पदयोरेकशेषो भवत्येव । *भेदोऽस्तीति न भवती*ति तथाहि ब्राह्मणवत्सशब्दो भिद्यते कथमित्युच्यते एकत्र ब्राह्मणस्य वत्सा ब्राह्मणवत्सेति पुमर्थो विशेषणम् ।

अन्यत्र तु ब्राह्मण्या वत्सो ब्राह्मणीवत्स इति स्त्र्यर्थ इत्यर्थोऽप्यन्य इति तन्मात्रभेदाभावादेकशेषाभावः। यदुपाध्यायः स्त्रीपुंसयोः सहोक्तावेकशेषः सा च प्रधानयोरेव भवतीति यत्र प्रधानस्त्रीपुंसकृतो विशेषस्तत्रैकशेषः, इह त्वप्रधानस्त्रीपुंसकृतोऽपि विशेष इत्येकशेषाभावः। ब्राह्मणवत्सश्च ब्राह्मणीवत्सा चेत्यपि कृतेऽवान्तरस्त्रीलिङ्गभेदान्नैकशेषः ब्राह्मणवत्सा चेति तु कृते भवत्येव ॥3. 1. 126.॥

ग्राम्याशिशुद्विशफसंघे स्त्री प्रायः ॥ 3. 1. 127. ॥

ग्राम्या अशिशवो ये द्विशफा-द्विखुरा अर्थात्पशवः तेषां संघे स्त्रीपुरुषाणां सहोक्तौ प्रायः स्त्रीवाच्येकः शिष्यते, स्त्रीपुरुषमात्रभेदश्चेद्भवति। पूर्वेण पुरुषशेषे प्राप्ते स्त्रीशेषार्थं वचनम्। गावश्च स्त्रियः गावश्च पुरुषाः इमा गावः, अजाश्चेमे अजाश्चेमा इमा अजाः, एवं मेष्य इमाः, महिष्य इमाः।

ग्राम्येति किम्? आरण्यानां मा भूत्, -रुरवश्चेमे रुरवश्चेमा इमे रुरवः, पृषताश्च पृषत्यश्च पृषता इमे अशिशुग्रहणं किम्? वत्साश्चेमा वत्साश्चेमे इमे वत्साः, वर्कर्यश्च वर्कराश्च वर्कराः। द्विशफेति किम्? अश्वाश्चेमे अश्वाश्चेमाः इमेऽश्वाः, गर्दभाश्च गर्दभ्यश्च गर्दभाः, मनुष्यश्चेमा मनुष्याश्चेमे इमे मनुष्याः, पक्षिण्यश्च पक्षिणश्च पक्षिणः। संघग्रहणं किम्? गौश्चायं गौश्चेयम् इमौ गावौ, एवमेतावजौ, प्राय इति किम्? उष्ट्र्यश्च उष्ट्राश्च उष्ट्राः, छाग्यश्च छागाश्च छागाः, व्यावृत्तौ सर्वत्र पूर्वेण पुरुषशेष एव भवति। तन्मात्रभेद इत्येव? गोवलीवर्दम्, अजाविकम् ॥127॥

न्या०स०–ग्राम्याशिशु० । *महिष्य इमा* इति। ननु गावोऽजाश्च शिशवो भवन्ति तत्कथमत्राशिशव इत्युच्यमानः स्त्रीशेषः? नैष दोषः। यद्यपि गावोऽजाश्च शिशवो भवन्ति। तत्राशिशुत्वकृतोऽयं विधिर्न तु शिशुत्वनिबन्धनः प्रतिषेधः। *इमेऽश्वा* इत्यादि एष्वश्वादीनां खुरसंबन्धेऽपि वृत्तैकखुरत्वात् मनुष्यादीनां खुररहितत्वात् द्विखुरत्वाभावात् सर्वत्र पुरुषशेष एव। *इमौ गावा*विति ननु समुदायस्य संघरूपत्वात्तस्य च द्वयोरपि संभवात् कथं संघ इति वचनात् द्वयोरपि न भवति? सत्यं, द्वितीयेन विना सहोक्तेरभावात् सहोक्तिग्रहणादेव द्वयोः संघे सिद्धे संघग्रहणं संघप्रकर्षार्थम्। उष्ट्रा इति केचिदत्रोष्ट्रा न ग्राम्या इत्याहुः। तथापि छागा इत्येतदर्थं प्राय इति वक्तव्यम्। *अजाविक*मिति अत्र अविकशब्द उणादौ व्युत्पन्नः। गोबलीवर्द्दमित्यत्र 'पशुव्यञ्जनानाम्' (3. 1. 132.) इति, अजाविकमित्यत्र तु 'गवाश्वादिः' (3. 1. 144.) इति चैकत्वम् ॥ 3. 1. 127. ॥

क्लीबमन्येनैकं च वा ॥ 3. 1. 128. ॥

क्लीबं-नपुंसकं नाम अन्येनाक्लीबेन सहोक्तावेकं शिष्यते, तन्मात्रभेदे क्लीबाक्लीबमात्र एव चेद्भेदो भवति, तच्च शिष्यमाणमेकमेकार्थं वा भवति, अर्थस्यैकत्वे तद्विशेषणानामपि तथाभावः। शुक्लं च वस्त्रम् शुक्लश्च कम्बलः तदिदं शुक्लम्, ते इमे शुक्ले वा । शुक्लं च वस्त्रं, शुक्ला च शाटी तदिदं शुक्लं ते इमे शुक्ले वा, शुक्लं च वस्त्रं शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च शाटी तदिदं शुक्लं तानीमानि शुक्लानि वा ।

क्लीबग्रहणं किम् ? स्त्रीपुंसयोरपि शेषः स्यात् । अन्येनेति किम् ? शुक्लं च शुक्लं च शुक्ले, शुक्लं च शुक्लं च शुक्लं च इमानि शुक्लानि,–'स्यादावसंख्येयः' (3. 1. 119.) इत्येकशेषः, अनेन त्वेकशेषे विकल्पेनैक्रार्थत्वं प्रसज्ज्येत । तन्मात्रभेद इत्येव ? महद्धिमं हिमानी, हिमं च हिमानी च हिमहिमान्यौ, महदरण्यमरण्यानी, अरण्यं च अरण्यानी च अरण्यारण्यान्यौ, अक्षाश्च देवनादयः अक्षाणि चेन्द्रियाणि अक्षाक्षाणि, पद्मश्च नागः पद्मा च लक्ष्मीः पद्मं च जलजं पद्मपद्मापद्मानि, एषु प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणार्थभेदोऽप्यस्तीति नैकशेषः ॥128॥

न्या०स०–क्लीबम० । ननु समाहारेतरेतरविवक्षायामेकत्वविकल्पो भविष्यति किमेकग्रहणेन ? सत्यं, इदमेकग्रहणं ज्ञापयति, यत् अन्यत्रैकशेषे समाहारविवक्षायामपि एकत्वं न भवति, क्लीबापेक्षया अन्यत्वमित्याह-*अन्येनाक्लीबेने*ति । प्रक्रान्तेनैवैकशेषेणैकप्रयोगस्य सिद्धत्वादेकं प्रयुज्यमानं क्लीबं विज्ञायते । तस्यैकत्वं चार्थद्वारकमेव वाग्रहणं चैकत्वेनैव संबध्यते न त्वेकशेषेणेत्याह-*तच्चे*त्यादि । *शुक्लानी*त्यत्र च क्लीबाक्लीबार्थयोर्भेदात् 'समानाम्' (3. 1. 118.) इत्येकशेषाभावः । स्त्रीपुंसयोरपीति क्लीबग्रहणमन्तरेण यथा क्लीबस्याक्लीबेन सहोक्तावेकशेषस्तथा स्त्रीपुंसयोरपि स्त्रीपुंसाभ्यां सह वचने स्यादित्यर्थः । *महदि*त्यादि ननु च एतेषु प्रकृतेरेकत्वात् स्त्रीत्वादिलिङ्गविशिष्टस्यैकस्यैवार्थस्याभिधानात् को भेदः ? इत्याशङ्क्याह-*एष्वि*त्वादि ॥ 3. 1. 128. ॥

पुष्यार्थाद् भे पुनर्वसुः ॥ 3. 1. 129. ॥

एकशेषो निवृत्तः, एकमित्यनुवर्तते, पुष्यार्थाच्छब्दाद्भे नक्षत्रे वर्तमानात्परो भे एव वर्तमानः पुनर्वसुशब्दः सहोक्तौ गम्यमानायां सामर्थ्यात् द्व्यर्थः सन्नेक-एकार्थो भवति । उदितौ पुष्यपुनर्वसू, अर्थग्रहणं पर्यायार्थम्-तिष्यपुनर्वसू, सिध्यपुनर्वसू, समाहारे तु पुष्यपुनर्वसु । पुष्यार्थादिति किम् ? आर्द्रापुनर्वसवः । पुनर्वसुरिति किम् ? पुष्यमघाः भ इति किम् ? पुष्यपुनर्वसवो माणवकाः । सहोक्तावित्येव । पुष्यः पुनर्वसू येषां ते पुष्यपुनर्वसवो मुग्धाः ॥129॥

न्या० स०–पुष्यार्था० । *एकशेषो निवृत्त* इति भिन्नसूत्रकरणात् इत्यर्थः । अन्यथा क्लीबमन्येनैकं च वा पुष्यार्थाद्भे पुनर्वसुश्च नित्यमित्येकमेव योगं कुर्यात् । *भे नक्षत्रे वर्त्तमानादि*ति एकस्याप्यावृत्त्या उभयस्यापि विशेषणत्वम् । *समाहारे त्वि*ति समाहारे त्वेकत्वानेकत्वयोर्नास्ति विशेष इति । *पुष्यपुनर्वसवो माणवका* इति । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तः कालः 'चन्द्रयुक्तात् काले' (6. 2. 6.) इत्यण् एवं पुनर्व्वसुशब्दादपि, ततो 'लुप्त्वप्रयुक्ते' ( ) इति लुप्, एवं कालवृत्तिभ्यां पुष्ये जातः पुनर्व्वस्वोर्जाताविति 'भर्तु संध्यादेः' (6. 3. 86.) इत्यण् 'बहुलानुराधा' (6. 3. 107.) इति तस्य लोपः । ततः पुष्यश्च पुनर्व्वसू चेति द्वंद्वः । *पुष्यपुनर्व्वसवो मुग्धा* इति । मुग्धा इति मुह्यन्ति जना एष्विति 'अद्यर्थाच्चाधारे' (5. 1. 12.) इति क्ते साध्यः ।

ततो येषां पुष्यपुनर्व्वस्वादीनां मुग्धानां कोऽर्थः ? मोहोत्पादकानां मध्ये पुष्यः पुनर्व्वसू ज्ञायते लोकैस्ते पुष्यपुनर्व्वसवः मुग्धा इति । कर्त्तरि क्ते तु विपर्यासप्रतिपत्तारः पुरुषाः उच्यन्ते । ततः पुनर्व्वस्वर्थस्यैकत्वेऽपि अन्यपदार्थतया पुरुषबहुत्वे सति बहुवचनमुपपद्यत एव । अत्रावयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः । ततः पुष्य इत्येकोऽवयवः पुनर्व्वसू इति द्वितीयः । येषामिति समुदायः समासार्थः ।। 3. 1. 129. ।।

विरोधिनामद्रव्याणां नवा द्वन्द्वः स्वैः ।। 3. 1. 130. ।।

द्रव्यं गुणाद्याश्रयः, । विरोधिवाचिनां शब्दानां द्रव्यमप्रतिपादयतां द्वंद्वो वा एक-एकार्थो भवति, स चेत् द्वंद्वः स्वैः सजातीयैरेवारभ्यते । सुखदुःखम्, सुखदुःखे, शीतोष्णम्, शीतोष्णे, जननमरणम्, जननमरणे, लाभालाभम्, लाभालाभौ, संयोगविभागम्, संयोगविभागौ विरोधिना-मिति किम् ? रूपरसगन्धस्पर्शाः, कामक्रोधौ, अद्रव्याणामिति किम् ? सुख दुःखाविमौ ग्रामौ, शीतोष्णे उदके । स्वैरिति किम् ? बुद्धिसुखदुःखानि । समाहारे चार्थे एकत्वस्येतरेतरयोगे चानेकत्वस्य सिद्धत्वाद्विकल्पे सिद्धे सर्वमिदं विकल्पानुक्रमणं नियमार्थम्-विरोधिनामेवाद्रव्याणामेव स्वैरेवेति, तथा च प्रत्युदाहरणे इतरेतरयोग एव भवति ।।130।।

न्या० स०–विरोधिनामद्रव्याणामिति । अत्र गुणादीनामाश्रयो द्रव्यं गृह्यते न तु वैयाकरणप्रसिद्धमिदं तदित्यादिलक्षणम् । तस्मिंस्तु गृह्यमाणे सुखदुःखादीनामपि द्रव्यत्वप्रसङ्गः । छायातपमिति न भवति तयोर्द्रव्यत्वात् । *सजातीयैरेवे*ति असमानजातीयमविरोधि यद्यवयवान्त-रमस्य न भवतीत्यर्थः । एतावता विरोधिपदारब्धत्वेन द्वंद्वस्य सजातीयारब्धत्वमुक्तम् । *रूपरसगन्धस्पर्शाः* इत्यत्र रूपादीनामेकस्मिन्नपि नारङ्गादिपदार्थे सहावस्थानाद् विरोधाभावान्नायं विधिरिति । *सुखदुःखाविमौ* इत्यत्र सुखदुःखौ शीतोष्णो उपचाराद् द्रव्ये वर्त्तेते । *बुद्धिसुख-*

*दुःखानी*ति अत्र सुखदुःखे विरोधिनी बुद्धिस्त्वविरोधिनीति अविरोध्यवयवोऽप्यसौ द्वंद्व इति वचनान्नैकवद्भावः । समाहारे चेत्यादि अनेकश्च नियमो वाक्यभेदेन समर्थ्यते, सर्वत्राऽपि च प्रत्युदाहरणं व्यवच्छेद्यम् ।। 3. 1. 130. ।।

अश्ववडव पूर्वापराऽधरोत्तराः ।। 3. 1. 131. ।।

अश्ववडवेति पूर्वापरेति अधरोत्तरेति त्रयो द्वंद्वा एकार्था वा भवन्ति, स्वैः । अश्वश्च वडवा चाश्ववडवम्, अश्ववडवौ-अश्ववडवेति निर्देशादेवेतरेतरयोगे ह्रस्वत्वं निपात्यते, पूर्वापरम्, पूर्वापरे, अधरोत्तरम् अधरोत्तरे, पशुविकल्पेनैव सिद्धेऽश्ववडवग्रहणं तत्पर्यायनिवृत्त्यर्थम्, हयवडवे । स्वैरित्येव अजाश्ववडवाः न्यायादेव विकल्पे सिद्धे पूर्वापरादिग्रहणं पदान्तरनिवृत्त्यर्थम्—तेन पूर्वपश्चिमौ, दक्षिणापरौ, अधरमध्यमौ, उत्तरदक्षिणावित्यत्र विकल्पो न भवति ।।131।।

न्या० स०—अश्ववडव० । अजाश्ववडवा इति अत्रेतरेतर एव अन्यथा अश्ववडवेत्यस्य पशुद्वारो विकल्पः सिद्ध एवातो व्यावृत्त्यर्थं ग्रहणम् । न्यायादेवति समाहारेतरेतरलक्षणात् ।। 3. 1. 131.।।

पशुव्यञ्जनानाम् ।। 3. 1. 132. ।।

पशूनां व्यञ्जनानां च स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो वा भवति । गौश्च महिषश्च गोमहिषम् गोमहिषौ, अश्वबलीवर्दम् अश्वबलीवर्दौ, वृष्णिस्तभम् वृष्णिस्तभौ, महाजोरभ्रम् महाजोरभ्रौ, व्यञ्जन-दधिघृतम्, दधिघृते, शाकसूपम्, शाकसूपौ । अश्वमहिषमित्यत्र तु परत्वात् 'नित्यवैरस्य' (3. 1. 141.) इति नित्यमेकत्वविधिः । स्वैरित्येव ? गोनरौ, दधिवारिणी, दध्युष्ट्रौ ।। 132 ।।

न्या० स०—पशुव्यञ्ज० । अत्रावयवावयविसंबन्धे षष्ठी, तेन पश्ववयवो व्यञ्जनावयवश्च द्वंद्व इत्यर्थः । अत्र पशवो ग्राम्या गवादयो ग्राह्या न त्वारण्याः कुरङ्गादयः । उत्तरत्र मृगग्रहणात् । *व्यञ्जनमि*ति व्यञ्जनं येनान्नं रुचिमापद्यते तद्दधिघृतशाकसूपादि । स्वैरिति अत्रापि पशुत्वेन व्यञ्जनत्वेन च स्वत्वम् । *वृष्णिस्तभमि*त्यत्र स्तभेः सौत्रादचि स्तभोऽजः, पशुव्यञ्जनानामिति बहुवचनात् बहूनां पशुद्वंद्वे सेनाङ्गानां यदेकत्वं नित्यं तदनेन बाध्यते । तेन हस्त्यश्वं हस्त्यश्वा भवतीति न्यासः ।। 3. 1. 132. ।।

तरुतृणधान्यमृगपक्षिणां बहुत्वे ।। 3. 1. 133. ।।

एतेषां बहुत्वे वर्तमानानां प्रत्येकं स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो वा भवति । तरु, प्लक्षाश्च

न्यग्रोधाश्च प्लक्षन्यग्रोधम् प्लक्षन्यग्रोधाः, एवं धवाश्वकर्णम् धवाश्वकर्णाः, तृण-कुशकाशम्, कुशकाशाः, मुञ्जवल्वजम्, मुञ्जवल्वजाः, धान्य-तिलमाषं, तिलमाषाः, व्रीहियवम् व्रीहियवाः, मृग-रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः, ऋश्यैणम्, ऋश्यैणाः, पक्षिन्-हंसचक्रवाकम्, हंसचक्रवाकाः, तित्तिरिकपिञ्जलम्, तित्तिरिकपिञ्जलाः ।

एकस्यापि पदस्य बहुत्वे भवति-प्लक्षश्च न्यग्रोधाश्च प्लक्षन्यग्रोधम् प्लक्षन्यग्रोधाः, प्लक्षौ च न्यग्रोधाश्च प्लक्षन्यग्रोधम् प्लक्षन्यग्रोधा इत्यादि । बहुत्व इति किम् ? प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ, प्लक्षौ च न्यग्रोधौ च, प्लक्षश्च न्यग्रोधौ चेति वा प्लक्षन्यग्रोधाः । स्वैरित्येव ? प्लक्षयवाः, गोपृषताः आरण्याः पशवो मृगा इति मृगाणामपि पशुत्वात् पशुविकल्पेनैव सिद्धे मृगाणामिहोपादानम् अमृगैरबहुत्वे चैकत्वा भावार्थम् ।।133।।

न्या० स०—तरुतृण० । तरुरिति सामान्येनोक्तेऽपि तरुविशेषा गृह्यन्ते । तेन तरवश्च वृक्षाश्चेति धवाश्च वृक्षाश्चेति वा कृते इतरेतरयोग एव । *प्लक्षाश्चे*त्यादि ननु वृत्तौ वर्त्तिपदार्थानामभेदैकत्व-संख्याया एव भावात् कथमत्र बहुत्वम् ? नैवं, यत्र संख्या भेदप्रतिपत्तौ निबन्धनमस्ति तत्र वर्त्तिपदान्यपि तमेव संख्याभेदमुपाददते ।

बहुत्वपरिग्रहे चाऽत्र एकवद्भावो निबन्धनं तत्रैव तस्य भावादित्यदोषः । *हंसचक्रवाकमि*त्यत्र चक्रवाकमित्यत्र चक्र इति वाक आख्या यस्य । अथवा वचनं वाकश्चक्रस्येव वाको येषां ते चक्रवाकाः । *प्लक्षौ च न्यग्रोधौ चे*ति तरुतृणादीनां द्वंद्वावयवानामेव बहुत्व इति विशेषणात् द्वंद्वस्य बहुत्वेऽपि न समाहारः । *अमृगैरबहुत्वे चे*ति यदा ग्राम्यपशूनामरण्यपशुभिः सहोक्तिर्भवति तदा माभूदित्यर्थः ।। 3. 1. 133. ।।

सेनाङ्गक्षुद्रजन्तूनाम् ।। 3. 1. 134. ।।

सेनाङ्गानां क्षुद्रजन्तूनां च बहुत्वे वर्तमानानां स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो नित्यं भवति, पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम् । सेनाङ्गम्, अश्वाश्च रथाश्चाश्वरथम्, रथिकाश्वारोहम्, हस्त्यश्वम्, केचित्तु सेनाङ्गानां पशूनां पशुलक्षणं विकल्पमिच्छन्ति-हस्त्यश्वम् हस्त्यश्वाः । क्षुद्रजन्तवोऽल्पकायाः प्राणिन आनकुलमिह स्मर्यन्ते, यूकालिक्षम्, यूकामत्कुणम्, दंशमशकम्, शतश्वश्चोत्पादकाश्च शतशूत्पादकम् । कीटपिपीलिकम् । बहुत्व इत्येव ? सादिनिषादिनौ, अश्वरथौ, यूकालिक्षे, स्वैरित्येव ? हस्तिमशकाः ।।134।।

न्या० स०—सेनाङ्गक्षुद्र० । अत्रापि सेनाङ्गत्वादिना स्वत्वं । एषु सर्वेषु बहुवचनमेकार्थविधेः

क्वचिदन्यत्वख्यापनार्थमित्युपाध्यायसंप्रदायः । *पृथग्योगादि*ति अन्यथार्थस्य समानत्वात् पूर्वेणैकयोगः स्यादित्यर्थः । अत्र यथाश्वरथमिति भवति तथा हस्त्यश्वारोहमिति न स्वकीयत्वाभावात् । न च वाच्यं सेनाङ्गत्वेन स्वत्वमिति । यतो सेनाङ्गेष्वपि आरोह्याणामारोह्येणारोहकाणामारोहकेण च स्वत्वमिष्यते । अत्र च न तथेति । एवं प्राणितूर्याङ्गाणामित्यत्राऽपि तूर्याङ्गेषु वाद्यानां वाद्येन वादकानां वादकेन च स्वत्वं दृश्यम् । केचित्त्वित्यत्र जयादित्यः, इदं तु 'पशुव्यञ्जनानाम्' (3. 1. 132.) इति सूत्रे बहुवचनात् संगृहीतम् । *क्षुद्रजन्तव* इत्यत्र क्षुद्रशब्दोऽनेकार्थः, क्वचिदङ्गहीने शीलहीने । शीलहीनेऽत्र वर्त्तते यथा 'क्षुद्राभ्य एरण्वा' (6. 1. 80.) इति, अत्र हि शीलहीना अङ्गहीनाश्च स्त्रियो विज्ञायन्ते । क्वचित् कृपणे वर्त्तते यथा क्षुद्रो देवदत्तः, क्वचिदल्पपरिमाणे-यथा क्षुद्रास्तन्दुला इति । तत्रेह प्रतिषेधविषये आरम्भोपयोगात् क्षुद्राः प्राणिन एव प्रतिपाद्यन्ते इति जन्तुग्रहणमतिरिच्यते, तस्मात्तदुपादानसामर्थ्यादल्पपरिमाणाः प्राणिविशेषाः क्षुद्रजन्तुशब्देनोच्यन्ते इत्याह-क्षुद्रजन्तव इति ।

क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्यादथवा क्षुद्र एव यः ।
शतं वा प्रसृतिर्येषां केचिदा नकुलादपि ॥1॥
क्षुद्रजन्तुरकाङ्कालो, येषां स्वं नास्ति शोणितम् ।
नाञ्जलिर्यत् सहस्रेण केचिदा नकुलादिति ॥2॥

द्वे अप्येकार्थे । आनकुलमिह स्मर्यन्ते इत्यत्र नकुलादारभ्य ये हीनकाया वा नकुलादयस्ततोऽप्यपचितपरिमाणाश्च यावत् कुन्थव इति क्षुद्रजन्तवः शिष्टैः स्मर्यन्ते । *यूकालिक्षमि*त्यत्र 'ऋजिऋषि' 567 (उणादि) इति कित् सप्रत्यये ऋफिडादित्वाद् रस्य लत्वम् ॥ 3. 1. 134. ॥

फलस्य जातौ ॥ 3. 1. 135. ॥

फलवाचिनां शब्दानां बहुत्वे वर्तमानानां जातौ विवक्षायां स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो भवति । बदराणि चामलकानि च बदरामलकम्, कुवलामलकम् । फलस्येति किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियाः । जाताविति किम् ? व्यक्तिपरचोदनायां मा भूत्-एतानि बदरामलकानि तिष्ठन्ति । बहुत्वे इत्येव ? बदरामलके, बदरामलकम् । स्वैरित्येव ? बदरश्रृगालाः ॥135॥

न्या० स०—फलस्य० । *बदरामलकमि*ति बदर्या विकारः फलं 'हेमादिभ्योऽञ्' (6. 2. 45.) आमलक्या विकारः फलं 'दोरप्राणिनः' (6. 2. 49.) मयट् । द्वयोरपि 'फले लुप्' (6. 2. 58.) । *व्यक्तिपरे*ति व्यक्तिः परं प्रधानं यस्यां सा तथा चोदना उक्तिस्तत्र ॥ 3. 1. 135. ॥

अप्राणिपश्वादेः ॥ 3. 1. 136. ॥

बहुत्व इति निवृत्तम्, पूर्वयोगारम्भात्, प्राणिभ्यः पश्वादिसूत्रोक्ते भ्यश्च येऽन्ये द्रव्यभूताः पदार्थास्तेषां जातौ वर्तमानानां शब्दानां स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो भवति । आरा च शस्त्री च आराशस्त्रि, धाना च शष्कुली च धानाशष्कुलि, एवं युगवस्त्रम्, कुण्डबदरम्, तरुशैलम्, जातावित्येव । विन्ध्यहिमालयौ, नन्दकपाञ्चजन्यौ, जातिविवक्षायामयं विधिः, व्यक्तिविवक्षायां तु यथाप्राप्तम्-आराशस्त्रि आराशस्त्र्याविमे । प्राणिपश्वादिजातिवर्जनं किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रम्, गोमहिषौ, गोमहिषम्, दधिघृते, दधिघृतम्, प्लक्षन्यग्रोधौ 2, कुशकाशौ 2, ब्रीहियवौ 2, रुरुपृषतौ 2, हंसचक्रवाकौ 2, अश्वरथौ 2 । अप्राणीति प्राणिनो द्रव्यस्य पर्युदासेनाप्राणिनो द्रव्यस्य ग्रहणादिह न भवति-रूपरसगन्धस्पर्शाः, उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चन-प्रसारणगमनानि । स्वैरित्येव । बदरशृगालौ ॥136॥

न्या० स०–अप्राणि० । *पूर्वयोगारम्भा*दिति फलस्याप्राणित्वेन अनेनैव सिद्धत्वात् । न च पूर्वयोगमन्तरेणात्र जाताविति न स्यादिति वाच्यं । अत्रैव जातिग्रहणं करिष्याम इति । द्रव्यभूता इत्यत्राप्राणीति पर्युदासेन तत्तुल्यस्य द्रव्यस्य प्रतिपत्तिस्तेषां च जाताविति विशेषणमित्याह-*द्रव्यभूता* इत्यादि । *आराशस्त्री*ति अत्र आराशब्दो भिदादिः शस्त्रीविशेषवाचकः ।

तेन गोबलीवर्दन्यायेन सामान्यविशेषयोरत्र द्वंद्वो द्रष्टव्यः । यत्राप्राणीति वचनात् प्राप्तिस्ते पश्वादिसूत्रोक्ता व्यञ्जनादयो ग्राह्याः । न तु पशवस्तत्र 'अप्राणि' (3. 1. 136.) इत्यनेनैव निषेधसिद्धेः । *धाना च शष्कुली* च इत्यत्र शष्कुलीशब्दो गौरादौ व्युत्पादितः । अन्ये त्विमं पृषोदरादित्वान्मूर्द्धन्यादि पठन्ति । *नन्दकपाञ्चजन्यावि*त्यत्र नन्दतात् 'आशिष्यकन्' (5. 1. 70.) पञ्च च ते जनाश्च पञ्चजनाः । 'संख्या समाहारे च' (3. 1. 28.) इति समासे कृते पञ्च जना यस्येति वा बहुव्रीहौ 'गम्भीरपञ्चजन' (6. 3. 135.) इति ञ्यः । संज्ञाशब्दावेतावनादिनि-धनयोर्वैष्णवयोः शङ्खखड्गयोर्वर्त्तेते ।

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शुद्रा इति अत्र प्राणिवर्जनात् ब्राह्मणादीनां च प्राणित्वादयं नित्यो विधिर्न भवति । *दधिघृते* इत्यादिप्रयोगेषु च पश्वादिवर्जनात् दधिघृतादीनां च पश्वादिसूत्रोक्तत्वादनेन नित्यैकवद्भावाभावः, ततश्च यथाप्राप्तमेव भवति । *कुशकाशावि*ति वा बहुत्व इति व्यावृत्तिर्व्यक्ति-विवक्षायां चरितार्था इति जातावेकार्थता प्रसज्येत । अश्वरथाविति नन्वत्र यथा पश्वादिसूत्रोक्त-वर्जने दधिघृते दधिघृतमित्यादिषु यथाप्राप्तस्य विधानं दर्शितमेव 'फलस्य जातौ' (3. 1. 135.) इत्यस्याऽपि व्यवच्छिन्नत्वात् कथमत्र यथाप्राप्तं न दर्शितम् ? उच्यते, पश्वादिमध्ये

पूर्वसूत्रं न गण्यते, अस्यैव सूत्रस्य प्रपञ्चात् । ततः पूर्वसूत्रव्यावृत्त्यैव समाहारनिषेधात् जातौ एकत्वद्वित्वयोरितरेतरो भवति न समाहारः । अतो न दर्शितं प्रत्युदाहरणम् । *अप्राणी*ति अत्र जातिप्रदेशेषु द्रव्यजातेर्गुणजातेः क्रियाजातेश्चाविशेषेण ग्रहणदृष्टान्तादिहाऽपि तद्वदेवेति यः शङ्कते तं प्रत्याह अप्राणीति । *रूपरसगन्धस्पर्शा* इत्यत्र वैकल्पिकोऽपि समाहारो न 'विरोधिनाम्' (3. 1. 130.) इति नियमस्य व्याख्यानतः । *बदरशृगाला*विति अत्र बदरप्रमाणी शृगालः प्राणीति ॥ 3. 1. 136. ॥

प्राणितूर्याङ्गाणाम् ॥ 3. 1. 137. ॥

प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गाणां च स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो भवति । प्राण्यङ्गदन्ताश्च ओष्ठौ चेदं दन्तोष्ठम्, इदं शिरोग्रीवम्, इदं पाणिपादम्, इदं कर्णनासिकम्, तूर्याङ्गशङ्खशाङ्खिकादिसमुदाय-स्तूर्यम् अङ्गान्यवयवाः, इदं शंखपटहम्, इदं भेरीमृदङ्गम्, शांखिकमौरजिकम्, मार्दङ्गिकपा-णविकम्, वीणावादकपरिवादकम् । स्वैरित्येव ? पाणिगृध्रौ, पीठपटहौ, पाणिपणवौ । प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गेषु च शंखपटहादीनामप्राणिजातित्वात् पूर्वेण सिद्धे व्यक्तिविवक्षायां विधानार्थम् जातिविवक्षायां प्राण्यङ्गाप्राण्यङ्गादिसंभेद एकत्व निराकरणार्थं च वचनम्, एतज्ज्ञापनार्थमेव च बहुवचनम् ॥137॥

न्या० स०—प्राणितूर्या० । प्राण्यते एभिरिति 'व्यञ्जनाद् घञ्' (5. 3. 132.) प्राणास्ततो मत्वार्थीयः । प्राणी च तूर्यं चेति समाहारे इतरेतरयोगे वा द्वंद्वः ततस्तस्याङ्ग शब्देन तत्पुरुष । तत्र समाहारद्वंद्वे समाहारस्याङ्गायोगात् समहारिण एवाङ्गसंबन्धो विज्ञायते, इतरेतरयोगे तु द्वंद्वस्यावयवप्रधानत्वात् स्पष्ट एवावयवस्याङ्गसंबन्धः । *शङ्खशाङ्खिकादिसमुदाये*ति शङ्खादीनि वाद्यानि शाङ्खिकादयो वादकाः । 'भीवृथि' 387 (उणादि) इति रेफे ङ्यां च भेरी । यदा मृदङ्गश्च शङ्खपटहं चेति क्रियते तदा समाहारो न भवति, तूर्याङ्गसमुदायत्वात् । *निराकरणार्थ*मिति पाणिपणवावित्यत्र 'अप्राणिपश्चादेः' (3. 1. 136.) इति प्राप्तस्य पाणिपणवयोरप्राणित्वेन स्वत्वात् ॥ 3. 1. 137. ॥

चरणस्य स्थेणोऽद्यतन्यामनुवादे ॥ 3. 1. 138. ॥

शाखाध्ययननिमित्तकव्यपदेशभाजो द्विजन्मानश्चरणाः कठादयः, प्रमाणान्तरप्रतिपन्न-स्यार्थस्य शब्देन संकीर्तनमनुवादः, यज्ञकर्मणि शंसितानुशंसनमित्येके, अनुकरणमित्यपरे, अद्यतन्यां परभूतायां यौ स्थेणौ तयोः अनुकथने. कर्तृत्वेन संबन्धिनो ये चरणास्तद्वाचिनां

शब्दानां स्वैर्द्वन्द्वोऽनुवादविषय एक एकार्थो भवति । प्रत्यष्ठात् कठकालापम्, उदगात् कठकौथुम् प्रत्यष्ठात् मौदपैष्पलादम्, एषामुदयप्रतिष्ठे कश्चिदनुवदति । चरणस्येति किम् ? उदगुस्तार्किकवैयाकरणाः । स्थेण इति किम् ? अगमन्कठकालापाः अद्यतन्यामिति किम् ? अतिष्ठन्कठकालापाः । अनुवाद इति किम् ? उदगुः कठकालापाः, अप्रसिद्धं कथयति । अन्ये तु स्थेणोद्यतनीप्रयोगादनु पश्चाद्वादश्चरणद्वन्द्वस्येत्यनुवादस्तत्रेच्छन्ति, तन्मते इह न भवति-कठकालापाः प्रत्यष्ठुः, कठकौथुमा उदगुः ॥138॥

न्या0स0–चरणस्य0 । *प्रमाणान्तरप्रतिपन्ने*ति शब्दात् प्रमाणादन्यत् प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरं तेन प्रतिपन्नम् । *शंसितानुशंसनमि*ति शंसनं शंसः तं करोति णिच्, ततः क्तः, अन्यथा 'वेटोऽपतः' (4. 4. 62.) इतीटो निषेधः । शंसितस्य कथितस्यानुशंसनम् । अनुकरणमिति पूर्वकृतस्य पश्चात् सादृश्येन वा करणं क्रिया ।

अनुकथने कर्तृत्वेनेति ❊ *गौणमुख्ययोः* ❊ इति न्यायात् मुख्यवृत्त्या कर्त्ता लभ्यते । तेन यदा भावे प्रयोगस्तदा प्रत्यष्ठायि कठकालापाभ्यामिति भवति न तु समाहारः । *कठकालापमि*ति कठेन कलापिना प्रोक्तं वेदं विदन्त्यऽधीयते वा 'तेन प्रोक्ते' (6. 3. 181.) 'तद्वेत्यधीते' (6. 2. 117.) इत्यण् । तस्य प्रोक्तार्थस्य 'कठादिभ्यः' (6. 3. 183.) इति चाणो लुप् । कालाप इत्यत्र तु 'कलापिकुथुमि' (7. 3. 24.) इति इनो लुपि वृद्धौ कालापः ।

*कठकौथुममि*ति कुथेः 'उद्वटिकुल्यलि' 351 (उणादि) इति कित्युमे कुथुमं वमी ततो मत्वर्थीये इनि 'तेन प्रोक्ते' (6. 3. 181.) इत्याद्यण्विधिः । *मौदपैष्पलादमि*ति मुदस्य मोदस्य वा पिष्पलादस्य चापत्यं 'ऋषिवृष्ण्यण्' (6. 1. 61.) मौदेन पैष्पलादेन च प्रोक्तमिति वाक्ये ईयस्य बाधको 'मौदादिभ्यः' (6. 3. 182.) इत्यण् 'तद्वेत्त्यधीते' (6. 2. 117.) इत्यण् तस्य 'प्रोक्तात्' (6. 2. 129.) इति लुप् । *तार्किके*ति तर्केण चरति तर्कः प्रयोजनमस्येति वा 'चरति' (6. 4. 11.) 'प्रयोजनम्' (6. 4. 117.) इति वा इकणि, यद्वा तर्कं वेत्त्यधीते वा 'न्यायादेरिकण्' (6. 2. 118.) परं तदा न्यायादिष्वपठितोऽपि दृश्यः ॥ 3. 1. 138. ॥

अक्लीबेऽध्वर्युक्रतोः ॥ 3. 1. 139. ॥

अध्वर्यवो यजुर्वेदविदः, तेषां वेदोऽप्यध्वर्युः, तत्र विहिताः ऋतवोऽश्व-मेधादयोऽ-ध्वर्युक्रतवः, ससोमको यागः क्रतुः, अध्वर्युक्रतुवाचिनां शब्दानां स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो भवति, अक्लीबे क्लीबे चेदध्वर्युक्रतुवाची शब्दो न भवति । अर्कश्चाश्वमेधश्चार्काश्वमेधम्, साह्नातिरात्रम्, पौण्डरीकातिरात्रम्, अर्कादयः पुंलिङ्गाः । अक्लीबग्रहणं किम् ? गवामयनादित्यानामयने ।

प्रसज्यप्रतिषेधः किम् ? राजसूयं च वाजपेयं च राजसूयवाजपेये, इमौ ऋतू पुंलिङ्गावपि स्त इति पर्युदासाश्रयणेऽत्रापि स्यात् । अध्वर्युग्रहणं किम् ? इषुवज्रो, उद्भिद्बिलभिदौ, इष्वादयः सामवेदे विहिताः । क्रतुग्रहणं किम् ? दर्शपौर्णमासौ ।।139।।

न्या०स०—अक्लीबे० / *साह्नातिरात्रमि*ति सह अह्ना वर्त्तते पृषोदरादित्वात् अह्नादेशे 'नाम्नि' (3. 2. 144.) इति नित्यं सादेशः । यद्वा अह्नां समूहः 'अश्वादिभ्योऽञ्' ( ) अनीनाद्यह्नोऽनोऽस्य लुप् । सहाह्नेन भवति ते साह्नश्चातिरात्रश्च पुण्डरीको देवताऽस्य 'देवता' (6. 2. 101.) इत्यण् । *गवामयनादित्यानामयने* इति आमीनातीति अच्, अमण् 'कुगुवलि' 365 (उणादि) इत्ययो वा ।

आमयं करोति 'णिज्बहुलं' (3. 4. 42.) आमय्यन्ते सरोगीक्रियन्तेऽनेनानटि । ततो गवामामयनं गवामयनम् । अयनशब्दे वा उत्तरपदे बाहुलकात् षष्ठ्या अलुप् । तथा अदितेरपत्यानि आदित्या देवाः न आमयनं शेष पूर्ववत् । *प्रसज्यप्रतिषेधः किमि*ति क्लीबे चेदध्वर्युक्रतुवाची न भवतीति यः प्रसज्यप्रतिषेधो वृत्तौ दर्शितः स किमर्थः । प्रसज्यो हि नञ् क्रियया संबध्यते, इतरस्तु नाम्ना । राज्ञा सोतव्यो राजा वाऽत्र सूयते इति 'संचाय्यकुण्डपाय्य' (5. 4. 22.) इति निपातः । वज्यत इति वाजः । कर्मणि घञ्, क्ते सेट्त्वाद् गत्वाभावः पातव्यः पेयो वाजो यस्य ।

*क्रतुग्रहणं किमि*ति । अत्र क्रतुशब्दस्य ससोमके यागे रूढत्वाद्दर्शपौर्णमासयोश्चानाम्नात-सोमपानत्वाद्यजुर्वेदोपदिष्टत्वेऽपि क्रतुशब्देनानभिधानान्नैकवद्भाव इत्यर्थः । यत्र त्वसोमपानेऽपि क्रतुशब्दः श्रूयते दर्शपौर्णमासयोर्यज्ञक्रत्वोश्चत्वार ऋत्विज इति स प्रशंसार्थ औपचारिक इत्यदोषः । *दर्शपौर्णमासावि*ति दृश्यतेऽनेन व्यञ्जनाद् घञ् दर्शोऽमावस्या उपचाराद्दर्शभवो यागोऽपि दर्शः। पूर्णो माश्चन्द्रोऽस्यां पूर्णमासोऽण् ङीः, पौर्णमास्यां यागः 'भर्तु संध्यादेरण्' (6. 3. 89.) ।। 3. 1. 139. ।।

निकटपाठस्य ।। 3. 1. 140. ।।

निकटः पाठो येषामध्येतॄणां ते निकटपाठः, तद्वाचिनां द्वन्द्व एक-एकार्थो भवति स्वैः । पदमधीते पदकः, एवं क्रमकः, पदकश्च क्रमकश्च पदकक्रमकम्, पदानन्तरं क्रमस्य पाठात् पाठयोर्निकटत्वम्, एवं क्रममधीते क्रमकः, वृत्तिमधीते वार्तिकः, क्रमकश्च वार्तिकश्च क्रमकवार्तिकम्, चर्चां पारयतीति चर्चापारः, स च खण्डिकश्च चर्चापारखण्डिकम् निकटेति किम् ? याज्ञिकवैयाकरणौ । पाठेति किम् ? पितापुत्रौ ।।140।।

न्या० स०—निकट० । इह पाठशब्दो भावे कर्म्मणि वा। भावपक्षे पाठशब्देन पाठक्रियोच्यते तेन पाठक्रियया निकटव्यपदेशानामित्यर्थो जायते । निकटत्वं च कालरूपं प्रसिद्धमेव । यथा सूत्राध्ययनसमाप्तिसमनन्तरमेव धातवः पठ्यन्ते । तथैव पदान्यधीत्य क्रमोऽधीयते इत्यर्थो भवति । यदा कर्मणि पठ्यते इति पाठो ग्रन्थो द्रव्यात्मा उच्यते ।

स च ग्रन्थ एकोऽपि पदक्रमसंहिताभेदकल्पनया भिन्नस्ततश्च पठ्यमानैकग्रन्थनिमित्तं कालरूपतो नैकट्यं संभवति । तेन *पाठयोरि*ति पाठक्रिययोः। पठ्यमानग्रन्थयोर्वेत्यर्थः, वृत्तिमधीते न्यायादित्वादिकणि-वार्त्तिकः यज्ञमधीते 'याज्ञिकौक्थिक' (6. 2. 122.) इति निपातः । *याज्ञिकः* अत्र पाठक्रिये पठितव्यौ च ग्रन्थौ अत्यन्तं संनिकृष्टौ इति तन्निमित्तौ शब्दावपीति । *पितापुत्रावि*ति अत्र निकटा जननक्रिया न तु पाठ इति ॥ 3. 1. 140. ॥

नित्यवैरस्य ॥ 3. 1. 141. ॥

नित्यमनिमित्तं जातिनिबद्धं वैरं येषां तद्वाचिनां शब्दानां स्वैर्द्वंद्व एक एकार्थो भवति । अहिनकुलम्, मार्जारमूषिकम्, ब्राह्मणश्रमणम्, श्वावराहम्-'शुनः' (3. 2. 90.) इति दीर्घत्वम्, श्वचण्डालम्, पशुविकल्पः पक्षिविकल्पश्च परत्वादनेन बाध्यते-अश्वमहिषम्, काकोलूकम् । नित्यवैरस्येति किम् ? कौरवपाण्डवाः, कौरवपाण्डवम्, देवासुराः, देवासुरम्ः, नैषां निर्निमित्तं वैरमपि तु राज्यापहारादिकृतम् । अन्ये तु वैर एवाभिधेये समाहारमिच्छन्ति-श्वावराहम्, मार्जारमूषिकम् वैरमिति, वैरिषु तु यथाप्राप्तम्, दक्षिणाद्वामगमनं प्रशस्तं श्वशृगालयोर्विद्यते लोक औत्पत्तिको विरोधो यथा मार्जारमूषिकयोः ॥141॥

न्या० स०—नित्यवैरस्य / 'गवाश्वादिः' (3. 1. 144.) इत्यत्र नित्यवैराभावपक्षे श्वचंडालमित्युक्तं तच्च परमते ज्ञातव्यम्, केचिदभ्यधुर्नानयोर्नित्यं वैरं किंतु कृतकं वैरम् । तथाहि-चण्डालः श्वानं हन्ति प्रथमं ततः श्वा पृष्ठतो धावति इति कृतकं वैरम् । *नित्यमनिमित्तमि*ति जातेरन्यदर्थादि निमित्तं न विद्यत इत्यर्थः । *पशुविकल्प* इति पशुद्वंद्वविकल्पो महाजोरभ्रमित्यादौ सावकाशोऽयं तु नित्यविधिर्ब्राह्मणश्रमणमित्यादौ अश्वमहिषं काकोलूकमित्य तूभयप्राप्तौ परत्वादयमेव विधिरित्यर्थः । *कौरव-पाण्डवा* इति कुरुशब्दादिदमर्थे 'उत्सादेरञ्' (6. 1. 19.) पाण्डुशब्दादपत्ये 'शिवादेरण्' (6. 1. 60.) वैर *एवे*ति तच्चोपचारात् श्वावराहादिकृतं वैरमपि श्वावराहम् । *श्वावराहं वैरमि*ति श्वा वराहश्चेत्युपचाराद् वैरे वर्त्तते । *औत्पत्तिक* इत्यत्र उत्पत्तौ भवः 'अध्यात्मादिभ्य इकण्' (6. 3. 78.) जन्मप्रभव इत्यर्थः ॥ 3. 1. 141. ॥

नदी-देश-पुरां विलिङ्गानाम् ॥ 3. 1. 142. ॥

विविधं लिङ्गं येषां तेषां नदीदेशपुराभिधायिनां शब्दानां स्वैर्द्वन्द्व एक एकार्थो भवति । नदी उद्ध्यश्च इरावती च उध्येरावति, गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम्, विपाट् च स्त्री चक्रभिच्च नपुंसकम् विपाट्चक्रभिदम् । देशकुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम्, कुरुकुरुजाङ्गलम्, वरेन्द्रीमगधम्, पुरम्मथुरापाटलिपुत्रम्, काञ्चीकन्यकुब्जम् । पुरां देशत्वात्तद्ग्रहणेनैव सिद्धे पूर्ग्रहणं ग्रामनिषेधार्थम्-जाम्बवश्च शालूकिनी च जाम्बवशालूकिन्यौ ग्रामौ ।

स्वैरित्येव ? शौर्यं च नगरं केतवता च ग्रामः शौर्यकेतवते, पूर्ग्रामसंभेदेऽपीच्छत्यन्यः-शौर्यकेतवतम्, पूर्देशसंभेदेऽपीत्यपरे-श्रावस्तीमध्यदेशम्, मगधश्रावस्ति । नदीदेशपुरामिति किम् ? कुक्कुटमयूर्यौ । देशग्रहणेन चेह जनपदानां ग्रहणम् पृथग्नदीपूर्ग्रहणात्-तेनेह न भवति-गौरी च कैलासश्च गौरीकैलासौ पर्वतौ, कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने पर्वतौ । विलिङ्गानामिति किम् ? गङ्गायमुने, मद्रकेकयाः मथुरातक्षशिले ॥142॥

न्या० स०—नदीदेश० । *उध्येरावती*ति उज्झत्युदकं 'कुप्यभिद्य' (5. 1. 39.) इति, ह्रदस्याऽपि नदीत्वं स्तोकविशेषात् यद्वा नदनद्योरभेदोपचारोऽत्र, यतो नदीविशेषो नदः इरा विद्यतेऽस्यामिति, 'नद्यां मतुः' (6. 2. 72.) *विपाट् च स्त्री*ति विशिष्टं पाशितवती क्विपि पृषोदरादित्वाद् विपाडिति न्यासः । तेन यत्र विप्राडिति दृश्यते तन्न साधु । *कुरुकुरुक्षेत्रमि*ति कुरोरपत्यानि 'दुनादि' (6. 1. 118.) इति ञ्यस्य 'बहुष्वस्त्रियाम्' (6. 1. 124.) इति लुपि कुरवस्ततश्च कुरूणां क्षेत्रम् । एवं *कुरुजाङ्गलमि*ति ।

*काञ्चीकन्यकुब्जमि*ति कन्या कुब्जा यत्र बाहुलकात् ह्रस्वत्वम् । पुरां *देशत्वादि*ति पुरामप्युपभोगस्थानत्वस्य देशलक्षणस्य विद्यमानत्वात् किमर्थं पूर्ग्रहणम् ? उपलक्षणं चेदं नदीग्रहणमपि ग्रामनिषेधार्थमेव । *जाम्बवशालूकिन्यावि*ति जम्बूनामदूरभवो 'निवासादूरभवे' (6. 3. 69.) इत्यण् । शालूकान्युत्पलादिमूलान्यत्र सन्ति । *शौर्यं चे*ति शूराणां निवासः 'सुपन्थ्यादेर्यः' (6. 2. 84.) 'श्रांक् पाके' इति श्रान्तीति श्रास्तेषां वस्तिरिव संकीर्ण्णात्वात् *श्रावस्ती* 'इतोऽक्त्यर्थात्' (2. 4. 32) ङी नगरी । *गौरीकैलासावि*ति गौरी नाम पर्वतः, कं जलं इला भूमिस्तयोरास्ते अच् । के जले लासो लसनमस्येति वा केलासः स्फटिकस्तस्यायम् ॥ 3. 1. 142. ॥

पात्र्यशूद्रस्य ॥ 3. 1. 143. ॥

यैर्भुक्ते पात्रं, संस्कारेण शुध्यति ते पात्रमर्हन्तीति पात्र्याः, पात्र्यशूद्रवाचिनां शब्दानां,

द्वंद्व एक एकार्थो भवति स्वैः । तक्षायस्कारम्, रजकतन्तुवायम्, कुलालवरुटम्, किष्किन्धगन्धिकम्, शकयवनम् । पात्र्येति किम् ? जनंगमबुक्कसाः । शूद्रग्रहणं किम् ? ब्राह्मण क्षत्रियविशः ।।143।।

न्या0स0—पात्र्यशू0 । *भुक्ते पात्रमिति* पात्रं कांस्यादि, *संस्कारेण* भस्मोद्वर्त्तनादिना 'शुद्ध्यति भस्मना कांस्यं, ताम्रमम्लेन शुद्ध्यति । इत्यादिमन्वादिशास्त्रोक्तेन लोकप्रसिद्धेनैव । शुद्ध्यति विशिष्टलोकानामुपभोग्यं भवति । *तक्षायस्कारमि*ति पात्र्यशूद्रा द्विप्रकाराः आर्यावर्त्तान्तर्गतास्तद् बाह्याश्च । अत्राऽपि आर्यावर्त्तजानां तैः स्वत्वं, तद्बाह्यानां बाह्यैरिति द्रष्टव्यम्, उभयेऽपि क्रमेण तक्षायस्कारमित्यादिना दर्श्यन्ते । किं किं दधातीति वर्चस्कादित्वात् *किष्किन्धः* । किष्किन्धादयश्चत्वार आर्यावर्त्ताद् बाह्या म्लेच्छभेदाः। *जनंगमबुक्कसा* इति न ह्येतेभ्यस्त्रैवर्णिकाः स्वं पात्रं प्रयच्छन्ति । तैर्भुक्ते पात्रस्य संस्कारेणाशुद्धेरिति ।। 3. 1. 144. ।।

गवाश्वादिः ।। 3. 1. 144. ।।

गवाश्वादिर्द्वन्द्व एक एकार्थो भवति । गौश्चाश्वश्च गवाश्वम्, गवाविकम्, गवैडकम्, अजाविकम्, अजैडकम्, कुब्जवामनम्, कुब्जकैरातम्, कुब्जकैरातकम्, पुत्रपौत्रम् । नित्यवैराभावपक्षे-श्वचण्डालम्, स्त्रीकुमारम्, दासीमाणवकम्, शाटीपच्छिकम्, उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्, मूत्रशकृत्, मूत्रपुरीषम्, यकृन्मेदः, मांसशोणितम्, दर्भशरम्, दर्भपूतीकम्, अर्जुनपुरुषम्, तृणोलपम्, कुडीकुडम्, दासीदासम्, भागवतीभागवतम्-त्रिष्वेतेषु 'पुरुषः स्त्रिया' (3. 1. 126.) इत्येकशेषो न भवति निपातनात् । गवाश्वादिषु यथोच्चारितरूपग्रहणादन्यत्र नायं विधिः गोऽश्वौ, गोऽश्वम्, गोअश्वौ, गोअश्वम्, गोऽविकौ, गोऽविकम्, गवेलकौ, गवेलकम्, पशुविभाषैव भवति ।।144।।

न्या0स0—गवा0 । गवाश्वादिष्वजैडकं यावत् 'पशुव्यञ्जनानाम्' (3. 1. 132.) । इति विकल्पे नित्यार्थः पाठः। सर्वेषु च 'स्वरे वाऽनक्षे' (1. 2. 29.) इत्यवादेशः । *कुब्जवामनम्*-इत्यादिषु चतुर्षु न्यायसिद्धे समाहारेतरेतरयोगे नित्यार्थः । श्वचण्डालमिति नित्यवैरे 'नित्यवैरस्य' (3. 1. 141.) इत्येव सिद्धमित्याह-*नित्यवैराभावपक्षे* इति । ये चाण्डालपाटके श्वानो वसन्ति तेऽत्र विवक्षिताः। न च तेषां चण्डालैः सह वैरमस्ति । यद्वा चण्डालाः श्वानं घ्नन्ति अतोऽसौ धावति इति नित्यवैराभावः । पद्यतेः 'तुदिमदि' 124 (उणादि) इति छकि गौरादित्वात् ङ्यां स्वार्थिके के च पच्छिका छाजिकेति प्रसिद्धिः । शाटीपच्छिकमिति उपाध्यायस्त्वाह सततमनिमित्तवैरिणां कथमिव द्वंद्वो वैरं नाभिदध्यात् । न विवक्षितमिति चेत् वस्तुस्थितस्य

कीदृश्यविवक्षा । तस्यामहिनकुलावित्यादयोऽप्रयोगा एव स्युः। उत्पलोद्योतकरादयो व्यावक्षते श्वचण्डालमित्यस्य पाठः शुनां चण्डालानां च नित्यवैरित्वाभावात् । न हि यथा श्वपचाः श्वानश्च नित्यवैरिणस्तथा श्वानश्च चण्डालाश्च । अत्र जातित्वात् 'अप्राणि' (3. 1. 136.) इति सिद्धावपि व्यक्तिपरनोदनायामपि यथा स्यादित्यस्य पाठः ।

*उष्ट्रखरमि*ति पशुत्वाद् विकल्पे प्राप्ते । *उष्ट्रशशमि*त्यत्र त्वितरेतरयोगे प्राप्ते । पशुविकल्पश्च नास्ति शशस्याग्राम्यत्वात् । *मूत्रशकृदि*ति धर्मार्थादित्वात् शकृन्मूत्रमपि, मूत्रशकृदित्यादौ व्यक्तिपरनोदनायाम् 'अप्राणि' (3. 1. 136.) इति न सिध्यतीत्युपादानम् । *दर्भशरमि*ति दर्भादीनां तृणजातित्वादप्राणीति नित्यविधेः पश्वादित्वात्तृणविकल्पे बाधके प्राप्तेऽयं विधिः । *अर्जुनपुरुषमि*ति पुरुषशब्दोऽत्र तृणविशेषवाची, परुष इत्यपि दृश्यते तच्चिन्त्यम् । कुडी 'कुडत् बाल्ये च' 'नाम्युपान्त्य' (5. 1. 54.) इति के 'वयस्यनन्त्ये' (2. 4. 21.) इति ङ्यां कुडी बाला, कुडो बालः । कुटीकुटमिति उद्योतकरेण टो निरीक्षणीयः। *गवेलकमि*ति 'स्वरे वानक्षे' (1. 2. 29.) इत्यवादेशेऽपि लत्वस्य विकृतत्वात्त्वसंहृतिः ॥ 3. 1. 144. ॥

न दधिपयआदिः ॥ 3. 1. 145. ॥

दधिपयःप्रभृतिद्वन्द्व एक एकार्थो न भवति । दधि च पयश्च दधिपयसी, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, हरिवासवौ, ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ, परिजाकौशिकौ, प्रवर्ग्योपसदौ, आद्यवसाने, सूर्याचन्द्रमसौ, मित्रावरुणौ, अग्नीषोमौ, सोमारुद्रौ, नारदपर्वतौ, खण्डामर्कौ, नरनारायणौ, रामलक्ष्मणौ, भीमार्जुनौ, कम्बलाश्वतरौ, मातापितरौ, पितापुत्रौ, श्रद्धामेधे, शुक्लकृष्णे, इध्माबर्हिषी,—पूर्वस्य दीर्घत्वं निपातनात्, ऋक्सामे, वाङ्मनसे,—

अत्र 'ऋक्सामर्ग्यजुष' (7. 3. 97.) इत्यादिनाकारान्तत्वम्, याज्यानुवाक्ये, दीक्षातपसी, श्रद्धातपसी, श्रुततपसी, मेधातपसी, अध्ययनतपसी, उलूखल-मुशले-अत्राद्येषु त्रिषु व्यञ्जनविकल्पे शुक्लकृष्णे इत्यत्र 'विरोधिनामद्रव्याणाम्' (3. 1. 130.) इति विकल्पे, इध्माबर्हिषी, उलूखलमुशले इत्यत्र 'अप्राणिपश्वादेः' (3. 1. 136.) इति नित्यमेकत्वे, शेषेषु च 'चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ' (3. 1. 117.) इत्युभयस्मिन् प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । चण्डालमृतपादयश्चात्र द्रष्टव्याः ॥145॥

न्या0स0—न दधि0 । *मधुसर्पिषी*ति धर्मार्थादित्वात् पर्यायेण पूर्व्वनिपातः ब्रह्मणो व्यतिरिक्तश्चतुर्दशभेदभिन्नः । *प्रजापतिः*, *स्कन्दविशाखावि*ति अत्र स्कन्दस्य मित्त्रमपि स्कन्दः । यद्वा स्कन्दशब्देन विनायक उच्यते । *परिजाकौशिकावि*ति परिजा नदी कौशिकश्च पर्व्वतः । कुशोऽस्यास्ति कुशिकस्यापत्यं बिदाद्यञि । अत्र नदीदेशेति स्वैरिति व्यावृत्त्या नित्यसमाहारो

निवार्यते, न्यायेन वैकल्पिकस्तु प्राप्त एव स चानेन निषिध्यते । खण्डश्च मर्कश्च *खण्डामर्कौ* देवताविशेषौ । 'वेदसह' (3. 2. 41.) इत्यात्वम्, तौ हि पूर्वं दैत्यौ सन्तौ राक्षसौ अशस्त्रवध्यौ । ततस्तद्वाधार्थं याग आरब्धः । खण्डामर्काभ्यां यजेत अनया आहुत्या अशस्त्रौ देवमध्यस्थितौ यज्ञहुतस्य ग्रहणाय आगतौ ततो देवौ जाताविति । नरनारायणाविति नरशब्दान्त्रडाद्यायनणि नारायणः । नृणातेर्बाहुलकात् कर्मणि घञि नाराः आपः ता अयनं यस्येति वा नारायणः, यन्मनुः—

आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं, तेन नारायणः स्मृतः ।।1।।

अर्च्यत्वान्नारायणस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजदन्तादित्वान्नरस्य पूर्वनिपातः । *भीमार्जुनाविति* 'धर्मार्थादिषु द्वंद्वे' (3. 1. 156.) इति भीमस्य पूर्वनिपातः । *मातापितराविति* मातुरर्च्यत्वात् पूर्वनिपातः । यदाह—

सहस्त्रं तु पितुर्माता, गौरवेणातिरिच्यते ।
तत् किं पितृगिरा रामो, विधत्ते रेणुकावधम् ।।1।।

तन्न विचार्यम् । यदुक्तं—

यत्कृतं परशुरामेण पितुर्वचनगौरवात् ।
तदन्यैस्तु न कर्त्तव्यं न देवचरितं चरेत् ।।2।।

श्रद्धामेधे इति यद्यपि इमावद्रव्यशब्दौ तथाप्युपचाराद् द्रव्ये वर्त्तेते तदा व्यक्तिविवक्षायां 'चार्थे द्वंद्वः सहोक्तौ' (3. 1. 117.) इत्यनेन प्राप्ते । *याज्यानुवाक्ये* इति 'याज्या दानर्चि' इज्यते इति याज्या याज्या च अनुवाक्या चेति वाक्यं कार्यम् । *श्रुततपसी* इति धर्मार्थादित्वात्तपः श्रुते इत्यपि । *दीक्षातपसी* इति अर्चितत्वाद् दीक्षायाः पूर्वनिपातः एवं *श्रद्धातपसी* इत्याद्यपि ।।3. 1. 145.।।

संख्याने ।। 3. 1. 146. ।।

इयत्तापरिच्छेदः संख्यानम्, वर्तिपदार्थानां संख्याने गम्यमाने द्वन्द्व एकार्थो न भवति । दश गोमहिषाः, एतावन्ति दधिघृतानि, बहवः प्लक्षन्यग्रोधाः, दश हस्त्यश्वाः, शतं यूकालिक्षाः, तावन्ति बदरामलकानि, बहवः पाणिपादाः, कति मार्दङ्गिकपाणविकाः, उदगुर्दशेमे कठकालापाः, द्वावर्काश्वमेधौ, द्वादश पदकक्रमकाः, द्वौ गङ्गाशोणौ, पञ्च तक्षायस्काराः, इयन्तो गवाश्वाः ।।146।।

न्या० स०—संख्याने० । *इयत्तापरिच्छेद* इति । इयतां भाव इयत्ता तस्याः परिच्छेदो दश द्वादश चेति संख्यापदैरवधारणम् । *वर्त्तिपदार्थानामिति* वर्त्तनं वर्त्तः, समासार्थः सोऽस्ति

येषांपूर्व्वपदोत्तरपदार्थानां ते वर्त्तिनस्तदभिधायकानि पदानि वर्त्तिपदानि पूर्व्वपदोत्तरपदस्वभावानि तेषामर्था अभिधेयरूपास्तेषामिमिति । *दश गोमहिषा* इति अत्र गोमहिषलक्षणस्य वर्त्तिपदार्थस्य दशेत्यनेन दशसंख्यायाः परिच्छेदः क्रियते । *बहवः पाणिपादा* इति ननु दशेत्यादिना बह्वर्थेन गोमहिषमित्याद्येकार्थस्य सामानाधिकरण्याभावात् दशेत्यादिसंख्याशब्दप्रयोगादेव एकवद्भावस्यायोगादेकवद्भावो न भविष्यतीति किमर्थमस्यारम्भ इति ? उच्यते, अस्यानारम्भे विहितैकवद्भावप्रयोगे दशादिसंख्यापदप्रयोगायोगात्तत् प्रयोगे विहितैकवद्भावस्यानिवर्त्तनादस्यारम्भ इत्यदोषः ॥3. 1. 146.॥

वाऽन्तिके ॥ 3. 1. 147. ॥

वर्तिपदार्थानां संख्यानस्यान्तिके समीपे गम्यमाने द्वन्द्व एकार्थो वा भवति । उपगता दश यस्य येषां वा उपदशं गोमहिषम्, उपदशा गोमहिषाः, उपदशाय गोमहिषाय, उपदशेभ्यो गोमहिषेभ्यः, द्वन्द्वार्थस्यैकत्वात्तदनुप्रयोगस्यापि बहुव्रीहेरेकवचनान्तत्वम् । यदा तु दशानां समीपमुपदशमित्यव्ययीभावस्तदोपदशं गोमहिषायेति भवति ॥147॥

न्या० स०—वाऽन्तिके० । *अन्तिके समीप* इति अन्तिकशब्दस्य समीपार्थत्वात् समीपस्य समीपिसापेक्षत्वात् संख्यानमेव विज्ञायत इति । उपदशं गोमहिषमिति यद्यप्युपदशं गोमहिषमित्येकवद्भावे समाहारस्य द्वंद्वाभिधेयस्यैकत्वात् साक्षात् तत्संख्यानं नास्ति तथापि तदवयवद्वारेण भवतीति ॥3. 1. 147.॥

प्रथमोक्तं प्राक् ॥ 3. 1. 148. ॥

अत्र समासप्रकरणे प्रथमया प्रथमान्तेन पदेन यदुक्तं निर्दिष्टं तत्प्राक् पूर्वं निपतति । आसन्नदशाः, सप्तगङ्गम्, ऊरीकृत्य, कष्टश्रितः, शङ्कुलाखण्डः, यूपदारु, वृकभयम्, राजपुरुषः, अक्षशौण्डः, नीलोत्पलम्, पश्चाम्राः । वाक्यवत्समासेऽप्यनियमः स्यादिति वचनम् ॥148॥

राजदन्तादिषु ॥ 3. 1. 149. ॥

राजदन्त इत्यादिषु समासेष्वप्राप्तपूर्वनिपातं प्राक् निपतति । दन्तानां राजा राजदन्तः— 'षष्ठी' (3. 1. 76.) इति प्रथमोक्तत्वेन दन्तशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजशब्दस्यानेन पूर्वनिपातः, पूर्वं वासितं पश्चाल्लिप्तं लिप्तवासितम्-अत्र 'पूर्वकाल' (3. 1. 97.) इति प्रथमोक्तत्वेन वासितस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते लिप्तस्य पूर्वनिपातः, एवं सिक्तसंमृष्टं, भृष्टलुञ्चितं, नग्नमुषितम्,

अवक्लिन्नपक्वम्, अर्पितोतम्, उप्तगाढम्, ऋणेऽधमोऽधमर्णः, अत्र 'सप्तमी' (3. 1. 88.) इति प्रथमोक्तत्वेन ऋणस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते अधमस्य पूर्वनिपातः, एवमुत्तमर्णः, उलूखलं च मुशलं च उलूखलमुशले-अत्र मुशलशब्दस्याल्पस्वरत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्ते उलूखलशब्दस्यानेन पूर्वनिपातः, एवं तन्दुलकिण्वम्, चित्ररथवाह्लीकौ, स्नातकराजानौ, उशीरबीजशिञ्जास्थम्, आरट्वायनिचान्धनि, अधरोष्टम् । वैकारिमतगाजवाजम्, गौपालिधानपूलासम्, कुरण्डस्थ-लपूलासम् ।

दारजारौ, दारशब्द एकवचनान्तोप्यस्ति अत्र नियमे, दारार्थम्–अत्र तु स्वराद्यदन्तत्वादर्थशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते दारशब्दस्य पूर्वनिपातः, एवं विष्वक्सेनार्जुनौ, शूद्रार्यौ, विषयेन्द्रियाणि, गवाश्वम्, अवन्त्यश्मकाः, चित्रास्वाती, माणविके, केशश्मश्रुअत्रेदुदन्तत्वेन स्वातिश्मश्रुशब्दयोः पूर्वनिपाते प्राप्ते चित्राकेशयोः पूर्वनिपातः, एवं भार्यापती, पुत्रपती, स्वसृपती, जायापती, जंपती, दंपती, गणपाठाज्जायाशब्दस्य जंभावो दंभावश्च वा निपात्यते, पुत्रपशु, शिरोजानु, शिरोविजु, नरनारायणौअर्च्यत्वान्नारायणस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते नरस्य पूर्वनिपातः, एवं सोमरुद्रौ, कुबेरकेशवौ, काकमयूरौ, उमामहेश्वरौ, पाण्डुधृतराष्ट्रौ, ज्येष्ठभ्रातृत्वेन धृतराष्ट्रस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते पाण्डोः पूर्वनिपातः, एवं विष्णुवासवौ । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन क्वचिद्विकल्पः, पुरुषोत्तमः, उत्तमपुरुषः, मध्यगृहम्, गृहमध्यम्, अधरबिम्बम्, बिम्बाधरः, ओष्ठबिम्बम्, बिम्बोष्ठः इत्यादि ॥149॥

न्या०स०–राजद० । *दन्तानां राजे*ति तेन राजा च दन्ताश्चेति द्वंद्वे राजदन्ताः दन्तराजान इत्यव्यवस्थैव । *भृष्टलुञ्चितमि*ति 'ऋत्तृषमृष' (4. 2. 24.) इति सूत्रे क्तस्यापि कित्त्वविकल्पं केचिदिच्छन्ति तन्मतेनेदम् । यद्वा ण्यन्तस्य लुञ्चां करोति णिच्, ततः क्तः । *नग्नमुषितमि*ति न वस्ते इति 'दिवनग्न' इति साधुः । यद्वा न विद्यन्ते ग्नाः श्रियश्छन्दांसि वा यस्य स नग्नः, अथवा 'ओलजैङ् स्थाने ओनजैङ् केचित् पठन्ति, तन्मतेन क्तप्रत्यये नग्नः । *अर्पितोतमि*ति ऊयैङ् इत्यस्य ऊतम्, वेंग् इत्यस्य उतं वा । *उप्तगाढमि*ति उप्यते स्मास्मिन्निति कार्यम् । *तन्दुलकिण्वमि*ति किणिः सौत्रः 'निघृषीष्यृषि' 511 (उणादि) इति किति वप्रत्यये किण्वं सुराबीजम् । *चित्ररथो* देवविशेषः, चित्रश्चासौ रथश्च वा, वेदं समाप्य 'स्नाताद्वेदसमाप्तौ' (7. 3. 22.) इति कप्रत्ययः । *उशीरबीजशिञ्जास्थमि*ति उशीरं बीजमस्मिन् उशीरवद् बीजमस्मिन्निति वा, उशीरबीजो नाम पर्वतः । शिञ्जायां तिष्ठतीति शिञ्जास्थः पर्वतस्ततो द्वंद्वः ।

*आरट्वायनिचान्धनी*ति आरटतीति 'प्रह्वाह्व' 514 (उणादि) इति 'लटिखटि' 505 (उणादि) इति बहुवचनाद् वा निपातस्तस्यापत्यं 'अवृद्धाद्दोर्नवा' (6. 1. 110.) इत्यायनिञ् ।

'चमन्तीति क्विप् दीर्घः', चामां धनमस्य स चान्धनः, यद्वा चम्यते 'शकितकि' (5. 1. 29.) इति ये चम्यं धनमस्य पृषोदरादिः । यद्वा चमतीति 'विदनगगन' 275 (उणादि) चांधनः तस्यापत्यं 'अत इञ्' (6. 1. 31.) ततो द्वंद्वः । *वैकारिमतगाजवाजमि*ति कर एव कारः । विविधः कारो यस्य विकारयतीति वा विकारः । तस्यापत्यमिञ्, वैकारेर्मतः, गज मदने च । गजतीत्यच् गजस्तस्याऽयं गाजः गाजयतीति वा अच् गाजः ।

वजव्रजण् गाजं वाजयतीत्यण् गाजवाजः पुरुषविशेषस्ततो द्वंद्वः । *गौपालिधानपूलासमि*ति गोपालस्यापत्यमिति गौपालिः । स धीयतेऽस्मिन् गौपालिधानम्, पूलान् स्यति पूलासः । *कुरण्डस्थलपूलासमि*ति कुरत् 'पिचण्डैरण्ड' 176 (उणादि) इति कुरण्डः, कुरण्डानां स्थलं कुरण्डस्थलं, यद्वा कुत्सिता रण्डा यत्र बहुव्रीहिः, तत्र देशे तिष्ठतीति कुरण्डस्थलः । द्वौ नरौ तच्च पूलासश्च वा । ननु दारशब्दस्य बह्वर्थत्वेन द्विवचनानुपपत्तिरित्याह-दारशब्द इत्यादि । यथा धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यं दारं कुर्वीत । एवं *विष्वक्सेनार्जुनावि*ति यथा दारार्थशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्त एवमिहापि विष्वक्सेनस्य वासुदेवरूपतया अर्जुनादर्च्यत्वेऽपि तदर्च्यत्वेऽपि तदविवक्षायां पूर्वनिपातार्थः पाठः । वासुदेवादन्यो वा विष्वक्सेनः । अश्मानोऽत्र सन्ति 'कोऽश्मादेः' (6. 4. 97.) अवन्तयश्चाश्मकाश्च ।

चित्रास्वाती इति । अत्र चित्रास्वातिशब्दात् 'चन्द्रयुक्तात् काले' (6. 2. 6.) इत्यणो 'लुप्त्वप्रयुक्ते' (   ) इति लुपि ततस्तत्र जातेति 'भर्तु संध्यादेरण्' (6. 3. 89.) इत्यणि 'चित्रारेवती' (6. 3. 108.) इति 'बहुलानुराधा' (6. 3. 107.) इति-च लुपि चित्रा च स्वातिश्च । *माणविके* इत्यनुप्रयोगेण नायं नक्षत्रद्वंद्व इति दर्शयति । तत्र हि 'भर्तुतुल्यस्वरम्' (3. 1. 162.) इत्येव सिद्धम् । जंपती इति न चाल्पस्वरत्वादेव जम्दमोः पूर्वनिपातो भविष्यतीति वाच्यम् । पत्युरर्चितत्वात् पूर्वनिपातः स्यादित्यदोषः *शिरोजानु* इति भाष्यकारेण जानुशिरसी इत्यपि । कैय्यटेन न विचारित इत्युपेक्षितः । *शिरोविजु* इति । विजायते 'केवयु' 746 (उणादि) इत्यादिना डित्युप्रत्यये विजुः कृकाटिकाप्रदेशः । अधरबिम्बमिति अधरो बिम्बमिव 'उपमेयं व्याघ्राद्यैः' (3. 1. 102.) समासः । ओष्ठबिम्बमिति ओष्ठो बिम्बमिव ॥3.1.149.॥

विशेषण-सर्वादि-संख्यं बहुव्रीहौ ॥ 3. 1. 150. ॥

विशेषणवाचि सर्वादि संख्यावाचि च नाम बहुव्रीहौ पूर्वं निपतति । विशेषणम्-चित्रगुः, शबलगुः, कण्ठेकालः, उरसिलोमा, उदरेमणिः, सर्वादि-सर्वं शुक्लमस्य सर्वशुक्लः, सर्वकृष्णः, सर्वसारः, सर्वगुरुः, सर्वलघुः, विश्वदेवः, विश्वामित्रः, उभयचेतनः, संख्या-द्वौ कृष्णौ गुणावस्य द्विकृष्णः, द्विशुक्लः, चतुर्ह्रस्वः, पञ्चदीर्घः, षडुन्नतः, सप्तरक्तः, उन्नतरक्तशब्दौ न

क्तान्तावपि तु गुणशब्दौ-तेन स्पर्धे क्तलक्षणः पूर्वनिपातो न भवति। शब्दस्पर्धे परत्वात्सर्वादिसंख्ययोः संख्याया एव पूर्वनिपातः, त्र्यन्यः, द्वियुष्मत्क, द्व्यष्मत्कः, उभयोस्तु सर्वादित्वे स्पर्धे परस्य पूर्वनिपातः द्व्यन्यः, बहुव्रीहाविति किम् ? उपसर्वम्। 'प्रथमोक्तम्' (3. 1. 148.) इत्यनियमे प्राप्ते नियमार्थं वचनम्, सर्वादिसंख्ययोर्विशेषणत्वेऽपि पृथग्वचनं शब्दपरस्पर्धार्थम् ॥150॥

न्या० स०–विशेषण० / *कण्ठेकाल* इति कण्ठे स्थिताः कण्ठेस्थिताः अलुग् सः। ततः कण्ठेस्थिताः काला यस्य। अथवा कण्ठे काला अस्येति वैयधिकरण्येऽपि समासः आधेयं प्रत्याधारो विशेषणत्वं भजत इति वैयाकरणाः। *सर्वशुक्ल* इति अत्र शुक्लशब्देन सर्वार्थस्य विशेष्यमाणत्वाद् विशेषणत्वाभावेऽपि सर्वादित्वाद् सर्वशब्दस्य पूर्व्वनिपातः। *विश्वदेव* इति विश्वे देवा यस्येति विश्वदेवः।

द्रव्यशब्देन विशेष्येणैव भवितव्यमिति नियमाभावात् सत्यपि द्रव्यशब्दत्वे देवा इति विश्वेषां विशेषणमिति सर्वादित्वाद् विश्वशब्दस्य पूर्व्वप्रयोगः। *एवं विश्वामित्र* इत्यत्राऽपि। *द्विकृष्ण* इति अत्र द्व्याद्यर्थस्य विशेष्यत्वेन विवक्षितत्वात् संख्यात्वादेव द्व्यादिशब्दस्य पूर्व्वप्रयोगः। चतुर्ह्रस्व इति 'ह्रस्वानि चत्वारि तु लिङ्गपृष्ठं, ग्रीवा च जङ्घे च हितप्रदानि'। *पञ्चदीर्घ* इति 'हनु लोचनबाहुनासिकास्तनयोरन्तरमत्र पञ्चमम्'। षडुन्नत इति 'वक्षोष्ठकक्षानखनासिकास्यं कृकाटिका चेति पडुन्नतानि'। *सप्तरक्त* इति 'नेत्रान्तपादकरताल्वधरौष्ठजि ह्वा रक्ता नखाः सप्त सुखप्रदानि'। *उन्नतरक्तेति* उत्पूर्वनमतेरञ्चेश्च 'पुत्तपित्त' 204 (उणादि) इति निपातः।

शब्दस्पर्धे परत्वादिति अस्याऽयं तात्पर्यार्थः अल्पस्वरत्वात् संख्याशब्दस्य पूर्वप्रयोगे प्राप्ते लक्षणातिक्रमेण 'विशेषणसर्वादिसंख्यम्' (3. 1. 150.) इति निर्देशः शब्दपरस्पर्द्धार्थः तेन तत्र संख्येति सर्वादीति चोभयोः प्रसङ्गे द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् संख्येति पूर्वप्रयोगो भवति। *पूर्वनिपात* इति सामान्येऽपि सर्वादित्वे पाठापेक्षया यः परः सर्वादिस्तेन भाव्यम्। *उभयोस्त्विति* संख्याशब्दस्य सर्व्वादित्वेऽसर्व्वादित्वे च पूर्वनिपात एव सूत्रे परत्रोपादानात्। *द्व्यन्य* इति सर्व्वादिगणपाठापेक्षयाऽपि यातीत्युपात्तमन्यथा संख्यापेक्षयाऽपि याति। यदि वा द्व्यन्य इति संख्यास्पर्द्धेन सिद्धावपि गणपाठस्पर्धोऽप्यस्तीति ज्ञापनार्थमुदाहरणदिक्त्वेनोदाहृतम्। गणपाठस्पर्धस्य तूदाहरणं संख्याविमुक्तं दक्षिणपूर्वा दिगित्यादि द्रष्टव्यम्। *सर्वादिसंख्ययोरिति* ननु सर्वादिसंख्याभ्यामारब्धेऽपि बहुव्रीहावन्यपदार्थस्यैव प्राधान्यात्तस्य च विशेष्यत्वादेतयोर्विशेषणत्वाद् विशेषणग्रहणेनैव भविष्यति किमर्थं पृथगुपादानमित्याशङ्का ॥ 3. 1. 150.॥

क्ताः ॥ 3. 1. 151. ॥

क्तप्रत्ययान्तं सर्वं बहुव्रीहौ पूर्वं निपतति । कृतः कटोऽनेन कृतकटः, भिक्षितभिक्षः, क्तान्तस्य विशेषणत्वात्पूर्वेण सिद्ध्यति, विशेष्यार्थं तु वचनम्–कटे कृतमनेन कृतकटः, स्पर्धे परत्वार्थं च–कृतभव्यकटः, कृतविश्वः । केचित्तु सर्वादिभ्यः क्तान्तस्य पूर्वं निपातं नेच्छन्ति कृतचत्वारः । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्-तेन कृतप्रिय इत्यत्र परेणापि स्पर्धे क्तान्तस्यैव पूर्वनिपातः ॥151॥

जाति-काल-सुखादेर्नवा ॥ 3. 1. 152. ॥

जातिवाचिभ्यः कालवाचिभ्यः सुखादिभ्यश्च शब्दरूपेभ्यो बहुव्रीहौ समासे क्तान्तं वा पूर्वं निपतति । जाति-शाङ्गरजग्धी, जग्धशाङ्गरा, पलाण्डुभक्षिती, भक्षितपलाण्डुः, पाणिगृहीती, गृहीतपाणिः, कटकृतः, कृतकटः । व्यक्तिविवक्षायां तु 'क्ताः' (3. 1. 151.) इत्यनेन कृतकटः इत्याद्येव भवति । अन्ये तु आकृतिव्यङ्ग्यजातिवाचिन एव क्तान्तस्य पूर्वनिपातमिछन्ति-तेनेह न भवति-आहूतब्राह्मणः, सेवितक्षत्रियः, तर्पितदाक्षिः, प्रीणितकठः, काल-मासयाता, यातमासा, संवत्सरयाता, यातसंवत्सरा, मासगतः, गतमासः । सुखादयो दश क्यन्विधौ निर्दिष्टाः–सुखयाता, यातसुखा, हीनदुःखा, दुःखहीना, तृप्तोत्पन्ना, उत्पन्नतृप्ता, सुख, दुःख, तृप्त, कृच्छ्र, अस्त्र, अलीक, करुण, कृपण, सोढ, प्रतीप इति सुखादिः ॥152॥

न्या० स० – जातिकाल० । *शाङ्गरजग्धी*ति शाङ्गरस्य वृक्षस्य विकारः फलं 'दोरप्राणिनः' (6. 2. 49.) इति मयट्, 'फले लुक्' (6. 2. 58.) शाङ्गरं जग्धमनया 'अनाच्छाद' (2. 4. 47.) इति ङीः । *पलाण्डु भक्षिती* इति पलाण्डु भक्षितमनया । *अन्ये त्वाकृती*ति आकृतिः संस्थानं तया व्यङ्ग्या या जातिर्गोत्वादिस्तद्वाचिन इत्यर्थः । *आहूत ब्राह्मण* इति ब्राह्मणादिजाति-रुपदेशादिगम्या न तु संस्थानव्यङ्ग्या ॥ 3. 1. 152. ॥

आहिताग्न्यादिषु ॥ 3. 1. 153. ॥

आहिताग्न्यादिषु बहुव्रीहिसमासेषु क्तान्तं वा पूर्वं निपतति । आहितोऽग्निर्येन स आहिताग्निः, अग्न्याहितः, जातपुत्रः, पुत्रजातः, जातदन्तः, दन्तजातः, जातश्मश्रुः, श्मश्रुजातः, पीततैलः, तैलपीतः, पीतघृतः, घृतपीतः, पीतमद्यः, मद्यपीतः, पीतविषः, विषपीतः, ऊढभार्यः, भार्योढः, गतार्थः । अर्थगतः, छिन्नशीर्षः, शीर्षच्छिन्नः, बहुवचनमाकृतिगणार्थम्-तेन पीतदधिः, दधिपीत इत्यादयोऽपि भवन्ति ॥153॥

न्या0स0–आहिता0 । नन्वग्निशब्दस्य जातिवाचित्वात्, 'जातिकाल' (3. 1. 152.) इत्यनेनैव सिद्ध्यति किमत्र पाठः ? सत्यं, व्यक्तिविवक्षायामपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥ 3. 1. 153. ॥

प्रहरणात् ॥ 3. 1. 154. ॥

प्रहरणवाचिनः शब्दात् क्तान्तं बहुव्रीहौ वा पूर्वं निपतति । उद्यतोऽसिरनेन उद्यतासिः, अस्युद्यतः, कलितप्रहरणः, प्रहरणकलितः, उत्खातखड्गः, खड्गोत्खातः, आकृष्टधन्वा, धनुराकृष्टः, उद्यतमुशलः, मुशलोद्यतः ॥154॥

न्या0स0–प्रहरणात्0 । नन्वस्यादीनां जातिशब्दात् 'जातिकाल' (3. 1. 152.) इत्यनेनैव क्तान्तस्य पूर्वनिपातः सिद्धः किमनेन ? सत्यं, व्यक्तिविवक्षायामपि यथा स्यादित्यर्थम्, जातिकालेत्यनेन पृथग्योग उत्तरार्थस्तेनोत्तरत्र च शब्देन प्रहरणादित्याकृष्यते ॥ 3. 1. 154. ॥

न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च ॥ 3. 1. 155. ॥

नञुपादानाद्वेति न संबध्यते, इन्द्वादेः प्रहरणवाचिनश्च शब्दात्पूर्वं सप्तम्यन्तं न निपतति बहुव्रीहौ । इन्दुर्मौलौ यस्य इन्दुमौलिः, चन्द्रमौलिः, शशिशेखरः, पद्मनाभः, ऊर्णनाभः, पद्महस्तः, शंखपाणिः, दर्भपवित्रपाणिः, पद्मपाणिः इत्यादि । प्रहरणात्-असिः पाणावस्य असिपाणिः, दण्डपाणिः, चक्रपाणिः, शूलपाणिः, साङ्र्गपाणिः, धनुष्पाणिः, धनुर्हस्तः, पाशहस्तः, खड्गहस्तः । वज्रहस्तः, वज्रपाणिः । बहुलाधिकारात् पाणिवज्रः, हस्तवज्र इत्यत्र पूर्वनिपातोऽपि, बहुवचनं प्रयोगानुसारणार्थम् । एवमुत्तरत्रापि ॥155॥

न्या0स0–न सप्तमी0 । ऊर्ण्णनाभ इति 'ङ्यापो बहुलम्' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः, सर्वेषु उष्ट्रमुखादित्वात् समासः ॥ 3. 1. 155. ॥

गड्वादिभ्यः ॥ 3. 1. 156. ॥

वेत्यनुवर्तते, गड्वादिभ्यः शब्देभ्यो बहुव्रीहौ सप्तम्यन्तं वा पूर्वं निपतति । गण्डुकण्ठः, कण्ठेगडुः, एवं शिरसिगडुः, गडुशिराः, शिरस्यरुः, अरुःशिराः, मध्येगुरुः, गुरुमध्यः, अन्तेगुरुः, गुर्वन्तः । व्यवस्थितविभाषया वहेगडुरित्येव भवति ॥156॥

प्रियः ॥ 3. 1. 157. ॥

प्रियशब्दो बहुव्रीहौ समासे पूर्वं वा निपतति। प्रियगुडः, गुडप्रियः, प्रियविश्वः, विश्वप्रियः, प्रियचत्वाः, चतुष्प्रियः ॥157॥

न्या० स०—प्रियः । *प्रियगुड* इति । अत्र प्रियशब्दस्य गुडादेर्वा विशेषणत्वेन नित्यमेकस्य पूर्वनिपातप्राप्तावुभयत्र प्रियशब्दस्य पाक्षिको निपातः । *प्रियचत्वा* इति अत्र चतुःशब्दस्य संख्यात्वान्नित्यं पूर्वनिपातः प्राप्तः ॥ 3. 1. 157. ॥

कडारादयः कर्मधारये ॥ 3. 1. 158. ॥

कडारादयः शब्दाः कर्मधारये समासे वा पूर्वं निपतन्ति। कडारजैमिनिः, जैमिनिकडारः, गडुलगालवः, गालवगडुलः, काणद्रोणः, द्रोणकाणः, खञ्जमौञ्जायनः, मौञ्जायनखञ्जः, कुण्टवात्स्यः, वात्स्यकुण्टः, खेलदाक्षिः, दाक्षिखेलः, खोडकहोडः, कहोडखोडः, खलतिखारपायणः, खारपायणखलतिः, गौरगौतमः, गौतमगौरः, पिङ्गलमाण्डव्यः, माण्डव्यपिङ्गलः, वृद्धमनुः, मनुवृद्धः, भिक्षुकदाक्षिः, दाक्षिभिक्षुकः, बठरच्छान्दसः, छान्दसबठरः, तनुतृणबिन्दुः, तृणबिन्दुतनुः, कूटप्लाक्षिः, प्लाक्षिकूटः। कडारादीनां गुणवचनत्वात् द्रव्यशब्दान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते पक्षे परनिपातार्थं वचनम् । यदा तु द्वावपि गुणशब्दौ तत्र निर्ज्ञातानिर्ज्ञाताभ्यां विशेषणविशेष्यत्वे पर्यायेण पूर्वनिपात इत्युक्तमेव । गडुलकाणः, काणगडुलः, खञ्जकुण्टः, कुण्टखञ्जः, खोडखलतिः, खलतिखोडः, गौरवृद्धः, वृद्धगौरः, पिङ्गलभिक्षुकः, भिक्षुकपिङ्गलः, बठरतनुः, तनुबठरः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्-तेन नटबधिराद योऽपि द्रष्टव्याः ॥158॥

न्या० स०—कडारा० । *जैमिनिकडार* इति जेमन्तीति 'विभुजेमामिनः' जेमिनः, यद्वा जेमेः 'विपिनाजिनादयः' 284 (उणादि) इतीने जेमिनस्तस्यापत्यं ऋषित्वेऽपि बाह्वादेराकृतिगणत्वादिञि जैमिनिः। गडुलगालव इति गडुरस्याऽस्ति सिध्मादित्वात् लः । गडोरपत्यं, ऋष्णण्, ऋफिडादित्वाल्लः ॥ 3. 1. 158. ॥

धर्मार्थादिषु द्वन्द्वे ॥ 3. 1. 159. ॥

धर्मार्थादौ द्वन्द्वे समासे प्राप्तपूर्वनिपातं वा पूर्वं निपतति। धर्मार्थौ, अर्थधर्मौ, कामार्थौ, अर्थकामौ, शब्दार्थौ, अर्थशब्दौ, आद्यन्तौ, अन्तादी, अग्नेन्द्रौ, इन्द्राग्नी, चन्द्रार्कौ, अर्कचन्द्रौ, अश्वत्थकपित्थौ, कपित्थाश्वत्थौ, इत्यादिषु स्वराद्यदन्तत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ, दीर्घलघू, लघुदीर्घौ, चन्द्रराहू, राहुचन्द्रौ, इत्यादिष्विदुदन्तत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते, तपः श्रुते, श्रुततपसी ।

द्रोणभीष्मौ भीष्मद्रोणौ,– इत्यादिष्वर्च्यत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते, शकृन्मूत्रम्, मूत्रशकृत्, कुशकाशम्, काशकुशम्, करभरासभौ, रासभकरभौ इत्यादिषु लघ्वक्षरत्वात्पूर्वनिपाते प्राप्ते, समीरणाग्नी, अग्नीसमीरणौ, आदित्यचन्द्रौ, चन्द्रादित्यौ, पाणिनीय रौढीयाः, रौढीयपाणिनीयाः, जित्याविपूयविनीयाः, विपूयविनीयजित्याः, इत्यादिष्वल्पस्वरत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, शूद्रविट्क्षत्रियविप्राः, भीमसेनार्जुनौ, अर्जुनभीमसेनौ, देवापिशंतनू, शंतनुदेवापी, इति वर्णभ्रातृलक्षणेऽनुपूर्वं निपाते प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेन वसन्तग्रीष्मौ, ग्रीष्मवसन्तौ, शुक्रशुची, शुचिशुक्रौ इत्यादयोऽपि द्रष्टव्याः ॥159॥

न्या० स०–धर्मार्थादि० । *सर्पिर्मधुनी* इति 'न दधि' (3. 1. 145.) इति न समाहारः । तपःश्रुते इति दधिपयआदित्वान्नित्यमत्रैकार्थत्वाभावः । अत्रार्च्यत्वात्तपोभीष्मयोर्नित्यं पूर्वनिपातः प्राप्त इति न्यासः । *शकृन्मूत्रमि*ति अत्रैकवद्भावो 'गवाश्वादिः' (3. 1. 144.) इत्यनेन । *रौढीया* इति रूढस्यापत्यं रौढिस्तस्य छात्त्रा 'दोरीयः' (6. 3. 32.) तेन नटवधीति नटस्यापि जातित्वं अत्रिलिङ्गा च यान्विता आजन्मेति अनेन कुमारादय इव नटं कुलमिति । *विपूयविनीयजित्या* इति यादृश एव गणे दृष्टस्तादृश एव प्रयोगः, न तु विनीयविपूयजित्यादयः जित्याशब्दस्यैव पूर्वपरभावः ॥ 3. 1. 159. ॥

लघ्वक्षराऽसखीदुत्-स्वराद्यदल्पस्वरा-ऽर्च्यमेकम् ॥ 3. 1. 160. ॥

पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम्, लघ्वक्षरं सखिवर्जितेकारोकारान्तं स्वराद्यकारान्तमल्पस्वरमर्च्य-वाचि च शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे पूर्वं निपतति, यत्र चानेकसंभवस्तत्रैकमेव । लघ्वक्षर-शरसीर्यम्, तृणकाष्ठम् । तिलमाषम् । शैलौ-मलयदर्दुरौ, असखीदुत्, अग्नीषोमौ, अग्नीधूमम्, पतिसुतौ, वायुतोयम्, स्वादुतिक्तौ । सखिवर्जनं किम् ? सुतसखायौ, सखिसुतौ,–'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' इति तदन्तस्य प्रतिषेधो न भवति-बहुसखिबहुधनौ, स्पर्धे परमेव, व्रीहियवौ । असखीदुदित्यैकपद्यादिदुतोः स्पर्धे कामचारः–पतिवसू, वसुपती । स्वराद्यत्-अस्त्रशस्त्रम्, इन्द्रचन्द्रौ, उष्ट्रमेषम्, अश्वरथम्, ऋश्यरोहितौ । स्पर्धे परमेव-उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्, इन्द्रवायू, इन्द्राविष्णु, अर्केन्दू, अल्पस्वर-प्लक्षन्यग्रोधौ, स्पर्धे परमेव-धवखदिरौ, वागग्नी, वाग्वायू, वागर्थौ, धवाश्वकर्णौ ।

अर्च्य-श्रद्धामेधे, स्पर्धे परम्-दीक्षातपसी, श्रद्धातपसी, मेधातपसी, मातापितरौ, वधूवरौ, रुद्राग्नी, रुद्रेन्द्रौ, वासुदेवार्जुनौ, लघ्वादिग्रहणं किम् ? कुक्कुटमयूरौ, मयूरकुक्कुटौ, अध्येतृवेदितारौ, वेदित्रध्येतारौ, अश्ववृक्षौ, वृक्षाश्वौ । एकमिति किम् ? युगपदनेकस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते

एकस्यैव यथाप्राप्तं पूर्वं निपातः शेषाणां तु कामचार इति प्रदर्शनार्थम्-शंखदुन्दुभिवीणाः, वीणादुन्दुभिशंखाः, शंखवीणादुन्दुभयः, अश्वरथेन्द्राः, इन्द्राश्वरथाः, इन्द्ररथाश्वाः, दुन्दुभिशंखवीणा इति रथेन्द्राश्वा इति च न भवति। कथं धनपतिरामकेशवाः मृदङ्गशंखपणवाः, रामशंखशब्दयोरुत्तराभ्यां समासे सति पूर्वेण समासः। द्वन्द्व इत्येव ? विस्पष्टं पटुः विस्पष्टपटुः ॥160॥

न्या0स0—लघ्वक्षरा0 । अत्र अक्षरशब्देन स्वरोऽभिधीयते । *शरसीर्यमि*ति पाठः, शरशीर्षमिति तु पाठे 'प्राणितूर्य' (3. 1. 137.) इति स्वैरभावात् समाहाराप्राप्तिः। *ग्रहणवते*ति सत्यपि 'विशेषणमन्तः' (7. 4. 113.) इति न्याय इति शेषः। *अस्त्रशस्त्रमि*ति अत्र अस्त्रशब्देन सामान्यधनुरुच्यते, शस्त्रशब्देन सामान्यमायुधं ततः 'समानामर्थेन' (3. 1. 118.) इति नैकशेषः, अप्राणिजातित्वादेकवद्भावः । श्रद्धामेधे इति अर्थग्राहिणी श्रद्धा शब्दग्राहिणी मेधा । श्रद्धामूलत्वादभिप्रेतार्थसिद्धेरर्च्यत्वम्।

दीक्षातपसी इत्यादिषु तपसो लघ्वक्षरत्वेऽपि दीक्षाश्रद्धामेधानां बहूपकारत्वान्मूलभूतत्वाच्चार्चितत्वात् परत्वात् पूर्वनिपातः। *मातापितरावि*ति अनुभूतगर्भादिक्लेशत्वात् पितृतो माताभ्यर्हिता। एवं स्त्रीप्रधानत्वाद् विवाहस्य वराद्वधूरिति एवं रुद्रादावर्च्यत्वमूह्यम्। *अध्येतृवेदितारावि*ति अत्र स्वरादित्वमस्ति न त्वदन्तत्वमित्यनियमः । *एकस्यैव यथाप्राप्तमि*ति दुन्दुभिशब्दादिदन्तात् परत्वादल्पस्वरत्वात् शङ्खवीणाशब्दयोर्युगपत्पूर्वनिपातप्राप्तावेकग्रहणादेकस्यैव क्रमेण पूर्वनिपातः। *शेषाणां त्वि*तिशङ्खवीणाशब्दयोरिव युगपत् पूर्वनिपातप्राप्तौ एकस्यैव पूर्वनिपातः, दुन्दुभिरथादीनां तु कामचार इत्यर्थः, एकस्यैवेत्युक्तेऽपि दुन्दुभिरथादीनां न पूर्वनिपातः शब्दस्पर्द्धेपरत्वात्। तथाहि दुन्दुभिशब्दोऽसखीदुत् शंखवीणाशब्दौ तु अल्पस्वराविति। एवमश्वरथेन्द्रा इत्यत्राऽपि रथशब्दो लघ्वक्षरः, अश्वेन्द्रशब्दौ तु स्वराद्यदन्तौ परौ इति तयोः पूर्वमेव पूर्वनिपातो न तु रथस्य ।

शङ्खदुन्दुभिवीणा इति 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' (3. 1. 137.) इति बहुवचनं क्वचिदेकत्वविधेरनित्यार्थं। तेनात्रैकत्वाभावः, माङ्गल्यवाचकत्वेन शङ्खशब्दस्य विवक्षत्वात् स्वैरित्यभावाद् वा। यतः तूर्याङ्गस्य तूर्याङ्गेण स्वत्वं भवतीति । एवं मृदङ्गशङ्खपणवा इति । अथवा शङ्खदुन्दुभिवीणाः मृदङ्गशङ्खपणवा इति शङ्खादीनां तूर्याङ्गत्वादेकवद्भावः कुतो न भवतीति ? उच्यते, अत्र शङ्खादिशब्देन शङ्खादिसमुदायस्याभिधानात् तस्य चाऽतूर्याङ्गत्वादजातित्वाच्च नैकवद्भावः, उत्पलस्त्वाह तूर्याङ्गता शङ्खादिवादकानां न तु शङ्खादीनामिति तूर्याङ्गत्वादत्रैकवद्भावो यः प्राप्नोति स नाऽऽशङ्कनीयः, अत एव 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' (3. 1. 137.) इत्यत्र पूर्वैर्मादङ्गिकपाणविकं वीणावादकपरिवादकमित्येवोदाह्रियते, न तु भेरीमृदङ्गमित्यादि । तदा तु प्राणिरूपं तूर्याङ्गं प्राणितूर्याङ्गमिति विग्रहः ॥ 3. 1. 160. ॥

मास-वर्ण-भ्रात्रऽनुपूर्वम् ॥ 3. 1. 161. ॥

मासवाचि वर्णवाचि भ्रातृवाचि च शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे अनुपूर्वं यद्यत्पूर्वं तत्तत्पूर्वं निपतति, अनुग्रहणादेकमिति निवृत्तम्। मास-फाल्गुनचैत्रौ, वैशाखज्येष्ठौ, वर्ण-ब्राह्मणक्षत्रियौ, क्षत्रियवैश्यौ, वैश्यशूद्रौ, ब्राह्मणक्षत्रियविशः, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, भ्रातृ-बलदेववासुदेवौ युधिष्ठिरभीमार्जुनाः ॥161॥

न्या०स०—मासवर्ण० । मासश्च वर्ण्णश्च भ्राता चेति समाहारद्वन्द्वः । *अनुपूर्वमि*ति पदार्थानतिवृत्तौ 'योग्यतावीप्सा' (3. 1. 40.) इति अव्ययीभावः फाल्गुनचैत्राविति फल्गुनशब्दाद्ः गौरादित्वात् । ङ्यां फल्गुनीभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्ता पौर्ण्णमासी 'चन्द्रयुक्तात्' (6. 2. 6.) इत्यण् । अप्रयुक्तकालद्वारेण लुप् प्राप्नोति । चैत्रीकार्त्तिकीफाल्गुनीति निर्देशात् लुप् न भवति, ततः फाल्गुनी पौर्ण्णमासी अस्येति विग्रहे 'सास्य पौर्ण्णमासी' (6. 2. 98.) इत्यण्।

चित्राभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्ता पौर्ण्णमासी चैत्री चन्द्रयुक्तादण् । तदनु चैत्री पौर्ण्णमासी अस्य 'सास्य पौर्ण्णमासी' (6. 2. 98.) इत्यण्। 'अवर्ण्णेवर्ण्णस्य' (7. 4. 68.) इति ङीलुप्, विशाखाभिर्युक्ता पौर्ण्णमासी अण्, चैत्रीकार्त्तिकीत्युपलक्षणात् लुबत्राऽपि न भवति । *ब्राह्मणक्षत्रियावि*ति अत्रानियमः प्राप्तः । *क्षत्रियवैश्यावि*त्यत्र त्वल्पस्वरत्वाद् वैश्यशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्तः। *वैश्यशूद्रावित्यत्र* अप्यनियमः।

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा इत्यत्र त्वल्पस्वरत्वाद् विशः पूर्वनिपाते प्राप्तेऽनेन ब्राह्मणादीनां मनुपूर्व्यं पूर्वनिपातः, अत्र आनुपूर्व्यं च जन्मकृतं यदाह—

मुखतो ब्राह्मणा जाता, बाहुभ्यां क्षत्रियाः स्मृताः ।
ऊरुभ्यां तु विशः प्रोक्ताः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥1॥

न चात्रार्च्यत्वात् पूर्वनिपातः सिद्ध्यतीति वाच्यम् । निन्दितस्याऽपि ब्राह्मणादेः संभवादिति। *बलदेववासुदेवावि*ति भ्रातृद्वन्द्वेऽनियमे सति इष्टपूर्वनिपाते वा प्राप्ते *युधिष्ठिरभीमार्जुना* इति अत्राऽपि जन्मकृतमेवानुपूर्व्यम् ॥ 3. 1. 161. ॥

भर्तुतुल्यस्वरम् ॥ 3. 1. 162. ॥

भं नक्षत्रम्, तदाचि ऋतुवाचि च तुल्यसंख्यस्वरं द्वंद्वे समासेऽनुपूर्वं पूर्वं निपतति । भ—कृत्तिकारौहिण्यः, अश्विनीभरणीकृत्तिकाः, मृगशिरःपुनर्वसु, ऋतुः—हेमन्तशिशिरौ,

शिशिरवसन्तौ, हेमन्तशिशिरवसन्ताः । तुल्यस्वरमिति किम् ? आर्द्रामृगशिरसी, पुष्यपुनर्वसू, तिष्यपुनर्वसू ग्रीष्मवसन्तौ ॥162॥

न्या० स०—भर्तुतुल्य० । अत्राऽपि नक्षत्राणामृतूनां चानुपूर्व्यं लोकप्रसिद्ध्यैव वेदितव्यम् । *मृगशिरःपुनर्वसु* इति अत्रोदन्तत्वात् पुनर्वसुशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्तः । *हेमन्तशिशिरावि*ति लघ्वक्षरत्वाद्धि शिशिरशब्दस्य प्राप्तः ॥ 3. 1. 162. ॥

संख्या समासे ॥ 3. 1. 163. ॥

सर्वा संख्या प्रथमोक्तेत्यनियमे आनुपूर्व्याः संख्यायाः पूर्वनिपातार्थं वचनम्, समासमात्रे संख्यावाचिनामनुपूर्वं पूर्वं निपतति । बहुव्रीहौ-द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः, एवं त्रिचतुराः, पञ्चषाः, द्विर्दश द्विदशाः, एवं त्रिदशाः, द्विगौ-द्वे शते समाहृते द्विशती, त्रिशती । द्वन्द्वे—एकश्च दश चैकादश, एवं द्वादश, त्रयोदश, सप्ततिशतम्, अशीतिशितम्, नवतिशतम् ॥163॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

असंरब्धा अपि चिरं दुःसहा वैरिभूभृताम् ।
चण्डाश्चामुण्डराजस्य प्रतापशिखिनः कणाः ॥1॥

न्या० स०—संख्या स० । द्वित्राश्च चत्वारश्च चतुर्द्वित्राः, द्वित्रेति समुदाय इति न संख्याकार्यम्, एवं चतुष्पञ्चषाः द्वौ च एकविंशतिश्चेति कृते नियमः । यदा तु एकश्च विंशतिश्च एकविंशती अप्रसिद्धा संख्या तदाऽनया सह समासे पूर्वापरभावे यथाप्राप्तं लघ्वक्षरादिसूत्रेण । *द्विदशा* इति ननु द्विदशा इत्यादौ 'सुज्वार्थे' (3. 1. 19.) इत्यनेन सुजर्थसमासः, ततः 'प्रथमोक्तं प्राक्' (3. 1. 148.) इत्यनेनाऽपि सिद्ध्यति किमेषामुपादानम् ? सत्यं, यदा दशन्शब्दः सुजर्थः समस्यते तदाप्यनेनानुपूर्व्याः संख्यायाः पूर्वनिपातो भवतीति फलं कोऽर्थः ? यदा द्विर्दशेति वाक्यं, तदा 'प्रथमोक्तम' (3. 1. 148.) इत्यनेनैव सिद्धम्, यदा तु दशकृत्वो द्वौ तदा फलम् । एवं त्रिदशा इत्यत्रापि दशकृत्वस्त्रय इति वाक्ये फलम् ॥ 3. 1. 163. ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्र० तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

अथ द्वितीयः पादः

परस्परा-ऽन्योन्येतरेतरस्याम् स्यादेर्वाऽपुंसि ॥ 3. 2. 1. ॥

परस्परादीनामपुंसि स्त्रियां नपुंसके च प्रयुज्यमानानां संबन्धिनः स्यादेः स्थाने आमादेशो वा भवति । इमे सख्यौ परस्परां भोजयतः, परस्परं भोजयतः, आभिः सखीभिः परस्परां भोज्यते, परस्परेण भोज्यते, इमाः सख्यः परस्परां प्रयच्छन्ति, परस्परस्मै प्रयच्छन्ति, इमाः परस्परां परस्परस्माद्वा बिभ्यति, इमाः परस्परां परस्परस्य वा स्मरन्ति, इमाः परस्परां परस्परस्मिन्वा स्निह्यन्ति, इमे कुले परस्परां भोजयतः, परस्परं भोजयत इत्यादि ।

इमे सख्यौ कुले वा अन्योन्यामन्योन्यं वा भोजयतः, सखीभिः कुलैर्वा अन्योन्यामन्योन्येन वा भोज्यते, इमे सख्यौ कुले वा इतरेतरामितरेतरं वा भोजयतः, सखीभिः कुलैर्वा इतरेतरामितरेतरेण वा भोज्यते । अपुंसीति किम् ? इमे नराः परस्परं भोजयन्ति, नरैः परस्परेण भोज्यते, नरैः परस्परस्मै दीयते ।

अपरोऽर्थः परस्परादीनामपुंसि प्रयुज्यमानानां संबन्धिनः स्यादेरमादेशो वा भवति । आभिः सखीभिः कुलैर्वा परस्परं परस्परेण वा भोज्यते, स्त्रीभिः कुलैर्वा परस्परं परस्परस्मै वा दीयते । अपरोऽर्थः परस्परादीनां पुंसि प्रयुज्यमानानां संबन्धिनः स्यादेरम्वा भवति । एभिर्नरैः परस्परं परस्परेण वा भोज्यते, एभिर्नरैः परस्परं परस्परस्मै वा दीयते । एवं च स्त्रीनपुंसकयोरमामौ द्वावादेशौ वा भवत इति त्रैरूप्यम् । इमे परस्परादयः शब्दाः स्वभावादे-कत्वपुंस्त्ववृत्तयः कर्मव्यतीहारविषयाः, अस्मादेव च निर्देशात् परान्येतरशब्दानां सर्वनाम्नां द्विर्वचनादि निपात्यते ॥1॥

न्या०स०—परस्परान्योन्येतरेतरेति । समाहारद्वंद्वात् षष्ठी, न चान्योन्यशब्दस्य स्वराद्यदन्तत्वादल्पस्वरत्वाच्च परस्परशब्दात् पूर्वं प्रयोग आशङ्कनीयः । पूर्वं तस्येतरेतरशब्देन द्वंद्वे परस्परशब्दस्यैवाल्पस्वरत्वादिति । *इमे सख्यौ परस्परां भोजयत* इति भुङ्क्ते परस्परः कर्त्ता तं भुञ्जानं सख्यौ प्रयुञ्जाते 'गतिबोध' (2. 2. 5.) इत्यणिक्कर्तुः परस्परस्य कर्म्मत्वम्, विधानसामर्थ्यात् साम् न भवति, अन्यथा सामित्येव कुर्यात् ।

आभिः *सखीभिः परस्परां भोज्यत* इति अत्र करणे सहार्थे वा यदा तृतीया तदैको णिग्, कथं भुङ्क्ते जनस्तं भुञ्जानं सख्यः प्रयुञ्जते णिग्, केन सह केन कृत्वा वा परस्परेणेति, यदा तु

कर्त्तरि तृतीया, तदा णिग्द्वयं कथं भुङ्क्ते जनः तं भुञ्जानं परस्परः प्रयुङ्क्ते णिग् तं परस्परं भोजयन्तं सख्यः प्रयुञ्जते द्वितीयो णिग्, ततः कर्त्तरि तृतीयेति । इत्थमनुक्तस्यापि जनस्य कर्तृत्वं बोध्यमन्यथा 'गतिबोध' (2. 2. 5.) इत्यादिना परस्परस्य कर्म्मत्वमेव स्यात् । अथवा प्रथमैकवचनस्यायमाम्भावः । तदभावपक्षे परस्परो भोज्यत इत्यादि द्रष्टव्यम्, एवमन्यत्रापि आमभावपक्षे यथायोगमितरत् सर्वादिकार्यं द्रष्टव्यम् ।

अपरोऽर्थ इति निर्देशस्य समानत्वात् प्राप्तमन्यदर्थद्वयं दर्शयति । ननु कथमिमे सख्यौ परस्परां भोजयतः आभिः सखीभिः परस्परेण भोज्यते इति द्वयोर्बहुषु चैकवचनं कथं च स्त्रियां आप् न भवति, कथं चैतेषां समुदायानां सर्वाद्यपठितानां सर्वादिकार्यं सर्वादित्वे वा कथं न नपुंसकस्य 'पञ्चतोऽन्यादेः' (1. 4. 58.) इति दादेश इत्याह–इमे *परस्परादय* इत्यादि कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहार एकस्यान्यतरभोजनादिरूपः स विषयो येषामिति विग्रहः, पर अन्य इतर इति सर्वादिपाठात् सर्वादिकार्याविरोधः, यद्येवं कथं द्विर्वचनादि कार्यमित्याह । *अस्मादेवे*त्यादि नपुंसके द्वितीयैकवचनस्य अन्योऽभ्याम् अन्योन्यमित्यादेशद्वयसद्भावे आदेशाभावे तु अन्योन्यमिति भवति ॥ 3. 2. 1. ॥

अमव्ययीभावस्याऽतोऽपञ्चम्याः ॥ 3. 2. 2. ॥

अव्ययीभावसमासस्याकारान्तस्य संबन्धिनः स्यादेरमित्ययमादेशो भवति 'अपञ्चम्याः' पञ्चमीं च वर्जयित्वा । उपकुम्भं तिष्ठति, उपकुम्भं पश्य, उपकुम्भं देहि, उपकुम्भं स्वामी । अव्ययीभावस्येति किम् ? कष्टश्रितः । तत्संबन्धिनः स्यादेरिति किम् ? प्रियोपकुम्भस्तिष्ठति, प्रियोपकुम्भाय देहि । अत इति किम् ? अधिस्त्रि, उपवधु, उपकर्तृ । अपञ्चम्या इति किम् ? उपकुम्भात् ॥2॥

न्या० स०–अमव्ययीभा० । नन्वत्राद्ग्रहणं किमर्थं यतः 'अनतो लुप्' (3. 2. 6.) इति सूत्रेण यत्राकारान्तत्वं तत्र लुबभावात् अनेनाम् भविष्यतीति ? सत्यं, अत्राद्ग्रहणं विना 'अनतः' (3. 2. 6.) इत्यत्र पर्युदासो नञ् स्यात्ततश्च अतः स्वरस्य वर्जनमित्यन्यस्मादपि स्वरान्तात् लुप् स्यात्ततो यत्र व्यञ्जनान्तत्वं स्यात् तत्राप्यमव्ययीभावस्यापञ्चम्या इति कृतेऽमादेशः स्यादिति अत्ग्रहणमिति । 'म' विधानेनैव सिद्धे 'अम्' विधानं संबोधने हे उपकुम्भ इत्यादौ 'अदेतः स्यमोः' (1. 4. 44.) इति अम्लोपार्थं उपजरसमिति जरसादेशार्थं च ॥ 3. 2. 2.॥

वा तृतीयायाः ॥ 3. 2. 3. ॥

अकारान्तस्याव्ययीभावस्य संबन्धिन्यास्तृतीयायाः स्थाने वा अम् भवति । किं त उपकुम्भम्, किं त उपकुम्भेन । तत्संबन्धिन्यास्तृतीयाया इति किम् ? किं नः प्रियोपकुम्भेन ।।3।।

सप्तम्या वा ।। 3. 2. 4. ।।

अकारान्तस्याव्ययीभावस्य संबन्धिन्याः सप्तम्या अमादेशो भवति वा । उपकुम्भं निधेहि, उपकुम्भे निधेहि । तत्संबन्धिन्याः सप्तम्या इति किम् ? प्रियोपकुम्भे निधेहि । योगविभाग उत्तरार्थः ।।4।।

ऋद्धन-दी-वंश्यस्य ।। 3. 2. 5. ।।

ऋद्धं समृद्धम्, यस्य समृद्धिः सुशब्दादिना द्योत्यते, तदन्तस्य, नद्यन्तस्य, वंश्यान्तस्य चाकरान्तस्याव्ययीभावस्य सम्बन्धिन्याः सप्तम्याः स्थानेऽमादेशो भवति । ऋद्धं-मगधानां समृद्धिः, सुमगधं वसति, सुमद्रं वसति, । नदी–उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्नुन्मत्तगङ्गं देशे वसति, एवं लोहितगङ्गम्, शनैर्गङ्गम्, तूष्णींगङ्ग वसति, द्वे यमुने द्वियमुनं वसति, एवं सप्तगोदावरम् । वंश्य, एकविंशतिर्भारद्वाजा वंश्याः एकविंशति भारद्वाजं वसति । एवं त्रिपञ्चाशद्गौतमम्, त्रिकोशलम्, प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणादिह न भवति । उपगङ्गे, उपयमुने पूर्वेण तु विकल्पो भवत्येव । नित्यार्थं वचनम् ।।5।।

न्या0स0–ऋद्धनदी0 । भारद्वाजमिति भरन्तं वाजयति भरद्वाजः 'तस्येदम्' (6. 3. 160.) इत्यणि । बिदाद्यञि तु 'यञञः' (6. 1. 126.) इति लुप् स्यात् । भारद्वाजादिषु त्रिषु पूर्वपदार्थप्राधान्याद् बहुवचनं सुप् तस्याऽम् ।। 3. 2. 5. ।।

अनतो लुप् ।। 3. 2. 6. ।।

अकारान्तं वर्जयित्वान्यस्याव्ययीभावस्य संबन्धिनः स्यादेर्लुब् भवति । स्त्रीषु अधिस्त्रि, उपवधु, उपकर्तृ । अनत इति किम् ? उपकुम्भात्, उपकुम्भाभ्याम्, उपकुम्भेभ्यः, उपकुम्भेन, उपकुम्भे । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति, प्रियोपवधुः । अत्युपवधुः ।।6।।

अव्ययस्य ।। 3. 2. 7. ।।

अव्ययसंबन्धिनः स्यादेर्लुप् भवति । स्वः, प्रातः, उच्चैः, परमोच्चैः । कृत्वा । भोजंभोजम् व्रजति, ततः, तत्र, कथं, ब्राह्मणवत्, पचतितराम्, द्विधास्ति । तत्संबन्धिविज्ञा-

नादिह न भवति, अतिस्वरः, अत्युच्चैसः । अत एव लुब्विधानादव्ययेभ्यः स्यादयोऽनुमीयन्ते । ततश्चाथो स्वस्ते गृहम्, अथोच्चैर्मम (मे) गृहमित्यादौ 'सपूर्वात्प्रथमान्ताद्वा' (2. 1. 32.) इति विकल्पेन ते मे आदेशौ पदसंज्ञा च सिद्धा भवति ॥7॥

ऐकार्थ्ये ॥ 3. 2. 8. ॥

ऐकार्थ्यम् ऐकपद्यं तन्निमित्तस्य स्यादेर्लुप् भवति । चित्रा गावो यस्य चित्रगुः, राजपुरुषः, पुत्रमिच्छति, पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति, कुम्भं करोति कुम्भकारः, उपगोरपत्यमौपगवः, एषु चित्र अस् गो अस्, राजन् अस् पुरुष स्, पुत्र अम् य, पुत्र अम् काम्य, कुम्भ अस् कार, उपगु अम् अ इति स्थिते ऐकार्थ्ये सति तन्निमित्तस्य स्यादेर्लुप् । अत एव च लुप्विधानात् 'नाम नाम्ना'–(3. 1. 18.) इत्युक्तावपि विभक्त्यन्तानामेव समासो विज्ञायते । ऐकार्थ्ये इति निमित्तसप्तमीविज्ञानादैकार्थ्योत्तरकालस्य न भवति । चित्रगुः । ऐकार्थ्य इति किम् ? चित्रा गावो यस्येत्यादिवाक्ये न भवति ॥8॥

न्या० स०–ऐकार्थ्ये० । ऐकार्थ्यमैकपद्यमित्युक्तं ततश्चैकार्थ्यमित्युक्ते ऐकपद्यं कथं लभ्यते, यत ऐकार्थ्यमित्युक्ते एकार्थता एवं प्राप्नोति पर्यायः ? उच्यते, ऐकार्थ्यहेतुत्वादैकपद्यमपि ऐकार्थ्यं । अथवा ऐकार्थ्यमस्यास्तीति ऐकार्थ्यमैकपद्यमभिधीयते, यत्र परित्यक्तस्वार्थान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि वा निरर्थकानि अर्थान्तरसंक्रमाद् द्व्यर्थानि भवन्ति तदैकार्थ्यं तच्च ऐकपद्यमेव ।

अर्थान्तराभिधायित्वात् घटपटादिवत् पदान्तरमेवेति । न ह्यसावर्थः पूर्वपदेनोत्तरपदेन वाऽभिधीयते । प्रक्रियार्थं तु पृथक् पदानि दर्श्यन्ते, अत एव तदर्थस्य निवृत्तत्वाद् विभक्तेरपि स्वयमेव निवृत्तेर्लुप्शास्त्रमऽनुवादकमभिधीयते । *ऐकपद्यमि*ति नन्वैकार्थ्यं निमित्तं कारणं कथमभिधीयते यतः कार्यमिति वक्तव्यम् ? उच्यते, कार्ये कारणोपचारादिति प्रज्ञाकरगुप्तः । कार्यमपि कारणमभिधीयते यथा देवदत्तो गच्छति भोजनार्थं । अत्र भोजनं कार्यमपि कारणमस्ति यथा एवमत्रापि कार्यं कारणमभिधीयते, ऐकपद्ययोग्यत्वात् ऐकार्थ्यमत्रास्तीति 'अभ्रादिभ्यः' (7. 2. 46.) इति वा ।

अत एव चेति ननु नाम्नः समासविधानाद् विभक्तिरहितस्य च नामत्वात् समासे विभक्त्यभावादेव विभक्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात् पुत्रीयत्यौपगव इत्यादिसिद्ध्यर्थं प्रत्यय इत्येव कार्यम् ? नैष दोषः, अत एव लुब्विधानात् समासेऽपि विभक्तेः संभव इति । *निमित्तसप्तमीविज्ञानादि*ति ऐकार्थ्यस्य च पूर्वकालवाचिन्येव विभक्तिर्निमित्तं तस्यामैकार्थ्यस्य भावादुत्तरकालभा-

विन्यास्तु विभक्तेरैकार्थ्यमेव निमित्तं सत्यैकपद्ये तस्या: संभवादिति ॥ 3. 2. 8. ॥

न नाम्येकस्वरात् खित्युत्तरपदेऽम: ॥ 3. 2. 9. ॥

समासारम्भकापत्यं पदमुत्तरपदम् । नाम्यन्तादेकस्वरात्पूर्वपदात्परस्याम: खित्प्रत्ययान्ते उत्तरपदे परे लुप् न भवति । स्त्रीं स्त्रियं वात्मानं मन्यते स्त्रीमन्य: स्त्रियंमन्य:, श्रियंमन्य:, भ्रुवंमन्य:, नरंमन्य:, रायंमन्य:, गांमन्य:, नावंमन्य: । अथ श्रियमात्मानं मन्यते श्रियंमन्यं कुलमित्यत्र नपुंसकलक्षणोऽमो लोप: कस्मान्न भवति ? उच्यते-श्रीशब्दस्यात्मसमानाधिकरणस्य नपुंसके वृत्त्यभावादाविष्टलिङ्गत्वाच्च न भवति ।

अन्ये त्वाहु:, यथा प्रष्ठादय: शब्दा धवयोगात् स्त्रियां वर्तमाना: स्वलिङ्गं विहाय स्त्रीलिङ्गमुपाददते, तथा श्रीशब्द: कुले वर्तमान: स्वलिङ्गपरित्यागेन वर्तते, ततो नपुंसकलक्षणं ह्रस्वत्वममो लुप् च भवति, श्रियंमन्यं कुलमिति । नचायं नपुंसकलक्षणस्य लोपस्यापवाद:, किंतु ऐकार्थ्यलक्षणस्योत्तरपदग्रहणात् । नामिग्रहणं किम् ? ज्ञंमन्य:, क्ष्मंमन्य:, वाग्मन्य: । एकस्वरादिति किम् ? हरणिंमन्या, बुधंमन्या । खितीति किम् ? स्त्रीमानी 'मन्याण्णिन्' (5. 1. 116.) ॥9॥

न्या० स०—न नाम्ये० । *नाम्यन्ता*दिति व्याख्याने नाम्यवयवयोगात् समुदायोऽपि नामी । स तु अवयवोऽन्तर्मध्ये च संभवतीति । तत: संभवे व्यभिचारे च ❈ विशेषणमर्थवत् ❈ इति न्यायात्, 'विशेषणमन्त:' (7. 4. 113.) इत्यन्तत्वम् । *खित्प्रत्ययान्त* इति नन्वत्र 'सप्तम्या आदि:' (7. 4. 114.) इति खिदादावुत्तरपदे इति प्राप्नोति ? न, खिदादेरुत्तरपदस्यासंभवादिति । ननु 'स्त्रियंमन्य' इत्यत्राऽलुपि सत्यां 'कर्म्मणि कृत:' (2. 2. 83.) इति सूत्रेण षष्ठी कथं न भवति यतोऽग्रे कृत्प्रत्ययोऽस्ति ? उच्यते, अत एवामोऽलुब्विधानात् षष्ठी न भवति । अन्यथा ह्यमोऽलुप् कथं विधीयत इति । न *चायमि*ति नन्वनेन निषेध: प्राप्नोति तत्कथममोऽलुबित्युक्तमन्यैरित्याशङ्का । *ऐकार्थ्यलक्षणस्ये*ति अयमपवाद उत्तरपदे एव प्राप्तस्य बाधक इत्यर्थ: ॥ 3. 2. 9. ॥

असत्त्वे ङसे: ॥ 3. 2. 10. ॥

असत्त्वे विहितो यो ङसि: तस्योत्तरपदे परे लुप् न भवति । स्तोकान्मुक्त:, अल्पान्मुक्त:, कृच्छ्रान्मुक्त:, कतिपयान्मुक्त:, अन्तिकादागत:, अभ्याशादागत:, सविधादागत:, दूरादागत:, विदूरादागत:, विप्रकृष्टादागत:, क्तेनासत्त्वे (3. 1. 74.) इति समास: । असत्त्वे इति किम् ? स्तोकभयम् स्तोकापेत: । उत्तरपद इत्येव ? निष्क्रान्त:- स्तोकान्निस्तोक: ॥10॥

न्या० स०—असत्त्वे० । स्तोकान्मुक्त इत्यादौ 'स्तोकाल्पकृच्छ्र' (2. 2. 79.) इति पञ्चमी । *अन्तिकादागत* इत्यादौ तु 'असत्त्वारादर्थे' (2. 2. 120.) इति पञ्चमी भवति इत्यादि स्वयमूह्यम् ॥ 3. 2. 10. ॥

ब्राह्मणाच्छंसी ॥ 3. 2. 11. ॥

ब्राह्मणाच्छंसीत्यत्र ङसेर्लुबभावो निपात्यते । ब्राह्मणाद्ग्रन्थादादाय शंसति ब्राह्मणाच्छंसी, ब्राह्मणाच्छंसिनौ, ब्राह्मणाच्छंसिनः, —रूढिवशादृत्विग्विशेष उच्यते । उपात्तविषयमेव तदपादानं यथा—कुसूलात्पचति । निपातनस्येष्टविषयत्वादृत्विग्विशेषादन्यत्र लुप् भवति – ब्राह्मणशंसिनी स्त्री ॥11॥

न्या० स०—ब्राह्मणा० । *ब्राह्मणाद्ग्रन्थात्* इति ब्रह्मणा प्रोक्तो ग्रन्थो ब्राह्मणं तेन प्रोक्तेऽण् । 'अणि' (7. 4. 52.) इति निषेधेऽपि 'ब्रह्मणः' (7. 4. 57.) इत्यनेन ब्राह्ममस्त्रमितिवदत्रान्त्यस्वरादिलोपो न भवति । 'वेदेन्ब्राह्मणमत्रैव' (6. 2. 130.) इति निर्देशात्, अत एव निर्देशाद् वा । ब्राह्मणः श्रुताविति नपुंसकत्वं, ब्राह्मणाद्ग्रन्थादादाय शंसतीत्येवं ब्रह्म शंस् इति वाक्ये 'व्रताभीक्ष्ण्ये' (5. 1. 157.) इति णिन् प्रत्ययः । उपात्तविषयेति अत्र हि आदानाङ्गे शंसने शंसिर्वर्त्तते इत्यादानक्रियापेक्षमपादानमित्यादिः ॥ 3. 2. 11.॥

ओजो-ऽञ्जः-सहोऽम्भस्-तमस्-तपसष्टः ॥ 3. 2. 12. ॥

एभ्यः परस्य टस्तृतीयैकवचनस्योत्तरपदे परे लुब् न भवति । ओजसाकृतम्, अञ्जसाकृतम्, सहसाकृतम्, अम्भसाकृतम्, तमसाकृतम्, तपसाकृतम्, तपसाप्राप्तम् । कथं 'सततनैशतमोवृतमन्यत इति ? उत्तरपदस्य संबन्धिशब्दत्वाद्यत्र पूर्वपदीभूतस्तमः शब्दस्तत्रायं निषेधः । यत्र तु पदान्तरेण समस्तस्तत्र न प्रतिषेधः । ट इति किम् ? ओजसो भावः ओजोभावः । तमसो नेच्छन्त्येके । तपसोऽन्ये ॥12॥

न्या० स०—ओजोऽञ्जः० । *ओजसाकृतमि*ति ओजसा क्रियते स्म, एषु सर्वेषु कर्त्तरि षष्ठी न भवति । 'क्तयोरसदाधारे' (2. 2. 91.) इति निषेधात्, तृतीया तु कर्त्तरि करणे वा, सर्व्वत्र 'कारकं कृता' (3. 1. 68.) इति समासः ।

तपनमण्डलदीपितमेकतः, सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः, शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥1॥

सततनैशतमोवृतमिति निशायां भवं 'निशाप्रदोषात्' (6. 3. 83.) इतीकणो विकल्पाद् भवेऽण् । नैशं च तत् तमश्च सततं च तन्नैशतमश्च तेन वृतमिति ॥ 3. 2. 12. ॥

पुंजनुषोऽनुजा-ऽन्धे ॥ 3. 2. 13. ॥

पुम्स्शब्दाज्जनुःशब्दाच्च परस्य टावचनस्य यथासंख्यमनुजशब्देऽन्धशब्दे चोत्तरपदे परे लुब् न भवति । पुंसा करणेनानुजः पुंसानुजः, जनुषा जन्मनान्धः–जनुषान्धः,–अविकृताक्षो जात्यन्ध उच्यते । अन्ये तु जतुः शब्दात्तकारश्रुतेरिच्छन्ति । ट इत्येव ? पुमासमनुजाता पुमनुजा ॥13॥

न्या० स०–पुंजनुषो० । अन्धेश्चुरादिणिजन्तादच्यन्धः अन्धनं वाऽन्धस्तदऽस्ति अभ्रादित्वात्, उभयोः करणे तृतीया 'कारकं कृता' (3. 1. 68.) इति समासः ॥3. 2. 13.॥

आत्मनः पूरणे ॥ 3. 2. 14. ॥

आत्मनः परस्य टावचनस्य पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे परे लुप् न भवति । आत्मनाद्वितीयः, आत्मनातृतीयः, आत्मनाचतुर्थः, आत्मनापञ्चमः, आत्मनाषष्ठः, आत्मनैकादशः, पूर्वादित्वात्समासः । कथं जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एवेति ? आत्मा चतुर्थोऽस्येति बहुव्रीहिः ॥14॥

न्या० स०–आत्मनः० । अत्र पूरणार्थाभिधायकः प्रत्ययः पूरणशब्देनोच्यत इत्याह *पूरणप्रत्ययान्ते* इति । *आत्मनाद्वितीय* इति अथात्र केन तृतीया न ह्यत्र करणादिस्तृतीयाऽर्थोऽस्ति, करणादेः कारकत्वात् क्रियामन्तरेण च तस्याऽसंभवात् । न चाऽत्र काचित् क्रियास्ति ? उच्यते, 'यद्भेदैः' (2. 2. 46.) इत्यत्र तृतीया । समासस्तु पूर्वादित्वात् । गम्यक्रियापेक्षया करणे वा तृतीयाऽस्तु तदा बाहुलकात् समासः । *बहुव्रीहिरि*ति ननु वर्त्तिपदार्थव्यतिरिक्तेनाऽन्यपदार्थेन भाव्यं चित्रग्वादिवत् अत्र तु तस्यैवान्यपदार्थत्वात् कथं बहुव्रीहिः ? उच्यते, एकस्यैव वस्तुनो बुद्धिपरिकल्पितभेदस्य वर्त्तिपदार्थत्वमन्यपदार्थत्वं च न विरुध्यते । यथा शोभनशरीरः शिलापुत्रक इति ॥ 3. 2. 14. ॥

मनसश्चाऽऽज्ञायिनि ॥ 3. 2. 15. ॥

मनःशब्दादात्मशब्दाच्च परस्य टावचनस्याज्ञायिन्युत्तरपदे परे लुप् न भवति । मनसाज्ञातुं शोलमस्य मनसाज्ञायी, एवमात्मनाज्ञायी । आत्मनो नेच्छन्त्येके ॥15॥

न्या० स०—मनसश्चा० । नन्विदं सूत्रमलुब्विधायकं न कर्त्तव्यं, यतो लुकि कृतेऽपि सर्वाणि रूपाणि भविष्यन्ति ? उच्यते, यदि लुप् विधीयते तदा पदान्तत्वान्नलोपो रुत्वं विसर्गादिकं च कार्यं स्यादिति सूत्रम् ॥ 3. 2. 15. ॥

नाम्नि ॥ 3. 2. 16. ॥

मनसः परस्य टावचनस्योत्तरपदे परे नाम्नि संज्ञायां विषये लुप् न भवति । मनसादेवी, मनसागुप्ता, मनसादत्ता, मनसासंगता,—एवं नामा काचित् । नाम्नीति किम् ? मनोदत्ता कन्या ॥16॥

न्या० स०—नाम्नि० । मनसा दीव्यादित्याशास्यमाना लिहादित्वात् 'तिक्कृतौ नाम्नि' (5. 1. 71.) इत्यच्, गौरादित्वात् ङ्यां 'कारकं कृता' (3. 1. 68.) इति सः ॥ 3. 2. 16. ॥

परा-ऽऽत्मभ्यां ङेः ॥ 3. 2. 17. ॥

परात्मशब्दाभ्यां परस्य ङेश्चतुर्थ्येकवचनस्योत्तरपदे परे नाम्नि विषये लुप् न भवति । परस्मैपदम्, परस्मैभाषा, आत्मनेपदम्, आत्मनेभाषा,— 'तादर्थ्ये' (2. 2. 54.) चतुर्थी, हितादित्वात् समासः । नाम्नीत्येव ? परहितम्, आत्महितम् । कथं परहितो नाम कश्चित् ? नेयमनादिसंज्ञा ॥17॥

अद्-व्यञ्जनात् सप्तम्या बहुलम् ॥ 3. 2. 18. ॥

अकारान्ताद्व्यञ्जनान्ताच्च परस्याः सप्तम्या बहुलं लुप् न भवति, नाम्नि विषये । अदन्तः—अरण्येतिलकाः, अरण्येमाषकाः, वनेकशेरुकाः, वनेबल्वजाः, वनेकिंशुलकाः, वनेहरिद्रकाः, कूपेपिशाचिकाः, पूर्वाह् णेस्फोटकाः, मध्याह्ने स्फोटकाः, व्यञ्जन—युधिष्ठिरः—बहुलवचनात्क्वचिद्विकल्पः—त्वचिसारः, त्वक्सारः, क्वचिद्भवति—जलकुक्कुटः, ग्रामसूकरः । अद्व्यञ्जनादिति किम् ? भूमिपाशः नदीकुक्कुटिका । नाम्नीत्येव ? तीर्थकाकः, नगरवायसः, अक्षशौण्डः । सप्तम्या इति किम् ? गौरखरः । कथं गविष्ठिरः ? बिदादिपाठात् 'गवियुधेः स्थिरस्य' (2. 3. 25.) इति निर्देशाद्वा भविष्यति । नन्वन्तरङ्गत्वादवादेशे कृते व्यञ्जनान्तत्वादेव सिद्धं किं बिदादिपाठाश्रयणेन ? नैवम्, अन्तरङ्गानपि हि विधीन् बहिरङ्गाऽपि लुप् बाधते इत्युक्तम्, अन्यथा नदीकुक्कुटिकादिष्वप्यन्तरङ्गत्वाद्यत्वे सत्यलुप् प्रसज्ज्येतेति ॥18॥

न्या० स०–अद्व्यञ्जनादिति० । *किं भूमिपाश* इत्यादि दर्शितं । ततश्च भूमौ पाशः भूमिपाश इत्यत्र स्वयमेव न भविष्यति अलुप् यतः संज्ञाशब्दोऽपि न भवति ? उच्यते, क्वचित्साध्यमाना क्वचिदसाध्यमाना च भवति संज्ञा ततश्चाऽत्र साध्यमानास्ति इति अद्व्यञ्जनादिति व्यावृत्तिः । वनेकिंशुलका इति दर्शितं ततश्च किं श्यतीति अध्वर्यादित्वाद् डिदुप्रत्यये किंशुः, लातीति डे किंशुलः, स एव किंशुलकः ॥ 3. 2. 19. ॥

प्राक्कारस्य व्यञ्जने ॥ 3. 2. 19. ॥

राजलभ्यो रक्षानिर्वेशः कारः, प्राचां देशे यः कारस्तस्य नाम्नि संज्ञायां गम्यमानाया-मद्व्यञ्जनात्परस्याः सप्तम्या व्यञ्जनादावुत्तरपदे परे लुप् न भवति । मुकुटे मुकुटे कार्षापणो दातव्यः मुकुटेकार्षापणः, एवं स्तूपेशाणः, हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका, व्यञ्जनदृषदिमाषकः, समिधिमाषकः,–वृत्तौ वीप्साया दानस्य चान्तर्भावः ।

प्रागिति किम् ? यूथे यूथे देयः पशुः–यूथपशुः, एवं यूथवृषः,–उदीचां देशे कारोऽयम् न प्राचाम् । कार इति किम् ? अभ्यर्हितेऽभ्यर्हिते देयः पशुः अभ्यर्हितपशुः, प्राचां देशे कारादन्यस्य देयस्य नामैतत् । व्यञ्जन इति किम् ? अविकटेऽविकटे उरणो दातव्यः–अविकटोरण, अविकटोऽविसमूहः । अद्व्यञ्जनादित्येव ? नद्यां नद्यां दोहो दातव्यः नद्यीदोहः । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थोऽयं योगः, त्रिविधश्चात्र नियमः,–प्राचामेव, कारस्यैव नाम्नि, व्यञ्जनादावेवेति, तथा च प्रत्युदाहृतम् ॥19॥

न्या० स०–प्राक्कार० । कुर्वन्त्यनेनेति करः, 'पुन्नाम्नि घः' (5. 3. 130.) अः इति वा, ततः प्रज्ञाद्यण्-कारः । मुकुटेकार्षापणादिषु सर्वेषु 'नाम्नि' (3. 2. 144.) इति सः । स्तूपो राशिः, शाणः कर्षचतुर्भागः, हले हले द्वौ द्वौ पादौ ददाति । 'संख्यादेः पादादिभ्यः' (7. 2. 152.) इत्यकल् । नह्यतेऽनया 'नीदाव्' (5. 2. 88.) इति त्रट् ॥ 3. 2. 19. ॥

तत्पुरुषे कृति ॥ 3. 2. 20. ॥

अद्व्यञ्जनात्परस्याः सप्तम्याः कृदन्ते उत्तरपदे परे तत्पुरुषे समासे लुब् न भवति, नाम्नीति निवृत्तम् । स्तम्बे रमते स्तम्बेरमः, एवं कर्णेजपः, पात्रेसमितः, प्रवाहेमूत्रितम्, उदकेविशीर्णम्, अवतप्तेनकुलस्थितम्, व्यञ्जन–भस्मनिहुतम्, भस्मनिमीढम् । बहुलाधिकारात्क्वचिदन्यतोऽपि गोषुचर । क्वचिन्निषेधो न भवति-मद्रचरः, ग्रामकारकः । क्वचिद्विकल्पः खचरः; खेचरः, वनेचरः, वनचरः पङ्केरुहम्, पङ्करुहम्, सरसिरुहम्, सरोरुहम्, दिविषत्, द्युसत् ।

क्वचिदन्यदेव-हृदयं स्पृशति, हृदिस्पृक्,—द्वितीयार्थेऽत्र सप्तमी, एवं दिविस्पृक् । तत्पुरुष इति किम् ? धन्वनि कारका यस्य स धन्वकारकः, एवं कल्याणाभिनिवेशः, धर्मरुचिः । कृतीति किम् ? अक्षशौण्डः, अक्षकितवः अद्व्यञनादित्येव ? कुरुषु चरति कुरुचरः, एवं रात्रिचरः, नदीचरः, कथं परमे कारके उत्तमे कारके इति विग्रहे परमकारके उत्तमकारके तिष्ठतीत्यत्र सप्तम्या लुब् भवति ? उच्यते—अन्तरङ्गत्वात्प्रथमान्तयोरेव परमोत्तमशब्दयोः कारकशब्देन समास इति ताभ्यां सप्तम्येव नास्ति, यद्वा कृतीति कृन्निमित्ताया एव सप्तम्या लुप्प्रतिषेधः, इह तु तिष्ठत्यादिक्रियापेक्षेति लुप् भवत्येव ।।20।।

मध्याऽन्ताद्-गुरौ ।। 3. 2. 21. ।।

मध्यान्तशब्दाभ्यां परस्याः सप्तम्या गुरुशब्दे उत्तरपदे परे लुप् न भवति । मध्येगुरुः, अन्तेगुरुः मध्यगुरुः, अन्तगुरुरित्यप्यन्ये ।।21।।

न्या० स०—मध्यान्ता० । अत्र समासविशेषस्यानुपादानात् यथा तत्पुरुषे लुक् न भवति तथा बहुव्रीहावपि ।। 3. 2. 21. ।।

अमूर्द्ध मस्तकात् स्वाङ्गादकामे ।। 3. 2. 22. ।।

मूर्द्धमस्तकशब्दर्जितात्स्वाङ्गवाचिनोऽद्व्यञनान्ताच्छब्दात्परस्याः सप्तम्याः कामशब्दादन्यस्मिन्नुत्तरपदे परे लुब् न भवति । कण्ठे कालोऽस्य कण्ठेकालः, उदरेमणिः, वहेगडुः, पुतेवलिः, उरसिलोमा, शिरसिशिखः । अमूर्द्धमस्तकादिति किम् ? मूर्द्धशिखः, मस्तकशिखः । स्वाङ्गादिति किम् ? अक्षशौण्डः, मुखपुरुषा शाला । अकाम इति किम् ? मुखकामः । अद्व्यञनादित्येव ? अङ्गुलिव्रणः, जङ्घावलिः । बहुलाधिकारात्करकमलम्, गलरोगः, गलव्रणः, इत्यादि सिद्धम् ।।22।।

न्या० स०—अमूर्द्ध० । शब्दप्रधानो निर्द्देशो नाऽर्थप्रधान इति 'समानामर्थे' (3. 1. 118.) इति नैकशेषः । वहेगडुरिति 'गड्वादिभ्यः' (3. 1. 156.) इत्यनेन विकल्पितोऽपि बाहुलकात् नित्यं पूर्वनिपातः ।। 3. 2. 22. ।।

बन्धे घञि नवा ।। 3. 2. 23. ।।

बन्धशब्दे घञन्ते उत्तरपदे परे अद्व्यञनान्तात्परस्याः सप्तम्या वा लुब् न भवति,

स्वाङ्गादस्वाङ्गाच्चायं विकल्पः । हस्ते बन्धो हस्ते बन्धोऽस्येति वा हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः, चक्रेबन्धः, चक्रबन्धः । बन्ध इति किम् ? पुटपाकः, मनोरागः । घञीति किम् ? अजन्ते माभूत्, बध्नातीति बन्धः चक्रबन्धः, हस्तबन्धः, चारकबन्धः । अद्व्यञ्जनादित्येव गुप्तिबन्धः, काराबन्धः ॥23॥

न्या0स0—बन्धे घञि0 । चक्रबन्धः, हस्तबन्ध इत्यादिष्वनेन सूत्रेण न भवति तर्हि मा भवतु 'तत्पुरुषे कृति' (3. 2. 20.) इति अनेनालुप् कथं न भवति ? उच्यते, 'अद्व्यञ्जनात्' (3. 2. 18.) इत्यतः सूत्राद् बहुलमित्यनुवर्तते ततश्च तत्पुरुषे कृतीति बहुलमलुप् भवति ततश्चात्रालुप् न भवति, तर्हि अमूर्धमस्तकादित्यनेन सूत्रेणाऽलुप् कथं न भवति ? उच्यते, इदं सूत्रं न प्रवर्त्तते यत्र तत्पुरुषे कृतीति न प्राप्नोति, निषेधस्तत्रेदं प्रवर्त्तते । अत्र तु तत्पुरुषे निषेधस्ततश्च तेन बहुलं भवति । अतोऽलुप् न भवति ॥3. 2. 23.॥

कालात् तन-तर-तम-काले ॥ 3. 2. 24. ॥

अद्व्यञ्जनान्तात्कालवाचिनः शब्दात्परस्याः सप्तम्यास्तनतरतमप्रत्ययेषु कालशब्दे चोत्तरपदे परे वा लुप् न भवति । तन,—पूर्वाह्णेतनः, पूर्वाह् णतनः, अपराह् णेतनः, अपराह्णतनः, तर-पूर्वाह्णेतराम्, पूर्वाह्णतरे, अपराह्णेतराम्, अपराह्णतरे, तम-पूर्वाह् णेतमाम्, पूर्वाह्णतमे, अपराह्णेतमाम्, अपराह्णतमे, काल, पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले, अपराह्णेकाले, अपराह्णकाले । कालादिति किम् ? शुक्लतरे, शुक्लतमे, । अद्व्यञ्जनादित्येव ? रात्रितरायाम्, निशातमायाम्, रात्रिकाले 'उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्य ग्रहणम्, न तदन्तस्य, 'नवा खित्कृदन्ते'– (3. 2. 117.) इत्यत्रान्तग्रहणात्, तेनात्र तनतरतमप्रत्ययानां स्वरूपेणैव ग्रहणं भवति ॥24॥

न्या0स0—कालात्तन0 । पूर्वाह्णेतरां पूर्वाह्णतरे इति द्वयोर्मध्ये प्रकृष्टे विभज्ये वा पूर्वाह्णे 'द्वयोर्विभज्ये च तरप्' (7. 3. 6.) यत्र सप्तम्या अलुप् तत्र प्रथमा सप्तम्यर्थस्य सप्तम्यैवोक्तत्वात् । यत्र तु सप्तम्या लुप् तत्र सप्तम्यर्थप्रतिपादनार्थं सप्तमी पुनर्दीयते । *पूर्वाह्णेतमामि*ति अथ कः प्रकर्षोऽत्र पूर्वाह्णस्य विवक्षावशादिति केचित्, तथाहि यत् सुप्रभाते कृतं यच्च प्रहरविरतौ तयोः सुप्रभाते कृतमतिशयेन पूर्वाह्णे कृतमिति लोके व्यवह्रियते, न तु परमार्थतो नामार्थस्याऽत्र कश्चित् प्रकर्षयोगः । अन्य आह-नामार्थोऽधिकरणशक्तौ उपसर्जनभावान्न प्रकृष्यते, शक्तिरप्याधेयापेक्षत्वान्न स्वतः प्रकर्षमर्हतीत्याधेयापेक्षयाऽत्र नामार्थावच्छिन्नायाः शक्तेः प्रकर्षो वर्ण्णनीयः ।

पूर्वाह्णेकाल इति । सप्तम्यन्तयोर्विशेषणसमासः, यद्यपि पूर्वाह्णः कालं न व्यभिचरति तथापि बाहुलकात् समासो यथा पृथिवीद्रव्यमिति । अथवा पूर्वाह्णे यः कालस्तस्मिन्निति वैयधिकरण्ये वा समासः, अत्र सूत्रे कालग्रहणसामर्थ्याद् वा, एवमऽपराह्णेकाल इत्यादि । *रात्रितरायामि*त्यादि अत्र रात्रेर्यद्यपि स्वतः प्रकर्षो नास्ति तथाऽपि गोतर इत्यादौ यथा जातेः स्वतः प्रकर्षासंभवे तत्सहचरदोहवाहाद्यपेक्षया प्रकर्षस्तथात्रापि रात्रिसहच-रान्धकारघोरत्वा-द्यपेक्षयेति । अत्र सूत्रे यदा तनोतीति ताम्यतीति तरतीति क्रियते तदा अलुप् न भवति प्रत्ययाप्रत्यययोरिति न्यायात् । तेन पूर्वाह्णतनः पूर्वाह्णतमः पूर्वाह्णत्तर इत्याद्येव भवति ॥ 3.2.24.॥

शय-वासि-वासेष्वकालात् ॥ 3. 2. 25. ॥

अकालवाचिनोऽद्व्यञ्जनान्ताच्छब्दात्परस्याः सप्तम्याः शयादिषूत्तरपदेषु लुप् न भवति वा । बिलेशयः, बिलशयः, खेशयः, खशयः, वनेवासी, वनवासी, अन्तेवासी, अन्तवासी, ग्रामेवासः, ग्रामवासः । बहुलाधिकारान्मनसिशयः, कुशेशयमिति नित्यं लुब्भावः । हृच्छयः, चित्तशयः इत्यत्र तु नित्यं लुप् । अकालादिति किम् ? पूर्वाह्णशयः, अपराह्णशयः । अद्व्यञ्जनादित्येव ? भूमिशयः, गुहाशयः ॥25॥

वर्ष-क्षर-वरा-ऽप्-सरः शरोरोमनसो जे ॥ 3. 2. 26. ॥

वर्ष, क्षर, वर, अप्, सरस्, शर, उरस्, मनस् इत्येतेभ्यः परस्याः सप्तम्या जे उत्तरपदे वालुप् भवति वर्षेजः, वर्षजः, क्षरेजः, क्षरजः, वरेजः, वरजः, अप्सुजम्, अब्जम्, सरसिजम्, सरोजम्, शरेजः, शरजः, उरसिजः, उरोजः, मनसिजः, मनोजः ॥26॥

न्या० स०—वर्ष० । क्षरतीत्यचि क्षरे मेघे जातः क्षरजः । क्षरशब्देन जलं मेघश्च उच्यते ॥ 3. 2. 26. ॥

द्यु-प्रावृड्-वर्षा-शरत्-कालात् ॥ 3. 2. 27. ॥

योगविभागाद्वेति निवृत्तम्, दिव्प्रभृतिभ्यः परस्याः सप्तम्या जे उत्तरपदे परे लुप् न भवति । दिविजः, प्रावृषिजः, वर्षासुजः, शरदिजः, कालेजः ॥27॥

अपो य-योनि-मति-चरे ॥ 3. 2. 28. ॥

अप्शब्दात्परस्याः सप्तम्या यप्रत्यये योनिमतिचरेषु चोत्तरपदेषु लुब् न भवति । अप्सु भवः

अप्सव्य:—दिगादित्वाद्य:, अप्सुयोनि:, अप्सुमति:, अप्सुचर: ।।28।।

नेन्-सिद्ध-स्थे ।। 3. 2. 29. ।।

इन्प्रत्ययान्ते सिद्ध स्थ इत्येतयोश्चोत्तरपदयो: सप्तम्या अलुप् न भवति, भवत्येवेत्यर्थ: । इन्-स्थण्डिले वर्तते स्थण्डिलवर्ती, एवं स्थण्डिलशायी, सांकाश्यसिद्ध:, काम्पील्यसिद्ध:, समस्थ:, विषमस्थ:, 'शयवासी' (3. 2. 25.) त्यादियोगद्वयविकल्पो 'द्युप्रावृट्'— (3. 2. 27.) आदियोगद्वयविधिरनेन प्रतिषेधश्च, 'तत्पुरुषे कृति' (3. 2. 20.) इत्यस्यैव प्रपञ्च: । ते वै विधय: सुसंगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्चेति ।।29।।

न्या० स०—नेन्सिद्ध० । *इन्प्रत्ययान्ते* इति । इहोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तविध्यभावे ज्ञापितेऽपि सामर्थ्यात्तदन्तविधि: । इन् प्रत्ययो हि द्विविध: कृत्तद्धितश्च, तत्र कृद्धातोर्विधीयते तद्धितोऽपि प्रथमान्तादस्यास्त्युपाधिकस्तस्मात् सप्तम्यन्तात् तयोर्विधानाऽसंभवात् तदन्ते उत्तरपदे सप्तम्या अलुप् प्रतिषिध्यत इति । ते वै विधय इति वैशब्दो हेत्वर्थे ततो 'वै' इत्यस्य यत इत्यर्थ: । परानुग्राहकं हि शास्त्रं तत्र केचित् तीक्ष्णाधियस्तान् प्रति संक्षेपेण प्रणयनम् । केचिन्मन्दधियस्तान् प्रति प्रपञ्च आरभ्यते ।। 3. 2. 29. ।।

षष्ठ्या: क्षेपे ।। 3. 2. 30. ।।

क्षेपे गम्यमाने उत्तरपदे परे षष्ठ्या लुप् न भवति । चौरस्यकुलम्, दासस्यभार्या, वृषल्या:पति: । क्षेप इति किम् ? ब्राह्मणकुलम् । कथं चौरकुलं, दासभार्या, वृषलीपति: । तत्त्वाख्यानमेतन्न क्षेप: ।।30।।

न्या० स०—षष्ठ्या: क्षेपे । अत्र पूर्वपदात् क्षेपे अलुप् इष्यते तेन भूपस्य जाल्मो भूपजाल्म इत्यत्र लुबेव भवति । एतत्तु ❇ व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति ❇ इति न्यायात् न्याय्यम् ।। 3. 2. 30. ।।

पुत्रे वा ।। 3. 2. 31. ।।

पुत्रशब्दे उत्तरपदे क्षेपे गम्यमाने षष्ठ्या लुप् वा न भवति । दास्या:— पुत्र:, दासीपुत्र:, वृषल्या: पुत्र:, वृषलीपुत्र: । क्षेपे इत्येव ? ब्राह्मणपुत्र: दासीपुत्र इति तु तत्त्वाख्याने । पूर्वेण नित्यं निषेधे प्राप्ते विकल्प: ।।31।।

पश्यद्-वाग्दिशो हर-युक्ति-दण्डे ॥ 3. 2. 32. ॥

पश्यद्वाग्दिक्शब्देभ्यः परस्याः षष्ठ्या यथासंख्यं हरयुक्तिदण्डेषूत्तरपदेषु लुब् न भवति। पश्यतोहरः, अनादरे षष्ठीयम्, जनं पश्यन्तमनादृत्य हर्तेत्यर्थः, वाचोयुक्तिः, दिशोदण्डः, संबन्धषष्ठ्यौ ॥32॥

न्या० स०—पश्यद्वाग्० । *पश्यतोहर* इत्यत्र यदा पश्यतां हर इति क्रियते तदा अलुप् भवति वा नवा ? उच्यते, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् समासस्याप्यगमकत्वे समासाभावात् लुगपि न प्राप्नोति। यदा तु अर्थात् प्रकरणाद् वा बह्वर्थो ज्ञायते तदा भवत्येवाऽलुप् ॥ 3. 2. 32. ॥

अदसोऽकञायनणोः ॥ 3. 2. 33. ॥

अदसः परस्या षष्ठ्या अकञ्प्रत्ययविषये उत्तरपदे आयनण्प्रत्यये च परे लुप् न भवति। अमुष्य पुत्रस्य भावः आमुष्यपुत्रिका, एवमामुष्यकुलिका, चौरादित्वादकम्, अमुष्यापत्यमामुष्यायणः, नडादित्वादायनण्, अदसोऽनन्तरमायनणो विधानान्न तत्रोत्तरपदसंभवः ॥33॥

न्या० स०—अदसो० । अकञ्प्रत्ययविषये उत्तरपदे इत्युक्तं ततश्चाकञ्प्रत्ययविषय इति विशेषणमुत्तरपद इति विशेष्यं ततश्चाकञ्प्रत्ययविषय इति भिन्नविशेषणं कथं क्रियते। अकञ्प्रत्ययान्तं यदुत्तरपदं तस्मिन् विषये कथं न भण्यते ? उच्यते, प्रत्ययस्यैव ग्रहणं भवति, प्रत्ययग्रहणं च 'नवा खित्' (3. 2. 117.) इत्यत्रान्तग्रहात्, तर्हि 'नेन्सिद्धस्थे' (3. 2. 29.) इति सूत्रे इनः कथं प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं न भवति ? उच्यते, असंभवात्, तर्ह्यत्रापि असंभवात् ग्रहीष्यते अकञ्प्रत्ययान्ते उत्तरपद इति। नैवं ग्रहणं भवति असंभवात्। किं त्वत्र प्रत्ययस्य संभवात्प्रत्ययस्यैव ग्रहणं भवति, यतो विषयव्याख्याने षष्ठ्यन्तपूर्वपदस्य पुत्रशब्दे उत्तरपदे अकञ्प्रत्ययः संभवत्येव। न च वाच्यमनन्तरे एव किमिति न भवति। यतोऽदसः परो नास्त्यऽकञ् अमुष्यपुत्र इति चौरादिपाठात्।

अथ चौरिका इत्यत्राकञन्तमुत्तरपदं संभवति ततः कथमकञन्ते उत्तरपदे इति न भणितं यथा अमुष्यचौरिकेति ? उच्यते, अकञन्तस्य निषेधोऽपि भवति, षष्ठ्या लुबभावस्य यथा अदश्चौरिका। प्रत्ययग्रहणे संभवे सति प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं भवतीत्याह-*अदस इत्यादि आमुष्यपुत्रिके*ति ननु अमुष्यपुत्राऽमुष्यकुलशब्दयोः षष्ठीसमासयोरकृतषष्ठीलोपयोश्चौरादित्वा-

दमुष्येति च षष्ठ्यन्तस्य नडादिपाठसामर्थ्यादेवाकञायनणोः, षष्ठ्या लुबभावस्य सिद्धत्वात् किमर्थमिदमारभ्यते। एवं चामुष्यपुत्रस्यापत्यमामुष्यपुत्रिः आमुष्यपुत्रायणिः अमुष्यकुलस्यापत्यममुष्यकुलीनः अमुष्य पुत्रस्य भावोऽमुष्य कुलस्य भाव इति च वाक्यममुष्यपुत्राऽमुष्यकुल इति च केवलयोरपि प्रयोग उपपद्यते। गणपाठश्च पूर्वसूत्रेभ्य इति स एव प्रमाणी क्रियतामिति ? सत्यं, एतदर्थानुवादार्थमेवेदमित्यऽदोषः, एतच्च गमनिकामात्रमेव उत्तरं तु अन्यच्चिन्तनीयं। तदेतद् अस्मिन् सूत्रे कृतेऽकञ्आयनण्विषय एव अलुप् प्रवर्त्तते, सूत्रं विना तु सर्वत्रापि आदःपुत्रीत्यादिषु अलुप् प्रसज्येत। इदानीं तु न भवति ॥ 3. 2. 33. ॥

देवानांप्रियः ॥ 3. 2. 34. ॥

देवानांप्रिय इति षष्ठ्या लुबभावो निपात्यते, देवानांप्रियः ॥34॥

न्या० स०–देवानां० । कथं देवप्रिय इति ? एकत्वद्वित्वयोर्बहुव्रीहौ वा भविष्यति। देवानांप्रिय ऋजुर्मूर्खो वा ॥ 3. 2. 34. ॥

शेप-पुच्छ-लाङ्गूलेषु नाम्नि शुनः ॥ 3. 2. 35. ॥

श्वन्शब्दात् परस्याः षष्ठ्याः शेपादिषूत्तरपदेषु नाम्नि संज्ञायां विषये लुप् न भवति। शुनः शेपमिव शेपमस्य शुनःशेपः, एवं शुनःपुच्छः, शुनोलाङ्गूलः, शेपःशब्दः सकारान्तोऽप्यस्ति इह त्वकारान्तस्य ग्रहणम्। नाम्नीति किम् ? श्वशेपम्, श्वपुच्छम्, श्वलाङ्गूलम्। अन्ये तु सिंहस्यशेपं सिंहस्यपुच्छं सिंहस्यलाङ्गूलमित्यत्रापि इच्छन्ति तन्मतसंग्रहार्थं बहुवचनम् अनाम्न्यपि विध्यर्थम् ॥35॥

न्या० स०–शेपपुच्छ० । *अनाम्न्यपि विध्यर्थमि*ति प्रकृतेरन्यतोऽपि च इति शेषो ज्ञेयः, शेपशब्दस्य लिङ्गानुशासने पुंलिङ्गत्वमुक्तं पान्तत्वात्। अत्र तु नपुंसकत्वं चिन्त्यम् ॥ 3. 2. 35. ॥

वाचस्पति-वास्तोष्पति-दिवस्पति-दिवोदासम् ॥ 3. 2. 36. ॥

वाचस्पत्यादयः शब्दाः षष्ठीलुबभावे निपात्यन्ते नाम्नि विषये। वाचस्पतिः, वास्तोष्पतिः, दिवस्पतिः, दिवोदासः। नाम्नीत्येव ? वाक्पतिः, वास्तुपतिः, द्युपतिः, द्युदासः ॥36॥

न्या० स०–वाचस्पति० । अत्र षत्वं सत्वं च निपातनात् ॥ 3. 2. 36. ॥

ऋतां विद्या-योनिसंबन्धे ।। 3. 2. 37. ।।

ऋकारान्तानां शब्दानां विद्याकृते योनिकृते च संबन्धे निमित्ते सति वर्तमानानां संबन्धिन्याः षष्ठ्या विद्यायोनिसंबन्धे एव निमित्ते सति प्रवर्तमाने उत्तरपदे लुप् न भवति । होतुःपुत्रः, होतुरन्तेवासी, पितुःपुत्रः, पितुरन्तेवासी । ऋतामिति किम् ? आचार्यपुत्रः, मातुलान्तेवासी । बहुवचनं विद्यासंबन्धनिमित्ते योनिसंबन्धनिमित्ते इति यथासंख्यप्रतिपत्तेर्व्युदासार्थम् ऋद्भ्य इति निर्देशे प्राप्ते षष्ठीनिर्देश उत्तरार्थः । विद्यायोनिसंबन्ध इति किम् ? भर्तृगृहम् । पूर्वपदविशेषणं किम् ? भर्तृशिष्यः, भर्तृपुत्रः । उत्तरपदविशेषणं किम् ? होतृधनम्, पितृगृहम् ।।37।।

न्या0स0—ऋतां-विद्या0 । अत्र योनिशब्दस्येदन्तत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्तेऽत एव निर्देशात् धर्म्मार्थादित्वाद् वा परनिपातः । *पूर्वपदविशेषणं किमि*ति भर्तृशिष्य इत्युक्तं, ततश्चात्र नायकवाचको द्रष्टव्यः, यदा तु भर्तृवाचकस्तदा भर्तुः शिष्य इत्येव भवति ।।3. 2. 37.।।

स्वसृ-पत्योर्वा ।। 3. 2. 38. ।।

विद्यायोनिसंबन्धे निमित्ते सति प्रवर्तमानानामृकारान्तानां शब्दानां संबन्धिन्याः षष्ठ्याः स्वसृपत्योरुत्तरपदयोर्योनिसंबन्धनिमित्तयोः परयोर्लुब् वा न भवति । होतुःस्वसा, होतृस्वसा, पितुःष्वसा, पितुःस्वसा, पितृष्वसा, मातुःस्वसा, मातुःष्वसा, मातृष्वसा, दुहितुःपतिः, दुहितृपतिः, स्वसुःपतिः, स्वसृपतिः, ननान्दुःपतिः, ननान्दृपतिः । विद्यायोनिसंबन्ध इति पूर्वपदविशेषणं किम् ? भर्तृस्वसा । उत्तरपदविशेषणं किम् ? होतृपतिः । पूर्वेण नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।।38।।

न्या0स0—स्वसृपत्यो0 । धर्म्मार्थादित्वात् स्वसृशब्दस्य पूर्वनिपातः ।।3. 2. 38.।।

आ द्वन्द्वे ।। 3. 2. 39. ।।

विद्यायोनिसंबन्धनिमित्ते सति प्रवर्तमानानामृतां यो द्वन्द्वस्तस्मिन्सत्युत्तरपदे परे पूर्वपदस्याकारोन्तादेशो भवति । होता च पोता च होतापोतारौ, नेष्टोद्गातारौ, प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ, मातादुहितरौ, मातापितरौ, ननान्दायातरौ । अथेह प्रथमयोः कस्मान्न भवति होतृपोतृनेष्टोद्गातार इति ? अन्त्यस्यैवोत्तरपदत्वात् । कथं तर्हि होतापोतानेष्टोद्गातार इति ? द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वे भविष्यति ।

यदा च होता च पोता च नेष्टोद्गातारौ चेति विग्रहस्तदा होतृपोतानेष्टोद्गातार इति ।

ऋतामित्येव ? गुरुशिष्यौ । ऋृतां द्वन्द्व इति किम् ? पितृपितामहौ । विद्यायोनिसंबन्ध इत्येव ? कर्तृकारयितारौ । विद्यायोनिसंबन्धश्चेह प्रयासत्तेः समस्यमानानामृदन्तानामेव परस्परं द्रष्टव्यो न येन केनचित्, तेनेह न भवति-चैत्रस्य स्वसृदुहितरौ, नात्र स्वसृदुहित्रोः परस्परं संबन्धः, न हि स्वसा चैत्रस्य स्वसा भवन्ती दुहितरमपेक्षते दुहिता स्वसारमिति । यद्येवं कथं चैत्रस्य पितृभ्रातराविति अस्ति, ह्यत्र परस्परसंबन्धः । उच्यते-यद्यपि चैत्रस्य भ्राता भ्राता भवन् पितरमपेक्षते चैत्रपितृजनितस्यैव चैत्रभ्रातृत्वात्, तथापि पिता पिता भवन्न भ्रातरमपेक्षते । यद्येवं कथं मातापितरौ होतापोतारौ ? न ह्यत्र परस्परापेक्षस्तथाभावोऽपि तु पुत्रयजमानापेक्षः, नैवम्, अत्रापि मात्रादीनां परस्परसंबन्धात् । ते हि स्वकर्मणि प्रजने यागे च सहिता एव प्रवर्तन्ते, तत्कर्मनिमित्तश्चायं तेषां व्यपदेश इत्यदोषः । केचित्तु स्वसादुहितरावित्यत्रापीच्छन्ति ।।39।।

न्या0स0–आ द्वंद्वे0 । *विद्यायोनिसंबन्धश्चेहेति* इहेति भणनात् स्वसृपत्योर्वेत्यत्र न प्रत्यासत्तिः । तेन ननान्दुः पतिरित्यादि सिद्धम् ।।3. 2. 39.।।

पुत्रे ।। 3. 2. 40. ।।

पुत्रशब्दे उत्तरपदे द्वन्द्वे समासे विद्यायोनिसंबन्धे निमित्ते सति प्रवर्तमानानामृकारान्ताना-माकारोऽन्तादेशो भवति । मातापुत्रौ, पितापुत्रौ, होतापुत्रौ ।।40।।

न्या0स0–पुत्रे । उत्तरपदस्य ऋृदन्तत्वाभावात् पूर्वेणाऽप्राप्ते वचनम् । दुहिता पुत्राविति भग्नं । ततश्चानेन कारणेन भग्नं यदुत 'भ्रातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः' (3. 1. 121.) इत्येकशेषः प्राप्नोति ततश्च पुत्रावित्येव स्यात् ।।3. 2. 40.।।

वेदसहश्रुताऽवायुदेवतानाम् ।। 3. 2. 41. ।।

वेदे सहश्रुतानां वायुवर्जितदेवतानां द्वन्द्वे पूर्वपदस्योत्तरपदे परे आकारान्तादेशो भवति । इन्द्रासोमौ, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राबृहस्पती, शुनासीरौ, अग्नामरुतौ, अग्नेन्द्रौ, अग्नाविष्णू, सोमारुद्रौ, सूर्याचन्द्रमसौ, मित्रावरुणौ । वेदेति किम् ? शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ, ब्रह्मप्रजापती । सहेति किम् ? विष्णु शक्रौ । श्रुतेति किम् । चन्द्रसूर्यौ ? दिवाकरनिशाकरौ । वायुवर्जनं किम् ? अग्निवायू, वाय्वग्नी । देवतानामिति किम् ? यूपचषालौ, उलूखलमुशले ।।41।।

न्या0स0–वेदसह0 । *शुनासीराविति* वायुरवी इत्यर्थः । *सूर्याचन्द्रमसाविति* रविचन्द्रावित्यर्थः ।

स्कन्दो महासेनः, विशाखस्तु तस्यैव मूर्त्यन्तरविशेषः । *चन्द्रसूर्याविति* एतौ हि वेदे शब्दान्तरेण विद्येते 'चन्द्रसूर्य' इत्यादिशब्दैस्तु न श्रुतौ ।।3. 2. 41.।।

ई षोम-वरुणेऽग्नेः ।। 3. 2. 42. ।।

वेदसहश्रुतावायुदेवतानां द्वन्द्वे षोमवरुणयोरुत्तरपदयोरग्निशब्दस्य ईकारान्तादेशो भवति, षोमेति निर्देशादीकारसंनियोगे षत्वं च निपात्यते । अग्नीषोमौ, अग्नीवरुणौ। षोमवरुणेति किम् ? अग्नेन्द्रौ । देवताद्वंद्व इत्येव ? अग्निसोमौ, माणवकौ, ईकारसंनियोगे विधानादिह षत्वमपि न भवति ।।42।।

इर्वृद्धिमत्यविष्णौ ।। 3. 2. 43. ।।

विष्णुवर्जिते वृद्धिमत्युत्तरपदे परे देवताद्वंद्वेऽग्नेरिकारोऽन्तादेशो भवति, ईकाराकारयो-रपवादः । अग्नीवरुणौ देवते अस्या आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत, अग्नीषोमौ देवताऽस्य आग्निसौमं कर्म, एवमाग्निमारुतम् वृद्धिमतीति किम् ? अग्नीवरुणौ, अग्नीमरुतौ । आग्नेन्द्रं कर्म, 'आतो नेन्द्रवरुणस्य' (7. 2. 29.) इति वृद्धिनिषेधः । अविष्णाविति किम् ? अग्नाविष्णू देवतास्य अग्नावैष्णवं चरुं निर्वपेत् ।।43।।

न्या० स०–इर्वृद्धि० । ❋ अत्र बहिरङ्गाऽपि लुप् अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधते ❋ इति न्यायात् तद्धितोत्पत्तिभाविन्या लुपा बहिरङ्गयाऽन्तरङ्गा अपि दीर्घत्वादिविधयो बाध्यन्ते । न चात्र वाच्यं वाक्यविभक्तेरपि तर्हि लुबभावस्तदभावे हि तद्धितोत्पत्तिर्न स्यात् नाम्नो विधीयमानत्वेन वाक्यात् तद्धितस्यानुपपत्तेरिति ।।3. 2. 43.।।

दिवो द्यावा ।। 3. 2. 44. ।।

देवताद्वंद्वे दिव्शब्दस्योत्तरपदे परे द्यावा इत्ययमादेशो भवति । द्यौश्च भूमिश्च द्यावाभूमी, द्यावाक्षमे, द्यावानक्ते-नक्तशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्त्यनव्ययम् ।।44।।

न्या० स०–दिवो द्यावा । द्यावाक्ष्मे इति । पृषोदरादित्वादकारलोपे क्ष्मेति रूपम् ।।3. 2. 44.।।

दिवस्-दिवः पृथिव्यां वा ।। 3. 2. 45. ।।

दिव्शब्दस्य पृथिव्यामुत्तरपदे परे देवताद्वन्द्वे दिवस् इति दिव इत्येतावादेशौ वा भवतः ।

दिवस्पृथिव्यौ, दिव:पृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ । दिवः इति विसर्गान्तस्य निर्देशात् दिवस् इति सकारस्य रुत्वं न भवति ।।45।।

उषासोषसः ।। 3. 2. 46. ।।

देवताद्वंद्वे उत्तरपदे परे उषस्शब्दस्योषासा इत्ययमादेशो भवति । उषश्च सूर्यश्च उषासासूर्यम्, उषासानक्तम्, उषासानक्ते । केचित्तु सूर्यशब्दस्यापीच्छन्ति-सूर्यश्च सोमश्च उषासासोमौ ।।46।।

न्या०स०–उषासोषसः । उषः शब्दः प्रभातवाचको नपुंसकः । संध्यावाचकस्तु स्त्रीक्लीबः ।।3. 2. 46.।।

मातरपितरं वा ।। 3. 2. 47. ।।

मातृपितृशब्दयोः पूर्वोत्तरपदयोर्द्वन्द्वे मातरपितरेति ॠकारस्य अर इति निपात्यते वा । माता च पिता च मातरपितरौ, मातरपितराभ्याम्, मातरपितरयोः, पक्षे-मातापितरौ, मातापितृभ्याम्, मातापित्रोः, एकशेषे तु पितरौ । शब्दरूपापेक्षो नपुंसकैकवचननिर्देश उत्तरपदस्य अरभावाभिव्यक्त्यर्थः । उत्तरपदस्यारं नेच्छन्त्यन्ये ।।47।।

न्या०स०–मातर० । अरभावाभिव्य इति अन्यथा मातरपितराविति कृते 'अर्डौं च' (1. 4. 39.) इत्यरादेशोऽपि संभाव्येत ।।3. 2. 47.।।

वर्चस्कादिष्ववस्करादयः ।। 3. 2. 48. ।।

कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम् तदादिष्वर्थेष्ववस्करादयः शब्दाः कृतशषसाद्युत्तरपदाः साधवो भवन्ति । वर्चस्केऽवस्करः, अवकीर्यतेऽवस्करः–अन्नमलम्, तत्संबन्धात्तद्देशोप्यवस्करः, अवकरोऽन्यः, अपस्करो रथाङ्गं, अपकरोऽन्यः । कुत्सिता तुम्बुरुः कुस्तुम्बुरुरौषधिजातौ, तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरूणि, अन्यत्र कुस्तुम्बुरुस्तिन्बुकवृक्षः । अवरस्परा, अपरस्परा वा क्रियासातत्ये,–अवरस्पराः सार्था गच्छन्ति-सततं गच्छन्तीत्यर्थः, अन्यत्रावरपराः सार्था गच्छन्ति–अवरे च अपरे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः ।

आस्पदं प्रतिष्ठायाम्-प्रतिष्ठा स्थानमात्मयापनापदम्, अन्यत्र आ ईषत् पदमा पदाद्वा आपदम्, आश्चर्यमद्भुते । आश्चर्य नीला द्यौः, अन्यत्र आश्चर्य कर्म शोभनम्, प्रतिष्कशः सहाये-

पुरोयायिनि दूते वा, ग्राममध्ये प्रवक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः, अन्यत्र कशां प्रतिगतः प्रतिकशोऽश्वः, प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषौ, । प्रगतं कण्वं पापमस्मादिति प्रस्कण्वः, हरिश्चन्द्र इवाह् लादको यस्य हरिश्चन्द्रः, ऋषेरन्यत्र प्रकण्वो देशः, हरिचन्द्रो माणवकः, मस्करो वेणु दण्डयोः । मा क्रियते प्रतिषिध्यतेऽनेनेति मस्करः, मकरशब्दस्य वाऽव्युत्पन्नस्य मस्कर इति रूपम्, अन्यत्र मकरो ग्राहः, मस्करी परिव्राजके-माकरणशीलो मस्करी, स ह्याह मा कृषत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीति, मकरिन्शब्दस्य वा मस्करीति रूपम्, अन्यत्र मकरीति, समुद्रः, कास्तीराजस्तुन्दे नगरे, ईषत्तीरमजस्येव तुन्दमस्येति व्युत्पत्तिमात्रम्, कास्तीरमजस्तुन्दं च नगरम्, अन्यत्र कातीरम्, अजतुन्दम्, कारस्करो वृक्षे-कार करोति किल कारस्करो वृक्षः, कारकरोऽन्यः, वनस्पतिः पुष्पं विना फलवति वृक्षे । सर्वो हरितकायो वनस्पतिरित्यन्ये, वनपतिरन्यः, पारस्करो देशे, पारं करोति पारस्करो देशः, पारकरोऽन्यः, करस्करो गिरिवृक्षयोः, करं करोतीति करस्करो नाम गिरिः, करस्करो वृक्षः, करकरोऽन्यः, रथस्पा नद्याम् ।

रथं पाति पिबति वा रथस्पा नाम नदी, रथपांऽन्या, किष्कुरुः प्रहरणे-कस्य कुरुः किष्कुरुः नाम प्रहरणम्, किमो मकारस्य षकारादेश, किष्कुः प्रमाणे–किमपीषत्यरिमेया कुर्भूमिरस्य किष्कुः वितस्तिर्हस्तो वा, किं करोतीति वा किष्कुः, करोतेर्डुप्रत्ययः किमो मकारस्य च षकारः, कार्यं करोतीति वा किष्कुः, डुप्रत्ययः कार्यशब्दस्य च किष्भावः, किष्किन्ध इति गुहापर्वतयोः–क्रिमप्यन्तर्दधाति किष्किन्धा नाम गुहा, किमो द्विर्वचनं पूर्वस्य च मकारस्य षकारः, किं किं दधाति किष्किन्धः पर्वतः, आस्कथं नगरे, आहृताः कथा अस्मिन्नित्यास्कथं नाम नगरम्, तस्करश्चौरे-तत् करोति तस्करश्चौरः, बृहस्पतिर्देवतायाम्, बृहतां पतिः बृहन् पतिरिति वा बृहस्पतिः, उभयत्र तकारस्य सकारः, अन्यत्र तत्करः बृहत्पतिः, प्रायश्चित्तप्राय-श्चित्तो अतीचारशोधने–प्रकर्षेणैत्यागच्छत्यस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोकः, चिन्त्यते स्मर्यते इति ।

चित्तम् चितिश्च व्रतम्, प्रायैश्चित्तं चिन्तितं किल्बिषविशुद्धये प्रायश्चित्तमतिचारशोधनम् आलोचनप्रतिक्रमणादि, एवं प्रायश्चित्तिः, पक्षे विसर्जनीयपूर्वः शकार इत्यन्ये, प्रायःश्चित्तम्, प्रायः श्चित्तिः, अन्ये तु प्रायणं प्रायः तस्य चित्तं प्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तिरित्यपि मन्यन्ते ।

शष्कुली कृतान्ने–शष्कुलशब्दाद्गौरादित्वात् ङीः, कृतान्नादन्यत्र शकुली मत्स्यविशेषः, गोष्पदं गोसेविते प्रमाणे च-यत्र गावः पद्यन्ते स गोभिः सेवितो ग्रामसमीपादिर्देश उच्यते, प्रमाणे गोष्पदपूरं वृष्टो देवः, गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्-अत्र गोः पदमन्यस्येयत्तां परिच्छेत्तुमुपादीयमानं प्रमाणं भवति, अन्यत्र गोपदम्, अगोष्पदं सेवारहिते, न विद्यते गोः पदं येषु तान्यगोष्पदान्यरण्यानि, अगोष्पदेष्वरण्येषु विश्वासमुपजग्मिवान् ननु गोष्पदप्रतिषेधादगोष्पदमिति सिध्यति, सत्यम्, किं तु यत्र गवां प्रसङ्गो न ताभिः सेवितस्तत्रैव स्यात् । यथा यत्र शुक्लगुणप्रसङ्गः स एवाशुक्ल इति

भवति, नात्माकाशादि । यत्र तु गवामत्यन्तासंभवस्तत्र न स्यात्, तत्रापि यथा स्यादित्येवमर्थं निपातनम् । न विद्यते गोः पदं यत्रेति त्रिपदबहुव्रीहिविवक्षायां रूपान्तरनिवृत्त्यर्थम् च बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेनावोवचपरोवरादयोऽपि द्रष्टव्याः ।।48।।

न्या०स०–वर्च्चस्का० । 'युवर्ण्ण' (5. 3. 28.) इत्यलि अवस्करः । *कुत्सिता तुम्बुरुरित्यत्र* बाहुलकात् स्त्रीत्वम् । *आस्पदमि*ति आपद्यते प्राप्यते सद्भिः वर्षादित्वादल् । *मस्कर* इति 'पुन्नाम्नि घः' (5. 3. 130.) बाहुलकाच्च समासो 'नाम नाम्ना' (3. 1. 18.) इत्यनेन 'पृषोदरा' (3. 2. 155.) इति माङो ह्रस्वः, कु ईषत् तीरं *कास्तीरं* 'अल्पे' (3. 2. 136.) कादेशः । *कारस्करोऽयं* टप्रत्ययेऽचि वा *किष्किन्धा*शब्दोऽप्रत्यये । 'शीरीभूदूमूघृपाधाग्' 221 (उणादि) इत्यादिना औणादिके क्ते वा चित्तम् । अपरत्र 'श्वादिभ्यः' (5. 3. 92.) इति क्तौ, अन्ये तु प्रायणं प्राय इति कोऽर्थः ? परलोकगमनं भोजनत्यागो वा प्रायः । तस्य चित्तं प्रायचित्तं । गवां पदं *गोष्पदं* तस्य पूरणं 'वृष्टिमाने' (5. 4. 57.) इति णम् । *गोष्पदमात्रमि*ति गोष्पदं मानमस्य स्यात् 'द्विगोः संशये च' (7. 1. 144.) इत्यऽधिकारे 'मात्रट्' (7. 1. 145.) इति मात्रट् । *रूपान्तरनिवृत्यर्थमि*ति अगोपदमिति रूपस्येत्यर्थः । गृह्णतीति वा 'ज्वलादिदुनी' इति *ग्राहः* । *मस्करी*ति णिन्यारादेशे उभयत्रापि ह्रस्वः । *आचोवचपरोवरादयोऽपी*ति आञ्चतीति अवाञ्चतीति आङ् च अवाङ् च 'चवर्गदषहः' (7. 3. 98.) अत् आचोवचमिति निपात्यम्, परश्चाऽवरश्चपराङ् च अवराङ् च इति वा परोवरम् ।। 3. 2. 48. ।।

परतः स्त्री पुंवत् स्त्र्येकार्थेऽनूङ् ।। 3. 2. 49. ।।

परतो विशेष्यवशाद्यः शब्दः स्त्रीलिङ्गः स स्त्रियां वर्तमाने एकार्थे तुल्याधिकरणे उत्तरपदे परे पुंवद्भवति 'अनूङ्' न चेदूङन्तो भवति । दर्शनीया भार्या यस्य स दर्शनीयभार्यः, एवं पटुभार्यः, कल्याणभार्यः, शोभनभार्यः, प्रसूतभार्यः, प्रजातभार्यः, एनी भार्या यस्य स एतभार्यः, एवं श्येतभार्यः, युवतिर्जायास्य युवजानिः, कल्याणी चासौ पञ्चमी च कल्याणपञ्चमी, पट्वी च मृद्वी च पट्वीमृद्व्यौ, ते भार्ये अस्य पट्वीमृदुभार्यः, अत्र द्वंद्वपदानां परस्परार्थसंक्रमात् द्व्यर्थस्य मृदुशब्दस्य द्व्यर्थेन भार्याशब्देन सामानाधिकरण्यमिति पुंवद्भावः, पूर्वस्य तु व्यवधानान्न भवति । परत इति किम् ? द्रुणीभार्यः, वरटाभार्यः, वडवाभार्यः, अत्र पुंवद्भावे अर्थतः प्रत्यासन्नाः कूर्महंसाश्वशब्दाः प्राप्नुयुः द्रोणीभार्यः, कुटीभार्यः, पात्रीभार्यः,–अत्र पुंवद्भावे शब्दतः प्रत्यासन्ना द्रोणकुटपात्रशब्दाः प्राप्नुयुः ।

स्त्रीति किम् ? ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः, खलपुदृष्टिः । स्त्र्येकार्थे इति

किम् ? कल्याण्याः वस्त्रम्, कल्याणीवस्त्रम् । स्त्रीग्रहणं किम् ? कल्याणी प्रधानमेषां कल्याणीप्रधानाः, गृहिणीनेत्राः । एकार्थ इति किम् ? कल्याण्याः माता कल्याणीमाता, दर्शनीयामाता । अनूङिति किम् ? ब्रह्मबन्धूभार्यः, करभोरूभार्यः । अनूङिति प्रसज्ज्यप्रतिषेधात् इडविडोऽपत्यं स्त्री अञ् तस्य लुप्, इडविड् सा चासौ भार्या च ऐडविडभार्येत्यादिषु उत्तरेण पुंवद्भावः । पर्युदासे हि ऊङ्सदृशप्रत्ययान्तस्यैव पुंवद्भावः स्यादिति ॥49॥

न्या०स०—परतःस्त्री० । स्त्रियामेकार्थं स्त्री च तत् एकार्थ चेति वा स्त्र्येकार्थ तस्मिन् । *अत्र पुंवद्भावे अर्थत* इति द्रुणी इत्यादीनां त्रयाणामाविष्टलिङ्गानां पुंलिङ्गे प्रयोगादर्शनात् किंरूपः पुंवद्भावः स्यादित्याशङ्का । ननु द्रुणशब्दस्य वृश्चिकवाचकस्य पुंस्त्वमपि दृश्यते तत्कथं नित्यस्त्रीत्वम् ? सत्यं, न तत् वैयाकरणसम्मतं अपि त्वभिधानकाराणामेव । *शब्दतः* प्रत्यासन्ना इति न त्वर्थत इत्यर्थः ।

ननु कुटपात्रशब्दावन्यलिङ्गावपि स्तस्तत् कथमाविष्टलिङ्गत्वम् ? सत्यं, कुटशब्दो गेहे पात्रशब्दस्तु भाजने वर्तमानः स्त्रीलिङ्ग एव कैश्चिदुक्तस्तदभिप्रायाश्रयणेनेदमुच्यते । *अनूङिति किमिति* । नन्वनूङिति निषेधोऽत्र सूत्रे किमुच्यते 'नाप्प्रियादौ' (3. 2. 53.) इत्यादौ प्रक्रमायाते प्रतिषेधाधिकारे एव तु युक्तः ? सत्यं, यद्यत्रैतं न कुर्यात् किंतु निषेधाधिकारे ऊङिति सूत्रान्तरं विदध्यात् ततो यथा नाप्प्रियादीनां निषेधानां 'पुंवत् कर्म्मधारये' (3. 2. 57.) इति प्रतिप्रसव उक्तस्तथाऽस्यापि स बाधकः स्यात् स मा भूदित्येवमर्थम् । *उत्तरेण पुंवद्भाव* इति । 'पुंवत् कर्मधारये' (3. 2. 57.) इत्यनेनेत्यर्थो न त्वनेन 'स्वाङ्गाद् ङीर्जातिश्च' (3. 2. 56.) इति निषेधात् ॥ 3. 2. 49. ॥

क्यङ्-मानि-पित्तद्धिते ॥ 3. 2. 50. ॥

क्यङि प्रत्यये मानिनि शब्दे चोत्तरपदे पिति तद्धिते च प्रत्यये परे परतः स्त्रीलिङ्गशब्दोऽनूङ् पुंवद्भवति । क्यङ्-श्येनीवाचरति श्येतायते, मानिन्-दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानी अयमस्याः, दर्शनीयमानिनीयमस्याः, मानिन्ग्रहणमस्त्युत्तरपदार्थम् असमानाधिकरणार्थं च, दर्शनीयामात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनीति तु सामानाधिकरण्ये पूर्वेणैव भवति, पित्तद्धित थ्यप्-अजायै । हितम् अजथ्यं यूथम्, पित्तिथट् बह्वीनां पूरणी बहुतिथी, प्चरट्-भूतपूर्वा पट्वी पटुचरी, पित्तस्-बह्वीभ्यो बहुतः, त्रप्-बह्वीषु बहुत्र ।

प्रशस्बह्वीभ्यो देहि-बहुशो देहि, अल्पाभ्यो देहि अल्पशो देहि, पाशप्-निन्द्या दर्शनीया दर्शनीयपाशा, तमप्-इयमासामतिशयेन पक्वा पक्वतमा, तरप्इयमनयोरतिशयेन पक्वा, पक्वतरा,

रूपप् प्रशस्ता दर्शनीया दर्शनीयरूपा, कल्पप्ईषदसमाप्ता दर्शनीया-दर्शनीयकल्पा, देश्यप्-एवं दर्शनीयदेश्या, कप्- ह्रस्वा दर्शनीया दर्शनीयका, कुत्सिता दरद्-दारदिका, कथं पट्विका ? मृद्विका ? 'ङ्यादीदूतः के' (2. 4. 103.) इत्यत्र ङीग्रहणं पुंवद्भावबाधनार्थमित्युक्तम्, तेनात्र ह्रस्वो भवति । पिद्ग्रहणं किम् ? पट्वीरूप्यम्, पट्वीमयम्, तन्वीं तन्वीं खनति तन्वीशः खनति, 'संख्यैकार्थाद्वीप्सायां' शस्' (7. 2. 157.) इति शस् । तद्धित इति किम् ? पट्वीषु, बह्वीषु, कुमारीवाचरति क्विप्-कुमारयति, कुमारीयतेः क्विप् कुमारी ब्राह्मणः । पञ्चभिर्गार्गीभिः गार्ग्यायणीभिर्वा क्रीतः पञ्चगर्गः, दशगर्गः, अत्रेकणः 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' (6. 4. 147.) इति प्लुपः, विपत्त्वात्पुंस्त्वम्, ततो 'यञञोश्या' (6. 1. 126.) इत्यादिना यञञोः लुप् भवति । गतगतेत्यत्रापि प्लुप्चादावेकस्य स्यादेरित्यनुवर्तमाने 'आबाधे' (7. 4. 85.) इति द्विर्वचने आदेः स्यादेर्लुपः, पित्त्वात्पुंस्त्वम् ।।50।।

न्या0स0–क्यङ्मानि0 । *अजथ्यमि*ति अत्र 'स्वाङ्गाद् ङीर्जातिश्च' (3. 2. 56.) इति निषेधेऽपि पित्करणात् पुंवद्भावः । *दर्शनीयका* अत्राऽसंदेहार्थमिकारो न कृतः, तथाहि किमत्र पुंवद्भावे सति 'अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम्' (2. 4. 111.) इत्यनेन इकारः । यद्वाऽकृतेऽपि पुंवद्भावे 'स्वज्ञाजभस्त्रा' (2. 4. 108.) इत्यनेनाप एव स्थाने इति पुंवद्भावाभावयोर्न विशेषप्रतीतिः स्यात् । *दारदिके*ति दरदां राज्ञी 'पुरुमगध' (6. 1. 116.) इत्यण् । यदा त्वपत्यार्थेऽण तदा 'स्वाङ्गाद् ङी' (3. 2. 56.) इति गोत्रं चरणैः सहेति जातित्वे पुंवद्भावप्रतिषेधः स्यात् । अथेदृशे वाक्ये कृतेऽण् न प्राप्नोति यतो राज्ञ्यऽभिधेये उक्तः । अत्र तु स्त्रीत्वविशिष्टोऽस्तीति न प्राप्नोति ? उच्यते, नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्याऽपीति भविष्यति ।।3. 2. 50.।।

जातिश्च णि-तद्धितय-स्वरे ।। 3. 2. 51. ।।

अन्या परतः स्त्री जातिश्च णिप्रत्यये यकारादौ स्वरादौ च तद्धिते विषयभूते उत्पत्स्यमाने तद्विवक्षायामेव पुंवद्भवति, अनूङ् । णि, पट्वीमाचष्टे, पटयति, लघयति, एवमेतयति, श्येतयति । तद्धितयः, एन्यां साधुः एत्यः, एवं श्येत्यः, एन्याः भावः ऐत्यम्, एवं श्यैत्यम्, लौहित्यम् । तद्धितस्वर, भवत्या इदं भावत्कम्, भवदीयम्, इयमासामतिशयेन पट्वी पटिष्ठा, पटीयसी । जाति,–तद्धितय–दरदोऽपत्यं स्त्री अण्, लुप्-दरत् तस्यां साधुः दारद्यः, एवम् औशिज्यः, पुंवद्भावादणो लुप् निवर्तते ।

तद्धितस्वरे,–गार्ग्यायण्याः कुत्सितमपत्यं, गार्ग्यः, गार्गिकः, हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् । जातिग्रहणं जातिलक्षणप्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम्, सति तस्मिन् चकारोऽन्यार्थः–जातिः परतः स्त्री

अन्या च परतः स्त्री पुंवद्भवतीत्यर्थः, अकृते हि चकारे जातेरेव पुंवद्भावः स्यात् । तद्धितेति किम् ? हस्तिनीमिच्छति हस्तिनीयति, हस्तिन्यः, एनीयति, एन्यः । कथं यौवतम् ? भिक्षादौ युवतीति स्त्रीलिङ्गपाठात् कौण्डिन्य इति तु 'कौण्डिन्यागस्त्ययोः'– (6. 1. 127.) इति निर्देशेन पुंवद्भावस्यानित्यत्वात्, अत एव च मानाय्य इत्यत्रापि न भवति । सापत्न इत्यपि 'सपत्न्यादौ' (2. 4. 50.) इति सूत्रे सपत्नीति समुदायनिपातनात्, अत एव सपत्नीभार्य इत्यत्रापि न भवति, सपत्नस्यायं सापत्न इति वा भविष्यति । तद्धितयस्वर इति विषयसप्तम्याश्रयणं किम् ? पट्व्याः भावः-पाटवम्, अत्र प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वमेव पुंवद्भावे लघ्वादित्वात् 'ऋवर्णाल्लघ्वादेः' (7. 1. 69.) इत्यण् भवति । परसप्तमीसमाश्रयणे तु पट्वीशब्दस्य लघ्वादित्वाभावात्ततोऽण् न स्यादिति । यस्वर इति किम् ? पट्व्या आगतम् पट्वीरूप्यम् पट्वीमयम् ॥51॥

न्या० स०–जातिश्च णि० । पटयतीति णिजि पुंवद्भावे 'नामिनोऽकलिहलेः' (4. 3. 51.) इति वृद्धौ अन्त्यस्वरादिलोपे । यद्यत्र वृद्धिमकृत्वैव उकारस्यैव लोपं विदध्यात् ततोऽपीपटदित्यादौ समानलोपित्वादित्वं न स्यात् । *ऐत्यमिति* 'वर्ण्णदृढादिभ्यः' (7. 1. 59.) ट्यण् । औशिज्य इति वशक्0 वष्टि न्यायं, वशेः कित् इज् 'वशेरयङि' (4. 1. 83.) ऋत् उशिजोऽपत्यं 'पुरुषमगध' (6. 1. 116.) इत्यण् 'द्रेरञ' (6. 1. 123.) लोपः उशिजि साधुः । *गार्ग्य* इत्यादि 'वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णेकणौ' (6. 1. 87.) ततः पुंवत्त्वे 'तद्धितयस्वरेऽनादि' (2. 4. 92.) इति यलोपः । *पुंवद्भावस्यानित्यत्वादि*ति गर्गादित्वाद् यञि पुंवद्भावे तु 'नोऽपदस्य' (7. 4. 61.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपे कौण्ड्य इति स्यात् । अत एव चेति अनित्यत्वादेवेत्यर्थः, मनोर्भार्या 'मनोरौ च वा' (2. 4.61.) ङी ऐश्च । मनाय्या अपत्यं 'गर्गादेर्यञ्' (6. 1. 42.) *मानाय्यः* । सपत्न्या अपत्यं 'शिवादेरण्' (6. 1. 60.) सापत्नः । ननु मनायी-शब्दस्य गर्गादिपाठात् स्वयमेव न भविष्यति । यथा यौवतमित्यत्र भिक्षादिपाठात् स्त्रीलिङ्गस्य युवतिशब्दस्य पुंवद्भावो न भवति एवमत्राऽपि ? उच्यते, गर्गादिगणेऽणे-यञोः प्राप्तावस्य पाठ इति तत्राप्युक्तं ततश्च पुंवद्भावः प्राप्नोति स मा भूदिति कौण्डिन्य-निर्देशात् पुंवद्भावो न भवतीत्युक्तम् । *सपत्नस्यायमि*ति सपत्नशब्दश्च सपत्न्यास्तुल्यः 'अः सपत्न्याः' (7. 1. 110.) ण औणादिको वा । *पाटवमि*ति अत्र ह्यण्विषये पुंवद्भावस्ततोऽण् ॥ 3. 2. 51. ॥

एयेऽग्नायी ॥ 3. 2. 52. ॥

तद्धिते एयप्रत्यये परे अग्नाय्येव परतः स्त्री पुंवद्भवति । अग्नाय्या अपत्यम् आग्नेयः, अग्नायी देवताऽस्य आग्नेयः,–स्थालीपाकः । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थं वचनम्-तेन श्यैनेयः,

रौहिणेयः-अत्र पूर्वेणापि पुंवद्भावो न भवति ।।52।।

न्या० स०–एयेऽग्नायी । *आग्नेय* इति 'कल्यग्नेरेयण्' (6. 1. 17.) *श्यैनेयेति* 'द्विस्वरादनद्याः' *रौहिणेयेति* 'ङ्याप्त्यूङः' (6. 1. 70.) इति एयण् । नियमार्थमिति विपरीतनियमस्तु न भवति प्रतिषेधाधिकारेऽग्न्याय्यनेये इत्यकरणात् । अत्रैव वा आग्नेय इत्यनिपातनात् । विपरीतनियमे हि अग्नाय्यै हितः 'तस्मै हिते' (7. 1. 35.) इतीये 'जातिश्च' (3. 2. 51.) इत्यनेनाऽपि पुंवत् न स्यात् । ततश्चाग्नायीय इति स्यात् । स्थिते त्वऽग्नीय इत्येव भवति ।।3. 2. 52.।।

नाऽप्-प्रियाऽऽदौ ।। 3. 2. 53. ।।

पूरण्यप्प्रत्ययान्ते स्त्र्येकार्थे उत्तरपदे प्रियादौ च परे परतः स्त्री पुंवन्न भवति । अप्-कल्याणी पञ्चमी आसां कल्याणीपञ्चमा रात्रयः, एवं कल्याणीदशमाः,–पूरण्यबन्तस्य ग्रहणात् इह पुंवद्भावो भवत्येव, बह्व्य ऋचो यस्य स बह्वृचश्चरणः । प्रियादि,–कल्याणी प्रिया अस्य कल्याणीप्रियः, एवं भव्याप्रियः, भव्यामनोज्ञः, प्रियाकल्याणीकः, प्रियासुभगः, कल्याणीदुर्भगः, कल्याणीस्वः, प्रियाक्षान्तः, दर्शनीयाकान्तः, प्रियावामनः, दर्शनीयासमः, प्रियासचिवः, प्रियाचपलः, प्रियाबालः, कल्याणीतनयः, कल्याणीदुहितृकः, कल्याणीभक्तिः, गिरितनया भक्तिरस्य गिरितनयाभक्तिः कथं दृढभक्तिः स्थिरभक्तिः शोभनभक्तिः परिपूर्णभक्तिरित्यादि ?

दृढं भक्तिरस्येत्येवम् अस्त्रीपूर्वपदस्य विवक्षितत्वात् । अप्रियादाविति किम् ? कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् कल्याणपञ्चमीकः पक्षः, कल्याणप्रमाणी येषां ते कल्याणीप्रमाणाः । प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, स्वा, क्षान्ता, कान्ता, वामना, समा, सचिवा, चपला, बाला, तनया, दुहितृ, भक्ति इति प्रियादिः वामेत्यप्यन्ये–प्रियवामः ।।53।।

न्या० स०–नाप्प्रिया । *पूरण्यप्प्रत्ययान्त* इति । प्रियादेः स्वरान्तस्याबन्तस्य उत्तरपदत्वं तत्साहचर्यादप्रत्ययोऽपि स्वरान्तादेव विहितो गृह्यते स च पूरणीप्रत्ययान्तादेव संभवति । यद्वा अबिति 'पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येऽप्' (7. 3. 130.) इति सूत्रश्रुतो गृह्यते नत्वऽधिकारानुमितः । श्रुतानुमितयोः श्रौतस्यैव ग्रहणात् । *प्रियाक्षान्त* इति क्षमते 'पुतपित्त' 204 (उणादि) इति निपात्यते, क्षान्तिरस्या अस्ति । अभ्रादिभ्योऽप्रत्ययो वा । क्ते तु 'क्ताः' (3. 1. 151.) इति बहुत्वनिर्देशात् प्रिय इति विकल्पं बाधित्वा नित्यमेव प्राक् स्यात्, एवं कान्तोऽपि ।

गिरितनयाभक्तिरित्यत्र कर्मणि क्तिः । भज्यते सेव्यतेऽसौ, गिरितनया भक्तिः सेव्या यस्य ।

*अस्त्रीपूर्वपदस्ये*ति ननु चात्र भक्तौ स्त्रियां विशेष्यायां गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानीति दृढादिभिः स्त्रीलिङ्गैर्भाव्यम् ? सत्यं, दृढादिशब्दोऽत्राऽदार्ढ्यादिनिवृत्तिपरः प्रयुज्यते । तत्र चादार्ढ्यादिनिवृत्तिपरायां नोदनायां लिङ्गविशेषोपादानस्यानुपकारित्वाद् भक्तेः स्त्रीत्वविवक्षामन्तरेणाऽपि दार्ढ्यादिमात्रविवक्षयाप्यदार्ढ्यादिनिवृत्तेः सिद्धत्वात् स्त्रीत्वमत्र न विवक्षितमित्यौत्सर्गिकं नपुंसकत्वमेव भवति । कल्याणी भक्तिरित्यादौ तूत्तरपदसमानाधिकरण्याभिव्यक्त्यर्थं पूर्वपदे स्त्रीत्वमुच्यते । विवक्षाद्वयसंभवे हि यथाकामं प्रयोगो भवतीति समाधानार्थः ।।3. 2.53.।।

तद्धिताऽककोपान्त्य-पूरण्याख्याः ।। 3. 2. 54. ।।

तद्धितप्रत्ययस्याकप्रत्ययस्य च यः कः स उपान्त्यो यासां तास्तद्धिताक-कोपान्त्याः, पूरणीप्रत्ययान्ता, आख्याः संज्ञास्तद्रूपाश्च परतः स्त्रियः पुंवन्न भवन्ति । तद्धित-मद्रिकाभार्यः, वृजिकाभार्यः, लाक्षिकीभार्यः लाक्षिकीबृहतिकः, लाक्षिकीदेश्या, रौचनिकीचरी, मद्रिकायते, वृजिकामानिनी । अकः-कारिकाभार्यः, हारिकाभार्यः, विलेपिकाया धर्म्यं-वैलेपिकम्, आनुलेपिकम्, कारिकाकल्पा, पाचिकारूपा, कारिकायते, पाचिकामानिनी । पूरणीद्वितीयाभार्यः, पञ्चमीभार्यः, द्वितीयाकल्पा, पञ्चमीदेश्या, पञ्चमीयते, षष्ठीमानिनी । आख्या-दत्ताभार्यः, गुप्ताभार्यः, दत्तारूपा, गुप्तापाशा, गुप्तामानिनी । कस्य तद्धिताकविशेषणं किम् ? पाकभार्यः, मूकभार्यः, जल्पाकभार्यः, कामुककल्पा । जागरूकरूपा, लुण्टाकायते, कुट्टाकायते, कुट्टाकमानिनी ।।54।।

न्या0स0—तद्धिता0 । तद्धितश्चाकश्च तद्धिताकौ तद्धिताकयोः कः स उपान्त्यो येषां परतः स्त्रीरूपाणां शब्दानामिति कृत्यम् । वृत्त्यभिप्रायेण तु यासामिति कृते ह्रस्वत्वं न स्यात् । अत्र ङ्यन्तेभ्यो रूपप्कल्पपौ नोदाह्रियेते, तयोः परत्वात् 'ङ्यः' (3. 2. 64.) इत्यनेन ह्रस्वत्वं भवति । एवमुत्तरयोरपि सूत्रयोर्द्रष्टव्यम् । वैलेपिकम् इत्यत्र 'ऋन्नरादे0' (6. 4. 51.) एवमग्रतनेऽपि । *कारिकाकल्प* इति बाधन्ते स्वार्थिकाः क्वचिदित्याप् न । ननु दत्तागुप्ताशब्दौ संज्ञाशब्दत्वात् स्वतः स्त्रीलिङ्गौ तत्कथमनेन निषेधः ? सत्यं, एतौ संज्ञायामपि वर्त्तमानौ दानगोपनक्रियासंबन्धात् सर्वेष्वप्यर्थेषु स्त्रीपुन्नपुंसकेषु वर्त्तेते इत्यत्र स्त्रीविवक्षणात् परतः स्त्रीलिङ्गता ।।3. 2. 54.।।

तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुररक्त-विकारे ।। 3. 2. 55. ।।

स्वरस्थानाया वृद्धेर्यो हेतुस्तद्धितो रक्ताद्विकाराच्चान्यत्रार्थे विहितस्तदन्तः परतः स्त्रीलिङ्गः पुंवन्न भवति । माथुरीभार्यः स्रौघ्नीभार्यः, वैदिशीभार्यः, वैदर्भीभार्यः, सौतंगमीभार्यः कार्तवीर्यीभार्यः माथुरीदेश्या, नादेयीचरी, सौतंगमीयते, वैदर्भीमानिनी, स्रौघ्नीमानिनी ।

तद्धित इति किम् ? कुम्भकारी भार्या अस्य स कुम्भकारभार्यः, एवं काण्डलावभार्यः । वृद्धिहेतुरिति किम् ? अर्धप्रस्थे भवा अर्धप्रस्था, अर्धप्रस्था भार्या यस्य सः अर्धप्रस्थभार्यः, शोभनतरभार्यः, । मध्यमभार्यः, स्वरेति किम् ? वैयाकरणभार्यः । अन्ये तु वृद्धिमात्र हेतोर्णितस्तद्धितस्य पुंवत्प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते वैयाकरणीभार्यः । अरक्तविकारे इति किम् ? कषायेण रक्ता काषायी सा बृहतिकास्य काषायबृहतिकः, एवं माञ्जिष्ठबृहतिकः, लोहस्य विकारो लौही सा ईषास्य लौहेषः, एवं खादिरेषः ।।55।।

न्या० स०—तद्धितः स्वर० । *वैदिशीभार्य* इति । विदिशायां भवा जाता वा । *सौतङ्गमीभार्य* इति सुतंगमस्यापत्यं स्त्री ऋष्यण, ततो ङीप्रत्ययः सुतंगमादेरिञ् नानीयते 'देशे नाम्नि' (2. 3. 70.) इति भणनात्, यतोऽसौ सौतंगमीति कस्याश्चित् संज्ञा सा भार्याऽस्येति । *कार्त्तवीर्यीभार्य* इति कृतं वीर्यमनेन तस्यापत्यं स्त्री ऋृष्यण् । *अर्धप्रस्थे*ति 'अर्द्धात् परिमाणस्य' (7. 4. 20) इत्यत्राऽकारस्य वृद्धिविधौ वर्जनात् आद्यस्य च वावचनादत्र वृद्ध्यऽभावः । *अन्ये त्वि*ति तेन वैयाकरणीभार्य इत्यत्र स्वरस्थानवृद्ध्य-भावेऽपि पुंवन्निषेधः, न ह्यत्रैकारः स्वरस्थानी । ईषतीति 'नाम्युपान्त्य' (5. 1. 54.) इति के ईषा ।।3. 2. 55.।।

स्वाङ्गान्ङीर्जातिश्चामानिनि ।। 3. 2. 56. ।।

स्वाङ्गाद्यो विहितो ङीस्तदन्तो जातिवाची च यः शब्दः परतः स्त्री स पुंवन्न भवति, अमानिनि मानिन्शब्दश्चेत्परो न भवति । दीर्घकेशीभार्यः, चन्द्रमुखीभार्यः, कलकण्ठीदेश्या, तनुगात्रीचरी, चन्द्रमुखीयते । जाति-कठीभार्यः, बह्वृचीभार्यः, कठीदेश्या, बह्वृचीचरी, शूद्राभार्यः, क्षत्त्रियाभार्यः, शुद्रापाशा, क्षत्त्रियादेश्या ।

आकृतिग्रहणा जातिः, अत्रिलिङ्गा च यान्विता ।
आजन्मनाशमर्थानां सामान्यमपरे विदुः ।।1।।

अत्र प्रथमजातिलक्षणानुसारेण कुमारीभार्यः, किशोरीभार्य इति भवति, द्वितीयजातिल-क्षणानुसारेण कुमारभार्यः, किशोरभार्य इति भवति, न हि कुमारत्वादि उत्पत्तेः प्रभृत्यावि-नाशमनुवर्तते । स्वाङ्गादिति किम् ? पटुभार्यः । ङीरिति किम् ? सकेशभार्यः । अमानिनीति किम् ? दीर्घकेशमानिनी, कठमानिनी-असमासनिर्देशः सुखार्थः ।।56।।

न्या० स०—स्वाङ्गान्ङी० । शूद्रेति शीयते वर्जयति षट् कर्माणीति शूद्रः 'शदेरूच्च' 394 (उणादि) पूर्वत्र जातिलक्षणे उक्तेऽपि अत्रैवंविधा जातिर्ग्राह्येति वैचित्र्यार्थमाह-*आकृतिग्रहणे*ति

ततश्च आकृतिग्रहणा जातिरिति प्रथमा जातिः । अनया च कुमारीभार्यः किशोरीभार्य इति सिद्धम् । *अत्रिलिङ्गा च यान्विता आजन्मनाशमर्थानामि*ति द्वितीया, केचित्तु आजन्मनाशमर्थानामन्विता इति आकृतिग्रहणा जातिरित्यस्य विशेषणं कुर्वन्ति, तन्मताभिप्रायेण कुमारभार्यः किशोरभार्य इत्येव भवति । न हि कुमारत्वादि उत्पत्तेः प्रभृति आविनाशमऽनुवर्त्तते ।।3. 2. 56.।।

पुंवत्-कर्म्मधारये ।। 3. 2. 57. ।।

परतः स्त्र्यनूङ् कर्मधारये समासे स्त्र्येकार्थे उत्तरपदे परे पुंवद्भवति, प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थ आरम्भः । नाप्प्रियादौ (3. 2. 53.) इत्युक्तं तत्रापि भवति, कल्याणी चासौ प्रिया च कल्याणप्रिया, एवं कल्याणमनोज्ञा, 'तद्धिताककोपान्त्यपूरण्याख्याः' (3. 2. 54.) इत्युक्तं तत्रापि भवति, मद्रिका चासौ भार्या च मद्रकभार्या, लाक्षिकबृहतिका, पाचकवृन्दारिका, कारकवृन्दारिका, पञ्चमवृन्दारिका, षष्ठवृन्दारिका, दत्तवृन्दारिका, गुप्तवृन्दारिका, 'तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुररक्तविकारे' (3. 2. 55.) इत्युक्तं तत्रापि भवति, माथुरी चासौ वृन्दारिका च माथुरवृन्दारिका, स्रौघ्नवृन्दारिका, 'स्वाङ्गान्ङीर्जातिश्चामानिनि' (3. 2. 56.) इत्युक्तं तत्रापि भवति, चन्द्रमुखी चासौ वृन्दारिका च चन्द्रमुखवृन्दारिका, दीर्घकेशवृन्दारिका, कठवृन्दारिका, बह्वृचवृन्दारिका, वतण्डस्यापत्यं वातण्ड्यः, स्त्री चेत् वतण्डी, सा चासौ वृन्दारिका च वातण्ड्यवृन्दारिका ।

गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः स्त्री चेत् गार्गी, सा चासौ वृन्दारिका च गार्ग्यवृन्दारिका, कपोतपाक एव कापोतपाक्यः स्त्री चेत्, कापोतपाका, सा चासौ वृन्दारिका-च कापोतपाक्यवृन्दारिका, कुञ्जस्यापत्यं कौञ्जायन्यः स्त्री चेत् कौञ्जायनी, सा चासौ वृन्दारिका च-कौञ्जायन्यवृन्दारिका, अङ्गस्यापत्यानि अङ्गाः, स्त्रियश्चेदाङ्ग्यः, ताश्च ता वृन्दारिकाश्च अङ्गवृन्दारिकाः, एवं गर्गवृन्दारिकाः । इडविड्, पृथ्, दरद्, उशिज् एते जनपदशब्दाः क्षत्त्रियवाचिनः, एभ्योऽपत्यप्रत्ययस्य स्त्रियां लुपि, इडविट् चासौ वृन्दारिका चेत्यादिविग्रहे--ऐडविडवृन्दारिका, पार्थवृन्दारिका, दारदवृन्दारिका, औशिजवृन्दारिका इति भवति । परतः स्त्रीत्येव ? खट्वावृन्दारिका, अनूङित्येव ? ब्रह्मबन्धूवृन्दारिका ।।57।।

न्या० स०–पुंवत् कर्म्म० । पुंवत् ग्रहणं किमर्थं यतो न कर्म्मधारये इति क्रियते ततः कर्म्मधारये पुंवन्न भवति अपि तु भवत्येव पाश्चात्यसूत्रात् नञिति वर्त्तते ? उच्यते, उत्तरार्थं कृतम् । *लाक्षिकबृहतिका* इति अरक्तविकार इत्यनयाऽपि व्यावृत्त्या सिद्धमिदं तत्कथमऽत्र दर्शितम् ? उच्यते, यदि 'तद्धितः स्वरवृद्धि' (3. 2. 55.) इति निषेधः क्रियते तदानीं सिद्ध्यति व्यावृत्त्या । यदा तु तद्धिताककोपान्त्येति निषेधः प्राप्नोति तदाऽनेनापि पुंवन्न

स्यादिति दर्शितम् । सर्वत्र जातिलक्षणङीबाधको वृन्दारिकाशब्दे अजादित्वादाप् । 'द्व्येषसूतपुत्र-वृन्दारकस्य' (2. 4. 109.) इति विकल्पेन इत्वं भवति । *कापोतपाका* इति कपोतं पचति अण् । अत्राण्लक्षणं जातिनिमित्तं वा ङीप्रत्ययं बाधित्वा 'अजादेः' (2. 4. 16.) इत्याप् ॥3. 2. 57.॥

रिति ॥ 3. 2. 58. ॥

परतः स्त्र्यनूङ् रिति प्रत्यये जातीये देशीये च पुंवद्भवति । पट्वी प्रकारोऽस्याः पटुजातीया, ईषदपरिसमाप्ता पट्वी पटुदेशीया, मद्रकजातीया, मद्रकदेशीया, पाचकजातीया, पाचकदेशीया, पञ्चमजातीया, षष्ठदेशीया, दत्तजातीया, गुप्तदेशीया, माथुरजातीया, स्त्रौघ्नदेशीया, दार्घकेशजातीया, चन्द्रमुखदेशीया, कठजातीया, बह्वृचदेशीया, वातण्डयजातीया, गार्ग्यदेशीया, कापोतपाक्यजातीया, कौञ्जायन्यदेशीया, अङ्गजातीया, गर्गदेशीया, ऐडविडजातीया, पार्थदेशीया, दारदजातीया, औशिजदेशीया, परतः स्त्रीत्येव ? कुटीजातीया, द्रुणीदेशीया । अनूङित्येव ? करभोरूजातीया, मद्रबाहूदेशीया ॥58॥

न्या०स०–रिति० । ननु रानुबन्धा ये प्रत्ययाः ते पानुबन्धाः क्रियन्तां ततश्च 'क्यङ्मानि;' (3. 2. 50.) इति पुंवद्भावसिद्धौ रितीति सूत्रं न कार्यम् ? सत्यं, यदि पानुबन्धाः क्रियन्ते तदा माथुरी प्रकारोऽस्या इति कृते 'तद्धितः स्वर' (3. 2. 55.) इति निषेधः प्राप्नोति तद्बाधनार्थं विधीयते । अप्राप्तप्रापणार्थोऽयमारम्भः । ननु मद्रकजातीया इत्यादिषु 'तद्धिताक-कोपान्त्य' (3. 2. 54.) इत्यादिभिः कथं पुंवन्निषेधो न भवति ? उच्यते, सर्वबाधनार्थं चैतत् वचनमन्यथा क्यङ्मानिरित्पित्तद्धिते इत्येकमेव योगं कुर्यात् ॥3. 2. 58.॥

त्व-ते गुणः ॥ 3. 2. 59. ॥

परतः स्त्र्यनूङ् गुणवचनः शब्दस्त्वत इत्येतयोः प्रत्यययोः परयोः पुमान् भवति । पट्व्याः भावः पटुत्वम्, पटुता, एन्याः भावः एतत्वम्, एतता, श्येन्याः भावः-श्येतत्वम्, श्येतता । त्वत इति किम् ? पट्वीरूप्यम्, पट्वीमयम् ।

गुण इति किम् ? कठीत्वम्, कठीता, दत्तात्वम्, दत्ताता, कर्त्रीत्वम्, कर्त्रीता । केचित्तु जातिसंज्ञावर्जितस्य विशेषणमात्रस्य पुंवद्भावमिच्छन्ति, –पाचिकायाः भावः-पाचकत्वं, पाचकता, मद्रिकायाः भावः–मद्रकत्वम्, मद्रकता, आनुकूलिक्याः भाव आनुकूलिकत्वम्, आनुकूलिकता, आक्षिक्याः-आक्षिकत्वम्, आक्षिकता, द्वितीयायाः द्वितीयत्वम्, द्वितीयता, पञ्चम्याः पञ्चमत्वम्, पञ्चमता, माथुर्याः-माथुरत्वम् माथुरता, स्त्रौघ्न्याः-स्त्रोघ्नत्वम्, स्त्रोघ्नता, चन्द्रमुख्याः-

चन्द्रमुखत्वम्, चन्द्रमुखता, सुकेश्या:-सुकेशत्वं, सुकेशता।

सैन्या: श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-मिथ्यापवादममृजन् वननिम्नगानाम् ।
सस्नु: पय: पपुरनेनिजुरम्वराणि, जक्षुर्बिसन्धृतविकाशिबिसप्रसूना: ।।1।।
तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधान: ।
तदधिवसति मा गा: कामिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ।।2।।

तथा-रसवत्या धूमवत्त्वम्, भुवस्तृणवत्त्वम् शालाया दण्डित्वमित्यादौ ।।59।।

न्या0स0—त्वते गुण: । अनुकूलं वर्त्तते 'तं प्रत्यनोर्लोम' (7. 4. 28.) इति इकण् । अत्र यथा 'भावे त्वतल' (7. 1. 55.) इति विहितस्तल् गृह्यते तथा 'देवात्तल्' (7. 2. 162.) इत्यपि । तेन देव एव देवतेतिवत् ❊ नामग्रहणे ❊ इति न्यायाद् देवीशब्दादपि तलि देवतेति सिद्धम् । ऐश्वर्यरूपगुणाभिधायकत्वाद देवीशब्दोऽपि गुणवचन: । जातिवाचित्वे तु देव्येव देवीता देव्या भावो देवीत्वं देवीतेति भवति । गुण इति गुणद्वारेण गुणिनि वर्त्तमानो गुणवचनो गृह्यते । गुणमात्रवृत्तेरस्त्रीलिङ्गत्वात् पुंभावाऽप्राप्तिरिति । *कठीत्वमि*ति ननु कठीत्वमिति गुण इति व्यावृत्तौ कथं दर्शितं यतोऽत्र गुण इत्यसत्यपि जाते: पुंभावप्रतिषेधादेव न भविष्यति ? नैवं, सर्वापवादत्वादस्य । किंच कर्त्रीत्वं कर्त्रीता इत्यादिक्रियाशब्दार्थं गुणग्रहणं कर्त्तव्यमेव तस्मिंश्च सति जातावपि प्रत्युदाह्रियते । केचित्त्विति तन्मतसंग्रहार्थं गुणो विशेषणमित्यपि व्याख्येयम् ।।3. 2. 59.।।

क्वौ क्वचित् ।। 3. 2. 60. ।।

परत: स्त्री अनूङ् क्वौ पुंवद्भवति, क्वचिल्लक्ष्यानुरोधेन । अमहती महती भूता महद्भूता कन्या, एवं बृहत्कृता, क्वचिद्ग्रहणादगोमती गोमतीभूता गोमतीभूतेत्यादौ न स्यादेव, पट्वीभूता पटूभूता, मृद्रीकृता मृदूकृतेत्यादौ विकल्प: । महतीभूतेत्यपि केचित् ।।60।।

सर्वादयोऽस्यादौ ।। 3. 2. 61. ।।

सर्वादिर्गण: परत: स्त्री पुंवत् भवति, 'अस्यादौ' स्यादिश्चेत्तत: परो न भवति । सर्वासां स्त्रिय: सर्वस्त्रिय:, भवत्या: पुत्र: भवत्पुत्र:, एकस्या: क्षीरमेकक्षीरम्, एकस्या आगतमेकरूप्यम्, एकमयम्, तया प्रकृत्या, तथा, एवं यथा, तस्यां वेलायां-तदा, एवं यदा, कदा, सर्वदा, अन्यदा, तर्हि, यर्हि, कर्हि, सर्वामिच्छति, सर्वकाम्यति, भवत्काम्यति,

एककाम्यति, परत्वात्प्रतिषेध-विषयेऽपि भवति, सर्वा प्रियाऽस्य-सर्वप्रियः, एवं सर्वमनोज्ञः, सर्विका भार्याऽस्य सर्वकभार्यः, एवं विश्वकभार्यः । सर्वादय इति किम् ? कन्यापुरम्, कुमारी-निवासः । अस्यादाविति किम् ? सर्वस्यै, दक्षिणपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वस्यै । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम् तेन भूतपूर्वसर्वादेरपि भवति, दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् इयादि ।।61।।

न्या०स०–सर्वादयो० । *तया प्रकृत्ये*ति स्त्रीत्वव्यक्त्यर्थमिदं वाक्यं तेन प्रकारेणेति वक्तव्ये । अथ चाऽत्र पुंवद्भावः किमर्थः समजनि ? उच्यते, अत्र पुंवद्भावे सति स्त्रियामाप् न भवति । एवं यथा तदेत्यादि । *परत्वादि*ति कल्याणीप्रियेत्यादौ 'नाप्रियादौ' (3. 2. 53.) इत्यादिप्रतिषेधः सावकाशः । भवत्पुत्र इत्यादौ त्वयं विधिः सर्वा प्रियाऽस्य सर्वप्रिय इत्यादौ तूभयप्राप्तौ द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वे परत्वादनेन पुंभाव इत्यर्थः ।

*कन्यापुरमि*ति कन्याशब्दो व्याकरणे कन्य इति पुमानपि प्रसिद्ध इति 'परतः स्त्री' (3. 2. 49.) इति । *अस्यादावि*ति *किमि*ति न च स्याद्युत्पत्तेः प्रागेवात्र पुंभावः कथं न भवतीति वाच्यं । अस्यादाविति वचनात् । यतः परः स्यादिः प्रयुज्यते तस्य पुंभावो न भवति । अन्यथाऽस्यादावित्य-स्यानर्थक्यं स्यात् । अथोत्तरपदे परे इत्यनुवर्त्तनात् सर्वस्यै दक्षिणपूर्वस्यै इत्यादौ निमित्तभूतस्योत्तर-पदस्याभावात् पुंभावो न भविष्यति किमऽस्यादा वित्यनेन ? सत्यं, अत एव सर्वस्यै इत्यादौ निमित्तभूतस्योत्तरपदस्याभावात् पुंभावनिवृत्त्यर्थादऽस्यादाविति वचनादऽत्रोत्तरपद इति नास्तीति ज्ञायते । तेन यथेत्यादावपि पुंभावः सिद्धः ।

न च अस्याःपुत्र इत्याक्रोशे षष्ठ्या अलुप्युत्तरपदे पुंभावनिषेधार्थमऽस्यादाविति वाच्यं, अत्र विभक्त्या व्यवधानादुत्तरपदे सर्वाद्यऽभावात् । एतदर्थत्वे च ङसः प्रतिषेध एव कर्त्तव्यः स्यान्नास्यादाविति । *दक्षिणोत्तरपूर्वाणामि*ति 'न सर्वादिः' (1. 4. 12.) इति सर्वादित्वाभावः । *सर्वस्यै* । *दक्षिणपूर्वस्यै* इत्युक्तं ततश्चात्र पुंवद्भावः स्वयमेव न भविष्यति । सर्वादेर्ङस्पूर्वेति ङस्विधानात्, अन्यथा आबन्तत्वाभावात् स न स्यात् ? उच्यते, यदा सर्वाशब्दादऽग्रे भ्यस् तदापि पुंवत् माभूत् इत्यऽस्यादिग्रहणम् ।।3. 2. 61.।।

मृगक्षीरादिषु वा ।। 3. 2. 62. ।।

मृगक्षीरादिसमासशब्देषु परतः स्त्रीलिङ्गमनेकार्थेऽस्त्र्यर्थे चोत्तरपदे पुंवद्वा भवति । मृग्याः क्षीरं मृगक्षीरम्-मृगीक्षीरम्, एवं मृगपदम्, मृगीपदम्, मृगशावः, मृगीशावः, कुक्कुटाण्डम्, कुक्कुटयण्डम्, मयूराण्डम्, मयूर्यण्डम्, काकाण्डं, काक्यण्डम्, काकशावः, काकीशावः ।

पुंस्त्रीलिङ्गपूर्वपदभेदेन समासविवक्षायां सूत्रानारम्भे मृगक्षीरादयो न सिद्ध्यन्ति, मृगक्षीरादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः ।।62।।

न्या० स०—मृगक्षीरा० । *पुंस्त्रीलिङ्गे*ति ननु मृगस्य पदं मृगपदं मृग्याः पदं मृगीपदमिति कृते सेत्स्यति किमर्थमिदमित्याशङ्का । *मृगक्षीरादय* इति आदिशब्दात् मयूराण्डमित्यादि । एतच्च मृग्याः क्षीरमिति कृते द्रष्टव्यम् ।।3. 2 . 62.।।

ऋदुदित्-तर-तम-रूप-कल्प-ब्रुव-चेलड्-गोत्र-मत-हते वा ह्रस्वश्च ।। 3. 2. 63. ।।

ऋृदिदुदिच्च परतः स्त्रीलिङ्गशब्दस्तरादिषु प्रत्ययेषु ब्रुवादिषु च स्त्र्येकार्थेषूत्तरपदेषु ह्रस्वाऽन्तः पुंवच्च वा भवति । तर, पचन्तितरा, पचत्तरा, पचन्तीतरा, श्रेयसितरा, श्रेयस्तरा, श्रेयसीतरा, विदुषितरा, विद्वत्तरा, विदुषीतरा । तम, पचन्तितमा, पचत्तमा, पचन्तीतमा, श्रेयसितमा श्रेयस्तमा, श्रेयसीतमा, विदुषितमा, बिद्वत्तमा, विदुषीतमा, रूप, पचन्तिरूपा, पचद्रूपा, पचन्तीरूपा, श्रेयसिरूपा, श्रेयोरूपा, श्रेयसीरूपा, विदुषिरूपा, विद्वद्रूपा, विदुषीरूपा । कल्प, पचन्तिकल्पा, पचत्कल्पा, पचन्तीकल्पा, विदुषिकल्पा, विद्वत्कल्पा, विदुषीकल्पा, ब्रुव, पचन्ती चासौ ब्रुवा च पचन्तिब्रुवा, पचद्ब्रुवा, पचन्तीब्रुवा, श्रेयसिब्रुवा, श्रेयोब्रुवा, श्रेयसीब्रुवा, विदुषिब्रुवा, विद्वद्ब्रुवा, विदुषीब्रुवा, चेलट्, टिद्वचनं ङ्यर्थम् पचन्ती चासौ चेली च पचन्तिचेली, पचच्चेली, पचन्तीचेली, श्रेयसिचेली, श्रेयश्चेली, श्रेयसीचेली, विदुषिचेली, विद्वच्चेली, विदुषीचेली ।

गोत्र, पचन्ती चासौ गोत्रा च पचन्तिगोत्रा, पचद्गोत्रा, पचन्तीगोत्रा, श्रेयसिगोत्रा, श्रेयोगोत्रा, श्रेयसीगोत्रा, विदुषिगोत्रा, विद्वद्गोत्रा, विदुषीगोत्रा, मत, पचन्ती चासौ मता च पचन्तिमता, पचन्मता, पचन्तीमता, श्रेयसिमता, श्रेयोमता, श्रेयसीमता, विदुषिमता, विद्वन्मता, विदुषीमता, हत, पचन्ती चासौ हता च पचन्तिहता, पचद्धता, पचन्तीहता, श्रेयसिहता, श्रेयोहता, श्रेयसीहता, विदुषिहता, विद्वद्धता, विदुषीहता, एवं सुदतितरेत्यादि ब्रुवादयः कुत्साशब्दाः 'निन्द्यं कुत्सनैः' (3. 1. 100.) इति च समासः । ऋदुदिदिति किम् ? कुमारितरा, किशोरितरा, किशोरितमा । एकार्थ इत्येव ? पचन्त्या हता-पचन्तीहता । विदुष्या हता-विदुषीहता । तरादिष्विति किम् ? पचत्पाशा । विद्वद्वृन्दारिका ।।63।।

न्या० स०—ऋदुदि० । अत्र श्रेयस् शब्दात् कल्पप् नोदाह्रियते अतमबादेरिति वचनात् । *पचन्तिहतेति* हतशब्दस्य पापादित्वेऽपि सूत्रत्वाद् बाहुलकाद् वा समासः । चेलेति 'चिलत् वसने' चिलति गुणान् इति 'लिहादिभ्यः' (5. 1. 50.) इत्यच् । गोत्रेति अहं पचामीत्येवंरूपां गां वाचं त्रायत इति गोत्रा, 'आतो ड' (5. 1. 76.) इति डः । *मतेति* मन्यतेः सत्यर्थे 'ज्ञानेच्छा' (5. 2. 92.) इत्यादिना क्तः । *कुमारितरेत्यादिषु* 'ङ्यः' (3. 2. 64.) इत्यनेन सूत्रेण ह्रस्वः ॥3. 2. 63.॥

ङ्यः ॥ 3. 2. 64. ॥

ङ्यन्तस्य परतः स्त्रीलिङ्गस्य तरादिषु प्रत्ययेषु ब्रुवादिषु चोत्तरपदेषु एकार्थेषु ह्रस्वोऽन्तादेशो भवति । गौरितरा, गौरितमा, नर्तकिरूपा, कुमारिकल्पा, ब्राह्मणिब्रुवा, गार्गिचेली, ब्राह्मणिगोत्रा, गार्गिमता, गौरिहता । परत्वाद्यथाप्राप्तं पुंवद्भावं बाधते । ङ्य इति किम् ? मद्रिकातरा, कारिकातमा, दत्तारूपा, सेनानीरूपा, ग्रामणीकल्पा । परतः स्त्रिया इत्येव ? बदरीतरा, आमलकीतरा । एकार्थ इत्येव ? ब्राह्मण्या हता ब्राह्मणीहता, 'नवैकस्वराणाम्' (3. 2. 66.) इत्युत्तरत्र वचनादनेकस्वरस्यैवायं विधिः ॥64॥

न्या० स०—ङ्यः । परत्वादिति दर्शनीयतरा विद्वद्वृन्दारिकेत्यादौ पुंभावः सावकाशः, नर्त्तकिरूपेत्यादौ तु कोपान्त्यत्वात् पुंभावप्रतिषेधादयं विधिः गौरितरेत्यादौ तूभयप्राप्तौ 'स्पर्द्धे परः' (7. 4. 119.) इति परत्वादयमेव विधिरित्यर्थः । 'मलि मल्लि धारणे' । आमलिषीष्ट पुष्पफलानीति 'तिक्कृतौ नाम्नि' (5. 1. 71.) इति अकः । अथवा अमण् आमयति श्लेष्मप्रधानमिति *आमलकी* । 'कीचक' 33 (उणादि) इति अकान्तो निपात्यते 'जातेरयान्त' (2. 4. 54.) इति ङी । यन्मते नित्यस्त्री तन्मते गौरादित्वात् ङी । स्वमते तु त्रिलिङ्गः ॥3. 2. 64.॥

भोगवद्-गौरिमतोर्नाम्नि ॥ 3. 2. 65. ॥

भोगवद्गौरिमतोर्नाम्नि संज्ञायां वर्तमानयोर्ङीप्रत्ययस्य तरादिषु प्रत्ययेषु ब्रुवादिषु चोत्तरपदेष्वेकार्थेषु ह्रस्वो भवति । भोगवतितरा, भोगवतितमा, गौरिमतितमा, भोगवतिरूपा, गौरिमतिकल्पा, भोगवतिब्रुवा, गौरिमतिचेली, भोगवतिगोत्रा, गौरिमतिमता, भोगवतिहता । नाम्नीति किम् ? भोगवतितरा, भोगवत्तरा, भोगवतीतरा, एवं गौरिमतितरेत्यादि । उदित्त्वात्पूर्वेण त्रैरूप्यम् ॥65॥

न्या० स०—भोगवद्० । *भोगवती*ति भोगाः सर्प्पकञ्चुकाः सन्त्यस्यां भोगावती नाम नदी 'अनजिरादि' (3. 2. 78.) इति दीर्घत्वं ततोऽत एव निर्देशात् पूर्वस्य ह्रस्वत्वम् । गौरिमतीत्यत्र तु 'ङ्यापो बहुलम्' (2. 4. 99.) इति मतौ ह्रस्वः । गौरीति गौरस्यापत्यं इञ् 'नुर्जातेः' (2. 4. 72.) इति ङीः गौरादित्वाद्वा ।।3. 2. 65.।।

नवैकस्वराणाम् ।। 3. 2. 66. ।।

बहुवचनात्परतः स्त्रीति निवृत्तम्, सामान्येन तु विधानम्, स्त्र्येकार्थे इत्यनुवर्तते । एकस्वरस्य ङ्यन्तस्य तरादिषु प्रत्ययेषु, ब्रुवादिषु चोत्तरपदेषु स्त्र्येकार्थेषु ह्रस्वोऽन्तादेशो भवति वा । स्त्रितरा, स्त्रीतरा, ज्ञस्य भार्या ज्ञी, ज्ञितमा, ज्ञीतमा, अस्यापत्य स्त्री ई, इरूपा, ईरूपा, कस्य भार्या की, किकल्पा, कीकल्पा, ज्ञिब्रुवा, ज्ञोब्रुवा, इचेली, ईचेली, किगोत्रा, कीगोत्रा, स्त्रिमता, स्त्रीमता, स्त्रिहता, स्त्रीहता-एकस्वराणामिति किम् ? कुटीतरा, द्रुणीतमा, आमलकीतरा, बदरीतमा, कवलीरूपा ।

ङ्य इत्येव ? श्रीतरा, हीतमा, धीरूपा, एकार्थ इत्येव ? स्त्रिया हता-स्त्रीहता । नित्यदितामनेकस्वराणाम पीच्छन्त्येके, तन्मते,—आमलकितरा, बदरितमा, कुवलिरूपा, लक्ष्मिकल्पा, तन्त्रितरेत्याद्यपि भवति ।।66।।

न्या० स०—नवैक० । ज्ञीतमा कीकल्पा इत्यादौ ह्रस्वविकल्पपक्षे पुंवन्न भवति, धवयोगे ङ्यां पश्चात्संज्ञाविवक्षायां 'तद्धिताकको' (3. 2. 54.) इति निषेधात् कौण्डिन्यागस्त्ययोरिति ज्ञापकेन पुंभावाऽनित्यत्वाद्वा । ईरूपा इत्यत्र तु गोत्रं च चरणैः सहेति जातित्वे 'स्वाङ्गान्ङीः' (3. 2. 56.) इति निषेधात् रूपसाम्याद्वा न पुंवत् । ईचेलीत्यत्रापि 'पुंवत्कर्म्मधारये' (3. 2. 57.) इत्यनेन प्राप्तः पुंभावोऽनित्यत्वान्न भवति । कुटीतरेति परतः स्त्रीत्वाभावात् 'ङ्यः' (3. 2. 64.) इत्यपि नित्यं ह्रस्वो न भवति ।।3. 2. 66.।।

ऊङः ।। 3. 2. 67. ।।

ऊङन्तस्य तरादिषु प्रत्ययेषु, ब्रुवादिषु चोत्तरपदेषु स्त्र्येकार्थेषु वा ह्रस्वो भवति । ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा, वामोरुतमा, वामोरूतमा, मद्रबाहुरूपा, मद्रबाहूरूपा, कमण्डलुकल्पा, कमण्डलूकल्पा, कद्रब्रुवा, कद्रुब्रुवा, पङ्गुचेली, पङ्गूचेली, श्वश्रूगोत्रा, श्वश्रूगोत्रा, कुरुमता, कुरूमता, भीरुहता, भीरूहता । एकार्थ इत्येव ? भीर्वा हता-भीरूहता ।।67।।

महतः कर-घास–विशिष्टे डाः ।। 3. 2. 68. ।।

करादिषूत्तरपदेषु महतो डा इत्ययमन्तादेशो वा भवति । वैयधिकरण्ये इयं विभाषा, सामानाधिकरण्ये तु परत्वादुत्तरेण नित्य एव विधिः । महतां करः महाकरः, महत्करः, कर एव कार इति महाकारः, महत्कारः, महाघासः, महद्घासः, महाविशिष्टः, महद्विशिष्टः । महत इति किम् ? राजकरः– करादिष्विति किम् ? महतः पुत्रः महत्पुत्रः, डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः, स च उत्तरार्थः ।।68।।

स्त्रियाम् ।। 3. 2. 69. ।।

स्त्रियां वर्तमानस्य महतः करादिषूत्तरपदेषु नित्यं डा अन्तादेशो भवति । महत्याः करः–महाकरः, एवं महाघासः, महाविशिष्टः । *'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'* इति पूर्वेणैव सिद्धे, नित्यार्थमिदम् ।।69।।

जातीयैकार्थेऽच्वे ।। 3. 2. 70. ।।

महतोऽच्व्यन्तस्य जातीयप्रत्यये, एकार्थे चोत्तरपदे डान्तादेशो भवति । महान् प्रकारोऽस्य इत्यादि, महाजातीयः, महाजातीया । एकार्थे, महांश्चासौ वीरश्च महावीरः । एवं महामुनिः, महान् भागोऽस्य-महाभागः । एवं महायशाः। महती चासौ देवी च-महादेवी, एवं महाराज्ञी, महती कीर्तिरस्य महाकीर्तिः, महास्तुतिः, महांश्चासौ करश्च, महान् करोऽस्येति वा महाकरः, एवं महाघासः, महाविशिष्टः, महान्तमात्मानं मन्यते महामानी, एवं महंमन्यः– खशि डाह्रस्वत्वे मोऽन्तः । जातीय-एकार्थ इति किम् ? प्रकृष्टो महान् महत्तरः, महत्याः पुत्रो महतीपुत्रः, महत्याः पतिः महतीपतिः, अच्वेरिति किम् ? अमहान् महान् संपन्नो महद्भुतश्चन्द्रमाः, अमहती महती संपन्ना महद्भूता कन्या ।।70।।

न्या0स0–जातीयैका0 । महाकर इति करादिष्वपि सामानाधिकरण्य (सामानाधिकरण्ये परत्वादिति पाठान्तरम्) फलत्वान्नित्यमस्य प्रवृत्तिं दर्शयितुमाह–*एकार्थ* इति *किमि*ति नन्वेकार्थ इति किमर्थं जातीये चेति कृतेऽपि चकारेण उत्तरपदाकर्षणात् तेन च समासाक्षेपात् लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया च 'सन्महत्परम्' (3. 1. 107.) इति प्रतिपदोक्तस्यैव समासस्य ग्रहणाल्लाक्षणिके षष्ठीतत्पुरुषे न भविष्यति ? नैवं, षष्ठीतत्पुरुषवत् महान् भागोऽस्येत्यादौ बहुव्रीहावपि न स्यात् । महान् संपन्न इति संपन्न इत्यर्थकथनम्, अमहान् महान् भूत

इति तु दृश्यमऽन्यथा च्वेरऽभावः ॥3. 2. 70.॥

न पुंवन्निषेधे ॥ 3. 2. 71. ॥

महतः पुंवन्निषेधविषये उत्तरपदे डा न भवति । महती प्रिया अस्य महतीप्रियः, महतीमनोज्ञः ॥71॥

इच्यस्वरे दीर्घ आच्च ॥ 3. 2. 72. ॥

इच्प्रत्ययान्तेऽस्वरादावुत्तरपदे परे पूर्वपदस्य दीर्घ आकारश्चान्तादेशो भवति । बाहुषु च बाहुषु च मिथो गृहीत्वा व्यासक्तं बाहूबाहवि व्यासजेताम्, बाहाबाहवि, एवं केशाकेशि, मुष्टिभिश्च, मुष्टिभिश्च प्रहृत्य कृतं युद्धं मुष्टीमुष्टि, मुष्टामुष्टि, एवं यष्टायष्टि, यष्टीयष्टि दण्डादण्डि, दीर्घत्वात्वयोरकारान्तादन्यत्र विशेषः । दीर्घसाहचर्यादात्वमपि स्वरान्तानामेव भवति, तेनेह न भवति, दोर्दोषि, धनुर्धनुषि । अस्वर इति किम् ? अस्यसि, इष्विषवि ॥72॥

न्या० स०–इच्यस्वरे० । *साहचर्यादिति* ❇ *स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः* ❇ इति न्यायादित्यर्थः ॥3. 2. 72.॥

हविष्यष्टनः कपाले ॥ 3. 2. 73. ॥

हविष्यभिधेयेऽष्टन्शब्दस्य कपाले उत्तरपदे दीर्घोऽन्तादेशो भवति अष्टसु कपालेषु संस्कृतम्-अष्टाकपालं हविः । हविषीति किम् ? अष्टानां कपालानां समाहारः–अष्टकपालम्, पात्रादित्वात्स्त्रीत्वाभावः । कपाल इति किम् ? अष्टपात्रं हविः ॥73॥

न्या० स०–हवि० । प्रायोगिकस्य बहुसंख्यार्थाभिधायकस्याऽष्टन् इत्यनुकरणम्, ततः प्रायोगिकस्यैकसंख्यस्य शब्दस्याभिधायकमिति षष्ठ्येकवचनम् । अनुक्रियमाणस्य स्वरूपविनाशप्रसङ्गात् 'अनोऽस्य' (2. 1. 108.) इत्यकारलोपो न भवति । *अष्टाकपालमिति* अत्राष्टनो व्यञ्जनान्तत्वाव्यभिचाराद् दीर्घे परविधौ नलोपस्या (क्वचिदऽसत्त्वेऽपीति पाठः स च प्रकटार्थः) भावेऽपि दीर्घस्य स्वरधर्म्मत्वादकारस्योपान्त्यस्यापि स्वरापेक्षयान्त्यत्वाद्वा दीर्घोऽनेन ॥3. 2. 73.॥

गवि युक्ते ॥ 3. 2. 74. ॥

अष्टन्शब्दस्य गव्युत्तरपदे युक्तेऽभिधेये दीर्घोऽन्तादेशो भवति । अष्टागवं शकटम्, अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते उत्तरपदे परे द्वयोर्द्विगुः 'गोस्तत्पुरुषात्' (7. 3. 105.) इत्यट् समासान्तः, तत्र दीर्घत्वेन युक्तार्थसंप्रत्ययाद्-गतार्थत्वाद्युक्तशब्दस्य निवृत्तिः, अथवा-समाहारद्विगुः, तत्र साहचर्यादुपचारादष्टगवेन युक्तं शकटमष्टागवमुच्यते, गवीति किम् ? अष्टतुरगो रथः । युक्त इति किम् ? अष्टगवम् ब्राह्मणधनम्, अष्टगुश्चैत्रः ॥74॥

न्या० स०—गवि युक्ते । अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन् शकटे अष्टागवं शकटमिति उक्तं ततश्च अन्यपदार्थे शकटेऽभिधेये किमिति समासः क्रियते यतोऽष्टौ गावो युक्ता इति कथं न क्रियते यत इति कृतेऽपि युक्तोऽर्थो गम्यते । यतोऽष्टौ गावो युक्ताः कोऽर्थोऽष्टौ गावः संबद्धा इत्यर्थ इति युक्तोऽर्थोऽत्रापि गम्यते तत्कथमऽन्यपदार्थे क्रियते ? उच्यते, प्रत्यासत्तिन्यायात् यदा तैर्गोभिर्युक्तं वाच्यं शकटं भवति तदाऽनेनाकार इष्यते । यतस्तैर्गोभिर्युक्तं शकटमेवासन्नमस्तीति प्रत्यासत्तिः ।

तर्हि कथं गवीति किं अष्टतुरगो रथ इत्यत्र द्व्यङ्गविकलत्वं व्यावृत्तेर्यतो युक्तोऽप्यर्थो नास्ति ? उच्यते, अष्टौ तुरगा अस्य रथस्येत्यत्र विद्यते षष्ठी सा च योज्ययोजकसंबन्धेऽस्ति । ततश्च योज्यास्तुरगाः संबद्धाः कर्तव्याः केन ? योजकेन देवदत्तलक्षणेन परं सहसामर्थ्याद् रथेनैवेति युक्तोऽर्थोऽस्तीति न द्व्यङ्गविकलत्वं व्यावृत्तेः । उपचारो ह्यनेकधाऽत आह *साहचर्यादिति* । *अष्टतुरगो रथ* इति अष्टानां तुरगाणां समाहारः पात्रादित्वात् अष्टतुरगमत्राऽस्ति अभ्रादित्वादः । इदं यदि न क्रियते तदा द्वयङ्गविकलता स्यात् । *अष्टगवमिति* अष्टानां गवां समाहारे 'गोस्तत्पुरुषात्' (7. 3. 105.) अट् समासान्तः ॥ 3. 2. 74. ॥

नाम्नि ॥ 3. 2. 75. ॥

अष्टन्शब्दस्योत्तरपदे परे नाम्नि संज्ञायां दीर्घोऽन्तादेशो भवति । अष्टौ पदान्यत्र अष्टापदः कैलाशः, अष्टापदं-सुवर्णम् अष्टावक्रो मुनिः, अष्टाविटपो नाम कश्चित् । नाम्नीति किम् ? अष्टदण्डः, अष्टगुणमैश्वर्यम् ॥75॥

न्या० स०—नाम्नि । अष्टापदमिति अष्टसु लोहेषु पदं प्रतिष्ठा यस्य तत् ॥ 3. 2. 75. ॥

कोटर-मिश्रक-सिध्रक-पुरग-सारिकस्य वणे ॥ 3. 2. 76. ॥

कोटरादीनां कृतणत्वे वनशब्दे उत्तरपदे दीर्घोऽन्तादेशो भवति 'नाम्नि' संज्ञायां विषये ।

कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, पुरगावणम्, सारिकावणम्, 'पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः' (2. 3. 65.) इति णत्वे सिद्धे कृतणत्वस्य वनशब्दस्य निर्देशो नियमार्थः, तेन पूर्वपदस्थादिति सूत्रेण वनशब्दस्य णत्वमाकारसंनियोगे एव भवति, ततश्च कुबेरवनम्, शतधारवनम् इत्यादौ संज्ञायामपि णत्वं न भवति ॥76॥

न्या० स०—कोटर० । *पूर्वपवस्थादिति* अथ समासे कृते दीर्घे च नामत्वाद् वनशब्दस्य पूर्वपदस्थादित्येव णत्वं भविष्यति किमर्थं कृतणत्वस्य वनशब्दस्य निर्देश इत्याशङ्का । *पुरगावणमिति* पुरं गच्छतीति 'नाम्नो गमः' (5. 1. 131.) इति डः । *सारिकावणमिति* सारोऽस्त्येषां 'अतोऽनेक' (7. 2. 6.) इति इकः *कुबेरवनमिति* । कुत्सितं कुष्ठित्वात् बेरं शरीरमऽस्य ॥3. 2. 76.॥

अञ्जनादीनां गिरौ ॥ 3. 2. 77. ॥

अञ्जनादीनां गिरावुत्तरपदे दीर्घोऽन्तादेशो भवति, नाम्नि । अञ्जनागिरिः, भाञ्जनागिरिः, किंशुकागिरिः, किंशुलकागिरिः, साल्वागिरिः, लोहितागिरिः, कुक्कुटागिरिः, खद्रूनागिरिः, नलागिरिः, पिङ्गलागिरिः । अञ्जनादीनामिति किम् ? नाम्नीत्येव ? अञ्जनस्य गिरिः- अञ्जनगिरिः । अञ्जन, भाञ्जन, किंशुक, किंशुलक, साल्व, लोहित, कुक्कुट, खद्रून, (खडून) नल, पिङ्गल इत्यञ्जनादिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥77॥

न्या० स०—अञ्जनादीनां । *अञ्जनागिरिरिति* अञ्जनवृक्षस्य उपचाराद् गिरिरञ्जनागिरिः । *भाञ्जनागिरिरिति* भज्यतेऽनेन भञ्जनः तत्र कुशलः कुशलेऽणि भाञ्जनो राजा । *साल्वागिरिरिति* सल्यन्ते व्यवहारिभिरिति 'सलेर्णिद्वा वा' 510 (उणादि) इति वे साल्वा जनपदः । *खद्रूनागिरिरिति* अश्नुते भावान् 'अशेर्डित्खः' 87 (उणादि) खं द्रूनमेभिः ? खद्रूना वृक्षाः । *नलागिरिरिति* णल गन्धेऽच् । *पिङ्गलागिरिरिति* 'आतोडोऽह्वावामः' (5. 1. 76.) इति ङः ॥3. 2. 77.॥

अनजिरादिबहुस्वर-शरादीनां मतौ ॥ 3. 2. 78. ॥

अजिरादिवर्जितबहुस्वराणां शरादीनां च मतौ प्रत्यये दीर्घोऽन्तादेशो भवति, नाम्नि । बहुस्वर,—उदुम्बरावती, मशकावती, वीरणावती, पुष्करावती, अमरावती, शरादि, शरावती, वंशावती, शुचीमती, कुशावती, धूमावती, अहीवती, कपीवती, मुनीवती, मणीवती, वार्दावान्नाम गिरिः, वेटावान्नाम गिरिः । शर, वंश, शुचि, कुश, धूम, अहि, कपि, मुनि, मणि, वार्द वेट इति शरादिः ।

बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेन ॠषीवती, मृगावती, पद्मावती, वातावती, भोगावतीत्यादि सिद्धम् । बहुस्वरशरादीनामिति किम् ? व्रीहिमती, इक्षुमती, द्रुमती, मधुमती । बहुस्वरस्यानजिरादिविशेषणं किम् ? अजिरवती, खदिरवती, खपुरवती, स्थविरवती, पुलिनवती, मलयवती, हंसकारण्डववती, चक्रवाकवती, अलंकारवती, शशाङ्कवती । हिरण्यवती, अजिरादिराकृतिगणः । नाम्नीत्येव ? वलयवती कन्या, शरवती तूणा ।।78।।

न्या०स०—अनजिरा० । *उदुम्बरावती*ति उदुम्बराः सन्त्यस्यामित्यादिश्चातुरथिको नद्यां मतुः 'नाम्नि' (2. 1. 95.) इति मस्य वः । *पुष्करावती*ति पुष्करशब्दात् मत्वर्थवर्जं मतुः मत्वर्थे तु 'पुष्करादेर्देशे' (7. 2. 70.) इतीन् स्यात् । शुचीमती इत्यत्र शुचिरस्त्यस्यां नोर्म्यादित्वाद् वत्वाभावः । *वार्दावानि*ति वारं ददातीति 'आतो डो' (5. 1. 76.) इति डः वार्दा मेघास्ते सन्त्यत्र 'मध्वादेः' (6. 2. 73.) इति मतुः ।

*वेटावानि*ति वेटन्ति पक्षिभिरऽचि वेटा वृक्षास्ते सन्त्यत्र । *मलयवती*ति मलयस्य पर्वतस्य अदूरभवा 'नद्यां मतुः' (6. 2. 62.) *हंसकारण्डववती*ति हंसश्च कारण्डवश्च हंसकारण्डवावऽस्यां स्तः मतुः । यदा हंसकारण्डवतीति दृश्यते । तदा करण्डः 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' (7. 2. 165.) हंसस्य कारण्डः हंसकारण्डः । *चक्रवाकवती*ति चक्रस्येव वाको वाग्यस्य चक्रशब्देनोच्यते वा घञ् ।।3. 2. 78.।।

ऋषौ विश्वस्य मित्रे ।। 3. 2. 79. ।।

विश्वशब्दस्य मित्रे उत्तरपदे, ऋषावभिधेये नाम्नि विषये, दीर्घोऽन्तादेशो भवति । विश्वामित्रो नामर्षिः । ऋषाविति किम् ? विश्वमित्रो माणवकः नाम्नीत्येव ? विश्वं मित्रमस्य विश्वमित्रो मुनिः ।।79।।

नरे ।। 3. 2. 80. ।।

विश्वशब्दस्य नरशब्दे उत्तरपदे नाम्नि विषये दीर्घोऽन्तादेशो भवति । विश्वे नरा अस्य विश्वानरो नाम कश्चित् । नर इति किम् ? विश्वसेनः । नाम्नीत्येव ? विश्वनरो राजा ।।80।।

वसु-राटोः ।। 3. 2. 81. ।।

पृथग्योगान्नाम्नीति निवृत्तम्, विश्वशब्दस्य वसौ, राटि चोत्तरपदे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । विश्वं वस्वस्य विश्वावसुः, विश्वस्मिन् राजते इति विश्वाराट् ! राडिति विकृतनिर्देशादिह न भवति । विश्वराजौ, विश्वराजः ।।81।।

वलच्यपित्रादेः ॥ 3. 2. 82. ॥

वलच्प्रत्यये परे पित्रादिवर्जितानां स्वरान्तानां शब्दानां दीर्घोऽन्तादेशो भवति । आसुतिः सुरा साऽस्यास्तीत्यासुतीवलः, एवम् कृषीवलः, दन्तावलः, उत्सङ्गावलः, पुत्रावलः । अपित्रादेरिति किम् ? पितृवलः, मातृवलः, भ्रातृवलः, उत्साहवलः । चकारः किम् ? उत्तरपदे माभूत् कायवलम्, नागवलम् ॥82॥

न्या० स०–वलच्य० । आसवनमासुतिः 'समिणासुगः' (5. 3. 93.) क्तिः प्रत्ययः । कृष्यादिभ्यो वलच् । *चकारः किमिति* ❊ प्रत्ययाऽप्रत्यययोः ❊ इति न्यायस्तु कादाचित्क इत्याह-उत्तरेति ॥ 3. 2. 82. ॥

चितेः कचि ॥ 3. 2. 83. ॥

चितिशब्दस्य कचि प्रत्यये परे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । एकाचितिरस्मिन् एकचितीकः, द्विचितीकः, त्रिचितीकः ॥83॥

स्वामिचिह्नस्याऽविष्टा-ऽष्ट-पञ्च-भिन्नच्छिन्न-च्छिद्र-स्रुव-स्वस्तिकस्य कर्णे ॥ 3. 2. 84. ॥

स्वामी चिह्न्यते येन तत्स्वामिचिह्नम्, तद्वाचिनो विष्टादिवर्जितस्य कर्णशब्दे उत्तरपदे परे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । दात्रमिव दात्रम्, दात्रं चिह्नं कर्णे यस्य स दात्रमिव वा कर्णौ यस्य स दात्राकर्णः पशुः, एवं शङ्कूकर्णः, द्विगुणाकर्णः, द्व्यङ्गुलाकर्णः । स्वामिचिह्नस्येति किम् ? शोभनकर्णः । स्वामिग्रहणं किम् ? लम्बकर्णः अविद्धकर्णः, शिशुः । चिह्नग्रहणं किम् ? वाहनस्य कर्णः वाहनकर्णः विष्टादिवर्जनं किम् ? विष्टकर्णः, अष्टकर्णः, पञ्चकर्णः, भिन्नकर्णः, छिन्नकर्णः, छिद्रकर्णः, स्रुवकर्णः, स्वस्तिककर्णः । कर्ण इति किम् ? चक्रसक्थः ॥84॥

न्या० स०–स्वामि० । चिह्नं करोति णिज् ततः स्वामी चिह्न्यते येन 'वर्षादयः क्लीबे' (5. 3. 29.) इत्यल् । *तद्वाचिन* इति कर्ण्णस्य यथा स्वरूपेण ग्रहणं नैवं स्वामिचिह्नस्य । एतच्च विष्टादीनां चिह्नवाचिनां दीर्घप्रतिषेधात् ज्ञायते । स्वरूपग्रहणे हि विष्टादीनां प्रतिषेधो व्यर्थः स्यात् । द्विगुणाकर्ण्ण इति द्विगुणं चिह्नं कर्ण्णे यस्य । *द्व्यङ्गुलाकर्ण्ण* इति द्वे अङ्गुले मानमस्य द्वे अङ्गुली मानमस्येति वा वाक्ये तद्धितप्रत्यये विषयभूते 'संख्याव्ययादङ् गुलेः'

(7. 3. 124.) इति डः । पश्चान्मात्रट्, 'द्विगोः संशये च' (7. 1. 144.) इति लुप् द्व्यङ्गुलं कर्ण्णयोर्यस्य यद्वा द्वयोरङ्गुल्योः समाहारः 'संख्याव्ययादङ्गुलेर्डः' (7. 3. 124.) द्व्यङ्गुलं कर्ण्णे यस्य । शोभनकर्ण्ण इति शोभनत्वमनेकविधमिति तच्चिह्नमपि न भवति । लम्बकर्ण्णत्वं-त्वेकविधमिति चिह्नं भवति परं न स्वामिन इति परस्परं सादृश्यं नास्ति ।

वाहनकर्ण्ण इति उह्यते तेन करणेऽनट् 'वाह्याद्वाहनस्य' (2. 3. 72.) इति निर्देशाद् दीर्घः । यद्वा वहनमेव 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' (7. 2. 165.) यद्वा वाह्यते तदिति णिगन्तात् भुजिपत्यादित्वादनटि वाहनम् । *विष्टकर्ण्ण* इत्यादि विष्टं प्रविष्टं व्याप्तं वा चिह्नं कर्ण्णे यस्य विशेर्विषेरशौटेश्च कर्मणि क्ते विष्टाष्टशब्दौ । संख्यावचनो वाऽष्टशब्दः । एवं पञ्चशब्दोऽपि । भिदेश्छिदेश्च क्ते 'रदादमूर्च्छ' (4. 2. 69.) इति दतयोर्नत्वे छिन्नभिन्नौ छिदेः 'ऋज्यजि' 388 (उणादि) इति रे छिद्रं, स्रवत्य-स्मादिति 'निघृषि' 511 (उणादि) इति किति वप्रत्यये स्रुवः ।

स्वस्तिशब्दोऽव्ययं स्वस्ति कायति स्वस्तिकः । विष्टं कर्ण्णे यस्य । अष्टं कर्ण्णे यस्य । संख्यापक्षे तु अष्टौ कर्णेऽस्य । अष्टपञ्चशब्दौ चाऽत्र अष्टगुणे पञ्चगुणे च चिह्नविशेषे वर्त्तेते । भिन्नौ कर्ण्णौ यस्य । छिन्नौ कर्ण्णौ यस्य, भेदच्छेदौ हि स्वामिविशेषज्ञापनाय कर्ण्णयोः क्रियेते । एवं छिद्रमपि । स्रुवाकारं चिह्नं स्रुवेणोच्यते । स्वस्तिकः साक्षादेव चिह्नं तत्कर्ण्णे यस्य । *चक्रसक्थ* इति चक्रं सक्थनि अस्य 'सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे टः' (7. 3. 126.) ॥3. 2. 84. ॥

गति-कारकस्य नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनौ क्वौ ॥ 3. 2. 85. ॥

गतिसंज्ञस्य कारकवाचिनश्च नह्यादिषु क्विबन्तेषूत्तरपदेषु परेषु दीर्घोऽन्तादेशो भवति । उपनह्यति उपनह्यते वा उपानत् परीणत्, वृत्,—नीवृत्, उपावृत्, वृष्,—प्रावृट्, परीवृट्, व्यध्,—श्वावित्, मर्मावित्, रुच्,—नीरुक्, अतीरुक्, अभीरुक्, सह्-तुरासट्, ऋतीषट्, भीरुष्ठानादित्वात् षत्वम्, जलासट्, तन्, —परीतत्, 'गमां क्वौ' (4. 2. 58.) इति नलोपः । गतिकारकस्येति किम् ? पटुरुक्, तिग्मरुक्, तीव्ररुक्, श्वेतरुक्, कमलरुक् केचित्तु रुजा-विच्छन्ति न रुचौ,—तेन रुजरुच्योर्मतभेदेन विकल्पः सिद्धः, रुज्,—निरुक्, नीरुक्, रुच्,—अतिरुक्, अतीरुक् । क्वाविति किम् ? उपनद्धम्, विततम् । इह क्विग्रह—णादन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिर्लभ्यते, तेनायस्कृतम् अयस्कार इत्यादौ सकारः सिद्धो भवति, अन्यथा ह्ययस्कृदित्यत्रैव स्यात् ॥85॥

न्या० स०—गतिकारक० । प्रवर्षन्ति मेघा अस्यां अनट्बाधकः 'क्रुत्संपदा' (5. 3. 114.)

इति क्विप् । *तुरासडिति* तुरेर्जु होत्यादिपाठात् तुतोर्त्ति 'नाम्युपान्त्य' (5. 1. 54.) इति कः । तुरं सहति तुरासट् । तुरासाडिति तु छान्दसः । ऋतीषडिति अरणमृतिः पीडा तां सहते । *पटुरुगित्यादि* प्रत्यासत्त्या रुच्यादिक्रियापेक्षं कारकत्वं गृह्यते तेन पट्वी तिग्मा तीव्रा श्वेता कमलेव रुग् यस्येत्येवं वर्त्तत‌इत्यादिक्रियापेक्षे कारकत्वे न भवति ।।3.2.85.।।

घञ्युपसर्गस्य बहुलम् ।। 3. 2. 86. ।।

घञन्ते उत्तरपदे परे उपसर्गस्य बहुलं दीर्घोऽन्तादेशो भवति । नीक्लेदः, नीमेदः, नीमार्गः, नीवारः, प्रावारः, नीशारः, क्वचिन्न भवति-निषादः, विषदनं विषादः, प्रतपनं प्रतापः, प्रभावः, प्रभारः, प्रहारः, क्वचिद्विकल्पः— प्रतीवेशः, प्रतिवेशः, प्रतीपादः 2, प्रतीबोधः 2, परीणामः 2, प्रतीहारः 2, प्रतीकारः 2, अतीसारः 2, वीसर्पः 2, क्वचिद्विषयभेदेन-प्रासादो गृहम्, प्रसादोऽन्यः, प्राकारो वप्रः, प्रकारोऽन्यः, अपामार्ग औषधिः, अपमार्गोऽन्यः, नीहारो हिमम्, निहारोऽन्यः ।

परीरोधो मृगावरोधः, परिरोधोऽन्यः, परीहारो देशानुग्रहः, परिहारोऽन्यः, वीतंसः-पक्षिबन्धनम्, वितंसोऽन्यः । उपसर्गस्येति किम् ? चन्दनसारः, खदिरसारः, मार्गमतिक्रान्तः अतिमार्गः घञीति किम् ? अवसायः अवहारः णप्रत्ययोऽयम् । बहुलवचनादनुपसर्गस्यापि अघञ्यपि च भवति दक्षिणापथः, उत्तरापथः क्वचिद्विकल्पः अन्धतमः, अन्धातमः, अन्धतमसम्, अन्धातमसम् । क्वचिद्विषयभेदेन अधीदन्तः, अधीकर्णः, अधीकण्ठः, अधीपादः—एते आधिक्ये, अन्यत्र अधिदन्त इत्यादि भवति । क्वचिदनुत्तरपदेऽपि विकल्पः पूरुषः, पुरुषः, नारकः, नरकः, सादनम्, सदनम्, अतिशायनम्, अतिशयनम् । काशशब्दे च घञन्ते विकल्पः—नीकाशः, निकाशः, प्रतीकाशः, प्रतिकाशः, अजन्ते तूत्तरो विधिः ।।86।।

न्या० स०—घञ्युप० । *देशानुग्रहो* हिण्डः । उत्तरपदाऽधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणमिति ज्ञापितेऽपि धातोर्विधीयमानस्य घञ उपसर्गपरत्वासंभवेन सामर्थ्यात् घञन्तस्योत्तर-पदस्य ग्रहणं न्याय्यम् । *वीतंस* इति भूषतसु० नोन्ते वितंस्यते घञ् । *अन्धातमसमिति* अमत्यन्येनाकृष्यमाणः 'स्कन्द्यमिभ्यां धः' 251 (उणादि) अन्धं करोति णिज् । 'अन्धण् दृष्ट्युपसंहारे' अस्माद् वाऽच् । अन्धं च तत्तमश्च समवान्धात्तमसोऽत् समासान्तः । *काशशब्दे चेति* । *बहुल-वचनादेवेति* यदि घञि विकल्पः तर्हि उत्तरो नित्यविधिः क्व स्यादित्याह-*अजन्तेत्विति* ।।3. 2. 86.।।

नामिनः काशे ।। 3. 2. 87. ।।

नाम्यन्तस्योपसर्गस्य 'अच्' (5. 1. 49.) इत्यजन्ते काशशब्दे उत्तरपदे परे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । निकाशते निकाश्यत इति वा नीकाश:, विकाशते इति वीकाश:, अनूकाश:, प्रतीकाश: । बहुलाधिकारान्निकाश इत्यपि । नामिन इति किम् ? प्रकाशते इति प्रकाश: ।।87।।

दस्ति ।। 3. 2. 88. ।।

दा इत्येतस्य यस्तकारादिरादेशस्तस्मिन्परे नाम्यन्तस्योपसर्गस्य दीर्घोऽन्तादेशो भवति । नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम्, परीत्तवान्, परोत्त्रिमम्, प्रणीत्त्रिमम् । द इति किम् ? वितीर्णम् । तीति किम् ? सुदत्तम् । नामिन इत्येव ? प्रत्तम् अवत्तम् ।।88।।

न्या० स०—दस्ति । निदीयते स्म दासंज्ञानां चतुर्णामन्यतमात् क्ते कृते ददित्यस्यापवाद: 'स्वरादुपसर्गात्' (4. 4. 9.) इति दा इत्यस्य त् इत्यादेश: । दागस्तु निदातुमारब्धं 'आरम्भे' (5. 1. 10.) क्त: । 'निविस्वन्ववात्' (4. 4. 8.) विकल्पेन त्त् ।।3. 2. 88.।।

अपील्वादेर्वहे ।। 3. 2. 89. ।।

पील्वादिवर्जितस्य नाम्यन्तस्य वहे उत्तरपदे परे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । वहतीति वहम्, 'अच्' (5. 1. 49.) इत्यच् । ऋषीणां वहम्-ऋषीवहम्, मुनीवहम्, कपीवहम्, एवं नामानि नगराणि । घान्ते तु वहशब्दे ऋषीवह:, मुनीवह:, कपीवह: । अपील्वादेरिति किम् ? पीलुवहम्, दारुवहम्, चारुवहम् । नामिन इत्येव ? पिण्डवहम्, काष्ठवहम् ।।89।।

न्या० स०—अपील्वा० । अत्र वहशब्दोऽजन्तो घान्तश्च गृह्यते लिङ्गाच्च विशेषो वाच्य: ।।3. 2. 89.।।

शुन: ।। 3. 2. 90. ।।

श्वन् इत्येतस्योत्तरपदे परे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । शुनो दन्त: श्वादन्त: एवं श्वादंष्ट्रा, श्वाकर्ण:, श्वाकर्द: । श्वाकूर्द:, श्वावराहम् । बहुलाधिकारात्-क्वचिद्विकल्प: श्वापुच्छम्, श्वपुच्छम् । क्वचिद्विषयान्तरे-शुन: पदमिव पदमस्य श्वापदम् व्याघ्रादि:, शुन: पदं श्वपदम् । क्वचिन्न भवति—श्वफल्क: श्वमुख: ।।90।।

न्या० स०—शुन: । *श्वापदम्* इत्यत्र बाहुलकान्नपुंसकत्वमऽन्यथा देहिनामत्वात् पुंस्त्वं

स्यात् ।।3. 2. 90.।।

एकादश-षोडश-षोडत्-षोढा-षड्ढा ।। 3. 2. 91. ।।

एकादयः शब्दा दशादिषु उत्तरपदादिषु कृतदीर्घत्वादयो निपात्यन्ते । एकोत्तरा दश, एकं च दश च वा एकादश, अत्रैकस्य दशशब्दे उत्तरपदे दीर्घः, षडुत्तरा दश, षट् च दश च वा षोडश,—अत्र षषोऽन्तस्योत्वम् उत्तरपददकारस्य च डकारः, षड् दन्ता अस्य षोडन्, अत्र दन्तशब्दस्य दत्रादेशे कृते दस्य डत्वं च षषोऽन्तस्योत्वम्, एवं षोडन्तौ, षोडन्तः, स्त्रियां तु षोडती, अन्ये तु दत्रादेशे कृते षोडन्निति शब्दान्तरं नकारान्तं राजन् शब्दवन्निपातयन्ति ।

ततश्च षोडानमिच्छतीति क्यनि, नकारलोपे ईत्वे च षोडीयतीति सिद्ध्यतीति मन्यन्ते । षड्भिः प्रकारैः षोढा, षड्ढा, अत्र धाप्रत्यये षषोऽन्तस्य वोत्वं धकारस्य तु नित्यं ढत्वम् । यत्तु षड्धेति रूपं न तत् धाप्रत्यये, किं तु षड् दधाति धयति वेति 'आतो डोऽह्वावामः' (5. 1. 76.) इति डे कृते स्त्रियामापि च भवति, निपातनस्य चेष्टविषयत्वादत्रोत्वढत्वे न भवतः ।।91।।

न्या० स०—एकादश० । *उत्तरपदादिष्विति* । आदिपदाद्धाप्रभृतिप्रत्ययानां ग्रहः । *एकोत्तरा दशेति* अत्रोत्तरशब्दोऽधिकवचनः । *नकारान्तमिति* स्वमते तु तकारान्तो निपातः ।।3. 2. 91.।।

द्वित्र्यष्टानां द्वा-त्रयो-ऽष्टाःप्राक् शतादनशीति-बहुव्रीहौ ।। 3. 2. 92. ।।

द्वि त्रि अष्टन् इत्येतेषां यथासंख्यं द्वा त्रयस् अष्टा इत्येते आदेशाः प्राक् शतात् संख्यायामुत्तरपदे भवन्ति, 'अनशीतिबहुव्रीहौ' अशीति बहुव्रीहिसमासविषयं चोत्तरपदं वर्जयित्वा । द्वाभ्यामधिका दश द्वौ च दश चेति वा द्वादश, एवं द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत्, त्रयोदश, त्रयोविंशतिः, त्रयस्त्रिंशत्, अष्टादश, अष्टाविंशतिः, अष्टात्रिंशत् । द्वित्र्यष्टानामिति किम् ? – पञ्चदश प्राक्शतादिति किम् ? द्विशतम्, त्रिशतम्, अष्टशतम्, द्विसहस्रम् । त्रिसहस्रम्, अष्टसहस्रम्, अनशीतिबहुव्रीहाविति किम् ? द्व्यशीतिः, त्र्यशीतिः, द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः, त्रिचतुराः, अष्टनवाः, द्विर्दश द्विदशाः, एवं त्रिदशाः । प्राक्शतादित्यवधेः संख्यापरिग्रहादिह न भवति, द्वैमातुरः, त्रैमातुरः, आष्टमातुरः, द्विमुनि व्याकरणस्य, त्रिमुनि व्याकरणस्य ।।92।।

न्या०स०–द्वित्र्यष्टानां० । *संख्यायामुत्तरपदे* इति पूर्वपदस्य साक्षादेव निर्देशात् प्राक् शतादित्यवधेरनशीतिपर्युदासादशीतेः संख्यायाः प्रतिषेधात् संख्यारूपस्यैवोत्तरपदस्य ग्रहणम् । *विंशतिरि*ति द्वौ दशतौ मानमस्याः 'विंशत्यादयः' (6. 4. 173.) द्वेर्दशदर्थे विम्भावः शतिश्च प्रत्ययः ॥3. 2. 92.॥

चत्वारिंशदादौ वा ॥ 3. 2. 93. ॥

द्वित्र्यष्टानां प्राक्शताच्चत्वारिंशदादौ संख्यायामुत्तरपदे यथासंख्यं द्वा त्रयस् अष्टा इत्येते आदेशा वा भवन्ति, अनशीतिबहुव्रीहौ । द्वाभ्यामधिका द्वौ च चत्वारिंशच्चेति वा द्वाचत्वारिंशत्, द्विचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्, त्रिचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्, अष्टचत्वा-रिंशत्, द्वापञ्चाशत्, द्विपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत्, त्रिपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत्, अष्टपञ्चाशत्, द्विषष्टिः, द्वाषष्टिः, त्रयःषष्टिः, त्रिषष्टिः, अष्टाषष्टिः, अष्टषष्टिः, द्वासप्ततिः, द्विसप्ततिः, त्रयःसप्ततिः, त्रिसप्ततिः, अष्टासप्ततिः, अष्टसप्ततिः, द्वानवतिः, द्विनवतिः, त्रयोनवतिः, त्रिनवतिः, अष्टानवतिः, अष्टनवतिः ।

अनशीतिबहुव्रीहावित्येव ? द्वयशीतिः, त्र्यशीतिः, अष्टाशीतिः, द्विश्चत्वारिंशत्, द्विचत्वारिंशाः, एवं त्रिचत्वारिंशाः अष्टौ चत्वारिंशतोऽस्मिन् अष्टचत्वारिंशत् । पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थमिदम् ॥93॥

हृदयस्य हृल्लास-लेखा-ऽण्ये ॥ 3. 2. 94. ॥

हृदयशब्दस्य लासलेखयोरुत्तरपदयोरणि ये च प्रत्यये परे हृदित्ययमादेशो भवति । लास,–हृदयस्य लासो हृल्लासः, लेख, हृदयं लिखतीति हृल्लेखः, अण् संनिधानाल्लेखशब्दो-ऽणन्तो गृह्यते, तेन घञन्ते न भवति, हृदयस्य लेखः हृदयलेखः, अण, हृदयस्येदं हार्दम्, सौहार्दम्, दौहार्दम्, य,–हृदयस्य प्रियः हृद्यः, हृदयस्य बन्धनो मन्त्रः हृद्यः, हृदये भवं हृदयाय हितम् हृद्यम् ।

अणीत्येव सिद्धे लेखग्रहणं ज्ञापकम् 'उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं न भवति ।' 'खित्यनव्यय'– (3. 2. 111.) इत्यादौ तु असंभवात्तदन्तग्रहणमृहृदयशब्दसमानार्थेन हृच्छब्देनैव सिद्धे हृदादेशविधानं लासादिषु हृदयशब्दप्रयोगनिवृत्त्यर्थम्, अन्यत्र तूभयं प्रयुंज्यते, सौहार्द्यम्, सौहृदय्यम्, हृच्छोकः, हृदयशोकः, हृद्रोगः, हृदयरोगः, हृच्छङ्कुः, हृदयशङ्कुः, हृच्छूलम्, हृदयशूलम्, हृच्छल्यम्, हृदयशल्यम्, हृद्दाहः, हृदयदाहः, हृद्दुःखम्, हृदयदुःखम्, हृत्कमलम्, हृदयकमलम्, हृत्पुण्डरीकम्, हृदयपुण्डरीकम् इत्यादि ॥94॥

न्या० स०—हृदयस्य० । सौहार्द्दमिति । सुष्ठु हृदयं यस्य दुष्टं हृदयं यस्य स सुहृदयः, दुर्हृदयः 'तस्येदम्' (6. 3. 160.) इत्यण् । हृद्भगसिन्धोरुभयपदवृद्धिः । सुहृदयस्य भाव इति वाक्ये 'युवादेरण्' (7. 1. 67.) वा । निर्द्दिश्यमानत्वात् हृदयशब्दस्यैवादेशः । प्रथमवाक्यद्वये 'हृद्यपद्य' इति यः । भवार्थे दिगादित्वात् यः । हितार्थे तु 'प्राण्यङ्ग' (7. 1. 37.) इति यः। *सौहार्द्यमिति* 'पतिराजान्त' (7. 1. 60.) इति ट्यण् ।।3 .2. 94. ।।

पदः पादस्याऽऽज्याति-गोपहते ।। 3. 2. 95. ।।

पादशब्दस्याज्यादिषूत्तरपदेषु पद इत्ययमादेशो भवति । पादाभ्यामजति अतति चेति औणादिके इणि-पदाजिः, पदातिः, अत एव निर्देशात् अजेर्वी न भवति । पादाभ्यां गच्छति-पदगः, 'नाम्नो गमः'– (5. 1. 131.) इत्यादिना डः, पादाभ्यामुपहतः, पदोपहतः, । पादशब्दसमानार्थः पदशब्दोऽस्ति आज्यादिषु तु पादशब्दप्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् । कथं दिग्धश्चासौ पादश्च दिग्धपादः, तेनोपहतः दिग्धपादोपहतः-उत्तरपदसंनिधापितेन पूर्वपदेन पादशब्दो विशेष्यते, न चात्र पादशब्दः पूर्वपदमि तु दिग्धपादः, तेनात्र न भवति ।।95।।

हिम-हति-काषि-ये पद् ।। 3. 2. 96. ।।

हिमादिषूत्तरपदेषु पादसंबन्धिनि ये च प्रत्यये पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति । पादयोर्हिमं पद्धिमम्, पादाभ्यां हतिः पद्धतिः, पादौ कषतीत्येवंशीलः, पुनः पुनः पादौ कषति, पादाभ्यां साधु कषतीति वा पत्काषी, परमश्चासौ पत्काषी च परमपत्काषी । यदा च परमौ च तौ पादौ च परमपादौ तत्कषणशीलादिर्विवक्ष्यते तदा पादशब्दस्य पूर्वपदत्वाभावात् परमपादकाषीत्येव भवति, पादौ विध्यन्ति पद्याः—शर्कराः, पादयोर्भवाः, पद्याः- पांसवः, पादाभ्यां हितं पद्यं-घृतम् ।

कथं पादार्थमुदकं पाद्यम् ? 'पाद्यार्घ्ये' (7. 1. 23.) इति निपातनात् । पादशब्दसंबन्धिनि य इति किम् ? द्विगु समाससंबन्धिनि माभूत्, द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतं द्विपाद्यम्, त्रिपाद्यम्, एवं त्रिपाद्यम्, अध्यर्धपाद्यम्, 'पणपादमाषाद्यः' (6. 4. 148.) इति यः । यद्वा आज्यादिषु करणभावः प्राण्यङ्गस्यैवेति पूर्वत्र पादशब्दः प्राण्यङ्गवचनः स एव चेहानुवर्तत इति परिमाणार्थस्य न भवति । अन्ये तु गोपहतयोरपीच्छन्ति, पादाभ्यां गच्छतीति-पद्गः, पादाभ्यामुपहतः पदुपहतः कथं हस्तिपादस्यापत्यं हास्तिपद इत्यत्र अपत्याणि पद्भावः । 'कौपिञ्जलहास्तिपदादण्' (6. 3. 170.) इति निर्देशाद्भविष्यति, पादाभ्यां चरति पदिक इति तु 'पदिकः' (6. 4. 13.) इति निपातनात् ।।96।।

*न्या० स०—हिमहति० । पादसंबन्धिनि ये चे*ति प्रत्यासत्त्या आवृत्त्या वा पादस्य यो यः प्रत्ययस्तस्मिन् न तु समाससंबन्धिनीत्यर्थः । 'विध्यत्यनन्येन (7. 1. 8.) 'दिगादिदहांशाद्यः' (6. 3. 124.) 'प्राण्यङ्गरथखल' (7. 1. 37.) इत्यादिना पद्याः शर्करा इत्यादिषु त्रिषु उदाहरणेषु यथाक्रमं ज्ञातव्यानि । निपातनादिति अयमर्थः यथा 'पाद्यार्घ्ये' (7. 1. 23.) इति सूत्रनिपातनात् प्रत्ययोऽनुक्तोऽप्यानीयते तथा पद्भावाभावोऽपि निपात्यत इति । *समाससंबन्धिनी*ति अयमर्थः न हि पादशब्दात् केवलादेव यप्रत्ययो विधीयते किंतु पादान्ताद् द्विगोः । ततश्च 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' (7. 4. 115.) इति यस्मात् प्रत्ययो विधीयते, तदादेरेव ग्राहको न, तदवयवस्येति नाऽयं पादसंबन्धी यः किन्तु द्विगोरिति न भवति ।

पणपादमाषाद्य इति अत्र सूत्रे पणमाषसाहचर्यात् पादशब्दः परिमाणार्थ एव गृह्यते न प्राण्यङ्गवचन इति । *आज्यादिष्वि*ति यत आज्यादयः क्रियावचनाः । आजिशब्दो हि युद्धक्रियावचनः उपहतशब्दश्च हननक्रियावचनः, तत्र च करणभावः प्राण्यङ्गस्यैव, न परिमाणार्थस्य पादशब्दस्य चतुर्भागार्थस्य । *अपत्याणी*ति अत एव निर्देशाद 'अत इञ' (6. 1. 31.) इतीञं बाधित्वा 'ङसोऽपत्ये' (6. 1. 28.) इत्यण् प्रत्ययो भवति ।।3. 2. 69.।।

ऋचः श्शसि ।। 3. 2. 97. ।।

ॠचः संबन्धिनः पादस्य शकारादौ शस्प्रत्यये पदित्ययमादेशो भवति । पादं पादं गायत्र्याः शंसति, पच्छां गायत्रीं शंसति, वाक्यगम्यस्य गायत्र्याः पादसंबन्धस्य वृत्तौ निवृत्तत्वात् स्वाभाविकं शंसनक्रियापेक्षं कर्मत्वं भवति, ॠच इति किम् ? पादं पादं कार्षापणस्य ददाति पादशः कार्षापणं ददाति, एवं पादशः श्लोकं व्याचष्टे । शसो द्विःशकारपाठात् विभक्तिशसि न भवति, ऋचः पादान् पश्य ।।97।।

न्या० स०—ऋचः श्शसि । ऋचः पादो नामेयत्तावच्छिन्नोऽक्षरपिण्ड इति नात्र प्राण्यङ्गार्थस्य पादशब्दस्य संभव इति सामान्येन न ग्रहणम् । *वाक्यगम्यस्ये*ति ननु चेह पादं गायत्र्याः शंसतीति गायत्र्याः पादशब्देन संबन्धाद् वाक्यवद्वृत्तावपि षष्ठ्या भाव्यमिति कथं गायत्रीमित्यत्र द्वितीयेत्याशङ्का । *शंसनक्रियापेक्षमि*ति वाक्ये हि पादं पादं गायत्र्याः शंसतीति गायत्र्याः पादशब्देन संबन्धो यः स पच्छ इति वृत्तौ निवर्त्तते । केवलं पच्छ इति शंसनक्रियाविशेषणत्वेनैवाऽवतिष्ठते अतस्तत्र षष्ठी न भवति । तदऽभावेऽपि कथं द्वितीया ? इत्याह-*शंसने*त्यादि ।।3. 2. 97.।।

शब्द-निष्क-घोष-मिश्रे वा ॥ 3. 2. 98. ॥

शब्दादिषूत्तरपदेषु पादस्य पदित्ययमादेशो वा भवति । पादयोः शब्दः पच्छब्दः, पादशब्दः, एवं पन्निष्कः, पादनिष्कः, पद्घोषः, पादघोषः, पादाभ्यां मिश्रः पन्मिश्रः, पादमिश्रः ॥98॥

नस् नासिकायास्तः क्षुद्रे ॥ 3. 2. 99. ॥

नासिकाशब्दस्य तस्प्रत्यये क्षुद्रशब्दे चोत्तरपदे परे नसित्ययमादेशो भवति । नासिकया नासिकायां वा नस्तः, नासिकायां नासिकया वा क्षुद्रः नःक्षुद्रः ॥99॥

येऽवर्णे ॥ 3. 2. 100. ॥

नासिकाशब्दस्य यप्रत्यये वर्णादन्यस्मिन्नभिधेये नसित्त्ययमादेशो भवति । नासिकायै हितं तत्र भवं वा नस्यम् य इति किम् ? नासिक्यं नगरम्, चातुरर्थिकोऽयं ञ्यः । निरनुबन्धग्रहणे च न सानुबन्धस्य ग्रहणं भवति । अवर्ण इति किम् ? नासिक्यो वर्णः ॥100॥

शिरसः शीर्षन् ॥ 3. 2. 101. ॥

शिरस्शब्दस्य शीर्षन्नित्ययमादेशो भवति ये प्रत्यये परे । शिरसि भवः शीर्षण्यः स्वरः, एवं शीर्षण्यो व्रणः, शिरसे हितं शीर्षण्यं तैलम् य इत्येव ? शिरस्तः, सशिरस्कः, निरनुबन्धग्रहणे च न सानुबन्धस्य ग्रहणं तेनेहापि न भवति । शिर इच्छति शिरस्यति, तथा हस्तिनः शिर इव शिरो यस्य (स) हस्तिशिराः, तस्यापत्यं स्त्री बाह्वादित्वादिञि 'शीर्षः स्वरे तद्धिते' (3. 2. 103.) इति शिरसः शीर्षादेशे 'अनार्षे वृद्धे'– (2. 4. 78.) इत्यादिना चोः ष्यादेशे हास्तिशीर्ष्या, एवं पैलुशीर्ष्या । अत्र ष्यशीर्षादेशयोः स्थान्विद्भावात् शीर्षन्नादेशः स्यात् । शिरस इति चादेशेन संबध्यते न प्रत्ययेन, तेन हास्तिशीर्षिरित्यादौ समाससंबन्धिन्यपि तद्धिते उत्तरसूत्रेण शीर्षादेशो भवति ॥101॥

न्या० स०–शिरसः० । *स्थानिवद्भावादिति* इञ् प्रत्ययस्तदादेशोऽपि प्रत्यय इत्येवंरूपं स्थानित्वं दृश्यं न त्विञः स्वरूपेण तस्येवर्ण्णरूपत्वात् । शीर्षादेशस्य तु स्वरूपेण वर्ण्णसमुदायस्य वर्णविधित्वाभावात् ॥3. 2. 101.॥

केशे वा ।। 3. 2. 102. ।।

शिरसः केशविषये यप्रत्यये परे शीर्षन्नादेशो वा भवति । शिरसि भवाः शीर्षण्याः केशाः, शिरस्याः केशाः, केचित्तु इल्वला मृगशीर्षस्य शिरस्यास्तारकाः स्मृताः इति प्रयोगदर्शनात्, केशादन्यत्रापि विकल्पमिच्छन्ति, शाखादियप्रत्यये च शीर्षन्निति नेच्छन्त्येव । शिरसस्तुल्यः शिरस्यः, शाखादित्वाद्यः ।।102।।

शीर्षः स्वरे तद्धिते ।। 3. 2. 103. ।।

शिरस्शब्दस्य स्वरादौ तद्धिते परे शीर्ष इत्ययमादेशो भवति । हस्तिशिरसोऽपत्य हास्तिशीर्षिः, एवं स्थौलशीर्षिः, पैलुशीर्षिः, मृगशिरसा चन्द्रयुक्तेन युक्ता मार्गशीर्षी पौर्णमासी, स्थूलशिरस इदं स्थौलशीर्षम्, शिरसि कृतं शैर्षम्, शिरसा तरति शीर्षिकः । स्वर इति किम् ? शिरस्कल्पः । तद्धित इति किम् ? शिरसा, स्थूलशिरसमाचष्टे स्थूलशिरयति । कथमिल्वला मृगशीर्षस्येति ? शीर्षशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति । शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्येति,—अनेनैव च सिद्धे उक्तविषये शिरसः प्रयोगनिवृत्यर्थं वचनम् ।।103।।

न्या० स०—शीर्षः स्वरे० । शीर्षच्छेद्यमिति शीर्षच्छेदमर्हति 'शीर्षच्छेदाद्यो वा' (6. 4. 184.) यप्रत्ययः ।।3. 2. 103.।।

उदकस्योदः पेषं-धि-वास-वाहने ।। 3. 2. 104. ।।

उदकशब्दस्य पेषमादिषूत्तरपदेषु उद इत्ययमादेशो भवति । उदकेन पिनष्टि उदपेषं पिनष्टि तगरम्, उदकं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिः-घटः, वासउदकस्य वासः उदवासः, एवम्—उदवाहनः । अनामार्थं वचनम्, नाम्न्युत्तरेणैव सिद्धम् ।।104।।

न्या० स०—उदक० । उदवाहन इति उदकं वाहनमस्येति कार्यम् ।।3. 2. 104।।

वैकव्यञ्जने पूर्ये ।। 3. 2. 105. ।।

उदकशब्दस्य पूरयितव्यवाचिन्येकव्यञ्जनेऽसंयुक्तव्यञ्जनादावुत्तरपदे उदादेशो वा भवति । उदकुम्भः, उदककुम्भः, उदघटः, उदकघटः, उदपात्रम्, उदकपात्रम् । व्यञ्जन इति किम् ? उदकामत्रम् । एकेति किम् ? उदकस्थालम् । पूर्य इति किम् ? उदकपर्वतः, उदकदेशः ।।105।।

न्या० स०—वैकव्यअने० । उदकादिना द्रव्येण पूरयितव्यं घटादि पूर्यं तत्रोत्तरपदे इति वैयधिकरण्येन संबध्यते । पूर्ये यदुत्तरपदं वर्त्तते तस्मिन्निति ॥3. 2. 105.॥

मन्थौदन-सक्तु-बिन्दु-वज्र-भार-हार-वीवध-गाहे वा ॥ 3. 2. 106. ॥

मन्थादिषूत्तरपदेषूदकशब्दस्योदादेशो वा भवति । उदमन्थः उदकमन्थः, उदौदनः, उदकौदनः, उदसक्तुः, उदकसक्तुः, उदबिन्दुः, उदकबिन्दुः, उदवज्रः, उदकवज्रः, उदभारः, उदकभारः, उदहारः, उदकहारः, उदवीवधः, उदकवीवधः, उदगाहः, उदकगाहः, अपूर्यार्थो यत्नः ॥106॥

न्या० स०—मन्थौदन० । *उदमन्थ* इति उदकेन मथ्यते कर्म्मणि घञि 'कारकं कृता' (3. 1. 68.) इति समासः । उदौदन इति उदकेनोपसिक्त ओदनः, 'मयूरव्यंसक' (3. 1. 116.) इति समासः । उपसिक्तक्रियायाश्च वृत्तावन्तर्भावादुदकौदनयोः सामर्थ्यम् । *उदकवीवध* इति वीवधशब्दोऽव्युत्पन्नः पथि पर्याहारे च वर्त्तते । 'हनो वा वध् च' (5. 3. 46.) इत्यऽलि वधादेशे बहुव्रीहौ बाहुलकाद् दीर्घत्वे वा वीवधः ॥3. 2. 106.॥

नाम्न्युत्तरपदस्य च ॥ 3. 2. 107. ॥

उदकशब्दस्य पूर्वपदस्योत्तरपदस्य च नाम्नि संज्ञायां विषये उद इत्ययमादेशो भवति । उदमेघो नाम यस्यौदमेघिः पुत्रः, उदवाहो नाम यस्यौदवाहिः पुत्रः, उदपानम् निपानम् । उदधिः समुद्रः, उत्तरपदस्य, लवणोदः, कालोदः, क्षीरोदः, एवंनामानः समुद्राः, लोहितोदा, क्षीरोदा नाम नदी, अच्छोदम्, सितोदम्, अरुणोदम्, लोहितोदम्, एवंनामानि सरांसि ॥107॥

न्या० स०—नाम्न्युत्तर० । उत्तरपदाधिकारात् पूर्वपदस्यैव स्यादित्युत्तरपदस्येत्युच्यते । चकाराभावे च पूर्वपदस्य न स्यादिति चकारः ॥3. 2. 107.॥

ते लुग्वा ॥ 3. 2. 108. ॥

नामविषये ये पूर्वोत्तरपदे ते लुग्वा भवतः । देवदत्तः, देवः, दत्तः, सत्यभामा, सत्या, भामा-शब्द साम्येऽपि प्रकरणादेरर्थविशेषनिश्चयः ॥108॥

न्या० स०—ते लुग्वा । ननु पूर्वपदस्योत्तरपदस्य वा लोपे यः समुदायमनुवर्त्तते देवादिशब्दः

स देवदत्ताद्यर्थेन च त्रिदशार्थेन च समान इति कथं निश्चयो भवति अयं देवदत्तार्थ एव न तु त्रिदशाद्यर्थ इत्याह-*शब्देत्यादि* । शब्दानां भिन्नार्थानां साम्येऽपि तुल्यरूपत्वेऽपि ।। 3. 2. 108.।।

द्वयन्तरनवर्णोपसर्गादप ईप् ।। 3. 2. 109. ।।

द्वि अन्तर् इत्येताभ्यामनवर्णान्तेभ्यश्चोपसर्गेभ्यः परस्याप् इत्येतस्योत्तरपदस्य ईप् इत्ययमादेशो भवति । द्विधा गता आपोऽस्मिन्निति द्वीपम्, एवमन्तरीपम्, नीपम्, प्रतीपम्, समीपम्, अन्वीपम्, वीपम् । उपसर्गादिति किम् ? शोभना आपः स्वापः, पूजिता आपः अत्यापः, स्वती पूजायां नोपसर्गौ, अत एव समासान्तो न भवति । अनवर्णेति किम् ? प्रापम्, परापम्, संश्लिष्टा आगता आपोऽस्मिन् समापो देवयजनम् ।।109।।

न्या0स0—द्वयन्तर0 । *द्वीपमि*ति यथा द्वीपमित्यत्राऽस्वपदविग्रहः एवमन्तर्गताः निवृत्ताः प्रत्यावृत्ताः संगताः अनुगताः आपोऽस्मिन्निति अस्वपदो बहुव्रीहिः 'एकार्थं चानेकं च' (3. 1. 22.) इति । सर्वेषु 'ऋक् पूः पथ्यपोऽत्' (7. 3. 76.) समासान्तः ।।3. 2. 109.।।

अनोर्देशे उप् ।। 3. 2. 110. ।।

अनोः परस्यापो देशेऽभिधेये उप् इत्ययमादेशो भवति । अनुगता आपोऽस्मिन्ननूपो देशः । देश इति किम् ? अन्वीपं वनम् । कथं कूपः सूपः यूपः ? पृषोदरादित्वात् ।।110।।

खित्यनव्यया-ऽरुषो मोऽन्तो ह्रस्वश्च ।। 3. 2. 111. ।।

अनव्ययस्य अर्थात्स्वरान्तस्यारुषश्च खित्प्रत्ययान्ते उत्तरपदे मोऽन्तो भवति, यथासंभवं ह्रस्वश्चान्तादेशो भवति । ज्ञमात्मानं मन्यते ज्ञंमन्यः, पण्डितंमन्यः, क्षंमन्यः, खट्वंमन्या, महंमन्यः, रात्रिंमन्यमहः, द्रुणिंमन्यः, ग्रामणिंमन्यः, वधुंमन्यः, खलपुंमन्यः, क्षेमंकरः, मेघंकरः, आढ्यं भविष्णुः, आढ्यं भावुकः, सुभगंकरणम् ।

आशितंभवो वर्तते, मितंगमः विहंगमः, पतङ्गः । परत्वात्पुंवद्भावो ह्रस्वत्वेन बाध्यते:—कालिंमन्या, हरिणिंमन्याः अरुस्-अरुंतुदः, खितीति किम् ? पण्डितमानी, सुभगमानी अनव्ययेति किम् ? दोषामन्यमहः, दिवामन्या रात्रिः । अव्ययप्रतिषेधात् खिति तदन्तग्रहणम्, न ह्यव्ययात्परः खित्संभवति । अरुःशब्दोपादानादनव्ययस्य व्यञ्जनान्तस्य मो न भवति, गीर्मन्यः । 'स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः' इति ह्रस्वः स्वरस्यैव । कृद्ग्रहणे सति गतिकारकस्यापि ग्रहणात्- कूलमद्रुजः कूलमुद्वह इत्यत्रापि भवति ।।111।।

न्या० स०—खित्यनव्यया० । ग्रामण्यं खलप्वमात्मानं मन्यते । अर्थादिति अरुर्ग्रहणादनव्ययानां स्वरान्तत्वं लभ्यते इति । *अरुंतुद* इति 'बहुविध्वरुर्' (5. 1. 124.) इति खश् । अत्र मोऽन्ते सति 'संयोगस्यादौ' (2. 1. 88.) इति 'स' लोपः । न *ह्यव्ययादि*ति ननु यथाऽव्ययात् खिन्न संभवत्येवमऽनव्ययादपि न संभवति ? न, धातोरनव्ययात् स्यात् । तथा च ज्ञंमन्य इत्यादौ ज्ञमन्य इति स्यादित्यव्ययप्रतिषेधः समाश्रीयते गीर्मन्य इति नन्वत्र मोऽन्तेऽपि 'पदस्य' (2. 1. 89.) इति लोपे गीर्मन्य इति भविष्यति किं मोन्तप्रतिषेधेन ? उच्यते, 'रात् सः' (2. 1. 90.) इति नियमाल्लोपो न स्यादिति प्रतिषेधः ॥3. 1. 111.॥

सत्या-ऽगदा-ऽस्तोः कारे ॥ 3. 2. 112. ॥

सत्यादिभ्यः कारशब्दे उत्तरपदे परे मोऽन्तो भवति । सत्यं करोति सत्यस्य कार इति वा सत्यंकारः, एवमगदंकारः, अस्तुंकारः, अस्त्विति निपातः क्रियाप्रतिरूपकोऽभ्युपगमे वर्तते ॥112॥

न्या० स०—सत्यागदा० । *अस्त्वती*ति यदीदं तुवन्तं तदा 'नाम नाम्ना' (3.1.18.) इति समासो न प्राप्नोति तदऽभावे कथमुत्तरपदमित्याशङ्का ॥3. 2. 112.॥

लोकंपृण-मध्यंदिना-ऽनभ्याशमित्यम् ॥ 3. 2. 113. ॥

एते शब्दाः कृतपूर्वपदमान्ता निपात्यन्ते । लोकं पृणति लोकस्य वा पृणः लोकंपृणः, मध्यं दिनस्य मध्यं च तत् दिनं चेति वा मध्यंदिनम्, अश्नोतेर्घञ्यभ्याश इति रूपम्, अनभ्याशं दूरमित्यं गन्तव्यमस्यानभ्याशमित्यः, दूरतः परिहर्तव्यः, अनभ्याशेनेत्योऽनभ्याशमित्य इति वा दूरेण प्राप्यो न त्वन्तिकेनेत्यर्थः । अन्ये तु प्रीणातेर्णिगन्तस्याचि ह्रस्वत्वं निपात्य लोकंप्रिणः लोकप्रीणक इत्यर्थ इत्युदाहरन्ति । कश्चित्त्वकृतह्रस्वत्वमेव मन्यते लोकंप्रीण ॥113। ।

न्या० स०—लोकंपृण० । लोकं पृणतीति वाक्ये 'मूलविभुजादयः' (5. 1. 144.) इति कः, यदा लोकस्य पृणः तदा 'नाम्युपान्त्य' (5. 1. 54.) इति कः ॥3. 2. 113.॥

भ्राष्ट्रा-ऽग्नेरिन्धे ॥ 3. 2. 114. ॥

भ्राष्ट्राग्निभ्यामिन्धशब्दे उत्तरपदे परे मोऽन्तो भवति । भ्राष्ट्रस्येन्धः भ्राष्ट्रमिन्धः, एवमग्निमिन्धः ॥114॥

न्या० स०—भ्राष्ट्राग्ने० । *भ्राष्ट्रमिन्ध* इति इन्धानं प्रयुङ्क्ते णिग् भावे अल्, इन्ध्यतेऽनेनेति वा 'पुन्नाम्नि' (5. 3. 130.) इति घः। इन्धयतीत्यचि वा, घञि तु 'दशनावोद' (4. 2. 54.) इति 'न' लोपः स्यात् ।।3. 2. 114.।।

अगिलाद्-गिल-गिलगिलयोः ।। 3. 2. 115. ।।

गिलान्तशब्दवर्जितात् पूर्वपदात्परे गिले गिलगिले चोत्तरपदे परे मोऽन्तो भवति । तिमिं गिलतीति तिमिङ्गिलः, एवं मत्स्यंगिलः, बालंगिलो राक्षसः, अपत्यंगिला शिशुमारी । तिमीनां गिलगिलः तिमिंगिलगिलः, गिलगिलशब्दे गिलशब्दो नोत्तरपदमिति गिलगिलोपादानम् । गिलशब्दस्य स्वरान्तस्य पर्युदासेन स्वरान्ताद्विधिस्तेन व्यञ्जनान्तान्न भवति, धूर्गिलः अगिलादिति किम् ? तिमिंगिलं गिलति तिमिंगिलगिलः । गिलं गिलति गिलगिल इत्यत्र गिलगिलेति निर्देशादेव मोऽन्तो न संभवति । अगिलादिति तु निषेधो गिलान्तस्यापि निवृत्त्यर्थः ।।115।।

न्या० स०—अगिला० । *तिमिंगिल* इति बाहुलकात् 'नाम्युपान्त्य' (5. 1. 54.) इति कः, 'मूलविभुजादयः' (5. 1. 144.) इति वा । *गिलगिल*शब्दे इति । गिलगिल इत्येवंरूपस्या खण्डस्य विद्यमानत्वात् । नन्वऽगिलादित्यस्य गिलगिल इति प्रत्युदाहरणं युक्तं, अत्र गिलः पूर्वपदमस्तीति । तिमिंगिलगिल इत्यत्र तु न गिलः पूर्वपदं किन्तु गिलान्तः शब्द इत्याह-*गिलं गिलतीत्यादि* । गिलगिलेति निर्देशादेव गिलगिले मोऽन्तो नास्तीति न तदर्थमगिलादित्यऽतस्त-दन्तस्यैव प्रतिषेधार्थम् । अन्यथाऽऽनर्थक्यं स्यादिति । *गिलान्तस्यापी*ति 'अपि' शब्द उक्तसमु-च्चये न केवलं गिलान्तस्याऽपिशब्दात् केवलादपि मोऽन्तो न भवतीति । अपि शब्दोऽवधारणेऽन्यथा वर्जनानर्थक्यमिति तु न्यासः । यद् वागिलस्येति विशेषणत्वात् तदन्तस्य निषेधः, अन्यथोत्तरप-दसन्निधापितपूर्वपदस्य केवलस्यैव निषेधः स्यात् । यथा दिग्धपादोपहतः । गिलस्य गिलः गिलं गिलति गिलगिल इत्यत्र तु आद्यन्तवदुपचारात् ।।3. 2. 115.।।

भद्रोष्णात्—करणे ।। 3. 2. 116. ।।

भद्रशब्दादुष्णशब्दाच्च करणशब्दे उत्तरपदे मोऽन्तो भवति । भद्रस्य करणं भद्रंकरणम्, एवमुष्णंकरणम् ।।116।।

न्या० स०—भद्रोष्णा० । *भद्रंकरणमि*ति कृतिः करणं क्रियतेऽनेनेति वा ततो भद्रोष्णयोः कर्म्मषष्ट्यन्तयोः 'कृति' (3. 1. 77.) इति समासः ।।3. 2. 116.।।

नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः ॥ 3. 2. 117. ॥

रात्रिशब्दस्य खिद्वर्जितकृदन्ते उत्तरपदे मोऽन्तो वा भवति । रात्रौ चरति रात्रिंचरः, रात्रिचरः, रात्रिंचरी, रात्रिचरी, रात्र्यावटः, रात्रिमटः, रात्र्यटः, रात्रिमटति-रात्रिमाटः, रात्र्याटः, रात्रेः करणम्-रात्रिंकरणम्, रात्रिकरणम् । खिद्वर्जनं किम् ? रात्रिंमन्यमहः, 'खित्यनव्यय'– (3. 2. 111.) इत्यादिना नित्यमेव भवति ।

कृदन्त इति किम् ? रात्रिसुखम् । अन्तग्रहणं किम् ? रात्रिरिवाचरति क्विप्, लुक्, तृच्, रात्रयिता । इदमेवान्तग्रहणं ज्ञापकम् इहोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययस्यैव ग्रहणं, न तदन्तस्य, तेन 'कालात्तनतरतम'– (3.2.24.) इत्यादौ प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं सिद्धम्, 'न नाम्येकस्वरात् खिति'– (3. 2. 9.) इत्यादौ त्वसंभवात्तदन्तग्रहणम् । केचित्तीर्थंकरः तीर्थकर इत्यत्रापि विकल्पमिच्छन्ति, तदर्थं नवाऽखित्कृदन्ते इति रात्रेरिति च योगो विभजनीयः ॥117॥

न्या० स०–नवाखित्० । रात्रिसुखमिति । अत्र सुखशब्दोऽव्युत्पन्नो न कृदन्त इति मोऽन्तो न भवति ॥3. 2. 117.॥

धेनोर्भव्यायाम् ॥ 3. 2. 118. ॥

धेनुशब्दाद्भव्याशब्दे उत्तरपदे मोऽन्तो वा भवति । धेनुश्चासौ भव्या च धेनुंभव्या, धेनुभव्या । केचित्तु नित्यमिच्छन्ति ॥118॥

न्या० स०–धेनोर्भव्या० । *धेनुंभव्या* इति । धेनोर्विशेषणत्वेन विवक्षितत्वात् विशेष्यत्वेऽपि वा धेनोर्भव्यायामिति भव्यामिति भव्याशब्दस्य निमित्तत्वेनोपादानात् धेनोः पूर्वनिपातः ॥3. 2. 118.॥

अषष्ठीतृतीयादन्याद् दोऽर्थे ॥ 3. 2. 119. ॥

अषष्ठ्यन्तादतृतीयान्ताच्चान्यंशब्दादर्थशब्द उत्तरपदे दोऽन्तो वा भवति । अन्यश्चासौ अर्थश्च, अन्योऽर्थोऽस्येति वा अन्यदर्थः, अन्यार्थः, अन्यस्मै इदम्-अन्यदर्थम्, अन्यार्थम्, अन्यस्मिन्नर्थः अन्यदर्थः, अन्यार्थः, अषष्ठीतृतीयादिति किम् ? अन्यस्यार्थः अन्यार्थः, अन्येनार्थः अन्यार्थः ॥119॥

आशीराशा-ऽऽस्थिता-ऽऽस्थोत्सुकोति-रागे ॥ 3. 2. 120. ॥

वेति निवृत्तम् पृथग्योगात् । अषष्ठीतृतीयान्तादन्यशब्दादाशिस्, आशा, आस्थित, आस्था, उत्सुक, ऊति, राग इत्येतेषूत्तरपदेषु दोऽन्तो भवति । अन्या आशीः अन्यदाशीः, अन्या आशा अन्यदाशा, अन्यमास्थितः अन्यदास्थितः, अन्या आस्था अन्यदास्था, अन्यस्मिन् उत्सुकः अन्यदुत्सुकः, अन्या ऊतिः अन्यदूतिः, अन्यत्र रागः अन्यद्रागः, अषष्ठीतृतीयादित्येव ? अन्यस्याशीः अन्याशीः, अन्येनास्थितः अन्यास्थितः ॥120॥

न्या० स०–आशीरा० । *आश्यती*ति 'उपसर्गादातो' (5. 1. 56.) आश्यत्यऽनया वा 'उपसर्गादातः' (5. 3. 110.) ॥3. 2. 120.॥

ईयकारके ॥ 3. 2. 121. ॥

पृथग्योगादषष्ठीतृतीयादिति निवृत्तम्, अन्यशब्दादीये प्रत्यये कारकशब्दे चोत्तरपदे दोऽन्तो भवति । अन्यस्यायमन्यदीयः, गहादित्वादीयः, अन्यस्मै हितमन्यदीयम्, अन्यस्यान्येन वा कारकः अन्यत्कारकः, अन्यः कारकः अन्यत्कारकः, अन्यत्कारिका ॥121॥

न्या० स०–ईयकारके । अन्यस्य अन्येन वा कारकेति 'याजकादिभिः' (3. 1. 78.) 'कारकं कृता' (3. 1. 68.) च समासः ॥3. 2. 121.॥

सर्वादि-विश्वग्-देवाड्डद्रिः क्वयञ्चौ ॥ 3. 2. 122. ॥

सर्वादेर्विष्वग्देवशब्दाभ्यां च परः क्विबन्तेऽञ्चतावुत्तरपदे परे डद्रिरन्तो भवति । सर्वमञ्चति सर्वद्र्यङ्, सर्वद्र्यञ्चौ, सर्वद्र्यञ्चः, सर्वद्रीचः, सर्वद्रीचा, सर्वद्रीची, एवं तद्र्यङ्, तद्र्यञ्चौ, तद्र्यञ्चः, तद्रीचः, तद्रीचा, तद्रीची, अदद्र्यङ्, अदद्र्यञ्चौ, अदद्र्यञ्चः, अदद्रीचः, अदद्रीचा, अदद्रीची, कद्र्यङ्, कद्र्यञ्चौ, कद्र्यञ्चः, कद्रीचः, कद्रीचा, द्व्यद्र्यङ्, द्व्यद्र्यञ्चौ, द्व्यद्र्यञ्चः, विषू अवतीति विषूः,–विष्वमञ्चति विष्वङ्, विष्वगित्यव्ययं वा, विष्वगञ्चति विष्वद्र्यङ्, विष्वद्र्यञ्चौ, विष्वद्र्यञ्चः, विष्वद्रीचः, विष्वद्रीचा, विष्वद्रीची, देवानञ्चतीति-देवद्र्यङ्, देवद्र्यञ्चौ, देवद्र्यञ्चः, देवद्रीचः, देवद्रीचा, देवद्रीची, सर्वादिविष्वग्देवादिति किम् ? अश्वमञ्चति अश्वाची, विष्वमञ्चति विषूची । अञ्चाविति किम् ? विश्वयुक्, विष्वग्युक्, देवयुक् । क्वीति किम् ? विष्वगञ्चनम् । 'धातुग्रहणे तदादेः समुदायस्य ग्रहणं प्राप्नोति' इति क्वीत्युक्तम् । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ॥122॥

न्या० स०—सर्वादिविष्वग् । सर्वेषु 'ङस्युक्तम्' (3. 1. 49.) इत्युपपदसमासस्य नित्यत्वेन नित्यमेकपदत्वे 'ह्रस्वोऽपदे वा' (1. 2. 22.) इति न ह्रस्वो डद्रेरिकारस्येति । ❇ नामग्रहणे ❇ इति न्यायस्यानित्यत्वाद् विषूचीशब्दान्न डद्रिः । तस्मिन् सति हि विषू चद्र्यङिति अनिष्टं रूपं स्यात्, यदा सर्वाऽमञ्चतीति देवीमञ्चतीति क्रियते तदा डद्रिर्भवत्येव, यतोऽत्रामुं न्यायं मन्यन्ते ।।3. 2. 122.।।

सह-समः सध्रि-समि ।। 3. 2. 123. ।।

सहसम् इत्येतयोः स्थानेऽञ्चतौ क्विबन्ते उत्तरपदे परे यथासंख्यं सध्रि समि इत्येतावादेशौ भवतः । सहाञ्चति सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः, सध्रीचः, सध्रीचा, सध्रीची, सध्रीचीनः, समञ्चति-सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः, समीचः, समीचा, समीची, समीचीनः । सहसम इति किम् ? प्राङ्, प्राञ्चौ । अञ्चावित्येव ? सहयुक्, संयुक्, क्वीत्येव ? सहाञ्चनम्, समञ्चनम् ।।123।।

तिरसस्तिर्यति ।। 3. 2. 124. ।।

तिरस्शब्दस्याति अकारादावञ्चतौ क्विबन्ते उत्तरपदे परे तिरि इत्ययमादेशो भवति । तिरस्तिरको वा अञ्चति, तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः, तिर्यग्भ्याम्, तिर्यग्भिः, तिर्यग्भ्यः, तिर्यक्षु । अतीति किम् ? तिरश्चः, तिरश्चा, तिरश्ची. तिरश्चीनः ।।124।।

न्या० स०—तिरसस्तिर्यति । शब्दरूपापेक्षया च नपुंसकत्वे 'अनतो लुप्' (1. 4. 59.) सेः सूत्रत्वाद् वा । *तिरि इती*ति असंदेहार्थमविभक्तिको निर्देशः । ।।3. 2. 124.।।

नञत् ।। 3. 2. 125. ।।

नञ्शब्द उत्तरपदे परेऽकारो भवति । अचौरः पन्थाः, अमक्षिको देशः, अमशकं वर्तते, अमक्षिकं वर्तते, अहिंसा, अस्तेयम् ञकारः किम् ? पामनपुत्रः । उत्तरपद इति किम् ? न भुङ्क्ते ।।125।।

न्या० स०—नञत् । *ञकारः किमि*ति । ननु चादिषु निरनुबन्ध एव नञ् पठ्यतां स एव चेहाऽनुक्रियतामिति ? सत्यं, निरनुबन्धपाठे पामनपुत्र इत्यादौ 'नोङ्गादेः' (7. 2. 29.) इति विहितस्य 'न' प्रत्ययस्याऽत्र ग्रहणं स्यात्, यतः ❇ प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ❇ इति न्यायः । ततः सानुबन्धपाठो युक्त एव । न च अनुक्रियमाणेऽप्यनुबन्धे स्त्रैणपुत्र इत्यत्र कथं

न भवतीति वाच्यं । ❊ *प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्* ❊ इति न्यायः । 'प्रत्यय' ित्त्विस्य वृद्धौ चरितार्थत्वान्निपातात्त्विस्यानर्थक्यात् तस्यैव ग्रहणमिति ।।3. 2. 125.।।

त्यादौ क्षेपे ।। 3. 2. 126. ।।

त्याद्यन्ते पदे परतः क्षेपे गम्यमाने नञ् अकारो भवति । अपचसि त्वं जाल्म, अकरोषि त्वं जाल्म । त्यादाविति किम् ? न पाचको जाल्मः । क्षेप इति किम् ? न पचति चैत्रः । अ, मा, नो, ना, प्रतिषेध इत्यकारेण प्रतिषेधार्थीयेनैव सिद्धौ क्षेपे नञः श्रवणनिवारणार्थम्, अनुत्तरपदार्थं च वचनम् ।।126।।

न्या०स०–त्यादौ क्षेपे । न पाचक इति असमासोऽयं नञ्समासस्य पाक्षिकत्वात् पाचक इति नोत्तरपदमिति पूर्वेणापि न भवति । *अनुत्तरपदार्थ*मिति त्याद्यन्तेन समासाऽभावतः समासे च सति पूर्वोत्तरपदव्यवहारात् ।।3. 2. 126.।।

नगोऽप्राणिनि वा ।। 3. 2. 127. ।।

अप्राणिन्यभिधेये नग इति निपात्यते वा । न गच्छतीति नगः–पर्वतः, अगः पर्वतः, नगा वृक्षाः, अगा वृक्षाः । अप्राणिनीति किम् ? अगो वृषलः शीतेन । पूर्वेण नित्यमादेशे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।।127।।

नखादयः ।। 3. 2. 128. ।।

नखादयः शब्दा अकृताकाराद्यादेशा निपात्यन्ते । नास्य खमस्तीति नखः, न भ्राजते इति नभ्राट् क्विबन्तः, न पातीति नपात् शत्रन्तः, त्रिलिङ्गोऽयम्, निपातनात्तु नाभावः, न वेत्तीति नवेदाः, औणादिकोऽस्, सत्सु साधुः सत्यः, 'साधौ' यः न सत्यः असत्यः, नासत्यः, नासत्यौ, नासत्याः न मुखतीति नमुचिः, औणादिकः किः, नास्य कुलमस्तीति नकुलः । कथं न न भ्राजते किंतु भ्राजत एवेति नभ्राट् ? पृषोदरादित्वादेकस्य नञो लोपे भविष्यति, एवं न न पाति नपात्, न न वेत्ति नवेदाः, न न मुञ्चति नमुचिः, न न कुलमस्त्यस्य नकुलः, न न खमस्त्यस्य नखः, न पुमान् न स्त्रीति नपुंसकम्, अत एव निपातनात् स्त्रीपुंसयोः पुंसकादेशः ।

न क्षीयते न क्षरति वा नक्षत्रम्, औणादिके त्रटि, क्षभावे निपात्यते । न क्रामति न क्रीणाति वा नक्रः, डप्रत्ययो निपातनात्, नास्मिन्नकं दुःखमस्ति नाकः, न विद्यन्ते ग्नाः श्रियः छन्दांसि

वास्य नग्नः, न अगः नागः, न विद्यते भागोऽस्य नभागः, नारमश्नुति नाराचः, न आप्यत इति नापितः, न मोयतेऽसाविति नमेरुः, नाभिनन्दति वधूमिति ननान्दा, नान्तरेण भवति, नान्तरीयकम्, न न चिकेत्ति नाचिकेतः, अत एव निपातनात् कित् ज्ञापनार्थो जुहोत्यादौ द्रष्टव्यः अस्माच्च नञ् द्वयोपपदान्नाम्नि शव् प्रत्ययो भवति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् तेन—नास्तिकः, नभः, नारङ्गमित्यादयोऽपि द्रष्टव्याः ॥128॥

न्या० स०—नखादयः । *नख* इत्यत्र बहुव्रीहौ 'नञ्ऽत्' (3. 2. 125.) प्राप्तोऽनेन निषिध्यते, उष्ट्रमुखादित्वात् समासः । खन्यत इति 'क्वचित्' (5. 1. 171.) इति ङः । *असत्य* इति न नखादौ किंतु नासत्य इत्ययम् । अरीणां समूह आरं 'षष्ठ्याः समूहे' (6. 2. 9.) अण् । *नारमश्नुति* 'कर्म्मणोऽण्' (5. 1. 72.) निपातनादऽश्नेर्नलोपः, 'आप्लृण्, लम्भने' नञ आपेः। *न मीयते* 'शिग्रुगेरुनमेर्वादयः 811 (उणादि) मिगस्तु 'चिनीपीमिसिभ्यो रुः' 806 (उणादि) 'यतिननदिभ्यो दीर्घश्च' 856 (उणादि) *नान्तरीयकम्*इति नान्तरेणेत्यर्थकथनं सप्तम्यन्तात्तु गहादित्वादीयः, ततः स्वार्थिकः । नास्तिक इति नास्ति पुण्यं पापं चेति मतिरस्येति 'नास्तिकास्तिक' (6. 4. 66.) इति निपातनादेव सिद्धं । यदा तु न आस्तिको नास्तिक इति क्रियते तदा गणपाठफलम् । नभ इति न बभस्तीति क्विप् न भातीति वा 'मिथिरञ्ज्युषि' 671 (उणादि) इति बहुवचनात् किदऽस् । नारङ्गमिति न न रङ्गति शोभां अच् न अरङ्गमिति वा । रूढिशब्दा एते यथाकथंचित् व्युत्पाद्या नाऽत्राऽवयवार्थाभिनिवेशः कार्यः ॥3. 2. 128.॥

अन् स्वरे ॥ 3. 2. 129. ॥

नञः स्वरादावुत्तरपदे परेऽन् इत्ययमादेशो भवति । न विद्यते अन्तोऽस्येति अनन्तो जिनः,—एवमनादिः, अजानामभावोऽनजम्, न अश्वोऽनश्वः । अन् इति स्वरूपनिर्देशात् नलोपो द्वित्वं च न भवति ॥129॥

को कत् तत्पुरुषे ॥ 3. 2. 130. ॥

तत्पुरुषे समासे स्वरादावुत्तरपदे कुशब्दस्य कदित्ययमादेशो भवति । कुत्सितः अश्वः कदश्वः, कदुष्ट्रः, कदन्नम्, कदशनम्, तत्पुरुष इति किम् ? कुत्सिता उष्ट्रा अस्मिन् कूष्ट्रो देशः । स्वर इत्येव ? कुब्राह्मणः ॥130॥

न्या० स०—कोः कत्तत्पुरुषे । प्रतिपदोक्तोऽयं तत्पुरुषो गृह्यते तेन कुं पृथिवीमऽतीतः क्वतीत इत्यत्र कदादेशो न भवति । अथेत्थं भणिष्यन्ति श्रितादित्वात् समासे सति प्रतिपदोक्तत्वमऽस्तीति । तदपि न वाच्यं, यतो द्वितीयान्तं श्रितादिभिः सह समस्यते ततश्च द्वितीयान्तं सामान्यं नाम न प्रतिपदोक्तमिति कदादेशो न भवति ।।3. 2. 130.।।

रथ-वदे ।। 3. 2. 131. ।।

रथवदयोरुत्तरपदयोः कुशब्दस्य कदादेशो भवति । कुत्सितो रथः कद्रथः, कुत्सितो रथोऽस्य कद्रथः, कुत्सितो वदः कद्वदः, कुत्सितो वदोऽस्य कद्वदः । तत्पुरुष एवेच्छन्त्येके, अन्यत्र कुरथो राजा कुवदो मूर्खः ।।131।।

तृणे जातौ ।। 3. 2. 132. ।।

कुशब्दस्य तृणे उत्तरपदे जातावभिधेयायां कदादेशो भवति । कुत्सितं तृणमस्याः कत्तृणा नाम रौहिषाख्या तृणजातिः । जाताविति किम् ? कुत्सितानि तृणानि कुतृणानि ।। 132।।

न्या० स०—तृणे जातौ । कत्तृणशब्दो जातिवाची अवयवार्थस्तु वृत्तावऽसन्नेव दर्श्यते कुत्सितं तृणमस्या इत्येवंरूपः । *रौहिष* इति रोहति अरण्ये 'रुहेर्वृद्धिश्च' 548 (उणादि) इति इषप्रत्ययः ।।3. 2. 132.।।

कत्त्रिः ।। 3. 2. 133. ।।

कुशब्दस्य किंशब्दस्य वा त्रिशब्दे उत्तरपदे कदादेशो निपात्यते । कुत्सितास्त्रयः, के वा त्रयः कत्त्रयः, कुत्सितास्त्रयोऽस्य के वा त्रयोऽस्य कत्त्रिः । किमो नेच्छन्त्यन्ये किंत्रयः ।।133।।

न्या० स०—कत्त्रिः । त्रावित्येव सिद्धे कत्रीति करणं किमोऽपि परिग्रहार्थम् । ।।3. 2. 133.।।

काक्षपथो ।। 3. 2. 134. ।।

अक्ष पथिन् इत्येतयोरुत्तरपदयोः कोः का इत्ययमादेशो भवति, अक्षशब्दस्याकारान्तस्य कृतसमासान्तस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । कुत्सितोऽक्षः पाशकादिः काक्षः, कुत्सितमक्षमिन्द्रियं काक्षम्, कुत्सितोऽक्षो यस्य काक्षो-रथः, कुत्सितमक्षि अक्षं वाऽस्य काक्षः, कुत्सितः पन्थाः

कापथम्, कुत्सितः पन्था अस्मिन् कापथो देशः, साकोऽपि भवति, ककु 'कुत्सितः' अक्षः काक्षः, एवं कापथः । पथिशब्दनिर्देशात्तत्पर्यायेऽव्युत्पन्ने पथशब्दे न भवति-कुत्सितः पथः कुपथः, कुपथं वनम् । अनीषदर्थार्थं वचनम् ।।134।।

न्या० स०—काक्ष० । *कापथमि*ति पथः संख्येति नपुंसकत्वं, बहुव्रीहौ त्वाश्रयलिङ्गता । *एवं कापथ* इति अत्र पुंस्त्वमित्यमरः । गौडश्च यदाह 'व्यध्वौ विपथकापथौ' स्वमते तु नपुंसकत्वमेव भवति । *कुत्सितः पथः* कुपथ इति भवति न तु कृपथम् । ।।3. 2. 134.।।

पुरुषे वा ।। 3. 2. 135. ।।

कुशब्दस्य पुरुषशब्दे उत्तरपदे कादेशो भवति वा । कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः, कुपुरुषः, कुत्सिताः पुरुषा अस्मिन् कापुरुषो ग्रामः, कुपुरुषो ग्रामः । अनीषदर्थे विकल्पोऽयम्, ईषदर्थे तु परत्वादुत्तरेण नित्यमेव, तत्रापि विकल्प एवेति कश्चित्,—ईषत्पुरुषः, कापुरुषः, कुपुरुषः ।।135।।

अल्पे ।। 3. 2. 136. ।।

ईषदर्थे वर्तमानस्य कुशब्दस्योत्तरपदे परे कादेशो भवति । ईषन्मधुरं कामधुरं कालवणम् । स्वरादावपि परत्वादीषदर्थे कादेश एव भवति, ईषदम्लम्, काम्लम्, एवं काच्छम् ।।136।।

न्या० स०—अल्पे / *स्वरादावपि* इति न 'कोः कत् तत्पुरुषे' (3. 2. 120.) इति कदादेश इत्यर्थः ।।3. 2. 136.।।

का-कवो वोष्णे ।। 3. 2. 137. ।।

कुशब्दस्योष्णशब्दे उत्तरपदे का कव इत्येतावादेशौ वा भवतः । ईषत्कुत्सितं वा उष्णम् कोष्णम्, कवोष्णम्, ईषत् कुत्सितं वा उष्णमत्र कोष्णः, कवोष्णो देशः, पक्षे यथाप्राप्तम् इति-तत्पुरुषे कदुष्णम् । बहुव्रीहौ तु कदादेशो न भवति, कृष्णो देशः । अन्यस्त्वग्नावपीच्छति, काग्निः, कवाग्निः, कदग्निः ।।137।।

कृत्येऽवश्यमो लुक् ।। 3. 2. 138. ।।

अवश्यम्शब्दस्य कृत्यप्रत्ययान्ते उत्तरपदे लुक् अन्तादेशो भवति । अवश्यकार्यम्,

अवश्यस्तुत्यम्, अवश्यदेयम्, अवश्यकर्तव्यम्, अवश्यकरणीयम् । कृत्य इति किम् ? अवश्यंलावकः ।।138।।

न्या० स०–कृत्ये० । 'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः' (3. 1. 48.) 'मयूरव्यंसक' (3. 1. 116.) इत्यादिना वा सर्वत्राऽत्र समासः ।।3. 2. 138.।।

समस्तत-हिते वा ।। 3. 2. 139. ।।

सम्शब्दस्य तते हिते चोत्तरपदे लुगन्तादेशो वा भवति । सततम्, संततम्, सहितम्, संहितम् ।।139।।

तुमश्च मनःकामे ।। 3. 2. 140. ।।

तुम्प्रत्ययान्तस्य सम्शब्दस्य च प्रत्येकं मनसि कामे चोत्तरपदे लुगन्तादेशो भवति । भोक्तुं मनोऽस्य भोक्तुमनाः, गन्तुं कामोऽस्य गन्तुकामः, सम्यग्मनोऽस्य समनाः, एवं सकामः । सहशब्देनापि सिद्धौ समः श्रुतिनिवृत्त्यर्थं वचनम् ।।140।।

मांसस्याऽनड्-घञि पचि नवा ।। 3. 2. 141. ।।

मांसशब्दस्यानडन्ते घञन्ते च पचावुत्तरपदे लुगन्तादेशो वा भवति । मांसस्य पचनं मांस्पचनम्, मांसपचनम्, मांस्पचनी, मांसपचनी, मांसस्य पाकः, मांस्पाकः, मांसपाकः । अनड्घञीति किम् ? मांसपक्तिः । पचाविति किम् ? मांसदाहः, मांसदहनी ।।141।।

न्या० स०–मांसस्य० । *मांस्पचनमिति* अत्र ❊ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❊ इति न्यायादलोपस्यासिद्धत्वात् सो रुर्न भवति, न तु 'स्वरस्य परे' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वं । 'न संधि' (1. 3. 52.) इत्यनेनासाद्विधौ स्थानित्वनिषेधात् ।।3. 2. 141.।।

दिक्शब्दात्तीरस्य तारः ।। 3. 2. 142. ।।

दिक्शब्दात्परस्य तीरशब्दस्योत्तरपदस्य तार इत्ययमादेशो वा भवति । दक्षिणस्या दिशः दक्षिणस्य वा देशस्य तीरं दक्षिणतारं, दक्षिणतीरम्-एवमुत्तरतारमुत्तरतीरम्, पश्चिमतारं पश्चिमतीरम्, पूर्वतारं, पूर्वतीरम्, । दिक्शब्दादिति किम् ? गङ्गातीरम् ।।142।।

न्या० स०–दिक्शब्दा० । *पश्चिमतारमि*ति स्त्रियां तु सर्वादित्वाभावात् पुंभावाप्रवृत्तौ पश्चिमातारं पश्चिमातीरमिति भवति ।।3. 2. 142.।।

सहस्य सोऽन्यार्थे ।। 3. 2. 143. ।।

अन्यार्थे अन्यपदार्थे बहुव्रीहौ समासे उत्तरपदे परे सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति वा । सह पुत्रेण सपुत्र आगतः सहपुत्र आगतः, एवं सशिष्यः सहशिष्य आगतः, सह लोम्ना वर्तते सलोमकः सहलोमकः, विद्यमानलोमक इत्यर्थः । अन्यार्थ इति किम् ? सहयुध्वा, सहकुत्वा, सहकारी, सहजः । कथं सहकृत्वा प्रियोऽस्य सहकृत्वप्रियः प्रियः सहकृत्वास्य प्रियसहकृत्वेति ? बहुव्रीहौ यदुत्तरपदं तस्मात्पूर्वः सहशब्दो न भवतीति सादेशो न भवति ।।143।।

नाम्नि ।। 3. 2. 144. ।।

योगारम्भाद्वेति निवृत्तम् । अन्यार्थे समासे उत्तरपदे परे सहशब्दस्य सादेशो भवति, नाम्नि संज्ञायां विषये । सहाश्वत्थेन वर्तते-साश्वत्थम्, सपलाशम्, सशिंशपम्, एवंनामानि वनानि, सह रसेन सरसा दूर्वा, । अन्यार्थ इत्येव ? सह चरतीति सहचरः कुरण्टकः, सह दीव्यतीति सहदेवः कुरुः, सहदेवा ओषधिः, सह जायते सहजन्या अप्सराः ।।144।।

न्या० स०–नाम्नि । *सह चरतीति सहचरः* अच् । 'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः' (3. 1. 48.) इति समासः । *सहदेवा ओषधिरि*ति 'लिहादिभ्योऽच्', (5. 1. 50.) *सह जायते सहजन्या अप्सरा* इति 'भव्यगेयजन्य' (5. 1. 7.) इत्यादिना कर्त्तरि घ्यण् 'न जनवधः' (4. 3. 54.) । इति वृद्ध्यभावः ।।3. 2. 144.।।

अदृश्याधिके ।। 3. 2. 145. ।।

अदृश्यं परोक्षम् अधिकमधिरूढम्, तद्वाचिनोरुत्तरपदयोरन्यार्थे समासे सहशब्दस्य सादेशो भवति । अदृश्ये-साग्निः कपोतः, सपिशाचा वात्या, सराक्षसीका विद्युत्, समुशलो व्रीहिकंसः अधिके,–सद्रोणा खारी, समाषः कार्षापणः, सकाकणीको माषः । 'सहस्य सोऽन्यार्थे' (3. 2. 143.) इत्यनेनैव सिद्धे नित्यार्थं वचनम् ।।145।।

न्या० स०–अदृश्याधिके । व्रीहिकंस इति । कंस इति खार्यादिवत् मानविशेषस्य नाम तत्परिमाणपरिच्छिन्नव्रीहिमध्यगतस्य मुसलस्य आवृतत्वाददृश्यता ।।3. 2. 145.।।

अकालेऽव्ययीभावे ॥ 3. 2. 146. ॥

सहशब्दस्याकालवाचिन्युत्तरपदेऽव्ययीभावसमासे सादेशो भवति। ब्रह्मणः संपत् सब्रह्म साधूनाम्, एवं सवृत्तं सुविहितानाम्, सक्षत्रं यदूनाम् । संपत्तावव्ययीभावः । युगपच्चक्रेण चक्राणि वा धेहि सचक्रं धेहि, एवं सधुरं प्राजः। यौगपद्येऽव्ययीभावः-तृणैः सह सतृणमभ्यवहरति, एवं समूलघातं हन्ति। साकल्येऽव्ययीभावः। षड्जीवनिकामन्तमवसानं कृत्वाधीते सषड्जीवनिकमधीते श्रावकः, एवं सलोकबिन्दुसारमधीते पूर्वधरः । अन्त इत्यव्ययीभावः । अकाल इति किम् ? सहपूर्वाह्णं शेते, सहापराह्णं भुङ्क्ते। अयमपि साकल्येऽव्ययीभावः। अव्ययीभाव इति किम् ? सहयुध्वा ॥146॥

न्या० स० — अकाले० / *समूलघातमि*ति अत्र मूलानां साकल्यं समूलं हननं 'हनश्च समूलात्' (5. 4. 63.) णम् । *षडजीवनिकामि*ति षट् संख्या जीवाः तान्नियतं कायति डः, अथवा जीव्यतेऽनयाऽनटि स्वार्थे के षण्णां प्राणिनां जीवनिका षट्जीवनिका ॥3. 2. 146.॥

ग्रन्थान्ते ॥ 3. 2. 147. ॥

ग्रन्थस्यान्तो ग्रन्थान्तः, तद्वाचिन्युत्तरपदेऽव्ययीभावे समासे सहशब्दस्य सादेशो भवति। कलामन्तं कृत्वा सकलं ज्योतिषमधीते, एवं सकाष्ठम्, समुहूर्त्तम् । कलादिशब्दाः कालविशेषवाचिनोऽपि तत्सहचारिषु ग्रन्थेषु वर्तन्त इति ग्रन्थान्तवाचित्वमुत्तरपदस्य । अन्त इत्यव्ययीभावः कालार्थ आरम्भः ॥147॥

नाऽऽशिष्यगो-वत्स-हले ॥ 3. 2. 148. ॥

आशिषि गम्यमानायां गवादिवर्जित उत्तरपदे परे सहशब्दस्य सादेशो न भवति । स्वस्ति राज्ञे सहराष्ट्राय, स्वस्ति गुरवे सहशिष्याय, भद्रं सहसंघायाचार्याय । आशिषीति किम् ? सपुत्रः सहपुत्र आगतः । अगोवत्सहल इति किम् ? स्वस्ति भवते सगवे, सहगवे, सवत्साय, सहवत्साय, सहलाय, सहहलाय ॥148॥

समानस्य धर्मादिषु ॥ 3. 2. 149. ॥

समानशब्दस्य धर्मादिषूत्तरपदेषु सादेशो भवति। समानो धर्मोऽस्य सधर्मा, समानो वा धर्मः सधर्मः, समाना जातिरस्य सजातीयः, समानं नामास्य सनामा, समानं नाम सनाम ।

धर्म, जातीय, नामन्, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, बन्धु, पक्ष, गन्ध, पिण्ड, देश, कर, लोहित, कुक्षि, वेणि इति धर्मादयः। बहुवचनमाकृति-गणार्थम्।

अन्ये तु धर्मादिषु वचनान्तेषु नवसु विकल्पमिच्छन्ति। सधर्मा, समानधर्मा, सजातीयः, समानजातीयः। सनामा, समाननामा, सगोत्रः, समानगोत्रः, सरूपः, समानरूपः, सस्थानः समानस्थानः, सवर्णः, समानवर्णः, सवयाः, समानवयाः, सवचनः, समानवचनः।

अपरे तु नामादिषु बन्धुपर्यन्तेषु द्वादशस्वेव समानस्य सभावं नित्यमिच्छन्ति अन्येषु तु नेच्छन्त्येव। सधर्मसपक्षादिशब्दांस्तु सहशब्देन समानपर्यायेण कृतसादेशेन साधयन्ति, समानशब्दप्रयोगे तु समानधर्मा, समानपक्षः समानजातीय इत्याद्येव मन्यन्ते। कथं समानोदरे जातः—सोदर्यः ? समाने तीर्थे वसति सतीर्थ्य इति, ? 'सोदर्यसमानोदर्यौ (6. 3. 111.) इति 'सतीर्थ्यः' (6. 4. 78.) इति च निपातनाद्भविष्यतः ॥149॥

सब्रह्मचारी ॥ 3. 2. 150. ॥

सब्रह्मचारीति निपात्यते। समानो ब्रह्मचारी समाने ब्रह्मण्यागमे गुरुकुले वा व्रतं चरतीति वा सब्रह्मचारी, निपातनादेव व्रतशब्दस्यापि लोपः ॥150॥

दृक्-दृश-दृक्षे ॥ 3. 2. 151. ॥

दृक्दृशदृक्ष इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य सादेशो भवति। समान इव दृश्यते सदृक्, सदृशः, सदृक्षः। दृशदृक्षसाहचर्यात् टक्सक्प्रत्ययसहचरितक्विबन्तस्यैव दृशो ग्रहणात् इह न भवति, समाना दृक् समानदृक् ॥151॥

अन्य-त्यदादेरा ॥ 3. 2. 152. ॥

अन्यशब्दस्य त्यदादेश्च दृक्दृशदृक्षेषूत्तरपदेषु आकारोऽन्तादेशो भवति। अन्य इव दृश्यते अन्यादृक्, अन्यादृशः, अन्यादृक्षः, एवं त्यादृक् त्यादृशः, त्यादृक्षः, तादृक्, तादृशः, तादृक्षः, यादृक्, यादृशः, यादृक्षः, अमूदृक्, अमूदृशः, अमूदृक्षः, भवादृक्, भवादृशः, भवादृक्षः, त्वादृक्, त्वादृशः, त्वादृक्षः, मादृक्, मादृशः, मादृक्षः, एकादृक्, एकादृशः, एकादृक्षः। द्वादृक्, द्वादृशः, द्वावृक्षः, युष्मादृक्, युष्मादृशः, युष्मादृक्षः, अस्मादृक्, अस्मादृशः, अस्मादृक्षः। कथं यत्परिमाणमस्य यावान्, एवं तावान् ? एतावान् ? 'यत्तदेतदो डावादिः' (7. 1. 149.) इति डावतौ भविष्यति ॥152॥

इदं किमीत् की ॥ 3. 2. 153. ॥

इदंशब्दः किंशब्दश्च दृक् दृश दृक्षेषूत्तरपदेषु परेषु यथासंख्यमीकाररूपः कीकाररूपश्च भवति। अयमिव दृश्यते ईदृक्, ईदृशः, ईदृक्षः, क इव दृश्यते कीदृक्, कीदृशः, कीदृक्षः, कथं इदं किं वा परिमाणमस्य इयान् कियान् ? 'इदंकिमोऽतुरिय् किय् चास्य' (7. 1. 148.) इति भविष्यति ॥153॥

अनञः क्त्वो यप् ॥ 3. 2. 154. ॥

नञ्वर्जितादव्ययात् पूर्वपदाद्यत्परमुत्तरपदं तदवयवस्य क्त्वाप्रत्ययस्य यबादेशो भवति। प्रकृत्य, प्रहृत्य, उच्चैः कृत्य, नानाकृत्य। निञ इति किम् ? अकृत्वा, अहृत्वा, परमकृत्वा, अनञ इति नञ्सदृशमव्ययं गृह्यत इति इह नञोऽनव्ययाच्च न भवति। उत्तरपदस्येत्येव ? अलं कृत्वा, खलु कृत्वा ॥154॥

न्या०स०—अनञः क्त्वो० । उच्चैःकृत्य इत्यत्र 'कृगोऽव्यय' (5. 4. 54.) इति क्त्वा। *नानाकृत्य* इत्यत्र तु 'स्वाङ्गतश्च्व्यर्थे' (5. 4. 86.) इत्यनेन। *परमकृत्वे*ति। परमं च तत् कृत्वा चेति कार्यं। 'सन्महत्' (3. 1. 107.) इति समासः। परमं करणं पूर्वं वा, परमस्य करणमित्यत्र तु समासो न स्यात् 'तृप्तार्थपूरण' (3. 1. 85.) इत्यादावऽव्ययद्वारेण निषिद्धत्वात् षष्ठीसमासस्य ॥3.2.154.॥

पृषोदरादयः ॥ 3. 2. 155. ॥

पृषोदर इत्येवंप्रकाराः शब्दा विहितलोपागमवर्णविकाराः शिष्टैः प्रयुज्यमानाः साधवो भवन्ति। पृषदुदरमुदरे वास्य पृषोदरः, पृषत उदरं पृषोदरम्, पृषत उद्वानं पृषोद्वानम्, एवं पृषोद्वारम्,—अत्र तकारलोपो निपात्यते। जीवनस्य जलस्य मूतः पुटबन्धः, जीमूतः, अत्र वनस्य लोपः, वारिणो वाहको बलाहकः, अत्र पूर्वपदस्य बः उत्तरपदादेश्च ल आदेशः, आध्यायन्ति तमिति आढ्यः, अत्र ध्यस्य ढ्यादेशः, कृच्छ्रेण दास्यते नास्यते दभ्यते च खलि, दुष्टो दासो नासो दम्भ इति वा दूडासः, दूणासः, दूडभः, दुष्टं ध्यायति दूढ्यः, एषु पूर्वपदस्य दुसो दूभावः उत्तरपदादेश्च डत्वणत्वढत्वानि दम्भेर्नलोपश्च।

मह्यां रौति मयूरः, रौतेरच्यन्तलोपो महीशब्दस्य मयूभावः, । मह्यां शेते महिषः। ढः। अत्र पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं शस्य च षत्वम्। पिशितमश्नाति पिशाचः। अत्र पिशितस्य पिशादेशः अश्नातेः शस्य चादेशः।

शवानां शयनं श्मशानम्, पूर्वपदस्य श्मादेशः उत्तरपदस्य च शानादेशः। ब्रुवन्तोऽस्यां

सीदन्ति विषीदन्ति वृसी । अत्र डट् प्रत्ययः । पूर्वपदस्य वृभावः । ऊर्ध्वं खं विलं वास्य उदूखलम् । उलूखलं वा । अत्र पूर्वपदस्योद्भाव उलूभावश्च उत्तरपदस्य खलादेशः । दिवि द्यौर्वौक एषां दिवौकसः । अत्राकारागमः ।

अश्व इव तिष्ठति अश्वत्थः । कपिरिव तिष्ठति कपयोऽस्मिंस्तिष्ठन्ति इति वा कपित्थः, दध्नि तिष्ठति दधित्थः, मह्यां तिष्ठति महित्थः, एषु तिष्ठतेः सकारस्य तकारः, मुहुः स्वनं लाति मुहुर्मुहुलसतीति वा मुसलम् । अत्र मुहुः शब्दस्य मुभावः । स्वनशब्दस्य सभावः । पक्षान्तरे लसयोर्विपर्ययश्च । ऊर्ध्वौ कर्णावस्येत्युलूकः, अत्रोर्ध्वशब्दस्योलादेशः कर्णशब्दस्योकादेशश्च । मेहनस्य खं मेहनखं तस्य माला मेखला । अत्र मेहनखे हनस्य मालाशब्दे च माशब्दस्य लोपः । कौ जीर्यति कुञ्जरः, अत्र कुशब्दस्य मोऽन्तः । आश्वस्य विषमस्ति आशीविषः, अत्राशुशब्दस्याशीभावः । बलं वर्धयति बलीवर्दः, अत्र बलस्येकारोऽन्तादेशो वर्धधकारस्य च दकारः । मनस ईष्टे मनीषी, अत्र मनसोऽन्त्यस्वरादिलोपः ईशेः शस्य च षः । विलं दारयतीति विडालः, अत्र विलशब्दस्य ललोपः, उत्तरपदस्य डालादेशः । मृदमालीयते, डः, मृणालः ।

अत्र मृदो दकारस्य णकारः । असृगालीयते, डः, सृगालः । अत्रदेलोपः । असृग्गिलति वा सृगालः, अत्रासृज आद्यन्तलोपः । पुरो दाश्यते पुरोडाशः, अत्रोत्तरपदादेर्डत्वम् । अश्वस्याम्बा वडवा । अत्राश्वस्याशो लोपः ड चान्तः । अम्बाशब्दे च मो लोपः । शकस्यान्धुः शकन्धुः । अत्र पूर्वपदान्तस्योत्तरपदादेर्वा लोपः । एवं कर्कन्धुः, अटतीत्यच् अटा, कुलानामटा कुलटा । अव् अवाक् अटन्त्यस्मिन्निति बाहुलकात् 'पुंनाम्नि' (5. 3. 130.) इति घः, अवटः । हिनस्तीति सिंहः, अत्र सकारहकारस्योर्विपर्ययः । कृतकेन शलति कृकलाशः, अत्र तकारस्य लोपः, शकारलकारयोस्तु विपर्ययः । भ्रमन् रौति डः भ्रमरः, अत्र तलोपः । एवंप्रकाराः शिष्टैः प्रयुक्ताः पृषोदरादयः । मयूरमहिपादीनामुणादौ व्युत्पादितानामपीह व्युत्पादनमनेकधा शब्दव्युत्पत्तिज्ञापनार्थम् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेन मुहूर्तमारग्वधोऽश्वत्थामनिर्लयनीत्यादयोऽपि द्रष्टव्याः। वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरो वर्णविकारनाशौ । धातोः तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥155॥

न्या० स०–पृषोदरा० । *पृषोद्वानमि*ति 'पैं ओवैं शोषणे' उद्वायत इति उद्वानं पृषत उद्वानं पृषोद्वानम् । *पृषोद्धारमि*ति धृंग् णिगि अच्, उद्पूर्वस्य धृगो णिगि अचि । यदा उद्धरमिति तदा धृगोऽणिगन्तस्य । आढ्य इत्यत्र 'स्थादिभ्यः कः' (5. 3. 82.) । *आशीविष* इति यदापि आश्यतीत्यचि ततो 'गौरादिभ्यो' (2. 4. 19.) (इति) ङीः, आश्यां दंष्ट्रायां विषमस्तीति अथवा आशिषि दंष्ट्रायां विषमस्येति तदाऽप्यनेन निपातनम् । *तदर्थाऽतिशयेने*ति स प्रसिद्धोऽर्थस्तदर्थः

शब्दलक्षणस्तस्यातिशयो माधुर्यादिस्तेन योगः यथा मयूर इति, अत्र हि रौते रवणार्थस्यातिशयेन योगः । *कृकलाश* इति 'वा ह्वलादि' इति णः । कृकं लासयतीति ये व्युत्पादयन्ति तन्मते दन्त्यसकारः । मुहुरियर्ति स्म 'गत्यर्थ' (5. 1. 11.) इति क्तः प्रत्ययः । आरात् वध्यते 'स्थादिभ्यः कः' (5. 3. 82.) तस्य गः, अश्व इव तिष्ठतीति मन् निलीयतेऽस्यां अनट् ॥3. 2. 155.॥

वाऽवाऽप्योस्तनिक्रीधाग्नहोर्व पी ॥ 3. 2. 156. ॥

अवशब्दस्योपसर्गस्य तनिक्रीणात्योः परयोरपिशब्दस्य च धाग्नहोः परयोर्यथासंख्यं व पि इत्येतावादेशौ वा भवतः । वतंसः, अवतंसः, वक्रयः, अवक्रयः, पिहितम्, अपिहितम्, पिधानम्, अपिधानम्, पिदधाति, अपिदधाति, पिनद्धम्, अपिनद्धम्, । धातृनियमं नेच्छन्त्येके । पृषोदरादिप्रपञ्च एषः तेन शिष्टप्रयोगोऽनुसरणीयः ॥156॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां
सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ
तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

श्रीमद्वल्लभराजस्य प्रतापः कोऽपि दुःसहः ।
प्रसरन् वैरिभूपेषु दीर्घनिद्रामकल्पयत् ॥

न्या० स०–वावाप्यो० । अथ पृषोदरादित्वादेवाऽवाप्योः पाक्षिके अकारलोपे वतंस इत्यादि सिध्यत्येव किमर्थोऽयं योग इत्याह-पृषोदरादीति । शिष्टा उक्तरूपास्तैर्यः प्रयुज्यते तदनुसरणादन्यदपि सर्वं सिद्धम् ॥3. 2. 156.॥

❊ इत्याचार्यश्रीहेम० लघुन्यासे तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ❊

(अथ तृतीयः पादः)

वृद्धिरारैदौत् ॥ 3. 3. 1. ॥

आकार आर्, ऐकार, औकारश्च प्रत्येकं वृद्धिसंज्ञा भवन्ति। मार्ष्टि, पाक्यम्, दाक्षिः; कारयति, कार्यम्, आर्षम्; नाययति, नायकः, ऐन्द्रम्; लावयति, लावकः, औपगवः। वृद्धिप्रदेशाः– ''मृजोऽस्य वृद्धिः'' (4. 3. 42.) इत्येवमादयः ॥1॥

न्या०स०–वृद्धिरारैदौत्-वृद्धिशब्दस्य संज्ञात्वात् अनुवादविधित्वेन (विधेयत्वेन) च परनिपातः प्राप्नोति। आरैदौदित्यनूद्य एते वृद्धिसंज्ञा भवन्तीति ह्यभिधीयते। सत्यम्, मङ्गलार्थं निपातः।

नन्वाकारादयो द्वेधा तद्भाविता अतद्भाविताश्च, तद्भाविता वृद्धिसंज्ञया निष्पादिता; यथा–आश्वलायनः, कार्त्तवीर्यः, ऐतिकायनः औपगवः इत्यादिषु। अतद्भाविता यथा–राजा, प्रार्च्छयति, रैपात्रं, नौघोष इत्यादिषु। तत्र पूर्वेषामितरेतराश्रयदोषप्रसङ्गादितरेषु चरितार्थतया वृद्धिसंज्ञया न भाव्यमिति न वाच्यम्। सामान्येन भाविन्याः संज्ञाया आश्रयणात् नास्तीतरेतराश्रयप्रसङ्गो यथाऽस्य सूत्रस्य पटं वयेति। न चाकारादयः संज्ञा, वृद्धिशब्दः संज्ञीति विपर्ययोऽत्र युज्यते लाघवार्थत्वात् संज्ञाकरणस्य, न च समुदितानामारैदौतां संज्ञेयमिति वाच्यं ''वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः'' (6-1-8) इति दर्शनात्, न च समुदाय आदिस्वरो भवति।

गुणोऽरेदोत् ॥ 3. 3. 2. ॥

'अर् एत् ओत्' इत्येते प्रत्येकं गुणसंज्ञा भवन्ति। करोति, कर्तव्यम्, चेता, चेयम्, स्तोता, स्तोतव्यम्। गुणप्रदेशाः– ''नामिनो गुणोऽक्ङिति'' (4. 3. 1.) इत्येवमादयः ॥2॥

न्या०स०–गुणोऽरे०-गुणशब्दस्य पूर्वनिपातो मङ्गलस्यैवातिशयप्रतिपादनार्थः।

क्रियार्थो धातुः ॥ 3. 3. 3. ॥

कृतिः क्रिया, प्रवृत्तिर्व्यापार इति यावत्, पूर्वापरीभूता साध्यमानरुपा साऽर्थोऽभिधेयं यस्य स शब्दो धातुसंज्ञो भवति। एधते, अत्ति, दीव्यति, सुनोति, तुदति, रुणद्धि, तनोति, क्रीणाति, सहति। आयादिप्रत्ययान्तानामपि क्रियार्थत्वात् धातुत्वम्-गोपायति, कामयते, ऋतीयते,

जुगुप्सते, कण्डूयति, पापच्यते, चोरयति, कारयति, चिकीर्षति, पुत्रकाम्यति, पुत्रीयति, अश्वति, श्येनायते, हस्तयते, मुण्डयति। एवं जु-स्तम्भूचुलुम्पादीनामपिजवनः, स्तभ्नाति, चुलुम्पांचकार, प्रेङ्खोलयति।

शिष्टप्रयोगानुसारित्वादस्य लक्षणस्याणपयत्यादिनिवृत्तिः, शिष्टज्ञापनाय चेदं लक्षणम्, एतदविसंवादेन च शिष्टा ज्ञायन्त इति।

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां च धातोः क्रियार्थत्वावगमः, तथाहि-पचतीत्यादौ धातुप्रत्ययसमुदाये संसृष्टक्रियाकालकारकाद्यनेकार्थाभिधायिनि प्रयुज्यमाने धातोरेव क्रियार्थत्वमवगम्यतेऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां नेतरेषाम्। पचतीति प्रयोगे द्वयं श्रूयते—'पच्' इति प्रकृतिः, 'अतिः' इति च प्रत्ययः, अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते विक्लित्तिःकर्तृत्वमेकत्वम्; पठतीत्युक्ते कश्चित् शब्दो हीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी, 'पच्' शब्दो हीयते 'पठ्' शब्द उपजायते 'अति' शब्दोऽन्वयी, अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी, विक्लित्तिर्हीयते पठिरुपजायते कर्तृवमेकत्वं चान्वयी; तेन मन्यामहे—यः शब्दो हीयते तस्यासवर्थो योऽर्थो हीयते, यश्च शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते, यश्च शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽन्वयीति।

ननु च कृतिः करोत्यर्थः क्रिया, तत्र युक्तं पचादीनां किं करोति ? पचति, किं करोति ? पठतीति करोतीत्यर्थगर्भितत्वात् क्रियात्वम्, अस्ति-विद्यते-भवतीनां तु न युक्तम्, नहि भवति-किं करोति ? अस्ति भवति विद्यते चेति, तदयुक्तम्-न करोत्यर्थः क्रियाशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, अपि तर्हि कारकव्यापारविशेषः, व्यापारश्च व्यापारान्तराद् भिद्यत इत्य- स्त्याद्यर्थोऽपि क्रियैव, करोत्यर्थस्तु क्रियाशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमेव; एवं सति क्रियासामा- न्यवचनाः कृभ्वस्तयः क्रियाविशेषवचनास्तु पचादय इति सिद्धम्। तथा 'भावेघञ्' इत्युक्त्वा 'कारः, पाकः' इत्यादयोप्युदाह्रियन्ते। 'क्रियोपपदाद्धातोस्तुम्' इत्युक्त्वा 'योद्धुं धनुर्भवति, द्रष्टुं चक्षुर्जातम्' इत्याद्यप्युदाहरणं युक्तम्। यदाहुः—'यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रा- स्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषे प्रयुज्यते' इति। क्रिया च द्वेधा सिद्धसाध्यत्वभेदात्, तत्र सिद्धस्व- भावोपसंहृतक्रमा परितः परिच्छिन्ना सत्त्वभावमापन्ना घञादिभिरभिधीयते, यदाह—''कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते'' इति; तुमादिभिस्तु सत्त्वभावमनापन्नेति विशेषः; साध्यमानावस्था पूर्वापरीभूतावयवा भूत-भविष्यद्-वर्तमान-सदसदाद्यनेकावयवरूपाऽऽख्यातपदैरुच्यते, यदाह— ''पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे'' यथा च पचतीत्यत्र पूर्वापरीभावस्तद्वदेव 'जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति, भवति, श्वेतते, संयुज्यते, समवैति' इत्यादावपि साध्यत्वाभिधानेन क्रमरूपाश्रयणात् क्रियाव्यपदेशः सिद्धः, तदुक्तम्—

``यावत् सिद्धमसिद्धं वा, साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात्, तत् क्रियेति प्रतीयते ।''।।3।।

न्या०स०—क्रियार्थो०—पूर्वावयवयोगात्पूर्वाऽपरावयवयोगादऽपरा पूर्वा चासावपरा च पूर्वापरा अपूर्वापरा पूर्वापरा भूता *पूर्वापरीभूता*, तत्र पूर्वापरयोर्द्वयोरपि प्रथमोक्तत्वेन ``पूर्वापरप्रथम०'' (3-1-103) इति शब्दपरस्पर्धेनाऽपरशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजदन्तादित्वात् पूर्वस्य पूर्वनिपातः, तत्र पूर्वोऽवयवोऽधिश्रयणादिरपर उदकसेकादिस्तौ द्वावपि भागौ पाकक्रियायां स्तः, सा ह्यधिश्रयणोदकसेचनादि रूपा ।

साध्यमानरूपेति—साध्यमानं साधनायत्तं रूपं स्वरूपं यस्याः सा क्रिया, यथा—पचति कः ? चैत्र, किम् ? ओदनम्, कैः ? काष्ठैः क्व ? स्थाल्यां, कुतः ? कुशूलात्, कस्मै ? मैत्रायेति भावना ।

ननु पचतीत्यादिष्वस्तु क्रियात्वं भवतीत्यादिषु तु सत्ताया नित्यत्वेन साध्यमानत्वाऽभावात् तदभावे च पूर्वापरविभागाभावात् तदभावे च क्रियार्थत्वाभावे न प्राप्नोति धातुसंज्ञा ? सत्यं, आधेयभेदेन सत्तापि पूर्वापरीभूता साध्यमानरूपा, यथा—सैव देवदत्तसत्ता क्वचिद्गमनयुक्ता क्वचिद्भोजनयुक्ता क्वचिद्पठनयुक्ता, एवमनेकधा योजना कार्या ।

आयादिप्रत्ययान्तेति-ननु क्रियार्थे धातौ शिश्ये इत्यादिषु भावे तदर्थप्रत्ययस्यापि धातुत्वप्रसङ्गः । भावप्रत्ययो हि क्रियार्थ एव उत्पद्यते ततश्च ``आत् संध्यक्षर'' (4-2-1) इत्यात्वप्रसङ्गः । आत्वे हि धातोर्विहितमनैमित्तिकं चेति । अतः प्रत्ययप्रतिषेधार्थं क्रियाविशेषकं प्रथमग्रहणं कर्त्तव्यं व्याख्येयं च प्रथमं यः क्रियामाहेति, प्राथम्यं चात्राभिधानापेक्षं ग्राह्यं, तेन किं सिद्धं ? अन्येनानभिहितां क्रियां य आह स धातुः । अयमर्थोऽन्येभ्यः क्रियाभिधायिभ्यो यः प्रथममाहेति । शिश्ये, इत्यत्र तु शीत्यनेनाभिहितां क्रियां प्रत्यय आहेति, न तस्य धातुसंज्ञाप्रवृत्तिः । शब्दार्थापेक्षया प्राथम्यं घटते तत्र शब्दतश्चेत्पुत्रीयतीत्यादावपि न प्राप्नोति, नात्र प्रथममुच्चार्यमाणः पुत्रशब्दः क्रियामाह । अर्थतश्चेत् पुत्रीयतीत्यादौ प्रथमा आद्या क्रिया अप्रथेनापि क्येनाभिधीयते न तु द्वितीयेति सिध्यति धातुसंज्ञा ।

ननु प्रथमग्रहणे सति चिकीर्षतीत्यत्रापि न प्राप्नोति धातुसंज्ञा, यतोऽत्रापि सन् प्रत्ययो न प्रथमं क्रियामाह अपि तु कृइत्यनेनाभिहिताम् ? नैवं, करोत्यर्थोपसर्जनामिच्छामन्येन अनभिहितां सन्प्रत्यय आहेति स्यादेव धातुसंज्ञेति । अत्रोच्यते,—यथात्र प्रथमग्रहणे कृते 'शिश्ये' इत्यत्र धातुसंज्ञा न भवति तथा स्वार्थिकानामायादीनामपि न प्राप्नोति । गोपायति, कामयत इत्यादिषु अत्रापि अभिहिताया एव क्रियाया आयादिभिरभिहितत्वात्, तस्मादेवं व्याख्येयं-

क्रियामेव प्राधान्येन योऽभिधत्ते स क्रियाभिधायी धातुसंज्ञः । गोपायतीत्यादावपि तदस्तीति सिद्धा धातुसंज्ञा । 'शिश्ये' इत्यादौ तु भूतानद्यतन परोक्षत्वादेरभिधानान्न धातुसंज्ञा । एतेन क्रियैवाभिधेया यस्य स धातुः एवं च कृत्वा, कर्त्तुमित्यादिषु साध्ये भावे कृत् प्रत्ययान्तस्यापि न धातुसंज्ञा । किं चात्रान्यदपि उत्तरमस्ति साध्ये अव्ययसंज्ञया धातुसंज्ञाया बाधितत्वात्, ''इकिश्तिव्स्वरूपार्थे'' (5-3-138) इति प्रत्ययान्तस्य सिद्धसाध्ययोरभेदोपचारेण सिद्धरूपत्वात् । कर्त्तव्यं, भूयते इत्यादौ तु भावे त्याद्यन्तस्य क्रियार्थत्वेऽपि न धातुत्वं साहचर्यात्, यतोऽन्येषामलिङ्गसंख्यानामपदसंज्ञकानां धातुसंज्ञाप्रत्ययादि, अत्र तु लिङ्गसंख्यापदसज्ञानां विद्यमानत्वात् ।

शिष्टप्रयोगानुसारित्वादिति—लक्षणात् पार्थक्येन शिष्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति शिष्टा धातवस्तेषां प्रयोगः पाठस्तदनुसारित्वात् तत्सव्यपेक्षत्वात् ।

अस्य लक्षणस्य क्रियार्थो धातुरित्यस्येत्यर्थः, यद्येवं पाठ एवाऽस्तु किमनेन लक्षणेनेति चेत् ? नैवं, पाठपठितानामपि क्रियार्थानामेव धातुत्वज्ञापनार्थत्वादित्याह—*शिष्टज्ञापनायेति*-अयमर्थो लक्षणात् पृथक्पठिता अपि त एव शिष्टा धातवो ये क्रियार्थाः, तेन वावाप्रभृतीनां सर्वनामविकल्पाद्यर्थानां पाठाविसंवादित्वेऽपि लक्षणविसंवादित्वादाणपयत्यादीनां तु क्रियार्थत्वेऽपि पाठविसंवादित्वाद्धातुत्वाभावः ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति—अथ कथं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेऽपि प्रकृतेरेव धातुत्वम् ? इत्याह—*तथाहि-पचतीति*-अत्र पचिः पाके वर्त्तते, पाकशब्देन च सिद्धो भाव उच्यते, साध्याभिधायिनश्च धातुत्वमतः कथमिह धातुत्वम् ? (सत्यं,) अन्यथा वक्तुमशक्यत्वात् पाकशब्देनापि साध्यो भाव उच्यते साध्यावस्थामनुभूयैव हि सिद्धभावोऽपि भवतीति ।

संसृष्टक्रियेति-क्रिया च कालश्च कारकं च क्रियाकालकारकाणि तानि आदयो येषां, आदिशब्दादेकत्वादि, संसृष्टाश्च ते क्रियाकालकारकादयश्च ते च ते अनेकार्थाश्च । न एकोऽनेकः, अनेके च ते अर्थाश्च तान् अभिदधातीति ।

शब्दो हीयते इति जहाति शब्दं देवदत्तः, स एवं विवक्षते, नाहं जहामि किंतु स्वयमेव हीयते ।

व्यापारविशेष इति-पचतीत्यादिषु हि तदस्ति इति धातुत्वं यतः, पचतीत्युक्ते, न पठति, न गच्छति, न किंचिदन्यद्व्यापारान्तरं विधत्ते किंतु पाकरूपविशेष एव गम्यत इति । ननु तथापि अस्त्यादीनां न प्राप्नोति क्रियात्वं सत्ताया व्यापारविशेषाभावात्, यतः सर्वोऽपि धात्वर्थोऽस्त्यादिभिर्व्याप्तः ? इत्यतो युक्तिमाह—

व्यापारश्चेत्यादिः—अयमर्थोऽस्त्येवैतत् तथापि पाकादेर्विशेषात् सत्ताया अपि विशेषो

ज्ञायते स्वरूपेण, न हि स एव पाकः सैव सत्तेति, यथाऽनेकघटाच्छादक एकः पट- स्तेष्वनुष्यूतोऽपि तेभ्यो भिद्यते, न हि स एव पटः स एव घट इति, एवं प्रकृतेऽपि तथा ।

भावे घञीति-यथा क्रियाशब्दस्य न करोत्यर्थः प्रवृत्तिनिमित्तं किन्तु कारकव्यापारविशेषस्तथा भावशब्दे च न भवत्यर्थः प्रवृत्तिनिमित्तमपि तु कारकव्यापार एवेत्यर्थः, यदाह हरिः—

आख्यातशब्दे भागाभ्यां, साध्यसाधनवर्त्तिता ।
प्रकल्पिता यथाशास्त्रे, स घञादिष्वपि क्रमः ।।1।।
साध्यत्वेन क्रिया तत्र, धातुरूपनिबन्धना ।
सत्वभागस्तु यस्तस्याः, स घञादिनिबन्धनः ।।2।।

तत्र सिद्धस्वभावेति—निर्द्धारणसप्तम्यन्तात् त्रप्, सिद्धसाध्यभेदयोर्मध्ये इत्यर्थः ।

परितः परिच्छिन्नेति-निष्पन्नत्वात् सर्वात्मना ज्ञातेत्यर्थः परिनिष्ठितरूपा वेत्यर्थः ।

सत्वभावमापन्नेति—अयमर्थः पाक इत्यादौ प्रकृतिभागः साध्यरूपमर्थमाह प्रत्यय- भागस्तु सत्त्वरूपताम् ।

भूतभविष्यदित्यादि—सर्वेषां द्वंद्वपूर्वो बहुव्रीहिः पृथगर्थत्वात्, भूतभविष्यद्वर्त्तमानाश्च ते सदसन्तश्चेति कर्म्मधारयपूर्वो वा, आदिशब्दात् प्रत्यक्षपरोक्षता ।

विपरिणमते इति—विपरिणमति देवदत्तः पदार्थं स एवं विवक्षते, नाहं विपरिणमामि स्वयमेव विपरिणमते, ``एकधातौ०'' (3-4-86) इत्यात्मनेपदं, किरादित्वाच्च क्याभावः एव*मपक्षीयते* इत्यत्रापि ।

यावत् सिद्धमसिद्धं वेति सिद्धं सत्तादि, असिद्धं तु कटादि । नन्वेवं तर्हि सत्तायाः साध्यमानता कया रीत्या ? उच्यते,—यथा एकस्मिन् स्थाने पाषाणखण्डं कस्तूरिका चास्ति, ततः कस्तूरिकामाहात्म्यात् पाषाणखण्डमपि सुगन्धि भवत्येवमत्रापि कस्मिंश्चिदेकस्मिन् पिण्डे पाकक्रिया सत्ता च विद्यते पाकक्रिया च पूर्वापरीभूता ततस्तस्या माहात्म्यात् सत्तापि पूर्वापरीभूता भवति इति साध्यमानत्वं किंबहुनाख्यातपदेन उच्यमानः सिद्धभावोऽपि साध्यरूपतां भजति तन्माहात्म्यात् ।

न प्रादिरप्रत्ययः ।।3. 3. 4. ।।

'प्रादिश्चाद्यन्तर्गणः, स धातुः, धातोरवयवो न भवति-तं व्युदस्य ततः पर एव धातुसंज्ञो वेदितव्यः, अप्रत्यय.—न चेत् ततः परःप्रत्ययो भवति । अभ्यमनायत, अभिमिमनायिषते, अभिमनाय्य गतः, प्रासादीयत्, प्रासिसादीयिषति, प्रासादीय्य गतः । प्रादिरिति किम् ? अमहापुत्रीयत् । अप्रत्यय इति किम् ? 'औत्सुकायत, उत्सुसुकायिषते, उत्सुकायित्वा ।

'अभिमनायादिः प्रत्ययान्तः स प्रादिसमुदायः क्रियार्थ इति तस्मिन् धातुसंज्ञे प्राप्ते प्रादिस्ततः प्रतिषेधेन बहिष्क्रियते, ततश्च तत उत्तर एव धातुरिति तस्याट् द्विर्वचनं च भवति, प्रादेश्चोत्तरेण समास इति क्त्वाया यबादेशः । असंग्रामयत शूर इति नायं सम् प्रादिः, किन्तु धात्ववयवः, यथा-विच्छाद्यवयवो विः, ``संग्रामणि युद्धे'' इत्यखण्डस्य चुरादौ पाठात् ।।4।।

न्या०स०—न प्रादि०—प्रासादीय्य गत इति—यद्यत्र धातुत्वं स्यात्तदा ``गतिववन्य'' (3-1-42) इति समासो न स्यात् ``नाम नाम्ना०'' (3-1-18) इत्यनुवर्त्तनात्, धातुत्वे च नामत्वं न स्यात् । *उत्सुसुकायिषते इति* ``नाम्नो द्वितीयात्'' (4-1-7) इति सु इति द्विरुक्तः, ``धुटस्तृतीयः'' (2-1-76) इति कृतदस्थानतकारस्य परेऽसत्त्वात् ``न बदनम्'' (4-1-5) इति द्वित्वाभावः, अन्वित्यधिकाराद् वा पश्चात् ``अघोषे'' (1-3-50) इति तः, ततः सुइत्यस्यैव द्वित्वम् ।

अवो दा-धौ दा ।। 3. 3. 5. ।।

'दा धा' इत्येवंरूपौ धातू अवानुबन्धौ दासंज्ञौ भवतः । दारूपाश्चत्वारः, धारूपौ द्वौ । दांम्-प्रणिदाता, देंङ्-प्रणिदयते, डुदांग्क्–प्रणिददाति, दोंच्-प्रणिद्यति; ट्धें-प्रणिधयति, डुधांग्क्-प्रणिदधाति । दाधारूपोपलक्षितस्य दासंज्ञावचनात् 'दो दें ट्धें इत्येतेषां शिति दा-धारूपाभावेऽपि दासंज्ञा सिद्धा । दोङो दारूपस्य बहिरङ्गत्वान्न भवति, ततश्च 'उपादास्त' इत्यत्र ``इश्च स्थादः'' (4. 3. 41.) इतीत्वं न भवति । अवाविति किम् ? दांव्-दातं बर्हिः, दैंव्-अवदातं मुखम् । अविति वकारो न पकारः, दातिर्दायतिश्च वकारानुबन्धौ, तेन प्रणिदापयति प्रणिधापयतीत्यत्र दासंज्ञायां सत्यां नेर्णत्वं सिद्धम् । दाप्रवेशाः–``हौ दः'' (4. 1. 31.) इत्यादयः ।।5।।

वर्त्तमाना–तिव् तस् अन्ति, सिव् थस् थ, मिव् वस् मस्; ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे ।। 3. 3. 6. ।।

इमानि, वचनानि वर्तमानसंज्ञानि भवन्ति । वित्करणं ``शिदवित्'' (4. 3. 20.) इत्यत्र विशेषणार्थम्, एवमन्यत्रापि वित्करणस्य प्रयोजनं द्रष्टव्यम् । वर्तमानाप्रदेशाः– ``स्मे च वर्तमाना'' (5. 2. 16.) इत्येवमादयः ।।6।।

न्या०स०—वर्तमाना—संज्ञिनां बहुत्वेऽपि संज्ञागतैकत्वाश्रयणात् वर्त्तमानेति संज्ञाया एकवचनं, वचनभेदेऽपि संज्ञासंज्ञिनिर्देशो भवत्यनवर्ण्णा नामीतिवत् ।

सप्तमी-यात् याताम् युस्, यास् यातम् यात, याम् याव याम; ईत ईयाताम् ईरन्, ईथास् ईयाथाम् ईध्वम्, ईय ईवहि ईमहि ।।3.3.7.।।

इमानि वचनानि सप्तमीसंज्ञानि भवन्ति। सप्तमीप्रदेशाः—``इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी'' (5. 4. 89.) इत्येवमादयः ।।7।।

पञ्चमी-तुव् ताम् अन्तु, हि तम् त, आनिव आवव आमव्; ताम् आताम् अन्ताम्, स्व आथाम् ध्वम्, ऐव् आवहैव् आमहैव् ।। 3. 3. 8. ।।

इमानि वचनानि पञ्चमीसंज्ञानि भवन्ति। पञ्चमीप्रदेशः—``स्मे पञ्चमी'' (5. 4. 31.) इत्येवमादयः ।।8।।

ह्यस्तनी-दिव् ताम् अन्, सिव् तम् त, अम्व् व मः, त आताम् अन्त, थास् आथाम् ध्वम्, इ वहिमहि ।। 3. 3. 9. ।।

इमानि वचनानि ह्यस्तनीसंज्ञानि भवन्ति। ह्यस्तनी प्रदेशाः—``अनद्यतने ह्यस्तनी'' (5. 2. 7.) इत्येवमादयः ।।9।।

एताः शितः ।। 3. 3. 10. ।।

एता वर्तमाना-सप्तमी-पञ्चमी ह्यस्तन्यः शितः-शानुबन्धा वेदितव्याः। शित्त्वाच्च शित्कार्यम्—भवति, भवेत्, भवतु, अभवत् ।।10।।

अद्यतनी-दि ताम् अन्, सि तम् त, अम् व म; त आताम् अन्त, थास् आथाम् ध्वम्, इ वहिमहि ।। 3. 3. 11. ।।

इमानि वचनान्यद्यतनीसंज्ञानि भवन्ति। अद्यतनीप्रदेशाः—``अद्यतनी'' (5. 2. 4.) इत्यादयः ।।11।।

परोक्षा-णव् अतुस् उस्, थव् अथुस् अ, णव् व म, ए आते इरे, से आथे ध्वे, ए वहे महे ।। 3. 3. 12. ।।

इमानि वचनानि परोक्षासंज्ञानि भवन्ति । परोक्षाप्रदेशाः– ``श्रु-सद-वस्भ्यः परोक्षा वा'' (5. 2. 1.) इत्येवमादयः ।।12।।

आशीः-क्यात् क्यास्ताम् क्यासुस्, क्यास् क्यास्तम् क्यास्त, क्यासम् क्यास्व क्यास्म, सीष्ट सीयास्ताम् सीरन्, सीष्ठास् सीयास्थाम् सीध्वम्, सीय सीवहि सीमहि ।। 3. 3. 13. ।।

इमानि वचनानि आशी संज्ञानि भवन्ति । कित्करणं ``नामिनो गुणोऽक्ङिति'' (4. 3. 1.) इत्यादिषु विशेषणार्थम् । आशीःप्रदेशाः– आशिष्याशीः–``पञ्चम्यौ'' (5. 4. 38.) इत्यादयः ।।13।।

श्वस्तनी-ता तारौ तारस्, तासि तास्थस् तास्थ, तास्मि तास्वस् तास्मस्; ता तारौ तारस्, तासे तासाथे ताध्वे, ताहे तास्वहे तास्महे ।। 3. 3. 14. ।।

इमानि वचनानि श्वस्तनीसंज्ञानि भवन्ति । श्वस्तनीप्रदेशाः–``अनद्यतने श्वस्तनी'' (5. 3. 5.) इत्येवमादयः ।।14।।

भविष्यन्ती-स्यति स्यतस् स्यन्ति, स्यसि स्यथस् स्यथ, स्यामि स्यावस् स्यामस्, स्यते स्येते, स्यन्ते, स्यसे स्येथे स्यध्वे, स्ये स्यावहे स्यामहे ।। 3. 3. 15. ।।

इमानि वचनानि भविष्यन्तीसंज्ञानि भवन्ति । भविष्यन्तीप्रदेशा.–``भविष्यन्ती'' (5. 3. 4.) इत्यादयः ।।15।।

क्रियातिपत्तिः–स्यत् स्यताम् स्यन्, स्यस् स्यतम् स्यत, स्यम् स्याव स्याम्; स्यत स्येताम् स्यन्त, स्यथास् स्येथाम् स्यध्वम्, स्ये स्यावहि स्यामहि ।। 3. 3. 16. ।।

इमानि वचनानि क्रियातिपत्तिसंज्ञानि भवन्ति । क्रियातिपत्तिप्रदेशाः— ``सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तौ क्रियातिपत्तिः'' (5. 4. 9.) इत्येवमादयः ॥16॥

त्रीणि त्रीण्यन्ययुष्मदस्मदि ॥ 3. 3. 17. ॥

सर्वासां विभक्तीनां त्रीणि त्रीणि वचनानि अन्यस्मिन्नर्थे युष्मदर्थे अस्मदर्थे चाभिधेये यथाक्रमं परिभाष्यन्ते । अन्यत्वं युष्मदस्मदपेक्षं संनिधानात् । युष्मच्छब्दोपसृष्टार्थो युष्मदर्थः, तेन भवच्छब्देनोच्यमानो न युष्मदर्थः । स पचति, तौ पचत ते पचन्ति; पचति पचतः, पचन्ति; स पचते, तौ पचेते, ते पचन्ते; पचते, पचेते, पचन्ते; भवान् पचति, भवन्तौ पचतः, भवन्तः पचन्ति इत्यादि । युष्मदि-त्वं पचसि, युवां पचथः यूयं पचथ; पचसि, पचथः, पचथ; त्वं पचसे, युवां पचेथे, यूयं पचध्वे; पचसे, पचेथे, पचध्वे । अस्मदि-अहं पचामि, आवां पचावः, वयं पचामः, पचामि, पचावः, पचामः; अहं पचे, आवां पचावहे, वयं पचामहे; पचे, पचावहे, पचामहे । एवं सर्वासु । द्वययोगे त्रययोगे च शब्दस्पर्धात् पराश्रयमेव वचनमतिदिश्यते—स च त्वं च पचथः, स चाहं च पचावः, स च त्वं चाहं च पचामः । कथमत्वं त्वं संपद्यते—अनहमहं संपद्यते-त्वद्भवति मद्भवति ? युष्मदस्मदोर्गौणत्वात्, त्वमादेशौ तु शब्दमात्राश्रयत्वाद् भवत एव ।

एहि मन्ये-रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पितेति प्रहासे यथाप्राप्तमेव प्रतिपत्तिर्नात्र प्रसिद्धार्थविपर्यासे किञ्चिन्निबन्धनमस्ति, रथेन यास्यसीति भावगमनाभिधानात् प्रहासो गम्यते, नहि यास्यसीति बहिर्गमनं प्रतिषिध्यते, अनेकस्मिन्नपि प्रहसितरि च प्रत्येकमेव परिहास इत्यभिधानवशात् 'मन्ये' इत्येकवचनमेव, लौकिकश्च प्रयोगोऽनुसर्तव्य इति न प्रकारान्तरकल्पना न्याय्या ॥17॥

न्या०स०—त्रीणि बहुवचनं विभक्तित्रयेऽपि चरितार्थमिति कथं सर्वासामिति लभ्यते ? सत्यं, यद्येतदिष्टं स्यात्तदा विभक्तित्रयानन्तरमिदं सूत्रं कुर्यान्न सर्वविभक्त्यन्ते ।

*अन्यत्वमिति—*युष्मदस्मदी चाऽत्र सूत्रे संनिहितेऽतस्तदपेक्षयैवाऽन्यस्मिन्निति विज्ञायते । नन्वस्तु युष्मदस्मदपेक्षमन्यत्वं युष्मदस्मदोस्त्वत्र स्वरूपग्रहणमुतार्थग्रहणं स्वरूपेण चेत्; किमसि, विस्मरसि स्मरसायकान्, नास्मि, रमे, किं प्रतारयस्येवमिति युष्मदस्मदपेक्षमन्यत्वं युष्मदस्मदर्थप्रयोगे द्वितीयतृतीयत्रिके न स्याताम् ? इत्याह—*युष्मदर्थ* इत्यादि-नन्वर्थग्रहणे भवान् मन्यते इत्यत्रापि प्राप्नोति ? मैवं, भवच्छब्दस्य हि युष्मदर्थत्वाभावाद् द्वितीयत्रिकाप्रसङ्गः, भवच्छब्दो हि अन्यार्थो, न युष्मदर्थः, युष्मच्छब्दप्रवृत्तिं प्रति योग्योः, हि युष्मदर्थो न च भवच्छब्देनाभिधीयमानो

युष्मच्छब्दप्रवृत्तिं प्रति योग्यः, न हि कदाचिदेवं प्रयुज्यते त्वं भवान् पचसीति । एकेनैव तस्मिन्नुक्ते तत्रेतरस्य विषयाभावादित्याह–

तेनेत्यादि-भवच्छब्देनाभिधीयमाने युष्मदर्थाभिधायकस्यापि शब्दस्य न प्रतिषेधः । युष्मत्-संबन्धेऽस्तिधातोर्वर्त्तमानासिवि प्रत्यये योऽसौ प्रयोगस्तत्सदृशत्वात् किं बहुनाऽस्येष्टत्वात् भवति ।

त्वं पचसीति-त्वमिति सामान्य उक्ते न ज्ञायते–किं गच्छसि, पठसीति विशेषार्थं पचसीति प्रयुञ्जते । युष्मच्छब्दस्तु केनचिद् भ्रान्त्या पचसीति पदे भवदर्थेऽपि ज्ञाते तन्नि- रासाय त्वमिति प्रयोक्तुं युक्तः, यथा शंखस्य धवलत्वे सत्यपि भ्रान्त्या केनचित् पीतत्वे ज्ञाते पाण्डुर इति विशेषणमुपन्नम् ।

कथमऽत्वं त्वमिति-अयमर्थः प्रकृतिविकृत्योरभेदविवक्षायां च्विः प्रत्ययस्त च किं प्रकृत्याश्रयणे प्रथमत्रिकेण भवितव्यमुत विकृत्याश्रयणे द्वितीयत्रिकेणेति ? उच्यते, प्रकृतेरेव संपत्तौ कर्त्तृत्वात् प्रथमेनैव भाव्यमित्याह–

त्वद्भवति मद्भवतीति–संपद्यते इत्यर्थकथनमिदमन्यथा कृ-भ्वस्तियोगाभावात्च्विर्न स्यात् !

युष्मदस्मदोर्गौणत्वादिति–अयमर्थः– अत्र पूर्वं अत्वंशब्देन सह संबन्धोऽतो युष्मच्छब्द-स्य गौणत्वं, यदा तु त्वमित्यनेन प्रथमं संबन्धो विवक्ष्यते तदा भवत्येव, यद् वा युष्मदस्मदो-रर्थस्य निषिध्यमानस्य कर्त्तृत्वे गौणत्वं यदा त्वनिषिद्धस्य कत्तृत्वं तदा भवत्येव ।

शब्दमात्राश्रयत्वादिति–अर्थाश्रयो हि शब्दानां गौणमुख्यव्यवहारो, न स्वरूपेण । यदाह-गौणमुख्यार्थाश्रयत्वात्तथाशब्दोऽपि व्यपदिश्यते, न च त्वमादेशविधावऽर्थचिन्ता कृतेति ।

एहि मन्ये रथेनेति-मध्यमोत्तमयोः प्राप्तयोरुत्तममध्यमविधानार्थं 'प्रहासे च च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' इति परसूत्रमत्र प्रहासः, परिहासः, प्रहासे गम्यमाने मन्योपपदे धातौ मध्यमः पुरुषो भवति, मन्यतेश्चोत्तमः स च एकवद् भवतीति सूत्रार्थः । एहि, मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । एहि, मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि, यातस्ते पिता । मध्यमोत्तमयोः प्राप्तयोरुत्तममध्यमौ विधीयेते । प्रहास इति किम् ? एहि, मन्यस ओदनं भोक्ष्ये इति सुष्ठु च मन्यसे, साधु च मन्यसे । न्यासः प्रहासे गम्यमान इति । यत्र भूतार्थाभावात् वञ्चनैव परं, तत्र वक्तुरभिप्रायाविष्करणेन प्रहासो गम्यते । मन्योपपदे इति मन्यतिरुपपदमुपोच्चारितं पदं यस्य स तथोक्तः । मध्यमस्य धातोर्विधानात् धातुरन्यपदार्थो विज्ञायते इत्याह–धाताविति स च एकवच्चेति । यत्र द्वौ मन्तारौ बहवो वा तत्रायमेकवद्भावो बिधीयते, अन्यत्र तु वक्तुरेकत्वात् एकवचनं सिद्धम् । मन्य इति श्यनिर्देशो देवादिकपरिग्रहार्थः, तेन तनादिकस्य न भवति । सूत्रेऽन्ययुष्मदस्मदीति निर्देशस्यार्थपरत्वेऽपि शब्दार्थयोरभेदाच्छब्द-परत्वेन न ``त्यदादिः'' (6-1-7) इत्येकशेषः, तत्रार्थपरत्वेन स्वीकृतत्वात् ।

एक-द्वि-बहुषु ॥ 3. 3. 18. ॥

अन्यादिषु यानि त्रीणि त्रीणि वचनानि उक्तानि तानि एक-द्वि-बहुष्वर्थेषु परिभाष्यन्ते–एकस्मिन्नर्थे एकवचनम्, द्वयोरर्थयोर्द्विवचनम् बहुष्वर्थेषु बहुवचनम् । स पचति, तौ पचतः, ते पचन्ति इत्यादि । वचनभेदान्नान्यादिभिरेकादीनां यथासंख्यम् ॥18॥

नवाद्यानि शतृ-क्वसू च परस्मैपदम् ॥ 3. 3. 19. ॥

सर्वासां विभक्तीनामाद्यानि नव नव वचनानि शतृ-क्वसू च प्रत्ययौ परस्मैपदसंज्ञानि भवन्ति । तिव् तस् अन्ति, सिव् थस् थ, मिव् वस् मस् एवं सर्वासु । परस्मैपदसंज्ञाप्रदेशाः–``शेषात् परस्मै'' इत्यादयः ॥19॥

न्या०स०–नवाद्यानि-नव नव वचनानीति-संज्ञिनां बहुत्वादगृहीतविप्सोऽपि नवन् शब्दो वीप्सां गमयति, एवं पराणीत्यत्रापि । नन्वनन्तरायाः क्रियातिपत्तेरेवाद्यानि परस्मैपदानीति कथं न लभ्यते ? सत्यं, लृदिद्द्युतादिसूत्रेषु अन्यासामपि विभक्तीनां परस्मैपदग्रहणात् ।

पराणि काना-ऽऽनशौ चात्मनेपदम् ॥ 3. 3. 20. ॥

सर्वासां विभक्तीनां पराणि नव नव वचनानि काना-ऽऽनशौ च प्रत्ययावात्मनेपद-संज्ञानि भवन्ति । ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे, एवं–सर्वासु । आत्मनेपदप्रदेशाः–``सिजाशिषावात्मने'' (4. 3. 35.) इत्यादयः ॥20॥

तत् साप्याऽनाप्यात् कर्म-भावे कृत्य-क्त खलर्थाश्च ॥ 3. 3. 21. ॥

तद्-आत्मनेपदं, कृत्य-क्त-खलर्थाश्च प्रत्ययाः साप्यात्-सकर्मकाद् धातोः कर्मणि, अनाप्याद् अकर्मकादविवक्षितकर्मकाच्च भावे भवन्ति । क्रियते कटश्चैत्रेण, क्रियमाणः, करिष्यमाणः चक्राणः । भावे-भूयते भवता, भूयमानं भवता, सकर्मका अप्यविवक्षितकर्माणः कन्नेकनिष्ठव्यापारा अकर्मका भवन्ति, तेनैषां भावेऽपि प्रयोगः–क्रियते भवता, मृदु पच्यते भवता पश्च वारान् भुज्यते भवता । कृत्य–कार्यः, कर्तव्यः, करणीयो, देयः, कृत्यः कटो भवता, शयनीयम्, भवता भवती शयितव्यम्, भवता शेयम्, भवता कार्यम्, कर्तव्यम्, करणीयम्; देयं भवता, कृत्यं भवता । क्त-कृतः कटो भवता, शयितं भवता, भवता । सकर्मकादपि क्लीबे

क्तमिच्छन्त्येके-ग्रामं गतं भवता, ओदनं भुक्तं, कृतं भवता । खलर्थ-सुकरः कटो भवता, सुशयं भवता, सुकरं भवता, सुकटंकराणि वीरणानि, ईषदाढ्यं भवं भवता, सुज्ञान तत्त्वं मुनिना, सुग्लानं कृपणेन । ``काला-ऽध्व-भाव-देश वा०'' (2. 2. 23.) इत्यादिना काला-ऽध्व-भाव-देशानां कर्मसंज्ञाया अकर्मकत्वस्य च विधानात् तद्योगे कर्मणि भावे चात्मनेपदादीनि भवन्ति-मास आस्यते, क्रोशो गुडधानाभिर्भूयते, गोदोहः सुप्यते, नदी सुप्यते, मास आसितव्यः, मास आसितः, मासो दुरासः; भावे-मासमास्यते. क्रोशमधीयते, ओदनपाकं स्थीयते, कुरून् सुप्यते, मासमासितव्यम्, मासमासितत्, मासं स्वासम् । भावे च युष्मस्मत्संबन्धनिमित्तयोः कर्तृ-कर्मणोरभावात् प्रथममेव त्रयं भवति, साध्यरूपत्वाच्च संख्यायोगो नास्तीति औत्सर्गिकमेकवचनमेव भवति । पाकः पाकौ पाकाः, पाको वर्तते, पाकं करोतीत्यादौ च नव्ययकृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति संख्यया लिङ्गेन कारकैश्च युज्यते, त्यादिनेवाव्ययेनाभिहितस्त्वसत्त्वरूपत्वान्न युज्यते `उष्ट्रासिका आस्यन्ते, हतशायिकाः शय्यन्ते' इति तु बहुवचनं कृदभिहितेनाभेदोपचाराद् भवतीति ॥21॥

न्या०स०—तत्साप्याऽनाप्या-तेनैषां भावेऽपीति—भावे क्रिया न स्वाश्रिता, न पराश्रिता किन्तु निराधारैव शाब्द्या वृत्त्या, आर्थ्या तु भवतीत्यपि ।

ग्रामं गतं भवतेति भवता कर्त्रा गतं वर्त्तते । कं ग्रामं ``वा क्लीब'' (2-2-92) इति षष्ठ्यपि भवति, यथा ग्रामस्य गतमिति ।

मासमासितव्यमिति-द्वितीयाप्रदानकाले कर्म्मसंज्ञा षष्ठीप्रदानकाले तु न स्याद्वादात् ।

भावे च युष्मदस्मत्संबन्धेति युष्मदस्मदोर्यः संबन्धस्तस्य निमित्तयोः कारणभूत- योरित्यर्थः, यद्यपि नाऽकर्तृको भाव इति तथापि यत्र सामानाधिकरण्येनात्मनेपदाभिधेयः कर्त्ता कर्म्म वा भवति स संबन्धो ग्राह्यो, भावे तु न तादृशः धात्वर्थ एव तत्र विधानात्, यथा त्वं पाठ्येसे इत्यत्र कर्म्मरूपो युष्मदर्थः, आत्मनेपदेन प्रतिपाद्यते । त्वं पठसीति कर्तृरूपः, एवमहं पाठ्ये, अहं पाठयामीत्यत्रापि । ततश्च कर्म्मकर्त्रोः प्रतिपादितत्वात् आत्मनेपदेन कर्म्मकर्तृकार्ये न भवतः, न तथा त्वया भूयते इत्यत्र भावप्रत्ययेन कश्चिदर्थः प्रतिपाद्यते । अतश्च युष्मदस्मदोऽतिरिक्तार्थप्रतिपादकत्वात् प्रथममेव त्रयम् ।

औत्सर्गिकमिति-एकवचनं च संख्याविशेषाणामभावेऽभेदैकत्वं तन्निबन्धनं न तु संख्यानिबन्धनं द्वित्वप्रतियोगि ।

त्यादिनेवाव्ययेनेति: यथा त्याद्यभिहितो भावोऽसत्त्वरूपतां भजति तथाऽव्ययेनापी- त्यर्थः, अव्ययेनेति चोपलक्षणं तेन भावे कृत्यप्रत्ययान्तेनापि तथैव ।

बहुवचनमिति-आस्यन्ते, शय्यन्ते इत्यस्य अव्ययेनेव त्याद्यभिहित-भावस्येत्यर्थः ।

अभेदोपचारादिति-आस्यन्ते इत्येवंरूपस्य साध्यभावस्योष्ट्रासिकारूपेण सिद्धताख्येन सहेत्यर्थः । 'कया युक्त्या आस्यन्ते' इति कोऽर्थः ? आसनानि वर्त्तन्ते किंविशिष्टानि ?, उष्ट्रासिका उष्ट्रासिकारूपाणि, एवं द्वितीयेऽपि ।

इङितः कर्तरि ॥ 3. 3. 22. ॥

इकारेतो ङकारेतश्च धातोः कर्त्तर्यात्मनेपदं भवति । इदित्-एधि-एधते, स्पर्धि-स्पर्धते, एधमानः, स्पर्धमानः । ङित्-शिङ् शेते, शयानः, ह्नुङ् ह्नुते, ह्नुवानः; महीङ्महीयते, महीयमानः, कामयते, कामयमानः; श्येनायते, श्येनायमानः; पापच्यते, पापच्यमानः; उत्पुच्छयते, उत्पुच्छयमानः । एभ्य एव कर्तरीति नियमार्थं वचनम् ॥22॥

न्या०स०—इङितः-भावकर्म्मणोः पूर्वसूत्रोपादानन्यादेव कर्तृग्रहणे सिद्धे तद्ग्रहण- मुत्तरार्थं तेनोत्तरसूत्रेण कर्त्तयेव विधानं, ततो व्यतिगम्यन्ते ग्रामा इत्यादिषु पूर्वेणात्मनेपदं सिद्धमन्यथा अगतीत्यंशेन निषेधः स्यादिति तत्र स्वयमेव कथयिष्यति ।

नियमार्थमिति-सतीत्यादिसूत्रैः परस्मैपदात्मनेपदविशेषरहितानां सामान्येन वर्त्त-मानादिविभक्तीनां विधानादात्मनेपदे सिद्धे नियमः, प्रत्ययनियमश्चायं, एभ्य आत्मनेपद-मेव न प्रत्ययान्तरमिति, विपरीतनियमो न ``इङितो व्यञ्जन०'' (5-2-44) इत्यादिकरणात्, कर्त्तयेवात्मनेपदमेभ्य इत्यपि वैपरीत्यं न तत्साप्येत्यस्य व्यक्त्या प्रवृत्तेः ।

क्रियाव्यतिहारेऽगति-हिंसा-शब्दार्थ-हसो ह्व-वहश्चानन्योऽन्यार्थे ॥ 3. 3. 23. ॥

इतरेण चिकीर्षितायां क्रियायामितरेण हरणं करणं क्रियाव्यतिहारः, तस्मिन् अर्थे वर्तमानाद् गतिहिंसाशब्दार्थ-हसवर्जिताद् धातोर्ह्व वहिभ्यां च कर्तयत्मिनेपदं भवति, न चेदन्योऽन्यार्थाः—अन्योऽन्येतरेतरपरस्परशब्दाः प्रयुज्यन्ते । व्यतिलुनते, व्यतिपुनते, व्यतिहरन्ते भारम्, संप्रहरन्ते राजानः, संविवहन्ते वर्गैः । ह्व-वहोर्गतिहिंसार्थत्वात् प्रतिषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थमुपादानम् । व्यतिहार इति किम् ? लुनन्ति, पुनन्ति । क्रियेति किम् ? द्रव्यव्यतिहारे मा भूत्-चैत्रस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति अत्र लुनातिरुपसंग्रहात्मके लवने वर्तते । चैत्रेण यत् गृहीतं धान्यं पुरस्ताल्लवनेनोपसंगृह्णन्तीत्यर्थः । अगति-हिंसाशब्दार्थ-हस इति किम् ? । व्यतिगच्छन्ति, व्यतिसर्पन्ति, व्यतिहिंसन्ति, व्यतिघ्नन्ति, व्यतिजल्पन्ति, व्यतिपठन्ति, व्यतिहसन्ति ।

अनन्योऽन्यार्थे इति किम् ? अन्योऽन्यस्य व्यतिलुनन्ति इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति, परस्परस्य व्यतिलुनन्ति। क्रियाव्यतिहारो व्यतिनैव द्योतित इत्यन्योऽन्यादिभिस्तत्कर्माभिसंबध्यते अन्योऽन्यस्य केदारमिति। कर्तरीत्येव ? तेन भावकर्मणोः पूर्वेणैव स्यादनेन मा भूत्, यदि ह्यनेन स्यात् तदा व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः, व्यतिहन्यन्ते दस्यव इत्यत्रागतिहिंसाशब्दार्थहस इति प्रतिषेधः स्यादिति ॥23॥

न्या०स०—क्रियाव्य०-अनेकार्थत्वात् हरणमित्यस्य करणं पर्यायः। *तस्मिन्नर्थे इति*-यदा अन्येन कर्त्तव्यां क्रियामन्यः करोति, तत्कर्त्तव्यां चेतरस्तदा क्रियाणां व्यतिहारे विनिमये इत्यर्थः।

संविवहन्ते इति—अनेकार्थत्वात् गत्यर्थोऽत्र वहिः। *अत्र लुनातीति*-अयमर्थः व्यतिहृतं धान्यं लुनन्ति लवनेनोपसंगृह्णन्तीति द्रव्यमत्र व्यतिह्रियते न लवनक्रिया, न ह्यत्र व्यतिना लुनातिर्युक्तोऽपि त्वप्रयुक्तोऽपि गृह्णातिस्तस्य धान्यं कर्म्म न क्रियेत्याह *लुनातिरुपसंग्रहात्मके इति*-उपसंग्रहस्य लवनपूर्वकलाभस्यात्मा यस्मात् लवनात् कोऽर्थः लवनपूर्वकं लानमित्यर्थः।

क्रियाव्यतिहार इति-लौकिके शब्दव्यवहारे लाघवानादरादन्योन्यादिशब्दा उपसर्गाश्च क्रियाव्यतिहारद्योतनाय प्रयुज्यन्ते इति न पौनरुक्त्यं, अथपौनरुक्त्यं माभूत् अत्र तु क्रियाव्यतिहारस्य व्यतिनैव द्योतितत्वात् क्व अन्योन्यादिशब्दाः संबध्यन्त इत्याह *क्रियाव्यतिहार इत्यादि। तत्कर्माभिसंबध्यते इति*-अत्र क्रियाव्यतिहारो द्रव्यव्यतिहारश्च वर्त्तते ततः क्रियाव्यतिहारे प्राप्तम्।

निविशः ॥ 3. 3. 24. ॥

निपूर्वाद् विशः कर्तर्यात्मनेपदं भवति। निविशते। न्यविशतेत्यटो धात्ववयवत्वान्न व्यवधायकत्वम्। मधुनि विशन्ति भ्रमरा इत्यादि (इत्यादौ) तु निविशोरसम्बन्धादनर्थकत्वाच्च न भवति ॥ ॥

न्या०स०—निविशः—नेः परो विश् नेः संबन्धी विशित्यनन्तरानन्तरिसंबन्धो वा विधेयः।

उपसर्गादस्योहो वा ॥ 3. 3. 25. ॥

'उपसर्गात् पराभ्यामस्यत्यूहिभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति। विपर्यस्यति, विपर्य- स्यते; समूहति, समूहते, ``संततं तिमरमिन्दुरुदासे'' (माघे)। ``यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम्'' (किराते)। अस्येति श्यनिर्देशोऽस्त्यसतिनिवृत्त्यर्थः। उपसर्गादिति किम् ? अस्यति, ऊहते।

अस्यतेरप्राप्ते ऊहतेश्च नित्यं प्राप्ते उभयत्र विभाषेयम् । अन्ये त्वकर्म- काभ्यामेवेच्छन्ति, प्रत्युदाहरन्ति च निरस्यति शत्रून्, समूहते पदार्थान् ॥25॥

न्या०स०—उपसर्गा० :—

लेखयाविमलविद्रुमभासा—*संततं* तिमिरमिन्दुरुदासे ।
दंष्ट्रया कनकभङ्गपिशङ्ग्या, मण्डलं भुव इवादिवराहः ॥1॥
व्रीडानतैराप्तजनोपवीतः, संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः ।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां, *यशः समूहन्निवदिग्विकीर्ण्णम्* ॥2॥

उत्-स्वराद् युजेरयज्ञ-तत्पात्रे ॥ 3. 3. 26. ॥

उदः स्वरान्ताच्चोपसर्गात् पराद् युनवतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अयज्ञतत्पात्रे-न चेद् यज्ञे यत् तत्पात्रं तद्विषयो युज्यर्थो भवति । उद्युङ्क्ते, उपयुङ्क्ते नियुङ्क्ते । उत्-स्व-रादिति किम् ? संयुनक्ति, निर्युनक्ति । अयज्ञ-तत्पात्र इति किम् ? द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । यत्र तु यज्ञ एव न तु तत्पात्रम्, तत्पात्रमेव वा न यज्ञस्तत्र भवत्येव । यज्ञे मन्त्रं रन्धनपात्राणि वा प्रयुङ्क्ते, यज्ञपात्राणि रन्धने प्रयुङ्क्ते । ``युजिंच् समाधौ'' इत्यस्येदि-त्त्वादात्मनेपदविधानमनर्थकम् ॥26॥

न्या०स०—उत्स्वराः—युजेरीदित्त्वात् फलवति सिद्धेऽफलवदर्थमिदम् । *युजिंच् समाधाविति* न च वाच्यं नियमो व्याख्यास्यतेऽयज्ञतत्पात्रविषय एवास्यात्मनेपदमिति, यज्ञपात्रविषयेऽस्य प्रयोगाभावात्, कथंचित् प्रयोगेऽपि वा नियमाद्विधिः श्रेयानिति भाष्यकारः ।

परिव्यवात् क्रियः ॥ 3. 3. 27. ॥

'परि वि अव' इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्यः पराक्रीणातेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पराक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते; सर्वत्रेगितः फलवतोऽन्यत्र विधिः । उपसर्गादित्येव ? उपरि क्रीणाति, गवि क्रीणाति, वनं बहुविक्रीणाति, अपचावः क्रीणीवः । 'क्री' इत्यनुकरणमनुकार्येनार्थे-नार्थवदितिनामत्वे सति ततः स्यादयः, ❉ प्रकृतिवदनुकरणम् ❉ इति न्यायाच्च धातुकार्य-मियादेशः । अत एव च ज्ञापकात्-प्रकृतिवदनुकरणे कार्यं भवति, तेन 'मुनी इत्याह' द्विष्पचतीत्याह इत्यादौ प्रकृतिभाव-षत्वविकल्पादि सिद्धं भवति ॥27॥

न्या० स०–परिव्यवा०-अन्यत्र विधिरिति अत एव व्यावृत्त्युदाहरणेषु सर्वत्र परस्मैपदम् । *प्रकृतिवदिति*-वत्करणाच्च सर्वथा धातुत्वाभावान्न त्यादयः । *प्रकृतिभावषत्वेत्यादि* ``ईदेद्द्विवचनम्'' (1-2-24) इति प्रकृतिभावः ``सुचो वा'' (2-3-10) इत्यनेन तु षत्वविकल्पः । द्विरिति, पचतीति च पृथक् केनापि प्रयुक्तं तद्द्वयमनुक्रियते, तत्र यथाऽनुकार्ये द्विष्पचतीत्यत्र षत्वं तथाऽनुकरणेऽपि, एवं प्रथमेऽपि यथानुकार्येऽसंधिस्तथानुकरणेऽपि ।

परा-वेर्जे ॥ 3. 3. 28. ॥

'परा-वि' इत्येताभ्यामुपसर्गाभ्यां पराज्जयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पराज्जयते, विजयते । उपसर्गादित्येव ? सेना पराजयति, बहु विजयति वनम् ॥28॥

न्या०स०–परावेर्जेः–जिरिति धातुत्वकरणेऽपि न धातुकार्यमियादेशः बाहुलकात ।

समः क्ष्णोः ॥ 3. 3. 29. ॥

समः परात् क्ष्णौतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संक्ष्णुते शस्त्रम् । सम इति किम् ? क्ष्णौति । उपसर्गादित्येव ? आयसं क्ष्णौति ॥29॥

न्या०स०–समः क्ष्णोः ननु समो गमृच्छित्यत्रैव क्ष्णुग्रहणं क्रियतां किं पृथगारम्भेण ? नैवं, तत्र कर्म्मण्यसतीत्यनुवर्त्तनात्, इह तु संक्ष्णुते शस्त्रमिति सकम्मणोऽपि भवति ।

अपस्किरः ॥ 3. 3. 30. ॥

अपपूर्वात् किरतेः सस्सट्कात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी ``अपाच्चतुष्पात् पक्षि-शुनि हृष्टाऽन्नाऽऽश्रयार्थे'' (4. 4. 96.) इति स्सट् । सस्सट्कनिर्देशादिह न भवति-अपकिरति वृषभः। अपेति किम् ? उपस्किरति ॥30॥

न्या०स०–अपस्किरः–वृषभो हृष्ट इति-'हृपच् तुष्टाविति' विस्मयार्थो विवक्ष्यते ततो ``हृषेः केश'' (4-4-76) इति इड्विकल्पः, अनेकार्थत्वात् 'हृषू अलीके' इत्येषोऽपि हर्षे ततस्तस्य क्ते रूपम् । तुषं हृषच् तुष्टावित्यप्यूदितं मन्यते नन्दी । हृष्टिरस्यास्तीति ``अभ्रादिभ्यः'' (7.2.46.) इत्यप्रत्ययो वा अन्यथा इट् स्यात् ।

उदश्चरः साप्यात् ।। 3. 3. 31. ।।

उत्पूर्वाच्चरतेः साप्यात्-सकर्मकात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । गुरुवचनमुच्चरते, मार्गमुच्चरते, व्युत्क्रम्य गच्छतीत्यर्थः; ग्रासमुच्चरते, सक्तूनुच्चरते-भक्षयतीत्यर्थः । उद इति किम् ? चारं चरति । साप्यादिति किम् ? धूम उच्चरति, शब्द उच्चरति, उर्ध्व गच्छतीत्यर्थः ।।31।।

न्या०स०–उदश्चरः–व्युत्क्रम्य गच्छतीति-ननु चैवमपि व्युत्क्रमणस्य क्रियान्तरस्य धात्वन्तरार्थत्वान्न तत्कर्मणा चरिः सकर्मक इत्युदाहरणायोगः ? उच्यते, चरिरेवात्र व्युत्क्रमणोपसजनायां विशिष्टायां गतौ वर्त्तते, यथा 'जीव प्राणधारणे' इति जीवतिरेव विशिष्टे धारणे इति, तद्व्युत्क्रमणं चरावन्तर्भूतमिति, चरेरेवार्थ इति सकर्मक इत्यदोषः, प्रत्युदाहरणे तु गतिमात्रे वर्त्तते न व्युत्क्रमणाङ्गे धातूनामनेकार्थत्वादिति ।

समस्तृतीयया ।। 3. 3. 32. ।।

समः पराच्चरतेस्तृतीयान्तेन योगे सति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अश्वेन संचरते, रथेन संचरते । तृतीययेति किम् ? उभौ लोकौ संचरसि, इमं च मुं च देवल । किं त्वं करिष्यसि रथ्यया संचरति चैत्रोऽरण्ये ? इत्यत्र तु तृतीयान्तेन योगाभावान्न भवति ।।32।।

न्या०स०–समस्तृती०–धातोस्तृतीयया योगाभावादित्याह *तृतीयान्तेनेति-उभौ लोकौ संचरसीति*-यद्यप्यत्र विद्यया तपसा वेत्यर्थादिह तृतीयान्तं गम्यते तथापि तृतीययेति सहयोगे तृतीया साक्षाद्योगप्रतिपत्यर्थं न गम्यमाने इति प्रत्युदाह्रियतेऽन्यथा करणमन्तरेण क्रियासिद्धेऽभावाद् व्यावृत्तिरेव न घटत इति भावः, न हि काचित् क्रिया करणमन्तरेण भवतीति । सह धनेन देवदत्तः संचरतीत्यत्र तु विद्यमानार्थतायां चरतेस्तृतीयान्तेन योगाभाव एव, तत्र हि तृतीयान्तं कर्त्रैव युक्तं न संचरतिना, न हि तद्धनं चैत्रेण सह संचरतीति ।

क्रीडोऽकूजने ।। 3. 3. 33. ।।

कूजनमव्यक्तः शब्दः ततोऽन्यस्मिन्नर्थे वर्तमानात् संपूर्वात् क्रीडेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संक्रीडते, संक्रोडमाणः, रमते इत्यर्थः । सम इत्येव ? क्रीडति । अकूजन इति किम् ? संक्रीडन्ति शकटानि, अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ।।33।।

अन्वाङ्परेः ॥ 3. 3. 34. ॥

'अनु आङ् परि' इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्यः परात् क्रीडतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अनुक्रीडते, अनुक्रीडमाणः । आक्रीडते, आक्रीडमानः । परिक्रीडते, परिक्रीडमानः । उपसर्गादित्येव ? माणवकमनुक्रीडति, माणवकेन सह क्रीडतीत्यर्थः, धातुना अनोरसम्बन्धाद् वा न भवति । एवं उपरिक्रीडति ॥34॥

न्या०स०–अन्वाङ्प०–माणवकमनुक्रीडतीति-अत्रानोर्माणवकेन योगादुपसर्गत्वाभावादुपसर्गानुवृत्तेरत्रनात्मनेपदम् । अनोरसंबन्धाद् वेति-उपसर्गनिरपेक्षमिदमुक्तं कोऽर्थः ? उपसर्गाननुवृत्तावप्यऽन्वाङ् परेरिति आवृत्त्या संबन्धषष्ठ्या आश्रयणादनोर्धातुना संबन्धाभावात्तदभाव इति ।

शप् उपलम्भने ॥ 3. 3. 35. ॥

उपलम्भनेऽर्थे वर्त्तमानाच्छपतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । उपलम्भनं प्रकाशनं ज्ञापनम् । मैत्राय शपते, मैत्रं कश्चिदर्थं बोधयतीत्यर्थः, मैत्रमेवैवंभूतोऽसावित्यन्यस्मै प्रकाशयतीत्येके । अथवा स्वाभिप्रायस्य परत्राविष्करणमुपलम्भनं शपथ इति यावत् । मैत्राय शपते इति, वाचा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन मैत्रं स्वाभिप्रायं बोधयतीत्यर्थः । प्रोषितस्य भावाऽभावोपलब्धौ कस्यचिदर्थस्यासेवनं चोपलम्भनम्-मैत्राय शपते इति, प्रोषिते मैत्रे तस्य भावेऽभावे चोपलब्ध सति तदनुरूपं किञ्चिदनुतिष्ठतीत्यर्थः । उपलम्भन इति किम् ? मैत्रं शपति, आक्रोशतीत्यर्थः ॥35॥

न्या०स०–शप उ०–प्रकाशयतीत्येके इति-अस्मिन् व्याख्याने मैत्रशब्दान्मतान्तरेणैव चतुर्थी प्रयोज्यत्वाभावान्मैत्रस्य ।

आशिषि नाथः ॥ 3. 3. 36. ॥

आशिष्येवार्थे वर्तमानान्नाथतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । सर्पिषो नाथते, मधुनो नाथते-सर्पिर्मे भूयान्मधु मे भूयादित्याशास्ते इत्यर्थः । आशिष्येवेति नियमः किम् ? याञ्चयां मा भूत्-मधु नाथति । ङित्करणं त्वस्यानप्रत्ययार्थम् ॥36॥

भुनजोऽत्राणे ॥ 3. 3. 37. ॥

त्राणात्-पालनादन्यत्रार्थे वर्तमानाद् भुनक्तेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । ओदनं भुङ्क्ते, उपभुङ्क्ते परिभुङ्क्ते । अत्राण इति किम् ? महीं भुनक्ति-पालयतीत्यर्थः; ``अम्बरीषश्च नाभागो

बुभुजाते चिरं महीम्'' इत्यत्र तु न पालनं भुजेरर्थः, किन्तु पालननिमित्तक उपकारः, धातूनामनेकार्थत्वात्, पालनेन महीमुपकृतवन्तौ मह्याश्रयं फलं स्वीकृतवन्ताविति वेत्यर्थः । उभयपदिनमेनमन्ये मन्यन्ते । भुनजिति श्नानिर्देशो ''भुजोंत् कौटिल्ये'' इत्यस्य निवृत्त्यर्थः—ओष्ठौ निर्भुजति, कुटिलयतीत्यर्थः ॥37॥

न्या०स०—भुनजो०:—

अरिषड्वर्गमुत्सृज्य, जामदग्न्यो जितेन्द्रियः ।
अम्बरीषश्च नाभागो, बुभुजति चिरं महीम् ॥1॥

अमति गच्छति प्रतिष्ठां ''अमेर्वरादिः'' 555 (उणादि) इति ईषप्रत्यये अम्बरीषो राजा, किं भूतो ? नाऽभागः, न विद्यते भागः पुण्यमस्य, न अभागो नाभागः, यद्वा न भागः पिता देवतास्य ''देवता'' (6-2-101) इत्यण् ।

भूजोंत् कौटिल्ये इतीति—अथ ❊ *निरनुबन्धग्रहणे* ❊ इति न्यायादेवास्य न भविष्यति ? सत्यं, जात्याश्रयणेऽत्रापि स्यात्, न्यायानामनित्यत्वाद् वा ।

ह्रगो गतताच्छील्ये ॥ 3. 3. 38. ॥

गतं प्रकारः सादृश्यमनुकरणमित्येकोऽर्थः, तच्छीलमस्य तच्छीलस्तस्य भावस्ताच्छील्यम्, उत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशात् तत्स्वभावता । हरतेः प्रकारताच्छील्येऽर्थे वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चानुपूर्व एव हरतिर्गतताच्छील्ये वर्तते । पैतृकमश्वा अनुहरन्ते, मातृकं गावोऽनुहरन्ते, पितुरागतं मातुरागतं गुणविषयं क्रियाविषयं वा सादृश्यमविकलं शीलयन्तीत्यर्थः । एवं-पितुरनुहरते, पितरमनुहरते; मातुरनुहरते, मातरमनुहरते । गतग्रहणं किम् ? पितुर्हरति, मातुर्हरति । ताच्छील्य इति किम् ? नटो राममनुहरति-नटो हि कश्चिदेव कालं राममनुकरोतीत्यसातत्ये न भवति । यद्वा गमनं गतं, तस्य पित्रादेः शीलमस्य तच्छीलस्तस्य भावस्ताच्छील्यम्, गतेन गमनेन ताच्छील्यं गतताच्छील्यं, —तस्मिन्नर्थे वर्तमानाद्धरतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पैतृकमश्वा अनुहरन्ते-पितुरागतं गमनमविच्छेदेन शीलयन्तीत्यर्थः । एवं पितुरनुहरते, पितरमनुहरते । गतताच्छील्य इति किम् ? धर्मान्तरेण पितरमनुहरन्ति । अथवा गते-गमने ताच्छील्ये च वर्तमानाद्धरतेरात्मनेपदं भवति-पैतृकमश्वा अनुहरन्ते, तद्वद् गच्छन्ति—तद्वच्छीलन्ति वेत्यर्थः ॥38॥

न्या०स०—ह्रगो गत-गम्यते ज्ञायते सदृशतया गतं कर्म्मेति व्युत्पत्त्या सादृश्यं तच्च तत् तेन वा ताच्छील्यं तस्मिन् । केवलोऽपि हरतिस्ताच्छील्ये उच्यते यथा पितुर्हरतीति, परं गतताच्छील्येऽनुपूर्व एव, अनुपूर्वो हरतिर्गतताच्छील्य एवोदेतीति वैपरीत्यं न, नटो राममनुहरतीत्यादौ गतताच्छील्यं

विनापि सादृश्ये अनुपूर्वकहरतेर्दर्शनात्, एवं पितुरनुहरते इति प्रकाराऽनुकारसादृश्यानामैकार्थ्येऽपि शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् सादृश्ये कर्म नास्तीति संबन्धेऽत्र षष्ठी ।

तद्वद्गच्छन्तीति-पितुरागतं यथा भवति एवं गच्छन्तीत्यर्थे पैतृकशब्दात् क्रियाविशेषणादम्, तद्वदित्यत्र परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतिं विनापि वत्यर्थं गमयति । *तद्वच्छीलन्तीति*-तद्वच्चारित्रिणो भवन्ति, शील समाधौ शीलण् इत्यस्य वा णिचोऽनित्यत्वात्, नात्र ताच्छील्यं पूर्वोक्तमुत्पत्तेः प्रभृतीत्यादि ।

पूजा-ऽऽचार्यक-भृत्युत्क्षेप-ज्ञान-विगणन-व्यये नियः ।।3. 3. 39.।।

पूजाऽऽचार्यकभृतिषु यथासंख्यं कर्मकर्तृधात्वर्थविशेषणेषु गम्यमानेषु, उत्क्षेपादिषु च धात्वर्थेषु वर्तमानान्नयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पूजा—सन्मानः—नयते विद्वान् स्याद्वादे, प्रमाणव्यापारवित् स्याद्वादे जीवादीन् पदार्थान् युक्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्यबुद्धिं प्रापयतीत्यर्थः, ते युक्तिभिः स्थिरीकृताः पूजिता भवन्ति । आचार्यस्य भावः कर्म वा-ऽऽचार्यकम्-माणवकमुपनयते, स्वयमाचार्यो भवन् माणवकमध्ययनायाऽऽत्मसमी पं प्रापयतीत्यर्थः । भृतिः वेतनम्-कर्मकरानुपयते, वेतनेनात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । उत्क्षेपः ऊर्ध्वं नयनम्-शिशुमुदानयते, उत्क्षिपतीत्यर्थः । ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः—नयते तत्त्वार्थे, तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीत्यर्थः । विगणनम् ऋणादेः शोधनम् मद्राः कारं विनयन्ते, राजग्राह्यं भागं दानेन शोधयन्तीत्यर्थः । व्ययो धर्मादिषु विनियोगः—शतं विनयते, सहस्रं विनयते, धर्मार्द्यर्थं तीर्थादिषु विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? अजां नयति ग्रामम् । गित्त्वादफलदर्थ आरम्भः ।।39।।

न्या०स०—पूजाचार्यक० पूजादयोऽत्र नयतेर्विशेषणतयोपादीयमानाः केचित् साक्षाद्-विशेषणभावमनुभवन्ति, केचित्तु पारंपर्येणेति विभज्याह-*पूजेत्यादिना* आचार्यकग्रहणात् आचार्यकर्म कुर्वन्नेवात्मनेपदविधौ कर्त्ता, अत एवाचार्य इति नोपात्तम् ।

कर्तृ स्थामूर्ताप्यात् ।। 3. 3. 40. ।।

कर्तृ स्थममूर्त्तमाप्यं-कर्म यस्य तस्मान्नयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । श्रमं विनयते, क्रोधं विनयते-शमयतीत्यर्थः । कर्तृस्थेति किम् ? चैत्रो मैत्रस्य मत्युं विनयति । अमूर्तेति किम् ? गडुं विनयति, घट्ट विनयति । आप्येति किम् ? बुद्ध्या विनयति । 'श्रमं विनयते' इत्यादौ श्रमापगमादेः फलस्य कर्तृसमवायित्वात् सिद्धे आत्मनेपदे नियमार्थं वचनम्, व्यवेच्छेद्य च प्रत्युदाहरणम् । शमयतिक्रियावचनादेव च नयतेरात्मनेपदं दृश्यते न प्रापणार्थात्, यथा—

``शिवमौपयिकं गरीयसीं, फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं, विहितक्रोधजया जिगीषवः'' ।।1।। (किराते)

यथा च कोपं शमं नयति, मन्युं नाशं नयति, प्रज्ञां प्रवृद्धिं नयति, बुद्धिं क्षयं नयति ।।40।।

न्या०स०–कर्तृस्था०:–नियमार्थमिति–तेनात्र सूत्रे फलवत्तैव विवक्ष्यते । *व्यवच्छेद्यमिति*-तेन प्रत्युदाहरणेषु फलवत्त्वविवक्षायामऽपि नात्मनेपदम् ।

शदेः शिति ।। 3. 3. 41. ।।

शदेः शिद्विषयात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शीयते । शितीति किम् ? शत्स्यति ।।41।।

म्रियतेरद्यतन्याशिषि च ।। 3. 3. 42. ।।

म्रियतेरद्यतन्याशीर्विषयाच्छिद्विषयाच्च कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अमृत, मृषीष्ट, म्रियते, म्रियेत, म्रियताम्, अम्रियत । अद्यतन्याशिषि चेति किम् ? ममार, मर्तासि, मरिष्यति, अमरिष्यत् । तिव्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति-मर्मर्ति ।।42।।

क्यङ्षो नवा ।। 3. 3. 43. ।।

डाज्लोहितादिभ्यः क्यङ् षित् वक्ष्यते, तदन्ताद्धातोः कर्तर्यात्मनेपदं भवति वा । पटपटायति, पटपटायते; लोहितायति, लोहितायते; निद्रायति, निद्रायते ।।43।।

द्युद्भ्योऽद्यतन्याम् ।। 3. 3. 44. ।।

बहुवचनं गणार्थम् । द्युतादिभ्योऽद्यतनीविषये कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति । व्यद्युतत्, व्यद्योतिष्ट; अरुचत्, अरोचिष्ट । अद्यतन्यामिति किम् ? द्योतते । द्युति 1 रुचि 2 घुटि 3 रुटि 4 लुटि 5 लुठि 6 श्विताङ् 7 ञिमिदाङ् 8 ञिक्ष्विदाङ् 9 ञिष्विदाङ् 10 शुभि 11 क्षुभि 12 णभि 13 तुभि 14 स्रम्भूङ् 15 भ्रंसूङ् 16 स्रंसूङ् 17 ध्वंसूङ् 18 वृतूङ् 19 स्यन्दौङ् 20 वृधूङ् 21 शृधूङ् 22 कृपौङ् 23 इति द्युतादिः । प्राप्तविभाषेयम् ।।44।।

वृद्भ्यः स्यसनोः ।। 3. 3. 45. ।।

बहुवचनं पूर्ववत्, वृतादयो द्युताद्यन्तर्गताः पञ्च, तेभ्यः स्यकारादिप्रत्यये सन्प्रत्यये विषये च कर्तर्यात्मनेपदं भवति वा । वृतूङ् 1-वर्त्स्यति, वर्तिष्यते, अवर्त्स्यत्, अवर्तिष्यत, वर्त्स्यन्, वर्तिष्यमाणः; विवृत्सति, विवर्तिषते । एवं स्यन्दौङ् 2-स्यन्त्स्यति, स्यन्दिष्यते, सिस्यन्त्सति,

सिस्यन्दिषते । वृधूङ् 3-वर्त्स्यति, वर्धिष्यते, विवृत्सति, विवर्धिषते, श्रृधूङ् 4-शर्त्स्यति शर्धिष्यते, शिशृत्सति, शिशर्धिषते । कृपौङ् 5-कल्प्स्यति, कल्पिष्यते, चिक्लृप्सति, चिकल्पिषते । स्य सनोरिति किम् ? वर्तते, वर्धते । इयमपि प्राप्तविभाषा ।।45।।

न्या०स०—वृद्भ्यः स्य०-चिक्लृप्सतीति-``दूरादामन्त्रस्य'' (7-4-99) इत्यत्र लृग्रहणेन ❊ ऋवर्णापदिष्टं कार्यं लृवर्णस्यापि ❊ इति लृतोऽपि ``ऋतोऽत्'' (4-1-38) ।

कृपः श्वस्तन्याम् ।। 3. 3. 46. ।।

कृपेः श्वस्तन्यां विषये कर्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । कल्प्तासि, कल्पितासे ।।46।।

क्रमोऽनुपसर्गात् ।। 3. 3. 47. ।।

अविद्यमानोपसर्गात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति । क्रमते, क्रामति । अनुपसर्गादिति किम् ? संक्रामति । वृत्त्यादेरन्यत्रायमारम्भ इत्यप्राप्तविभाषा ।।47।।

न्या०स०—क्रमोऽनु०:—अविद्यमानोपसपर्गादिति-बहुव्रीहिरयम्, यदि पुनर्न उपसर्गोऽनुपसर्ग इति तत्पुरुषो विधीयते, तदोपसर्गादन्योऽनुपसर्गस्तस्मात् परो यः क्रमिस्तत इति प्रतिपत्तौ केवलान्न स्यात्, प्रसज्याश्रयणे त्वऽसमर्थसमासः कष्टः स्यात् ।

वृत्ति-सर्ग-तायने ।। 3. 3. 48. ।।

वेति निवृत्तम् । वृत्त्यादिष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । वृत्तिरप्रतिबन्ध आत्मयापनं वा, शास्त्रेऽस्य क्रमते बुद्धिः—तत्र न हन्यते आत्मानं यापयति वेत्यर्थः । सर्ग उत्साहस्तात्पर्य वा, सर्गेणातिसर्गस्य लक्षणादनुज्ञा वा-सूत्राय क्रमते, तदर्थमुत्सहते, तत्परो वाऽनुज्ञातो वा । तायनं स्फीतता संतानः पालनं वा, क्रमन्तेऽस्मिन् योगाः, स्फीता भवन्ति, संतन्यन्ते पाल्यन्ते वेत्यर्थः । वृत्त्यादिष्विति किम् ? क्रामति ।।48।।

न्या०स०—वृत्तिसर्ग०-विरोधिनामिति व्यावृत्तिप्रसङ्गे सूत्रत्वात् समाहारः कर्मधारयो वा । *वेति निवृत्तं*-व्यावृत्तेव्यवच्छेद्याभावात् अर्थविशेषोपादानाद् वा । *सन्तन्यन्ते इति*-संतानेन प्रवर्त्तन्ते कर्म्मकर्त्तरि कर्म्मणि वा तदा विस्तार्यन्त इत्यर्थ, सामर्थ्यादनेनैव अस्मिन् शब्दवाच्यत्वेन, पाल्यन्ते इति कर्म्मणि, न तु कर्मकर्त्तरि ``भूषार्थ'' (3-4-93) इति क्यनिषेधात्, अस्मिन् विषये आचार्येण योगा रक्ष्यन्ते इत्यर्थः ।

परोपात् ॥ 3. 3. 49. ॥

परोपाभ्यामेव परात् क्रमेर्वृत्त्यादिष्वर्थेषु कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पराक्रमते, उपक्रमते । परोपादेवेति किम् ? अनुक्रामति । वृत्त्यादिष्वित्येव-पराक्रामति, उपक्रामति । अन्ये तु परोपाभ्यां परात् क्रमतेर्वृत्त्याद्यर्थाभावेऽपीच्छन्ति, तेन-पराक्रमते, उपक्रमते इत्यात्मनेपदमेव, वृत्त्यादिषु त्वन्योपसर्ग-पूर्वादपि पूर्वेण मन्यन्ते-निष्क्रमते, प्रतिक्रमते, न प्रतिहन्यते इत्यर्थः ॥49॥

न्या०स०—परोपा०ः पराक्रामतीति-कोऽर्थः ? परावृत्त्या क्रामति शौर्य वा कुरुते । उपक्रामति समीपे गच्छतीत्यर्थः ।

वेः स्वार्थे ॥ 3. 3. 50. ॥

स्वार्थः पादविक्षेपः, तस्मिन् वर्तमानाद् वेः परात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । साधु विक्रमते गजः । स्वार्थे इति किम् ? अश्वेन विक्रामति, विक्रामत्यजिनसंधिः,—स्फुटतीत्यर्थः; विक्रामति राजा,—उत्सहते इत्यर्थः ॥50॥

न्या०स०—वेः स्वार्थे-अश्वेन विक्रामतीति-नन्वत्रापि पादविक्षेप एव क्रमिर्वर्त्तते स च कर्तृ कृतः करणकृतो वा भवतु ? सत्यं, ❊ *गौणमुख्ययोः* ❊ इति न्यायात् सर्वकारकप्रधानभूतकर्तृ कृत एव गृह्यते, अत्र तु करणकृतः पादविक्षेप इति न भवति । *विक्रामति राजेति*—``परोपात्'' (3-3-49) एवेति नियमात् ``वृत्तिसर्ग'' (3-3-48) इत्यादिनापि न ।

प्रोपादारम्भे ॥ 3. 3. 51. ॥

आरम्भ आदिकर्म, अङ्गीकरणं चेत्यन्ये, तस्मिन् वर्तमानात् प्रोपाभ्यां परात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । प्रक्रमते, उपक्रमते भोक्तुम्, प्रारभते अङ्गीकरोति चेत्यर्थः । आरम्भ इति किम् ? पूर्वेद्युः प्रक्रामति, गच्छतीत्यर्थः; अपरेद्युरुपक्रामति-समीपमागच्छतीत्यर्थः । ``परोपात्'' (3. 3. 49.) इत्यनेनापि न भवति वृत्त्यादेरर्थस्याविवक्षितत्वात् । अन्ये तु स्वार्थविषय एवारम्भे मन्यन्ते, तेनोपक्रमते, प्रक्रमते-पादाभ्यां गन्तुमारभत इत्यर्थ इत्यत्रेव भवति, स्वार्थविषयारम्भादन्यत्र तु प्रक्रामति, उपक्रामति भोक्तुमित्यत्र न भवति ॥51॥

आङो ज्योतिरुद्गमे ॥ 3. 3. 52. ॥

आङः परात् क्रमेर्ज्योतिषां चन्द्रादीनामुद्गमे-ऊर्ध्वगमने प्रधाने उपसर्जने वा वर्तमानात्

कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आक्रमते चन्द्रः, आक्रमते सूर्यः, उदयते इत्यर्थः; दिवमाक्रममाणेन केतुना, अत्र दिवमिति कर्मणा योगादुद्गमनोपसर्जनव्याप्तिवचनः क्रमिः । ज्योतिरुद्गम इति किम् ? आक्रामति माणवकः कुतुपम्, अवष्टभ्नातीत्यर्थः । ज्योतिरिति किम् ? धूम आक्रामति, उद्गच्छतीत्यर्थ; आक्रामति धूमो हर्म्यतलम्, उद्गच्छन् व्याप्नोतीत्यर्थः । उद्गम इति किम् ? 'नभः समाक्रामति नष्टवर्त्मना, स्थितैकचक्रेण रथेन भास्करः ।'' अत्र व्याप्तिमात्रं विवक्षितम्, न तूद्गमोपसर्जनव्याप्तिः । अन्ये तूद्गमोपसर्जनां व्याप्ति पश्यन्तोऽसाधुमेनं मन्यन्ते ॥52॥

दागोऽस्वाऽऽस्यप्रसार-विकासे ॥ 3. 3. 53. ॥

आङ्पूर्वाद् ददातेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, न चेत् स्वास्यप्रसारणं विकासश्चार्थो भवति । विद्यामादत्ते, धनमादत्ते । अस्वास्यप्रसार-विकास इति किम् ? उष्ट्रो मुखं व्याददाति, प्रसारयतीत्यर्थः; कूलं व्याददाति, विपादिका व्याददाति, विकसतीत्यर्थः । स्वग्रहणमिति किम् ? व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम् । आङ इत्येव ? ददाति प्रददाति । फलवन्तोऽन्यत्रायं विधिः ॥53॥

*न्या०स०—दागोऽस्वा०-*प्रसारणं प्रयोजकव्यापारः, विकासश्च कर्तृव्यापार इत्यनयोर्भेदः, विपूर्वात् कस गतावित्यतो घञि वृद्धौ विकासः ।

नु-प्रच्छः ॥ 3. 3. 54. ॥

आङ्पूर्वान्नौतेः प्रच्छेश्च कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आनुते शृगालः, उत्कण्ठितः शब्दं करोति, उत्कण्ठापूर्वके संशब्दे नौतेरयं विधिर्न सर्वत्र । आपृच्छते गुरून्, आपृच्छस्व प्रियसखम्'' (मेघदूते) वियुज्यमानस्य प्रश्नेऽयं विधिः । आङ इत्येव ? नौति, प्रणौति, पृच्छति, परिपृच्छति ॥54॥

गमेः क्षान्तौ ॥ 3. 3. 55. ॥

क्षान्तिः कालहरणम्, तत्र वर्तमानाद् गमयतेराङ्पूर्वकात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आगमयते गुरून्, कञ्चित् कालं प्रतीक्षते; आगमयस्व तावत्, कञ्चित् कालं सहस्वेत्यर्थः । क्षान्ताविति किम् ? आगमयति विद्याम्, गृह्णातीत्यर्थः । क्षान्तौ स्वभावाद् गमिर्ण्यन्त एव वर्तते ॥55॥

ह्वः स्पर्धे ॥ 3. 3. 56. ॥

आङ्पूर्वाद् ह्वयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, स्पर्धे गम्यमाने । स्पर्धः संघर्षः, पराभिभवेच्छा, स धात्वर्थस्य विशेषणम्, धात्वर्थश्च ह्वयतेराङ्पूर्वस्य शब्द एव स्वभावात् । मल्लो मल्लमाह्वयते, स्पर्धमान आकारयतीत्यर्थः । स्पर्ध इति किम् ? गामह्वयति ॥56॥

सं-नि-वेः ।। 3. 3. 57. ।।

सं-नि-विभ्यः पराद् ह्वयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संह्वयते, निह्वयते, विह्वयते ।।57।।

उपात् ।। 3. 3. 58. ।।

उपपूर्वाद् ह्वयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । उपह्वयते । योगविभाग उत्तरार्थः ।।57।।

यमः स्वीकारे ।। 3. 3. 59. ।।

उपपूर्वाद् यमः स्वीकारेऽर्थे वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । कन्यामुपयच्छते, वेश्यामुपयच्छते, उपायंस्त महास्त्राणि । च्विनिर्देशः किम् ? शाटकानुपयच्छति, नात्रास्वं स्वं क्रियते, स्वत्वेन तु निर्ज्ञातस्य ग्रहणमिति न भवति । उद्वाह एवेच्छन्त्यन्ये ।।59।।

न्या०स०—यमः स्वी०-उद्वाह एवेच्छन्तीति-तन्मते वेश्यामुपयच्छते इत्यादि न भवति ।

देवार्चा-मैत्री-संगम-पथिकर्तृक-मन्त्रकरणे स्थः ।। 3. 3. 60. ।।

एष्वर्थेषु वर्तमानात् उपपूर्वात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । देवार्चायाम् जिनेन्द्रमुपतिष्ठते ।
``बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान् ।
पश्य वानरसंघेऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते'' ।।1।।
यदा तु नेयं देवपूजाऽपि तु चापलमिति विवक्षितं तदा न भवति—
``मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम् ।
एतदप्यस्य कापेयं, यदर्कमुपतिष्ठति'' ।।1।।

मित्रतया मित्त्रं वा कर्तुमाचरणं मैत्री, उपस्थानस्य हेतुः फलं वा महामात्रानुपतिष्ठते, रथिकानुपतिष्ठते । मैत्र्या हेतुना फलेन वाऽऽराधयतीत्यर्थः । संगम उपश्लेषः—यमुना गङ्गामुपतिष्ठते । पन्थाः कर्ता यस्यार्थस्य स पथिकर्तृकः, अयं पन्थाः स्त्रुघ्नमुपतिष्ठते । मन्त्रः करणं यस्यार्थस्य स मन्त्रकरणः ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते, सावित्र्या सूर्यमुपतिष्ठते, आराधयतीत्यर्थः; मन्त्रादन्यत्र भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन । करणग्रहणं किम् ? गायत्रीमुपतिष्ठति, अत्र मैत्री धात्वर्थविशेषणेनोपसर्जनं धात्वर्थः, शेषास्तु प्रधानम् ।।60।।

न्या०स०–देवार्चा०-मित्रतया मित्रं वा कर्तुमिति–'अजर्यं संगतम्' इतिवत् संपूर्वस्य गमेर्मैत्र्यामपि दर्शनात्, मैत्रीसंगमयोरर्थाभेद इति, यः शङ्कते तं प्रत्युपश्लेषरूपात् संगमात् मित्रतयेत्यादिना मैत्र्या भेदं दर्शयति, विनापि हि संश्लेषेण मैत्रीत्यर्थः, मित्रस्य भावो मैत्री, सा उपस्थानस्य धात्वर्थस्य हेतुर्निवर्त्तिका, यदा हि रथिकानुपतिष्ठत इत्यत्रोपस्थाता मित्रं सत् उपतिष्ठते तदा मैत्री हेतुः, यदा तु प्रागमित्रः सन् मैत्र्यर्थं प्रवर्त्तते तदा मैत्री फलं, ततश्च कारणस्य फलस्य च क्रियां प्रति विषयत्वोपपत्तेरुपस्थानस्य विशेषणत्वेन मैत्री गौणो धात्वर्थो भवति ।

वा लिप्सायाम् ॥ 3. 3. 61. ॥

उपपूर्वात् तिष्ठतेर्लिप्सायां गम्यमानायां कर्तर्यात्मनेपदं भवति । भिक्षुको दातृकुलमुपतिष्ठति उपतिष्ठते वा, भिक्षां लभेयेति ॥61॥

उदोऽनूर्ध्वेहे ॥ 3. 3. 62. ॥

अनुर्ध्वो य ईहश्चेष्टा, तत्र वर्त्तमानादुदः परात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । मुक्तावुतिष्ठते, मुक्त्यर्थं चेष्टत इत्यर्थः । अनुर्ध्वेति किम् ? आसनादुत्तिष्ठति । इहेति किम् ? आसनाद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति, सेनोत्तिष्ठति, उत्पद्यत इत्यर्थः ॥62॥

सं-वि-प्राऽवात् ॥ 3. 3. 63. ॥

एभ्यः परात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संतिष्ठते, वितिष्ठते, प्रतिष्ठते, अवतिष्ठते ॥63॥

ज्ञीप्सा-स्थेये ॥ 3. 3. 64. ॥

परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं-ज्ञीप्सा, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेयः, रूढिवशाद् विवादपदे निर्णेता प्रमाणभूतः पुरुष उच्यते । ज्ञीप्सायां स्थेयविषयायां च क्रियायां वर्त्तमानात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः, तिष्ठते वृषली ग्रामेभ्यः, स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । त्वयि तिष्ठते, मयि तिष्ठते, ''संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'' (किराते) कर्णादिस्थेयोपविष्टं निर्णयतीत्यर्थः ॥64॥

न्या०स०–ज्ञीप्सा०-स्थेय इत्यत्र बाहुलकात् अधिकरणेऽपि ''य एच्चातः'' (5. 1. 28.) इति यः, व्युत्पत्तिसमये आधारस्य निर्णेतृत्वं न विवक्षितमिति वाक्ये परस्मैपदमेव, अधिकरणस्य प्रत्ययार्थत्वेऽपि नास्याधिकरणमात्रे वृत्तिः, किं तर्हि क्वचिदेव ? इत्याह–*रूढिवशादित्यादि* ।

प्रतिज्ञायाम् ।। 3. 3. 65. ।।

प्रतिज्ञा अभ्युपगमः, तत्र वर्त्तमानात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । नित्यं शब्दमातिष्ठते, तदतदात्मकं तत्त्वमातिष्ठते । स्वभावाच्चायमाङ्पूर्व एव प्रतिज्ञायां वर्तते । योगविभाग उत्तरार्थः ।।65।।

न्या०स०—प्रतिज्ञा०-तदतदात्मकमिति-एकशेषोऽनित्यः, शब्दप्रधानो वा निर्देशः शब्दार्थयो-रभेदेन चार्थो वाच्यः, स चासावसश्च तदसः, स आत्मा यस्येति कर्मधारयपूर्वो वा बहुव्रीहिः ।

समो गिरः ।। 3. 3. 66. ।।

सम्पूर्वाद् गिरतेः प्रतिज्ञायां वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । स्याद्वादं संगिरते, प्रतिजानीत इत्यर्थः । प्रतिज्ञायामित्येव ? संगिरति ग्रासम् । गिर इति निर्देशाद् गृणातेर्न भवति ।।66।।

न्या०स०—समो०-ननु समं विना प्रतिज्ञायां गिरतेर्वृत्तिर्न दृश्यते, ततः किं सम्ग्रहणेन ? सत्यं, केवलोऽप्यन्योपसर्गपूर्वोऽपि च प्रतिज्ञायां वर्त्तते, उत्तरत्र पृथग्योगात् प्रतिज्ञायामिति निवृत्तमिति भणितेः, यदि ह्यन्योपसर्गपूर्वो न वर्त्तते तर्हि पृथग्योगादिति भणितेः किं फलम् ? ।

अवात् ।। 3. 3. 67. ।।

पृथग्योगात् प्रतिज्ञायामिति निवृत्तम्, अवपूर्वाद् गिरतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अवगिरते, अवादन्यत्र गिरति । गिर इत्येव ? अवगृणाति । अवपूर्वस्य । गृणातेः प्रयोगो नास्तीत्यन्ये ।।67।।

निह्नवे ज्ञः ।। 3. 3. 68. ।।

निह्नवोऽपलापः, तस्मिन् वर्तमानाज्जानातेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शतमपजानीते, अपह्नुते इत्यर्थः, अपेन चास्यायमर्थोऽभिव्यज्यते । निह्नव इति किम् ? तत्त्वं जानाति ।।68।।

सं-प्रतेरस्मृतौ ।। 3. 3. 69. ।।

सं-प्रतिभ्यां पराज्जानातेरस्मृतौ वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शतं संजानीते, अवेक्षते इत्यर्थः । शतं प्रतिजानीते, शतेन संजानीते, अभ्युपगच्छतीत्यर्थः । अस्मृताविति किम् ? मातुः संजानाति, मातरं संजानाति, स्मरतीयत्र्थः ।।69।।

न्या०स०—संप्रते०-शतेन संजानीते इति—``समो ज्ञोऽस्मृतौ वा'' (2-2-51) इति वा तृतीया, तद्विकल्पे च पक्षे द्वितीया ।

अननो: सन: ।। 3. 3. 70. ।।

सन्नन्ताज्जानाते: कर्तर्यात्मनेपदं भवति, स चेदनोरुपसर्गात् परो न भवति । धर्म जिज्ञासते । अननोरिति किम् ? धर्ममनुजिज्ञासति । कथमौषधस्यानुजिज्ञासते ? अकर्मकात् ``प्राग्वत्'' (3. 3. 74.) इत्यनेन भविष्यति ।।70।।

न्या०स०—अननो:-अकर्मकादित्यादि-सकर्मकादनेन आत्मनेपदं विधीयते न त्वकर्मकादिति प्रतिषेधाभाव:, कथं पुनर्ज्ञायते अनेन सकर्मकाद्विधिरिति ? उच्चयते, अकर्मकाद् ज्ञ इत्यनेन प्रागिष्टत्वात् सन्नन्तात् ``प्राग् व'' (3-3-74) इत्यनेनात्मनेपदे सिद्धे सकर्म्मकादेवाऽयं विधिरिति ज्ञायते ।।

श्रुवोऽनाङ्-प्रते: ।। 3. 3. 71. ।।

सन्नन्ताच्छृणोते: कर्तर्यात्मनेपदं भवति, स चेदाङ्-प्रतिभ्यामुपसर्गाभ्यां परो न भवति । शुश्रुषते गुरून्, संशुश्रूषते शब्दान् । अनाङ्-प्रतेरिति किम् ? आशुश्रूषति, प्रतिशुश्रूषति । `चैत्रं प्रति शुश्रूषते' इति प्रतिना सम्बन्धाभावात् प्रतिषेधो न भवति ।।71।।

स्मृ-दृश: ।। 3. 3. 72. ।।

स्मृ दृशिभ्यां सन्नन्ताभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं भवति । सुस्मूर्षते पूर्ववृत्तम्, दिदृक्षते देवम् ।।72।।

शको जिज्ञासायाम् ।। 3. 3. 73. ।।

शकि: स्वभावादन्यधात्वर्थानुसंहित: प्रवर्तते—शक्नोति भोवतुमन्यद् वेति, ततो ज्ञानानुसंहिता-र्थात् सन्नन्तात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । विद्या: शिक्षते ज्ञातुं शक्नुयामितीच्छतीत्यर्थ: । जिज्ञासायामिति किम् ? शक्तुमिच्छति,—शिक्षति, ``शिक्षि विद्योपादाने'' इत्यनेनैव सिद्धे आमनुप्रयोगार्थं वचनम्, तेन `शिक्षांचक्रे' इति भवति, न तु शिक्षांचकारेति । केचित् तु शके: सन्नन्तस्यात्मनेपदमनिच्छन्त: शिक्षतेरेव जिज्ञासायामात्मनेपदमन्यत्र च परस्मैपदमिच्छन्ति ।।73।।

न्या०स०—शको जि०:—धात्वर्थानुसंहित इति-शकिरन्यस्य धातोरर्थेन युक्त इत्यर्थ:, यथा शक्नोति भोक्तुमित्यत्र भुज्यर्थेन युक्त इत्यर्थ: । *विद्या: शिक्षत इति*-आत्मनेपदेनैव जिज्ञासाया

अवगमात् जिज्ञासितुमिति न प्रयुज्यते । *आमनुप्रयोगार्थमिति*-यद्यदः सूत्रं न व्यधास्यत तदा शकेर्धातोः सन्नन्तस्य ``आमः कृगः'' (3-3-75) इति आमः परात् कृग आत्मनेपदं नाऽभविष्यत्, ततः शिक्षांचक्रे इति न स्यात्, शिक्षेस्त्वामोऽसंभव एव एकस्वरत्वात् ।

प्राग्वत् ॥ 3. 3. 74. ॥

सनः प्राक् पूर्वो यो धातुस्तस्मादिव सन्नन्तात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति, यत् पूर्वस्य धातोरनुबन्धेनोपपदेनार्थविशेषेण वाऽऽत्मनेपदं दृष्टं तत् सन्नन्तादतिदिश्यते । अनुबन्धेन`शीङ्-शेते', शिशयिषते; एधि-एधते, एदिधिषते; लोलूयते, लोलूयिषते; श्येनायते, शिश्येनायिषते उपपदेन-निविशते, निविविक्षते; अश्वेन संचरते अश्वेन संचिचरिषते । अर्थविशेषेण-शास्त्रेऽस्य क्रमते बुद्धिः, चिक्रंसते उभयेन,–आक्रमते चन्द्रः, आचिक्रंसते । यत् पुनः सप्रत्ययधातुनिमित्तं तन्नातिदिश्यते शिशत्सति, मुमूर्षति, अत्र हि न शदि-म्रियती एव निमित्ते, किं तर्हि ? शिदाशीरद्यतन्योऽपि ।

अनुबन्धादिनिमित्तमपि यद् विशेषविधानबाधया प्राग् न दृष्टं तन्नातिदिश्यते, यथा-अनुकरोति, अनुचिकीर्षति; पराकरोति, पराचिकीर्षति । तिजादीनां त्वर्थविशेषेषु केवलानाम-प्रयोगात् सन्नन्तसमुदायार्थमेव अनुबन्धविधानम्, तेन `तितिक्षते, जुगुप्सते, मीमांसते, इत्यादौ प्रागदृष्टमप्यात्मनेपदमनुबन्धसामर्थ्यात् भवति, यथा कुस्मि-चित्रङ्-महीङ्-हृणीङामनुबन्धो णिच्-क्यन्-यगन्तसमुदायार्थः–विकुस्मयतं, चित्रीयते, महीयते, हृणीयते। अवयवे वा कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति, यद्येवं तितिक्षयति, जुगुप्सयति, मीमांसयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ? नैवं, अवयवे कृतं लिङ्गं तस्यैव समुदायस्य विशेषकं भवति यं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति, यथा-गोः सक्थनि कर्णे वा कृतं लिङ्गं-चिह्नं गोरेव विशेषकं भवति, न गोमण्डलस्य, सन्नन्तं च समुदायं तिजादयोऽर्थविशेषेषु न व्यभिचरन्ति, णिगन्तं पुनर्व्यभिचरन्ति ।

ननु सन्नन्तमपि व्यभिचरन्ति-तेजयति, गोपायति, मानयतीति ? नैवम्,–अर्थविशेषेषु न व्याभिचार इत्युक्तत्वात् । ``गुप्-तिजो गर्हा-क्षान्तौ' (3. 4. 6.) ``शान्-दान्-मान्-बधान्निशानाऽऽर्जवविचार-वैरूप्ये'' (3. 4. 9.) इति हि वक्ष्यत इति ॥74॥

न्या०स०–प्राग्वत्-अनुबन्धादिनिमित्तमपीति–आदिपदात् ``गन्धनावक्षेप०'' (3-2-76) इत्यादिना कृगो धातोर्गंधनाद्यर्थनिमित्तं ``परानोः कृगः'' (3-3-101) इत्यादि-विशेषविधानबाधितं सत्, प्राग् न दृष्टं तदपि नातिऽदिश्यते । *सन्नन्तसमुदायार्थमेवेति*–अर्थ विशेषेषु इदमेव फलमन्यत्र त्वनाद्य-पीति एवकारार्थः । *अनुबन्धविधानमिति*-न च वाच्यं क्षान्त्याद्यर्थाभावे अनुबन्धादात्मनेपदं भविष्यतीति, एषामर्थान्तरेपि त्यादयो नाभिधीयन्ते इति भणनात् ``इङितो व्यञ्जनाद्य०'' (5-2-44) इत्यादौ चरितार्थमिति चेत् ? न, तदा ``भूषाक्रोध०'' (5-2-42) इत्यादौ स्वरूपेण ग्रहणं कुर्यात् किं व्याप्तिपरेणानुबन्धेन ।

अवयवे वा कृतमिति-भवत्वनप्रत्ययेऽनुबन्धस्य चरितार्थत्वं तथाप्यात्मनेपदं भवतीत्यभ्युपगम्यमाह ।

आमः कृगः ।। 3. 3. 75. ।।

आमः परादनुप्रयुज्यमानात् करोतेराम एव प्राग् यो धातुस्तस्मादिव कर्तर्यात्मनेपदं भवति । भवति न भवति चेति विधि-प्रतिषेधावतिदिश्येते, यथा-उशीनरवन्मद्रेषु यवाः सन्ति न सन्तीति । 'ईहांचक्रे ईक्षांचक्रे' इत्यफलवत्यपि भवति, 'बिभयांचकार, जागरांचकार' इति फलवत्यपि न भवति । यत्र तु पूर्वस्मादुभयं तत्र फलवत्यफलवति चोभयं भवति बिभरांचक्रे, बिभरांचकार; पाचयांचक्रे, पाचयांचकार । कृग इति किम् ? करोतेरेव यथा स्यादिह मा भूत्-ईक्षामास, ईक्षांबभूव ।।75।।

गन्धनाऽवक्षेप-सेवा-साहस-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगे ।। 3. 3. 76. ।।

गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् करोतेः कर्तयात्मनेपदं भवति । गन्धनं-द्रोहाभिप्रायेण परदोषोद्घाटनम्, प्रोत्साहनादिकमन्ये । उत्कुरुते, उदाकुरुते माम्, अध्याकुरुते जिघांसुः, अपकर्त्रे कथयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं अवक्षेपः, कुत्सनं भर्त्सनं वा, दुर्वृत्तानवकुरुते, कुत्सयतीत्यर्थः; श्येनो वर्तिकामपकुरुते, भर्त्सयतीत्यर्थः । सेवा-अनुवृत्तिः, महामात्रानुपकुरुते, सेवते इत्यर्थः । साहसम्-अविमृश्य प्रवृत्तिः, परदारान् प्रकुरुते, विनिपातमविभाव्य तान् अभिगच्छतीत्यर्थः । प्रतियत्नः—सतो गुणान्तराधानम्, एधोदकस्योपस्कुरुते, तत्र गुणान्तरमादधातीत्यर्थः । प्रकथनं-कथनप्रारम्भः प्रकर्षेण कथनं वा, जनवादान् प्रकुरुते, कथयितुमारभते, प्रकर्षेण कथयति वेत्यर्थः । उपयोगो-धर्मादौ विनियोगः, शतं प्रकुरुते, धर्मादौ विनियुङ्क्ते इत्यर्थः । एष्विति किम् ? कटं करोति । अफलवत्कर्त्रर्थ आरम्भः ।।76।।

न्या०स०—गन्धनावक्षे०:—प्रोत्साहनादिकमिति-आदेरव्याबाधाऽनुज्ञोदयः, तथा च पठन्ति तथ्येनातथ्येन वा गुणेन प्रोत्साहनं गन्धनम् । *भर्त्सयतीति*-राजृग् टुभ्राजि दीप्तावित्यत्र भ्राजिग्रहणेनात्मनेपदाऽनित्यत्वज्ञापनात् परस्मैपदमत्र ।

अधेः प्रसहने ।। 3. 3. 77. ।।

अधेः परात् करोतेः प्रसहने वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । प्रसहनं-पराभिभवः परेणापराजयो वा, तंहाधिचक्रे तं प्रसेहे तमभिभूतवान् तेन वा न पराजित इत्यर्थः । अथवा सहनं-क्षमा तितिक्षोपेक्षेति यावत्, प्रकर्षेण सहनं-प्रसहनम्, तच्च द्विधा-शक्तस्याशक्तस्य च, ``भवादृशाश्चेदधिकुर्वते परान्,

'समर्था अपि यद्युपेक्षन्ते तदा' निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता'' (किराते), 'अधिचक्रे न यं हरिः' सोढुमशक्तः सन् तेन न्यत्क्रियते। प्रसहन इति किम् ? तमधिकरोति। अधेरिति किम् ? शत्रून् प्रकरोति ॥77॥

दीप्ति-ज्ञान-यत्न-विमत्युपसंभाषोपमन्त्रणे वदः ॥ 3. 3. 78. ॥

दीप्त्यादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु वदतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति। दीप्तिर्भासनम्, सा च कर्तृविशेषणं वा, वदनक्रियासहचारिणी धात्वर्थो वा, केवलैव वा धात्वर्थः। वदते विद्वान् स्याद्वादे सम्यग्ज्ञानादनाकुलकथनाच्च विकसितमुखत्वाद् दीप्यमानो वदतीति, वा वदन् दीप्यते-इति वा, दीप्यत एव वेत्यर्थः। ज्ञानमवबोधः, तच्च वदिक्रियाया हेतुर्वा, विषयि वा फलं वा, केवलमेव वा धात्वर्थः। वदते धीमांस्तत्त्वार्थे, ज्ञात्वा वदतीति वा; जानाति वदितुमिति वा, वदन् जानातीति वा, जानात्येवं वेत्यर्थः। यत्न उत्साहः, स च धात्वर्थस्य विषयो धात्वर्थः एव वा; श्रुते वदते, तपसि वदते, तद्विषयमुत्साहं वाचाविष्करोति, तत्रोत्सहते इति वेत्यर्थः। नानामतिविमतिः, सा च धात्वर्थस्य हेतुः, धात्वर्थ एव वा; धर्मे विवदन्ते, विमतिपूर्वकं विचित्रं भाषन्त इति वा, विविधं मन्यन्त इति वेत्यर्थः। उपसंभाषोपसान्त्वनमुपालम्भो वा धात्वर्थ एवायम्; कर्मकरानुपवदते, उपसान्त्वयति, उपलभते वेत्यर्थः। उपमन्त्रणं रहसि उपच्छन्दनम्, तदपि धात्वर्थ एव; कुलभार्यामुपवदते, परदारानुपवदते, रहस्युपलोभयतीत्यर्थः। दीप्त्यादिष्विति किम् ? यत्किञ्चिद् वदति ॥78॥

*न्या०स०—दीप्तिज्ञान०:—*उपच्छन्दनमिति-छन्दसोपचरति णिच्, उपच्छन्द्यते अनटि।

व्यक्तवाचां सहोक्तौ ॥ 3. 3. 79. ॥

व्यक्ता व्यक्ताक्षरा वाग् येषां ते व्यक्तवाचः, रूढ्या मनुष्यादय एवोच्यन्ते; तेषां सहोक्तौ-संभूयोच्चारणे वर्तमानाद् वदेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति। संप्रवदन्ते ग्राम्याः, संप्रवदन्ते पिशाचाः, संभूय भाषन्त इत्यर्थः। व्यक्तवाचामिति किम् ? संप्रवदन्ति कुक्कुटाः, संप्रवदन्ति शुकाः। शुकसारिकादीनामपि व्यक्तवाक्तवात् सहोक्ताविच्छन्त्यन्ये,—संप्रवदन्ते शुकाः, संप्रवदन्ते सारिकाः। सहोक्ताविति किम् ? चैत्रेणोक्ते मैत्रो वदति ॥79॥

विवादे वा ॥ 3. 3. 80. ॥

विरुद्धार्थो वादो विवादः, व्यक्तवाचां सहोक्तौ विवादरूपायां वर्तमानाद् वदेः कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति। विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा मौहूर्ताः, परस्परप्रतिषेधेन युगपद् विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः।

विवाद इति किम् ? सम्प्रवदन्ते वैयाकरणाः,—सह वदन्तीत्यर्थः। व्यक्तवाचामित्येव ? सम्प्रवदन्ती शकुनयः, नानारुतं कुर्वन्ति जातिशक्तिभेदात् । सहोक्तावित्येव ? मौहूर्तो मौहूर्तेन सह क्रमेण विप्रवदति,—विरुद्धाभिधानमात्रमिह विवक्षितं, न तु विमतिपूर्वकम्, तेन विमतिलक्षणमप्यात्मनेपदं न भवति ।।80।।

न्या०स०—विवादे०ः—सह वदन्तीत्यर्थ इति सहशब्देनापि सहोक्तावुक्तायां व्यक्तवाचामित्यनेनापि नात्रात्मनेपदम् । *संप्रवदन्ति शकुनय इति*—व्यक्तवाक्कत्वे सति विवादविवक्षेति न ह्यङ्गविकलता, विवादाभावेऽपि परस्परं स्वरभेदात् विवादोप्यस्ति वा ।

अनोः कर्मण्यसति ।। 3. 3. 81. ।।

व्यक्तवाचामित्येवाऽनुवर्तते, व्यक्तवाचां सम्बन्धिन्यर्थे वर्तमानादनुपूर्वाद् वदेः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अनुः सादृश्ये पश्चादर्थे वा । अनुवदते चैत्रो मैत्रस्य, यथा मैत्रो वदति तथा चैत्रो वदतीत्यर्थः, अनुवदते आचार्यस्य शिष्य, आचार्येण पूर्वमुक्ते पश्चाद् वदतीत्यर्थः । कर्मण्यसतीति किम् ? उक्तमनुवदति । व्यक्तवाचामित्येव ? अनुवदति वीणा । कथं 'वाचिक-षडिको न संवदेते' इति ? मिथो विरुध्येते इत्यर्थः; विमतिविवक्षायां भविष्यति । अकर्मकादित्यनुक्त्वा 'कर्मण्यसतीति' इति निर्देश उत्तरत्र शब्दे स्वेऽङ्गे च कर्मणीति लाघवेन प्रतिपत्त्यर्थं ।।81।।

न्या०स०—अनोः कर्म०—व्यक्तवाचामित्येवेति- पूर्वसूत्रे व्यक्तवाक्सहोक्तावित्येवमकरणात्, एकस्यैव अनुवर्त्तनार्थमेव हि भिन्नविभक्तिकनिर्देशः । *कथं वाचिकषडिकावित्यादि-*वागाशिस् वागाशीर्दत्त इति वा प्रकृतिः, अनुकम्पितो वागाशीर्वागाशीर्दत्तो वा ``अजातेर्नृनाम्नः'' (7-3-35) इतीके ``षड्वर्जैकस्वर०'' (7-3-40) इत्यादिना आशीरादिलोपः, एवमनुकम्पितः षडङ्गुलिः षडङ्गुलिदत्तो वा ``अजातेः'' (7-3-35) इतीके ``द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वम्'' (7-3-41) इति ङ्गुलिलोपे वाचिकषडिकाविति । ननु षडिक इत्यत्र पदसंज्ञायाः सित्येवेति नियमेन निवर्त्तितत्वात् पदान्तत्वाभावात् डत्वं न प्राप्नोति, न च वाच्यं ``स्वरस्य०'' (7-4-110) इति परिभाषया स्थानिनाकारेणासित्प्रत्ययस्य व्यवधानं ``न संधि०'' (1-3-52) इत्यस्यावस्थानात् ? सत्यं, ``षड्वर्ज०'' (7-3-40) इत्यत्र षड्वर्जनं ज्ञापयति, नात्र स्थानित्वप्रतिपत्तिः । ननु ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7-4-115) इति न्यायात् सित्येवेत्यस्याऽवकाशो न हि ? सत्यं, षड्वर्जनं ज्ञापयति अवयवस्यापि नियमो भवति । तेन वाचिक इत्यत्र ``चजः कगम्'' (2-1-86) इति न भवति ।

मिथो विरुध्येते इति—यथा वाचिक इति निष्पद्यते तथा षडिक इति न सिध्यति, तथाहि

``द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वम्'' (7-2-41) इति कृते वाचिक इति न सिध्यति, एकस्वरादूर्ध्वम् लोपेकृते षडिक इति न इति महाभाष्यविचारः *विमतिविवक्षायामिति*-शब्दपक्षे शब्दशब्दवतोरभेदोपचारेण ।

ज्ञः ॥ 3. 3. 82. ॥

जानातेः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । सर्पिषो जानीते, मधुनो जानीते । कथमत्र जानातिरकर्मकः ? उच्यते, नात्र सर्पिरादिज्ञेयत्वेन विवक्षितं किं तर्हि प्रवृत्तौ करणत्वेन ? सर्पिषा मधुना वा करणेन भोक्तुं प्रवर्तत इत्यर्थः अत एव ``अज्ञाने ज्ञः षष्ठी'' (2. 2. 80.) इति षष्ठी; मिथ्याज्ञानार्थो वा जानातिः,–सर्पिषि रक्तः प्रतिहतो वोदकादिषु सर्पिष्टया ज्ञानवान् भवतीत्यर्थः, मिथ्याज्ञानं चाज्ञानमित्यज्ञानार्थत्वे पूर्ववदेव षष्ठी; अथवा सर्पिः संबन्धि ज्ञानं करोतीति विवक्षायां ज्ञानार्थोऽपि जानातिरकर्मकः, तदा तु सम्बन्धे षष्ठी । कर्मण्यसतीत्येव ? तैलं सर्पिषो जानाति, तैलं सर्पिष्टया जानातीत्यर्थः; स्वरेण पुत्रं जानाति । केचित् तु-ज्ञानोपसर्जनायां प्रवृत्तावेवाकर्मकाज्जानातेरात्मनेपदमाहुः, अत एव ते-'संभविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि' 'अभिजानासि मंत्र ! कश्मीरेषु वत्स्यामः' इत्यादौ प्रवृत्यर्थाभावादात्मनेपदाभावं मन्यन्ते; ``ज्ञास्ये रात्राविति प्राज्ञः'' इत्यत्रापि ज्ञात्वा प्रवर्तिष्य इति व्याचक्षते; ``जाने कोपपराङ्मुखी'' (अमरुशतके) इत्यत्र तु ``ज्ञोऽनुपसर्गात्'' (3. 3. 96.) इत्यनेनात्मनेपदमिच्छन्तीति ।।82।।

न्या०स०—ज्ञः-प्रतिहतो वेति-प्रतिपूर्वको हनिर्द्वेषे वर्त्तते अकर्मकश्च, ततः कर्त्तरि क्तः, प्रतिहतिरस्यास्ति अभ्राद्ये वा, कर्मकर्त्तरि वा । *तदा तु संबन्धे इति*-न माषाणामश्नीयादितिवदित्यर्थः । *संभविष्याव इति*–``अयदि स्मृत्यर्थे'' (5-2-9) इत्यनेन भविष्यन्ती स्यावस् । *अभिजानासि मातरीति*-तन्मते इत्युल्लेखेनेति विवक्षायामऽकर्मकत्वमन्यथा द्व्यङ्गविकलता स्यात्, स्वमते तु वाक्यार्थस्य कर्मत्वविवक्षायां सकर्म्मत्वान्नात्मनेपदं, ते हीत्थं व्याख्यान्ति अभिजानासि स्मरसि केनोल्लेखेन संभविष्याव इति वाक्यस्याप्यकर्मकत्वम् ! स्वमते त्वभिजानासि किं तत् संभविष्याव इति वाक्य-कर्मत्वान्नात्मनेपदं इति शब्दोऽध्याहर्तव्यः । कोपपराङ्मुखीति । तन्मतेऽजाहं जाने केनोल्लेखेन कोपपराङ्गमुखीति, अनेन व्याख्यानेन ``ज्ञः'' (3-3-82) इत्यनेनाप्यात्मनेपदं वाक्यार्थकर्म्मणि तु ``ज्ञोऽनुपसर्गात्'' (3-3-96) इत्यनेन ।

उपात् स्थः ॥ 3. 3. 83. ॥

उपपूर्वात् तिष्ठतेः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । भोजनकाल उपतिष्ठते, योगे योग उपतिष्ठते, ज्ञानमस्य ज्ञेयेषूपतिष्ठते, संनिधीयत इत्यर्थः । कर्मण्यसतीत्येव ? राजानमुपतिष्ठति ।।83।।

न्या०स०—उपात्स्थः संनिधीयत इति—कर्मकर्त्तरि धीङ्च् अनादरे इत्यस्य वा रुपमिदम् ।

समो गमृच्छि-प्रच्छि-श्रु-वित्-स्वरत्यर्ति-दृशः ।। 3. 3. 84. ।।

समः परेभ्यो गमादिभ्यः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संगच्छते, समृच्छते, समृच्छिष्यते, संपृच्छते, संश्रृणुते, नित्यपरस्मैपदिभिः साहचर्यात् ज्ञानार्थस्यैव विदेर्ग्रहणम्-संवित्ते, संस्वरते, अर्तीति सामान्यनिर्देशात् भ्वादिरदादिश्च गृह्यते—समृच्छते, समियृते, संपश्यते, स्वरत्यर्त्योस्तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः। कर्मण्यसतीत्येव ? संगच्छति सुहृदम् ।।84।।

न्या०स०—समोगमृ०—समृच्छिष्यते इति-समृच्छे इत्यस्य ऋच्छेरर्तेश्च रूपसाम्यात् ऋच्छेरभिव्यक्त्यर्थं समृच्छिष्यते इति द्वितीयमुदाहरणम् । सामान्यनिर्द्देशादितियद्यपि सामान्यनिर्द्देशात् ऋृश् गतावित्यस्यापि क्रैयादिकस्य ग्रहणं स्यात्, तथापि साम्यात् ह्रस्व एव गृह्यते परस्परं ह्रस्वत्वेन नियमितत्वात् । *यङ्लुप्निवृत्त्यर्थ इति*-तेन स्वरतेः संसरिस्वर्त्ति, संसस्वर्त्ति, संसरीस्वर्त्ति अर्त्तेस्तु रिरीआगमे ``पूर्वस्य''(4-1-37) इति इयादेशे समरियर्त्ति, समरियरीति र् आगमे समरर्त्ति इति, अन्येषां यङ्लुप्यपि संजंगते, संपरीपृष्टे, संशोश्रुते संवेवित्ते, संदरीदृष्टे इत्यात्मनेपदमेव, ऋच्छेस्त्वसंभवो यङः ।

वेः कृगः शब्दे चानाशे ।। 3. 3. 85. ।।

विपूर्वात् करोतेरनाशेऽर्थे वर्तमानात् कर्मण्यसति शब्दे च कर्मणि कर्तर्यात्मनेपदं भवति । कर्मण्यसति-विकुर्वते सैन्धवाः, साधु दान्ताः,—शोभनं वल्गन्तीत्यर्थः; ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते,—निष्फलं चेष्टन्त इत्यर्थः । शब्दे कर्मणि-क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्, नानोत्पादयतीत्यर्थ । शब्दे चेति किम् ? विकरोति मृदम् । अनाश इति किम् ? विकरोत्यध्यायं, विकरोति शब्दं विनाशयतीत्यर्थः ।।85।।

न्या०स०—वेः कृगः—विकुर्वते सैन्धवा इति—ननु विकारहेतौ सति विक्रियन्ते इत्यादौ कथं क्यः ``णिस्नुश्र्यात्मने'' (3-4-92) इत्यधिकारे ``भूषार्थ'' (3-4-93) इति निषेधात् ? सत्यं, अत्र कर्मणि क्यः कर्त्ता तु विकार एव ।

आङो यम-हनः स्वेऽङ्गे च ।। 3. 3. 86. ।।

आङः पराभ्यां यमि-हनिभ्यां कर्मण्यसति कर्तुः स्वेऽङ्गे च कर्मणि कर्तर्यात्मनेपदं भवति। आयच्छते, आहते स्वेऽङ्गे आयच्छते पादम्, आहते शिरः। स्वेऽङ्गे चेति किम् ? आयच्छति रज्जुम्, आहन्ति वृषलम्। स्व इति किम् ? आयच्छति पादौ चैत्रस्य, आहन्ति शिरो मैत्रस्य। अङ्ग इति किम् ? स्वामायच्छति रज्जुम्, स्वं पुत्रमाहन्ति। स्वाङ्ग इति समस्तनिर्देशे पारिभाषिकस्वाङ्गप्रतिपत्तिः स्यादित्यसमस्ताभिधानम् ॥86॥

न्या०स०—आङो यम०:—पारिभाषिकस्वाङ्गेति-ततश्चायच्छति पादौ चैत्रस्येत्यादावप्यात्मनेपदप्रसङ्गः।

व्युदस्तपः ॥ 3. 3. 87. ॥

व्युद्भ्यां परात् तपेः कर्मण्यसति, स्वेऽङ्गे च कर्मणि कर्तर्यात्मनेपदं भवति। वितपते उत्तपते रविः दीप्यत इत्यर्थः। स्वेऽङ्गे-वितपते, उत्तपते पाणिम्, तापयतीत्यर्थः। व्युद इति किम् ? निष्टपति। स्वेऽङ्गे चेत्येव ? वितपति पृथिवीं सविता, संतापयतीत्यर्थः; उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः, द्रवीकरोतीत्यर्थः। स्व इत्येव ? उत्तपति पृष्ठं चैत्रस्य। अङ्ग इत्येव ? स्वं सुवर्णमुत्तपति। इह 'दीप्यते ज्वलति भासते रोचते' इत्येष्वर्थेषु तपिमकर्मकं स्मरन्ति, यथा-वहति भारमिति प्रापणे वहिं सकर्मकं, स्यन्दने त्वकर्मकम्-वहति नदी, स्पन्दत इत्यर्थः ॥87॥

न्या०स०—व्युदस्तपः दीप्यते सामान्येन दीप्तो भवति, ज्वलति ज्वालावान् भवति, भासते उद्भूतरूपो भवति, रोचते किरणवान् भवति।

अणिक्कर्मणिक्कर्तृकाण्णिगोऽस्मृतौ ॥ 3. 3. 88. ॥

``प्रयोक्तृव्यापारे णिग्'' (3. 4. 20.) इति वक्ष्यते, अणिगवस्थायां यत् कर्म तदेव णिगवस्थाया कर्ता यस्य सोऽणिक्कर्मणिक्कर्तृकः, तस्मात्, णिगन्ताद् धातोरस्मृतौ वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः आरोहयते हस्ती हस्तिपकान्, आस्कन्दयत इत्यर्थः, पश्यन्ति राजानं भृत्याः, दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैरिति वाः पिबन्ति मधु पायकाः, पाययते मधु पायकान्। अणिगिति किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, आरोहयति हस्तिपकान् महामात्रः, आरोहयन्ति महामात्रेण हस्तिपकाः; प्रथमणिगन्तकर्मणि द्वितीयणिगन्तकर्तर्यपि मा भूत्। गित्करणं किम् ? गणयति गणं गोपालकः, गणयते गणो गोपालकम्, इति णिजन्तकर्मणिक्कर्तृ कादपि णिगन्तात् प्रतिषेधो मा भूत्। कर्मेति किम् ?

करणादेः कर्तृत्वे मा भूत्-पश्यन्ति भृत्याः प्रदीपेन, दर्शयति प्रदीपो भृत्यान् । णिगिति किम् ? यस्याणिगन्तस्यैव कर्म कर्ता भवति, ततो णिगन्तान्मा भूत्लुनाति केदारं चैत्रः, लूयते केदारः स्वयमेव, तं प्रयुङ्क्ते-लावयति केदारं चैत्रः । कर्तृ ग्रहणं किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, तानेनमारोहयति महामात्रः । णिग इति किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, तानारोहयते हस्तीत्यणिगवस्थायां मा भूत् । प्रत्यासत्तेश्च यस्यैव धातोरणिगवस्था तस्यैव धातोर्णिगवस्था गृह्यते न धात्वन्तरस्य, तेनेह न भवतिआरुह्यमाणो हस्ती सेचयति पृष्ठं मूत्रेण । 'हस्तिपकैरारुह्यमाणो हस्ती स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इत्यत्र तु सदृशधातुप्रयोगेऽपि पूर्वो हस्तिपककर्तृको रुहिः परश्च मनुष्यकर्तृक इति साधनभेदात् क्रियाभेदे धातुभेदः । अस्मृताविति किम् ? स्मरति वनगुल्मं कोकिलः, स्मरयत्येनं वनगुल्मः ।

कथं हन्त्यात्मानं, घातयत्यात्मेति, अत्र ह्यात्मनोऽणिक्कर्मणो णिक्कर्तृत्वमस्तीति; नैवम्-द्वावात्मानौ-शरीरात्माऽन्तरात्मा च, तत्र भेदेनैव लोके नित्यमयं प्रयोगः, हन्त्यात्मानमिति शरीरात्मनोऽन्तरात्मनो वा कर्मत्वम्, घातयत्यात्मानमित्यपि तस्यैव कर्मत्वं न कर्तृत्वमिति । ननु यदि अणिक्कर्मणो णिक्कर्तृतायां णिगन्तादात्मनेपदमिष्यते तर्हि शुष्यन्त्यातपे व्रीहयः, शोषयते व्रीहीनातपः' इत्यादावधिकरणादेः कर्तृ तायामात्मनेपदं न प्राप्नोति ? न, फलवत्कर्तृरि भविष्यति । यद्येवमारोहयते हस्ती हस्तिपकानित्यादावपि तथैवास्तु, सत्यम्-किन्तु फलवतः कर्मस्थक्रियाच्चान्यत्रायं विधिः, तथाहि-'लावयते केदारः, भूषयते कन्या, कारयते कटः, गणयते गणः, आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादौ कर्मस्थक्रियत्वात् ''एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये'' (3. 4. 46.) इत्यनेनैवात्मनेपदं भवति ।

नन्वारोहयते हस्ती स्वयमेवेत्यस्य आस्कन्दयते' इति किलार्थः, तत् कथं कर्मस्थक्रियता रुहेः ? उच्यते, यदा न्यग्भावनार्थोऽयं तथा कर्मस्थक्रियत्वम्, तथाहि-'आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः' इति न्यग्भवनोपसर्जने न्यग्भावने रुहिर्वर्तते, स द्वितीयस्यामवस्थायाम् आरुह्यते हस्ती स्वयमेव' इत्यस्यां कर्मकर्तृ विषयो व्यग्भवनमात्रवृत्तिर्भवति, अथ चतुर्थ्यामन्तर्भूततृतीयायाम् 'आरुह्यमाणं प्रयुञ्जते' इति हस्तिपकव्यापारप्रधानायां णिगन्तः सन् 'आरोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः' इत्यस्यां शुद्धारोहतिवन्न्यग्भवनोपसर्जने न्यग्भावने वर्तते, पुनर्यदा अस्यैव प्रयोजकव्यापाराविवक्षा तदा 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यस्यां पञ्चम्यामवस्थायाम् 'आरुह्यते हस्ती स्वयमेव' इतिवन्न्यग्भवनलक्षणस्य विशेषस्य हस्तिसमवेतत्वेनोपलम्भात् 'लावयते केदारः' इत्यादाविवकर्मस्थक्रियत्वमस्त्येवेति न किञ्चिद- नुपपन्नम् । तदुक्तम्—

``न्यग्भावना न्यग्भवनं, रुहौ शुद्धे प्रतीयते ।
न्यग्भावना न्यग्भवनं, ण्यन्तेऽपि प्रतिपद्यते ।।1।।
अवस्थां पञ्चमीमाहुर्ण्यन्ते तां कर्मकर्तरि ।
निवृत्तप्रेषणाद् धातोः प्राकृतेऽर्थे णिगुच्यते ।।2।। इति ।।88।।

न्या०स०–अणिक्कर्म० :–आरोहयते हस्तीति-अत्राऽनुकूलाचरणं पादार्प्पणशिरोऽधूननादि । *आस्कन्दयत इति* हस्तिन उपर्यागच्छन्ति तानुपर्यागमयतीत्यर्थः, अत्राप्येतेनात्मनेपदम् । *पाययते मधु पायकानिति*–``चल्याहारार्थ'' (3-3-108) इति परस्मैपदे प्राप्ते ``परिमुह'' (3-3-93) इत्यनेन फलवत्यात्मनेपदमित्यत्र त्वऽफलवत्यप्यनेन । *आरोहयन्ति महामात्रेण हस्तिपका इति*-आरोहयति हस्तिपकान् महामात्रस्तमारोहयन्तं हस्तिपकाः प्रयुञ्जते इति तु वाक्यं, हस्तिपकानारोहयन्तं महामात्रं हस्त्येव प्रयुङ्क्ते इति तु वाक्ये द्वितीयणिगि अणिक्कर्मणो हस्तिनः कर्तृत्वेऽपि नात्मनेपदं, प्रत्यासत्तेर्न्यायात् यदि अनन्तरे णिगिकर्मणः कर्तृत्वमत्र तु द्वितीये णिगि । *लूयते केदार इति*-ननु लूयते केदार इत्यादाविव आरोहयते हस्ती हस्तिपकान् इत्यादावपि यदेव पूर्वं कर्म तदेव कर्त्तेति ``एकधातौ'' (3-4-86) इत्यनेन कर्मकर्त्तयेवात्मनेपदं भविष्यति किमनेन ? सत्यं, अकर्मकक्रियत्वाभावान्न, अत्र कर्म्मणः प्रयोजकव्यापारात् कर्तृत्वं, एकधातावित्यत्र तु सौकर्यादित्यऽनयोर्भेदः । *णिग इति किमिति*-तदा णिगि णिग्विषये कर्त्ता यस्येति व्याख्येयम् । *आरोहयन्ति हस्तिनमिति*–अत्रारोहयते हस्तीत्यर्थे विवक्षिते आत्मनेपदं प्राप्तं तत् णिग इति व्यावृत्त्या निषिध्यते । *आरुह्यमाणो हस्तीत्यादि* सिञ्चति मूत्रं कर्तृ पृष्टं कर्मतापन्नं तत् सिञ्चत् हस्ती प्रयुङ्क्ते *सदृशधातुप्रयोगेऽपीति*-यथा ग्लानाय मुद्राः प्रत्यहं दीयमानाः सादृश्यात्त एव मुद्रा दीयन्ते इति व्यवह्रियते तथा (अत्रापि कर्तृभेदेन) भिन्नोऽपि रुहिः सादृश्यादेकीक्रियते ।

कथं हन्ति आत्मानमिति-य एव आत्मा अणिक्कर्म स एव णिक्कर्त्तेत्यात्मनेपदं प्राप्नोतीति पराशयः । *घातयत्यात्मेति*-हन्त्यन्तरात्मानं बाह्यं वा चौरसत्कं राजा तमेकंघ्नन्तमपरो बाह्य आन्तरो वा प्रयुङ्क्ते इति स्थितिः । *फलवत्कर्त्तरीति*-कृषीवलादेः प्रशंसादिकमातपस्य फलम् ।

अनेनैवात्मनेपदं भवतीति–न त्वनेनाऽप्राप्तेः कर्म्मणः कर्तृत्वाभावात् तथा कर्म्मस्थक्रियेऽप्राप्ति दर्शयति । कया युक्त्या लुनाति केदारं चैत्रः ? स एवं विवक्षते-नाहं लुनामि, लुयते केदारः स्वयमेव । तं स्वयमेव लूयमानः चैत्रः प्रयुङ्क्ते, लावयति केदारं चैत्रः, स एवं विवक्षते नाऽहं लावयामि,–अपि तु लावयते केदारः स्वयमेवेत्यनया प्रक्रिययाऽनेन न प्राप्नोति, अणिक्कर्मणोऽणिग्येव कर्तृतायाः सद्भावात् । एवं भूषयते कन्या इत्यादिष्वपि । एतद्वृत्त्यभिप्रायेण

कृतम् । यदा तु लुनाति केदारं चैत्रः तं लुनन्तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते, लावयति केदारं चैत्रेण मैत्रः, स एवं विवक्षते नाहं लावयामि चैत्रेण, लावयते केदारः स्वयमेवेति प्रक्रिया क्रियते तदाऽनेनापि प्राप्नोति अणिक्कर्मणो णिक्कर्तृतायाः सद्भावात्, परं तदापि परत्वादेकधातावित्यनेनैव भवति, एवमन्येष्वपि । अत्र निर्वर्त्तना भूयोऽपि निर्वर्त्तना ततो निर्वर्त्तनम् । नन्वारोहयते हस्ती स्वयमेवेत्यस्यां पञ्चम्यावस्थायां प्रयोजकव्यापारेऽविवक्षित निमित्ताभाव इति न्यायात् णिगोऽप्यभावः प्राप्नोति ? नैवं, ``णिस्नुश्र्यात्मनेपद०'' (3-4-92) इति सूत्रे ण्यन्तानामेव ञिक्ययोर्निषेधात् ।

तत्कथमिति-गत्यर्थानां कर्तृनिष्ठव्यापारत्वेन कर्मस्थक्रियत्वासंभव इति पारायणं, यतो गम्यते ग्रामः स्वयमेवेति न भवति, कर्तृसमवेतत्वात् गमनक्रियायाः । आस्कन्दनक्रिया हि हस्तिपककर्तृसमवेता न हस्तिकर्मयुक्तेति कथं कर्म्मस्थक्रियता रुहेरिति पराशयः ।

न्यग्भवनोपसर्जने इति-अण्यन्तस्य न्यग्भवनं गौणत्वान्न विवक्ष्यते, ण्यन्तस्य तु गौणमपि पार्थक्येन विवक्ष्यत इति पञ्चैवावस्था न षट् ।

अन्तर्भूततृतीयायामिति–अन्तर्भूतन्यग्भवनरूपतृतीयावस्थायामित्यर्थः । *तामिति*-यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् । यस्यां किमित्याह-*कर्मकर्त्तरि* विवक्षिते । *निवृत्तप्रेषणा* निवृत्त-प्रयोजकव्यापारात् । *धातोः प्राकृतेऽर्थे* न्यग्भवनरूपे *णिजुच्यते* णिजिति मतान्तरेण, स्वमते तु णिगेव ।

प्रलम्भे गृधि-वञ्चेः ।। 3. 3. 89. ।।

गृधि-वञ्चिभ्यां णिगन्ताभ्यां प्रलम्भे–वञ्चने वर्तमानाभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं भवति । बटुं गर्धयते, बटुं वञ्चयते, विप्रतारयतीत्यर्थः । प्रलम्भ इति किम् ? श्वानं गर्धयति, प्रलोभ-यतीत्यर्थः, अहिं वञ्चयति, गमयतीत्यर्थः । णिग आत्मनेपदविधानं सर्वत्राफलवदर्थम् ।।89।।

न्या०स०–प्रलम्भे०-बटुं वञ्चयते इति-वचिणो णिजि सिद्धं णिगन्तस्य तु विध्यर्थं चौरादिकादेव णिचि णिगन्तादात्मनेपदमित्येके । णिगन्त एव चाऽयं प्रतारणे वर्त्तते स्वभावात् । *श्वानं गर्द्धयतीति*-अत्र फलवत्त्वेऽपि नात्मनेपदं, ``अणिगि प्राणि०'' (3-3-107) इति निषेधात् । *अहिं वञ्चयतीति*-अकर्म्मकत्वादिणिगि प्राणीति निषेधः, सकर्म्मकत्वे तु फलवत्यात्मनेपदं भवत्येव ।

लिङ्-लिनोऽर्चाऽभिभवे चाच्चाऽकर्तर्यपि ।। 3. 3. 90. ।।

लीयति-लिनातिभ्यां णिगन्ताभ्यामर्चाऽभिभवयोः प्रलम्भे चार्थे वर्तमानाभ्यां कर्तर्या- त्मनेपदं भवति, अनयोश्चान्तस्याकर्तर्यप्याकारो भवति । जटाभिरालापयते, परैरात्मानं पूजयतीत्यर्थः,

श्येनो वर्तिकामपलापयते, अभिभवतीत्यर्थः; कस्त्वामुल्लापयते ? वञ्चयते इत्यर्थः । एष्विति किम् ? बालकमुल्लापयति, उत्क्षिपतीत्यर्थः । कथं तर्ह्यत्रात्त्वम् ? ``लीङ्लिनोर्वा'' (4. 2. 9.) इति भविष्यति । अकर्तर्यपीति किम् ? जटाभिरालाप्यते जटिलेन । ङिच्छ्नानिर्देशो यौजादिकनिवृत्त्यर्थः ॥90॥

न्या०स०—लीङ्लि०-अर्च्चा मुख्य एव धातोरर्थः, अत एव उदाहरणे पर्यायो णिगन्तः कथितो यथा पूजयति, अर्च्चयतीत्यर्थः, अभिभवप्रलम्भौ तु णिगन्त एव धातौ वर्त्तेतेऽतोऽणिगन्तौ पर्यायावूचाते । यदि तु मुख्यौ स्यातां धातोस्तदानीं तौ प्रयोजकव्यापारेण व्याख्येयाताम् ।

स्मिङः प्रयोक्तुः स्वार्थे ॥ 3. 3. 91. ॥

प्रयोक्तुः सकाशाद् यः स्वार्थः स्मयस्तत्र वर्तमानाण्णिगन्तात् स्मयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अस्य चान्तस्याकारोऽकर्तर्यपि भवति । जटिलो विस्मापयते । प्रयोक्तुः स्वार्थे इति किम् ? करणात् स्वार्थे मा भूत्, रूपेण विस्माययति । अकर्तर्यपीत्येव ? विस्मापनम् । ङिन्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति-सेष्माययति ॥91॥

बिभेतेर्भीष् च ॥ 3. 3. 92. ॥

प्रयोक्तुः सकाशात् स्वार्थे वर्तमानाण्ण्यन्ताद् बिभेतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अस्य च भीषादेशः, पक्षेऽन्तस्याकारश्चाकर्तर्यपि भवति । मुण्डो भीषयते, मुण्डो भापयते । प्रयोक्तुः स्वार्थे इत्येव ? कुञ्चिकया भाययति । अकर्तर्यपीत्येव ? भीषा, भापनम् । तिव्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति-मुण्डो बेभाययति ॥92॥

मिथ्याकृगोऽभ्यासे ॥ 3. 3. 93. ॥

मिथ्याशब्दयुक्तो यः कृग तस्माण्णिगन्तादभ्यासेऽर्थे वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अभ्यासः पुनः पुनः क्रियाभ्यावृत्तिः । पदं मिथ्याकारयते, स्वरादिदोषदुष्टमसकृदुच्चारयति-पाठयतीत्यर्थः । आत्मनेपदेनैव क्रियाभ्यावृत्तेर्द्योतितत्वात् आभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनं न भवतीति केचित् । मिथ्येति किम् ? पदं साधु कारयति । कृग इति किम् ? पदं मिथ्या वाचयति । अभ्यास इति किम् ? सकृत् पदं मिथ्या कारयति ॥93॥

न्या०स०–मिथ्या०-मिथ्यायुक्तः कृग् मयूरादित्वात् युक्तशब्दलोपः, यद् वा मिथ्या-शब्दात्, सहार्थे तृतीयैकवचने ``लुगात०'' (2-1-107) इत्याल्लोपः ``अव्यय०'' (3-2-7) इति टालोपो वा, तदा तु युक्तार्थस्तृतीययैव कथ्यते ।

पदं मिथ्या कारयते इति-मिथ्येति पद-समानाधिकरणं विशेषणं मिथ्याभूतं पदं करोति, उच्चरति कश्चित्तमऽन्यः प्रयुङ्क्ते णिग् ``अव्यय०'' (3-2-7) इत्यमो लुप् न भवति ।

केचिदिति-स्वमते तु द्विर्वचनं भवत्येव शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, केवलेनात्मनेपदेनाभ्यासो वक्तुं न शक्यते, यथा भोजं भोजं व्रजतीत्यादावाभीक्ष्णये आगतोऽपि ख्णं ? द्विर्वचनमाकाङ्क्षति इति, पदं मिथ्या कारयत इति प्रयोगो ज्ञेयः, वृत्तौ त्वेकदेशेनोदाहारि । *केचिदिति*-न्यासकारादयः, तदपरे न मृष्यन्ति, यत एवमभ्युपगम्यमानेऽभ्यासे द्योतकस्यात्मनेपदस्याभावे पदं साधु कारयतीत्यादिप्रत्युदाहरणेषु कस्मान्न भवति ? न चाभ्यासो नास्तीति वाच्यं, ह्यङ्गवैकल्यप्रस-ङ्गात् तस्माद्यदेकदेशेनेत्याद्युक्तं स एव पक्षो न्यायः ।

परिमुहा-ऽऽयमा-ऽऽयस-पा-ट्धे-वद-वस-दमा-ऽऽद-रुच-नृतः फलवति ॥ 3. 3. 94. ॥

फलवतीति भूम्न्यतिशायने वा मतुः, तेन यत् क्रियायाः प्रधानं फलमोदनादि यदर्थ-मियमारभ्यते तद्वति कर्तरि विवक्षिते, परिपूर्वान्मुहेराङ्पूर्वाभ्यां यमियसिभ्यां-पिबति-ट्ध-वद वसति-दमा-ऽऽद-रुच-नृतिभ्यश्च णिगन्तेभ्यः कर्तर्यात्मनेपदं भवति परिमोहयते चैत्रम्, आयामयते सर्पम्, आयासयते मैत्रम्, पाययते बटुम्, धापयते शिशुम्, बादयते शिशुम्, वासयते पान्थम्, दमयतेऽश्वम्, आदयते चैत्रेण । अदेनच्छन्त्यन्ये-आदयति चैत्रेण, रोचयते मैत्रम्, नर्तयते नटम् । पिबत्यत्तिट्धेधातूनामाहारार्थत्वादौदासीन्यनिवृत्त्यर्थतायामकर्मकत्वाच्च नृतेश्चलनार्थत्वाच्च शेषाणां स्वरूपतो विवक्षातो वाऽकर्मकत्वादुत्तराभ्यां परस्मैपदे प्राप्ते वचनम् । 'पा' इति 'ट्धे' साहचर्यात् पिबतेर्ग्रहणम्, न पातेः; वदसाहचर्याच्च 'वस' इति वसतेर्न वस्तेरिति-पाति चैत्रो नोदास्ते, पालयति चैत्रम्; वस्ते मैत्रो न नग्नः, वासयति मैत्रमित्येव भवति ॥94॥

न्या०स०–परिमुहा०-आयामयते सर्पमिति-कश्चिद्यमः परिवेषण इति पठति, तन्मताभिप्रायेण न ह्रस्वः, स्वमते तु भवत्येव ।

उत्तराभ्यां परस्मैपदे इति-पिबति-अत्ति-ट्धे-धातूनामाहारार्थत्वान्नृतेश्चलनार्थत्वात् ``चल्याहारार्थ'' (3-3-108) इत्यनेन नृतवर्जितानामऽमीषामकर्मकत्वे तु ``अणिगि प्राणि'' (3-3-107) इत्यनेनेत्यर्थः, स्वरूपतो वसः अन्येषामविवक्षातश्चाकर्मकत्वे अनेनैव प्राप्ते ।

ईगितः ॥ 3. 3. 95. ॥

ईकारेतो गकारेतश्च धातोः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । यजीं-यजते, डुपचींष्-पचते, लक्षीण्-लक्षयते; डुकृंग्-कुरुते, टुडुभृंग्क्-बिभृते, कण्डूग्-कण्डूयते, णिगन्त गमयते । ईगित इति किम् ? गच्छति, चोरयति । फलवतीत्येव ? यजन्ति याजकाः, पचन्ति पाचकाः, कुर्वन्ति कर्मकराः, गमयत्यश्वं दमकः, नात्र स्वर्गौदनादि प्रधानं फलं कर्त्रा संबध्यते, यच्च दक्षिणावेतनादि संबध्यते, न तत् क्रियायाः फलं प्रधानमिति ।

तच्चैतत् स्वार्थलक्षणं फलं सदसद् वा विवक्षानिबन्धनमेव ग्राह्यं, तथैव लोके व्यवहारात् । तथाहि-क्वचिदसदपि सद्विवक्ष्यते, यथा-शोषयते व्रीहीनातपः, शब्दः प्राक् स्वार्थमभिधत्ते ततो ब्रव्यम्, परकर्मण्यपि प्रवृत्ताः केचिदाहुः यजामहे, इमे पचामहे, यत्नादस्मदीयमेवैतदिति । क्वचित् सदप्यसद् विवक्ष्यते, यथा-इमे ब्रूमः, अवचनप्रतिषेधपरत्वेन प्रवृत्तेर्विवक्षितत्वात्, एवम्-अगमकत्वादिति ब्रूमो न ब्रूमोऽपशब्दः स्यादिति । तदाहुः—

``क्रियाप्रवृत्तावाख्याता, कैश्चित् स्वार्थपरार्थता ।
असती वा सतो वापि विवक्षितनिबन्धना ॥'' इति ।

केचित् तु णिग्वर्जितादीगितो धातोर्णिगर्थे एव प्रेरणाध्येषणविशेषे प्रतिविधाननाम्नि वर्तमानादात्मनेपदमिच्छन्ति—पचते, पाचयतीत्यर्थः; केशश्मश्रु वपते, वापयतीत्यर्थः, वेदो वैधर्म्यं विधत्ते, विधायपतीत्यर्थः, इत्यादि यदाहुः—

``क्रीणीष्व वपते धत्ते, मिनुते चिनुतेऽपि च ।
आप्तप्रयोगा दृश्यन्ते, येषु ण्यर्थोऽभिधीयते ॥'' इति ।

एतच्च श्रोत्रियमतमित्युपेक्ष्यते ॥ 95 ॥

न्या०स०—ईगितः- *गमयत इति*-गतिः पादविहरणं, चलनं तु स्थितस्यैव पदार्थस्येति ``चल्याहारार्थ'' (3-3-108) इति न परस्मैपदमत्र । *स्वार्थलक्षणमिति*-अर्थ्यत इत्यर्थोऽर्थनीयः स्वस्यार्थः स्वर्गादिः स लक्षणं यस्य ।

शब्द प्राक् स्वार्थमिति-यथा गोशब्दः स्वार्थं सामान्यं गोत्वं प्राक् ततो गोलक्षणं द्रव्यम् । पूर्वाचार्यसंस्कृतेन द्रढयति *यथात्र* शब्दस्य फलवत्त्वमसदपि विवक्षितम् । *अगमकत्वादिति*-यथा ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इत्यत्र समासो न भवतीति अगमकत्वात् ब्रूमः विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वात् न ब्रूमोऽपशब्दः स्यात् लक्षणादिदोषदुष्ट इति न ब्रूमः ।

स्वार्थपरार्थतेति-फलवत्ताफलवत्तेत्यर्थः, स्वस्मै इयं, परस्मै इयं क्रियाप्रवृत्तिः कर्म-धारयात् स्वार्थपरार्थतो, भावे तल् । मतान्तरेण पुंवद्भावः, स्वमते तु ``त्वते गुणः'' (3-2-59) इति गुणवचनस्य भवति । *प्रतिविधाननाम्नीति*-पूर्वेषां प्रयोजकव्यापारस्य प्रतिविधान इति संज्ञा, ततो विधानमर्थात्प्रयोज्यव्यापारं प्रतिगतं प्रतिविधानं तन्नाम यस्य णिगर्थस्य तस्मिन् ।

ज्ञोऽनुपसर्गात् ॥ 3. 3. 96. ॥

अविद्यमानोपसर्गाज्जानातेः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । गां जानीते, अश्वं जानीते । अनुपसर्गादिति किम् ? स्वर्गं प्रजानाति । फलवतीत्येव ? परस्य गां जानाति । अकर्मकात् पूर्वेण सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम् ॥96॥

न्या०स०–ज्ञोऽनुप०–पूर्वेणेति-ज्ञ इत्यनेनेत्यर्थः ।

वदोऽपात् ॥ 3. 3. 97. ॥

अपपूर्वाद् वदतेः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । एकान्तमपवदते । अपादिति किम् ? वदति । फलवतीत्येव ? अपवदति परं स्वभावतः ॥97॥

समुदाङो यमेरग्रन्थे ॥ 3. 3. 98. ॥

समुदाङ्भ्यः पराद् यमेरग्रन्थविषये प्रयोगे फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संयच्छते व्रीहीन्, उद्यच्छते भारम्, आयच्छते वस्त्रम् । समुदाङ इति किम् ? नियच्छति वाचम् । अग्रन्थ इति किम् ? वैद्यश्चिकित्सामुद्यच्छति, चिकित्साग्रन्थे उद्यमं करोतीत्यर्थः । फलवतीत्येव ? संयच्छति उद्यच्छति, आयच्छति परस्य वस्त्रम् । आङ्पूर्वादकर्मकात् स्वाङ्गकर्मकाच्च ``आङो यम-हनः०'' (3. 3. 86.) इति सिद्धेऽन्यकर्मकार्थं वचनम् ॥98॥

न्या०स०–समुदाङो-चिकित्साग्रन्थ इति चिकित्साहेतुत्वात् ग्रन्थोऽपि चिकित्सा चिकित्स्यतेऽस्या इति वा ``शसि प्रत्ययात्'' (5-3-105) तदा बाहुलकात् स्त्रीत्वं सा चासौ ग्रन्थश्च ।

पदान्तरगम्ये वा ॥ 3. 3. 99. ॥

अनन्तरसूत्रपञ्चकेन यदात्मनेपदमुक्तं तत् पदान्तराद् गम्ये फलवति कर्तरि वा भवति । स्वं शत्रुं परिमोहयते परिमोहयति वा, स्वं यज्ञं यजते यजति वा, स्वं कटं कुरुते करोति वा,

स्वमश्वं गमयते गमयति वा, स्वं शिरः कण्डूयते कण्डूयति वा, स्वां गां जानीते जानाति वा, स्वं शत्रुमपवदते अपवदति वा, स्वान् व्रीहीन् संयच्छते संयच्छति वा ।।99।।

शेषात् परस्मै ।। 3. 3. 100. ।।

पूर्वप्रकरणेनात्मनेपदनियमः कृतः, परस्मैपदं तु अनियतमिति नियमार्थमिदम्, उपयुक्तादन्यः शेषः । येभ्यो धातुभ्यो येन विशेषेणात्मनेपदमुक्तं ततोऽन्यस्मादेव धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति । अनुबन्धोपसर्गार्थोपपदप्रत्ययभेदाच्चानेकधा शेषः । अनुबन्धशेषात्-भवति, अत्ति, बोभवीति, दीव्यति, गोपायति, पणायति, पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति, अश्वति, मन्तूयति । उपसर्गशेषात्–प्रविशति, अधितिष्ठति, आगच्छति, विपश्यति । अर्थ-शेषात्-करोति, नयति, वदति । उपपदशेषात्-गृहे संचरति, साधुभ्यः संप्रयच्छति, साधु पदं कारयति । प्रत्ययशेषात्-शत्स्यति, मुमूर्षति ।।100।।

परानोः कृगः ।। 3. 3. 101. ।।

परानुभ्यां परात्करोतेः कर्तरि परस्मैपदं भवति । पराकरोति, अनुकरोति । गङ्गामनु कुरुत तप इति नात्र करोतिरनुना संबध्यते । गन्धनादावर्थे गित्त्वात्फलवति च प्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् ।।101।।

प्रत्यभ्यतेः क्षिपः ।। 3. 3. 102. ।।

प्रत्यभ्यतिभ्यः परात् क्षिपेः कर्तरि परस्मैपदं भवति । प्रतिक्षिपति, अभिक्षिपति, अतिक्षिपति बटुम् । प्रति क्षिपते भिक्षामिति नायं क्षिपिः प्रतिना संबध्यते । ईदित्त्वात्फलवतिप्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम्, एवमुत्तरसूत्रद्वयमपि ।।102।।

न्या०स०–प्रत्यभ्यतेः-ईदित्त्वादिति इह क्षिपिस्तौदादिक ईदित् ग्रह्यते न तु दैवादिकः, परस्मैपदी तस्यानुबन्धशेषेण ``शेषात्'' (3-3-100) इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । न च वाच्यमस्यापि नियमार्थं कस्मान्न भवति, विधिनियमसंभवे विधेरेव ज्यायस्त्वात् ।

प्राद्वहः ।। 3. 3. 103. ।।

प्रपूर्वाद्वहतेः कर्तरि परस्मैपदं भवति । प्रवहति ।।103।।

परेर्मृषश्च ।। 3. 3. 104. ।।

परिपूर्वान्मृषेर्वहेश्च कर्तरि परस्मैपदं भवति । परिमृष्यति, परिवहति । मैत्रं परिमृष्यते, धनं परिवहते इत्यत्र न परिर्मृषिवहिभ्यां संबध्यते । वहेर्नेच्छन्त्यन्ये ।।104।।

व्याङ्परे रमः ।। 3. 3. 105. ।।

व्याङ्परिभ्यः परात्द्रमे कर्तरि परस्मैपदं भवति । विरमति, आरमति, परिरमति । इदित्त्वादात्मनेपदस्यापवादः ।।105।।

वोपात् ।। 3. 3. 106. ।।

उपपूर्वाद्रमेः कर्तरि परस्मैपदं भवति वा । भार्यामुपरमति उपरमते वा । उपसंप्राप्तिपूर्विकायां रतौ वर्तमानोऽन्तर्भूतणिगर्थो वा रमिः सकर्मकः । उपरमति उपरमते वा संताप । उपरमति उपरमते वावद्यात् । उपाद्रमेः सकर्मकात्परस्मैपदमेवेत्येके । आत्मनेपदमेवेत्यन्ये ।।106।।

न्या०स०—वोपात्ः—उपरमते वा संताप इति-निवृत्त्यर्थः पुररुपपूर्वोऽप्यकर्मक इति दर्शयति ।

अणिगि प्राणिकर्तृ कानाप्याण्णिगः ।। 3. 3. 107. ।।

अणिगवस्थायां यः प्राणिकर्तृकोऽकर्मकश्च धातुस्तस्माण्णिगन्तात्कर्तरि परस्मैपदं भवति । आस्ते चैत्र आसयति चैत्रम्, शेते मैत्रः, शाययति मैत्रम् । अणिगीति किम् । स्वयमेवारोहयमाणं हस्तिनं प्रयुङ्क्ते आरोहयते । अणिगिति गकारः किम् ? णिजवस्थायां प्राणिकर्तृकानाप्यात् णिगन्ताद्यथा स्यात् । चेतयमानं प्रयुङ्क्ते चेतयतीति । प्राणिकर्तृकेति किम् ? शुष्यन्ति व्रीहयः, शोषयते व्रीहीनातपः । ``प्राण्यौषधिवृक्षेभ्यः'' (6-2-31) इति पृथग्निर्देशादिहलोके प्रतीता एव प्राणिनो गृह्यन्ते । अनाप्यादिति किम् ? कटं कुर्वाणं प्रयुङ्क्ते कटं कारयते । णिग इति किम् ? आस्ते, शेते । गकारः किम् ? अणिगवस्थायां प्राणिकर्तृकानाप्याण्णिजन्तान्माभूत् । चेतयते, ``ईङ्गितः'' (3-3-95) इत्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् ।।107।।

न्या०स०—अणिगि०ः—आरोह्यत इति-आरोहते हस्तिना हस्तिपक इति सकलप्रयोगः । अत्र चावस्थापञ्चकं पूर्ववत् विधाय षष्ठ्यामवस्थायां स्वयमेवारोह्यमाणं हस्तिनं प्रयुङ्क्ते, इत्यस्यां परस्मैपदं प्राप्तं तदणिगीति व्यावृत्त्या निषिध्यते ।

ननु द्वितीयस्यामवस्थायामारुह्यते हस्ती स्वयमेवेत्यस्यामणिगन्तायं धातुः प्राणिकर्तृ कोऽनाप्यश्चास्ति तत्कथं न भवति परस्मैपदम् ? सत्यं, तदपेक्षया चतुर्थ्यामुत्पन्नमेवा- रोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपका इति, प्रस्तुते त्वारोहते हस्ती स्वयमेवेत्यस्याः पञ्चम्या अवस्थाया अनन्तरं स्वयमेवारोह्यमाणं हस्तिनं प्रयुङ्क्ते इत्यस्यां षष्ठ्यामवस्थायां णिगि प्राप्तमनेन निषिध्यते, तदा हि णिगवस्थायामनाप्यो धातुर्नाणिगवस्थायाम् पञ्चम्यामवस्थायामयं धातुर्नित्याकर्म्मकोऽतो नित्याकर्म्मकद्वारेण णिगन्तस्य धातोः षष्ठ्यामवस्थायां ''वाकर्मणाम्'' (2-2-4) इत्यनेन हस्तिनः कर्मत्वं प्राप्तमणिक्कर्त्तेत्यंशेन निषिध्यते ।

चल्याहारार्थेङ्-बुध-युध-प्रु-दु-स्रु-नश-जनः ।। 3. 3. 108. ।।

चलिरर्थः कम्पनम्, तदर्थेभ्य आहारार्थेभ्य इङादिभ्यश्च णिगन्तेभ्यः कर्तरि परस्मैपदं भवति । चल्यर्थः– चलयति, कम्पयति चोपयति शाखाम् । आहारार्थ–निगारयति, भोजयति, आशयति चैत्रमन्नम् । पय उपयोजयते चैत्रेणेति युजेरनाहारार्थत्वात् न भवति । इङ्- सूत्रमध्यापयति शिष्यम् । बुध-बोधयति पद्मं रविः, बोधयति धर्मं शिष्यम् । युध्–योधयपति काष्ठानि । प्रु-प्रावयति राज्यं प्रापयतीत्यर्थः । द्रु-द्रावयत्ययः, विलाययतीत्यर्थः । स्रु-स्रावयति तैलम्, स्पन्दयतीत्यर्थः । नश् नाशयति पापम् । जन्-जनयति पुण्यम् । प्रुस्रु द्रूणामचलनार्थार्थं शेषाणां सकर्मकार्थमप्राणिकर्तृकार्थं च वचनम् ।।108।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।।

श्रीदुर्लभेशद्युमणेः पादास्तुष्टुविरे न कैः ।
लुलद्भिर्मेदिनी,–पालैर्वालिखिल्यैरिवाग्रतः ।।

न्या०स०–चल्याहार०-चलिरर्थ इति-चलिलक्षणोऽर्थः, कः कम्पनमनयापि युक्त्या यातीति षष्ठ्या न व्याख्येयम् ।

कम्पयतीति-कथं शिरः कम्पयते युवेत्यत्रात्मनेपदम् ? सत्यं, णिग्द्वयमत्र । कथं कम्पमानं शिर आत्मा प्रयुङ्क्ते, तं युवा प्रयुङ्क्ते ततो नात्र कम्पनं, किं तर्हि कम्पना चलिरर्थः कम्पनमिति चोक्तम् । ननु वृधिभ्वादिषु द्विः पठ्यते एको गित् अपरश्च परस्मै- पदी, द्वैवादिकोऽप्यात्मनेपदी तत् कस्य ग्रहणम् ? उच्यते, नात्र निरनुबन्धग्रहणपरिभाषो- पतिष्ठतेऽनेन बुधेर्ण्यन्तस्य परस्मैपदविधानसामर्थ्यात् । यदि हि भौवादिकस्य बुधेः परस्मै- पदिन एव निरनुबन्धत्वाद्ग्रहणं स्यान्नाऽन्यस्य ततश्च बोधयति, बोधयते इति नित्यमेव धातुभेदेन

रूपद्धयमविचलं स्यात्तदनेन बुधग्रहणेन किं कृतं स्यात् ? अर्थस्वरूपयोरभेदात् इह बुधिग्रहणं बोधयत इति प्रयोगो माभूदेवमर्थं कृतं तस्माद्बुधग्रहणसामर्थ्यादविशेषेणेह बुध अवगमने 'बुधृग् बोधने' 'बुधिंच् ज्ञाने' इति बुधीनां ग्रहणं तेन बोधयतीति नित्यमेव भवति ।

प्रद्रुस्त्रूणामिति-प्राप्ति विलयादिभ्यो हि चलनस्यान्यत्वात् तथाहि चलनं काय- व्यापारविशेषः, प्राप्तेः कारणं स्यन्दनविलयावपि प्राप्तिविशेषौ ।

इत्याचार्य०

वालिरिव खिल्यन्ते ''शिक्यास्य'' 364 (उणादि) इति निपात्यते । ईश्वरविवाहे होमादिक्रियां कुर्वतो ब्रह्मणः कक्षाबन्धाद्गौरीरूपदर्शनक्षुभितस्य वीर्यमपप्तत् तच्च व्रीडया तेनोत्पुंसितुमारब्धं, तस्माच्चाऽमोघत्वेनाब्रह्मण्यममिति ब्रुवाणा अष्टाशीतिसहस्त्रसंख्या ऋषय उदतिष्ठन्, ते च चतुर्मुखचरणाक्रान्तत्वेनाङ्गुष्ठप्रमाणा अभवन्नित्यागमः ।

चतुर्थः पादः

गुपौ-धूप-विच्छि-पणि-पनेरायः ।। 3. 4. 1. ।।

गुपादिभ्यो धातुभ्यः पर आयप्रत्ययो भवति स चानिर्दिष्टार्थत्वात् स्वार्थे । गोपायति, धूपायति, विच्छायति, पणायति, व्यवहरति, स्तौति चेत्यर्थः । न चोपलेभे वणिजां पणायाः, पनायति, व्यवहारार्थात् पणेर्नेच्छन्त्यन्ते, शतस्य पणते । अनुबन्धस्याशवि आयप्रत्ययाभावपक्षे चरितार्थत्वादायप्रत्ययान्ताभ्यां पणिपनिभ्यामात्मनेपदं न भवति । गुपावित्यौकारो गुपि गोपने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च ।।1।।

न्या०स०–गुपौधूप०-आयस्यादन्तत्वे अजुगोपायादित्यादि सिद्धमन्यथाऽदन्तत्वाभावे ``उपान्त्यस्य'' (4-2-35) इति ह्रस्वत्वे अजुगोपयदित्यनिष्टं स्यात् । *विच्छायतीति*-ननु विच्छेस्तौदादिकत्वेन, शविषयत्वात् शव्विषयाभावाद् विकल्पः प्राप्नोति ? नैवं, शवोपवादत्वात् शप्रत्ययस्यापि शव्शब्देनाभिधानादऽदोषः एवं चाशवीत्यनेनाशितीत्यर्थ सिद्धो भवति, अशितीत्येव वा पठनीयं धातुपारायणकृता तु मेने विच्छायति, विच्छतीति । शतरि ``अवर्णादश्नो०'' (2-1-115) इति वा अन्तादेशे विच्छती, विच्छन्ती स्त्री कुले वा । द्रमिलास्तु शे नित्यमायं तुदादिपाठबलाच्चायव्यवायेऽपि पक्षेऽन्ताभावमिच्छन्ति विच्छायन्ती, विच्छायती; यथा जुगुप्सते इति सना व्यवधानेऽपि आत्मनेपदम् ।

पणेर्नेच्छन्त्यन्ये इति-जयादित्यप्रभृतयः, पनि स्तुत्यर्थस्तत्साहचर्यात्पणेरपि स्तुत्यर्थादाय इति व्याख्यानयन्ति ।

गुपि गोपन इत्यस्य निवृत्त्यर्थ इति–'गुपण् भासार्थः', 'गुपच् व्याकुलत्वे इत्यनयोस्तु धूपसाहचर्यान्निरासः । ननु धूपश्चुरादिरप्यस्ति ? सत्यं, अणिजन्तविच्छसाहचर्यात् भौवादिकस्यैव धूपस्य ग्रहणम् । ननु विच्छिरपि भासार्थश्चुरादिस्तत्कथं तेन साहचर्यम् ? सत्यं, तस्याऽणिजन्ताभ्यां पणिपनिभ्यां साहचर्यान्निरासः ।

यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्चेति-ननु यङ्प्रत्ययस्य प्राप्तिरेव नास्ति, आयप्रत्ययेऽनेकस्वरत्वात् तत्कथं यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्चेत्युक्तम् ? सत्यं, अशव्विषये विकल्पितस्यायस्य प्रथमं यङि प्रकृतिग्रहणेति न्यायात्प्राप्तिः ।

कमेर्णिङ् ।। 3. 4. 2. ।।

कमेर्धातोः स्वार्थे णिङ् प्रत्ययो भवति । कामयते, णकारो वृद्ध्यर्थः । ङकार आत्मनेपदार्थः ॥2॥

न्या०स०—कमेर्णिङ्०-णकारो वृद्ध्यर्थ इति-यद्येवं ``अमोऽकम्यऽमिचमः'' (4-2-26) इत्यत्र कमेः प्रतिषेधो व्यर्थस्तेन ह्यस्य ह्रस्वत्वं निषिध्यते, ह्रस्वत्वस्य च णित्करणसामर्थ्यात् याऽसौ वृद्धिः प्रवर्त्तते तयैव बाधः संपन्न इति किमर्थः प्रतिषेध इति शेषः ? सत्यं, णिङऽभावपक्षे यदा णिनुत्पद्यते तदा ह्रस्वत्वं मा प्रापत्, वृद्धिरेव श्रूयतामित्येवमर्थः प्रतिषेधः । ``णेरनिटि'' (4-3-83) इति च सामान्यग्रहणार्थो णकारोऽर्थवान् इति प्रतिषेधाभावे ह्रस्वः स्यादिति ।

ङकार आत्मनेपदार्थ इति-धात्वनुबन्धस्य अशवि चरितार्थत्वात्तदन्तस्य न प्राप्नोति ।

ऋतेर्ङीयः ॥ 3. 4. 3. ॥

ऋत घृणागतिस्पर्धेषु इत्यस्माद्धातोः स्वार्थे ङीयः प्रत्ययो भवति । ऋतीयते, ङकार आत्मनेपदाद्यर्थः ॥3॥

न्या०स०—ऋतेर्ङीयः—आर्त्तितीयदित्यत्र फलमदन्तताया ङीयस्य अन्यथा आर्त्तितियदिति स्यात् । *आत्मनेपदाद्यर्थ इति*-आदिपदात् गुणाभावः ।

अशवि ते वा ॥ 3. 4. 4. ॥

गुपादिभ्योऽशवि विषये ते आयादयो वा भवन्ति । गोपायिता, गोप्ता, धूपायिता, धूपिता, विच्छायिता, विच्छिता, पणायिता, पणिता, पनायिता, पनिता, कामयिता, कमिता, ऋतीयिता, अर्तिता ॥4॥

गुप्-तिजो गर्हा-क्षान्तौ सन् ॥ 3. 4. 5. ॥

गुप्तिज् इत्येताभ्यां यथासंख्यं गर्हायां क्षान्तौ च वर्तमानाभ्यां स्वार्थे सन् प्रत्ययो भवति । जुगुप्सते-गर्हते इत्यर्थः, तितिक्षते-सहते इत्यर्थः । गर्हाक्षान्ताविति किम् ? गोपनम्, गोपयति, तेजनम्, तेजयति । अनयोरर्थान्तरेऽपि त्यादयो नाभिधीयन्त इत्यत्यादिना प्रत्युदाहृतम्, एवमुत्तरसूत्रद्वयेऽपि प्रायेण ज्ञेयम् । अकारः सन्ग्रहणेषु सामान्यग्रहणार्थः, नकारः सन्यङश्चेत्यत्र विशेषणार्थः ॥5॥

न्या०स०–गुपतिजो०-त्यादय इति-त्यादिसमानार्थत्वाच्छत्रानशावपि । केचिच्छत्रानशाविच्छन्ति, तेन गोपमानं, तेजमानं, केतन्तं प्रयुङ्क्ते, इत्यपि भवति । प्रायेणेति भणनात् गोपते, तेजते, केतति, बधते इत्याद्यपि, अत एव रसवाचकतिक्तशब्दसाधनाय तेजते इति वाक्यं कृतं क्षीरस्वामिना । ``पुतपित्तः'' 204 (उणादि) इति साधुः ।

अकारः सन्ग्रहणेष्विति–अन्यथेच्छासन एव ग्रहणं स्यात् ।

कितः संशय-प्रतीकारे ॥ 3. 4. 6. ॥

कितो धातोः संशये प्रतीकारे च वर्तमानात् स्वार्थे सन् प्रत्ययो भवति । विचिकित्सति-संशेते इत्यर्थः, व्याधिं चिकित्सति-प्रतिकरोतीत्यर्थः । निग्रहविनाशौ प्रतीकारस्यैव भेदौ तेनात्रापि भवति,–क्षेत्रे चिकित्स्यः पारदारिकः,– निग्राह्य इत्यर्थः, चिकित्स्यानि क्षेत्रे तृणानि विनाशयितव्यानि इत्यर्थः । संशयप्रतीकार इति किम् ? केतनम्, केतयति ॥6॥

न्या०स०–कितः संशय०ः– अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः । प्रतीकारौ दुःखहेतोर्निराकरणम् । *निग्रहविनाशाविति*-अन्यैर्निग्रहविनाशयोरपि सन्नभिहितः तत्स्वमते कथमित्याशङ्का ।

शान्-दान्-मान्-बधान्निशानाऽऽर्जव-विचार-वैरूप्ये दीर्घश्चेतः ॥ 3. 4. 7. ॥

शान्-दान्-मान्-बध् इत्येतेभ्यो यथासंख्यं निशाने, आर्जवे, विचारे, वैरूप्ये च वर्तमानेभ्यः स्वार्थे सन् प्रत्ययो भवति, दीर्घश्चैषां द्विर्वचने सति पूर्वस्येकारस्य । शीशांसते, शीशांसति, दीदांसति, दीदांसते, मीमांसते, बीभत्सते । अर्थनिर्देशः किम् ? अर्थान्तरे माभूत्निशानम् अवदानम्, अच्,–अवमानयति, बाधयति ॥7॥

न्या०स०–शान्ः-निन्दितरूपो विरूपः, तस्य भावो वैरूप्यम् । नन्वत्रा इद्ग्रहणं किमर्थं, दीर्घ इति सामान्योक्तावपि सनि इत एव संभवः ? सत्यं, अत्रेदिति ग्रहणाभावे सनि प्रथममेवाकारस्य दीर्घः स्यात्, शान्दानोः साहचर्यात् मानिर्भ्वादिर्गृह्यते न तु चुरादिः ।

निश्यतीत्यचि निशानं, अवद्यतीत्यचि अवदानं, 'शोंच तक्षणे', 'दोंच् छेदने' अनयोऽनडन्तयोरिदं रूपद्वयमिति कश्चिदाशङ् केत तद्व्युदासार्थमाह–*अजिति ।*

धातोः कण्ड्वादेर्यक् ॥ 3. 4. 8. ॥

द्विविधाः कण्ड्वादयः धातवो नामानि च, कण्ड्वादिभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे यक्प्रत्ययो भवति। कण्डूयति, कण्डूयते, महीयते, मन्तूयति। धातोरिति किम् ? कण्डूः, कण्ड्वौ, कण्ड्वः। यकः कित्त्वाद्धातोरेवायं विधिः। धातुग्रहणम् उत्तरार्थमिह सुखार्थं च। कण्डूग्, गकारः फलवति ``ईगितः'' (3. 3. 95.) इत्यात्मनेपदार्थः। महीङ्, हृणीङ्, वेङ्, लाङ् `ङकार आत्मनेपदार्थः। मन्तु, वल्गु, असु, वेट्, लाट्। वेट्लाट् इत्यन्ये। लिट्, लोट्, उरस्, उषस्, इरस्, तिरस्, इयस्, इमस्, अस्, पयस्, संभूयस्, दुवस्, दुरज्, भिषज्, भिष्णुक्, रेखा, लेखा, एला, वेला, केला, खेला, खल इत्यन्ये। गोधा, मेधा, मगध, इरध, इषुध, कुषुम्भ, सुख, दुःख, अगद, गद्गद, गद्गदङित्येके। तरण, वरण, उरण, तुरण, पुरण, भुरण, वुरण, भरण, तपुस, तम्पस, अरर, सपर, समर इति कण्ड्वादिः ॥8॥

न्या०स०—धातोः कण्ड्वा०-कण्ड्व इति यदा कण्डूमिच्छन्ति क्यनि क्विपि तल्लोपे जसि ``संयोगात्'' (2-1-52) इत्युवादेशे कण्डुव इति भवति। *यकः कित्त्वेति*-कितः फलं ``नामिनो गुणः'' (4-3-1) इत्येवमादीनि तानि च धातोरेव गौणमुख्ययोरिति न्यायात् मुख्यो धातुरेव। नामापि धातोः सकाशाद् भवति। उक्तं च-नाम च धातुजमाह। *उत्तरार्थमिति*-यदा तु ``दीर्घश्च्वियङ्'' (4-3-108) इत्यादि कित्त्वफलं तदा धातुग्रहणमत्रापि सार्थम्।

व्यञ्जनादेरेकस्वराद् भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये यङ् वा ॥ 3. 4. 9. ॥

गुणक्रियाणामधिश्रयणादीनां क्रियान्तराव्यवहितानां साकल्येन संपत्तिः फलातिरेको वा भृशत्वम्, प्रधानक्रियाया विक्लेदादेः क्रियान्तराव्यवधानेनावृत्तिराभीक्ष्ण्यम्, तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्धातोर्व्यञ्जनादेरेकस्वराद्यङ्प्रत्ययो वा भवति। भृशं पुनःपुनर्वा पचति पापच्यते, जाज्वल्यते, अथाभीक्ष्ण्ययङन्तस्याभीक्ष्ण्ये द्वित्वं कस्मान्न भवति ? उक्तार्थत्वात्, यदा तु भृशार्थयङन्तादा-भीक्ष्ण्यविवक्षा-तदा भवत्येव। पापच्यते-पापच्यते इति, तथा भृशार्थयङन्तादाभीक्ष्ण्ये आभीक्ष्ण्ययङन्ताद्वा भृशार्थे विवक्षिते यदा पञ्चमी केवला, तदा सा केवला तदर्थद्योतनेऽसमर्थेति तदर्थद्योतने द्विर्वचनमपेक्षते। पापच्यस्व पापच्यस्वेति धातोरित्येव ? तेन सोपसर्गान्न भवति। भृशं प्राप्ति। व्यञ्जनादेरिति किम् ? भृशमीक्षते। एकस्वरादिति किम् ? भृशं चकास्ति। केचिज्जागर्तरिच्छन्ति-जाजाग्रीयते। सर्वस्माद्धातोरायादिप्रत्ययरहितात्केचिदिच्छन्ति-अवाव्यते, दादरिद्र्यते। भृशाभीक्ष्ण्ये इति किम् ? पचति। वेति किम् ? लुनीहि लुनीहीत्येवायं

लुनातीत्यादि यथा स्यात् ।।9।।

न्या०स०–व्यञ्जनादे०:– *क्रियान्तराऽव्यवहितानामिति*–विरोधिभिर्ग्रामगमनादिभिः अविरोधिभिस्तूच्छ्वासादिभिर्भवत्येव । *साकल्येन संपत्तिरिति*–सामस्त्येन ढौकनमित्यर्थः । *फलातिरेको वेति*-फलसमाप्तावपि क्रियानुपरतिः ।

प्रधानक्रियाया इति–पचौ विक्लेदः प्रधानक्रिया, तां कश्चित्समाप्य क्रियान्तरमना- रभ्य पुनस्तामेव क्रियामारभते तस्याः पुनः पुनर्भाव आभीक्ष्ण्यं *तदा भवत्येवेति*, यदा त्वाभीक्ष्ण्ययङन्ताद् भृशार्थविवक्षा, तदा न द्वित्वं शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् तस्यार्थस्य यङैव प्रतिपादितत्वात् । किंच भृशत्वं गुणक्रियाणां साकल्येन संपत्तिः, आभीक्ष्ण्यं प्रधानक्रियाया- आवृत्तिः, अतः प्रधानक्रियायां गुणक्रिया न्यग्भूतेति ।

यदापञ्चमीति–तर्हि एतस्यां विवक्षायां पञ्चम्यपि न प्राप्नोति ? न, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, ``भृशाभीक्ष्ण्ये०'' (5-4-42) इति पञ्चमी भवत्येव, लुनीहि-लुनीहीत्येवायमिति, न च हि-स्वविधानसामर्थ्यादेव तौ भविष्यत इति वाच्यं, स्वराद्यनेकस्वरेभ्यः तयोश्चरितार्थत्वात्, तथा यदा भृशं पचति, पचनविशिष्टो भृशार्थो धात्वर्थस्तदा वाक्यार्थमपि वा ग्रहणम्, तर्हि वाक्यार्थमिति कथं नोक्तम् ? सत्यं,–यदा पचतिना पाकः, भृशब्देन तु भृशार्थस्तदा वाक्यं सिद्धमिति वाक्यार्थमिति नोक्तं पाक्षिकप्राप्तेरप्रधानत्वात् । ननु ``व्यञ्जनादेरेकस्वात्'' (3-4-9) इति किमर्थं, यत उत्तरसूत्रेऽट्यर्तिग्रहणात् व्यञ्जनादित्वं सूत्रिमूत्रिग्रहणात् एकस्वरत्वं चाऽत्र लप्स्यते, तस्मादुत्तरसूत्रकरणादिह ``व्यञ्जनादेरेक०'' (3-4-9) एव भविष्यति ? नैवं, गत्यर्थानां भृशाभी-क्ष्ण्येऽर्थे यदि यङ स्यात्तदाऽट्यत्त्योरेव स्यात्, तथा च दनीध्वस्यते इति न स्यात्, व्यञ्जनादीना-मेकस्वराणामदन्तानामेव स्यात्, तथा च पापच्यते इति न स्यादिति नियमाशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्यर्थम् ।

अट्यर्तिसूत्रिमूत्रिसूच्यशूर्णोः ।। 3. 4. 10. ।।

एभ्यो भूशाभीक्ष्ण्ये वर्तमानेभ्यो यङ्प्रत्ययो भवति । भृशं पुनःपुनर्वाटति अटाट्यते । एवमियर्त्ति ऋच्छति वा अरार्यते, सूत्रण्–सोसूत्र्यते, मूत्रण्-मोमूत्र्यते, सूचण्-सोसूच्यते, अश्नुते अश्नाति वा अशाश्यते, ऊर्णुण्क्-प्रोर्णोनूयते । अट्यर्त्यशामव्यञ्जनादित्वात् सूत्रि-मूत्रिसूचीनामनेकस्वरत्वात् ऊर्णोतेरव्यञ्जनाद्यनेकस्वरत्वात्पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् ।।10।।

न्या०स०–अट्यर्ति०-यङोऽदन्तत्वे अटाट्यते, अरार्यते इत्यादिषु फलम् ।

गत्यर्थात्कुटिले ॥ 3. 4. 11. ॥

व्यञ्जनादेरेकस्वराद् गत्यर्थात्कुटिल एवार्थे वर्तमानात् धातोर्यङ्भवति न भृशाभीक्ष्ण्ये। कुटिलं क्रामति चंक्रम्यते, दन्द्रम्यते। कुटिल इति किम् ? भृशमभीक्ष्णं वा क्रामति। धात्वर्थविशेषणं किम् ? साधने कुटिले माभूत्-कुटिलं पन्थानं गच्छति। तक्र कौण्डिन्यन्यायेन भृशाभीक्ष्ण्ययोर्निषेधार्थं वचनम्। भृशाभीक्ष्ण्ये कुटिलयुक्ते एव यङ् न केवल इत्यन्ये, एवमुत्तरत्रापि। कथं जंगमः ? रूढिशब्दोऽयम् लक्षणया स्थावरप्रतिपक्षमात्रे वर्तते ॥11॥

न्या०स०—गत्यर्थात्०:—तक्रकौण्डिन्येति-अयमर्थः सामान्यलक्षणस्य विधेर्विशेषलक्षणो विधिर्बाधको भवति, तां देयमस्मै तक्रदेयः कौण्डिन्यः ``मयूर'' (3-1-116) इति देयलोपः। *कथं जङ्गमः ? इति*-अत्र कुटिलार्थाभावे कथं यङित्याशङ्कार्थः। *लक्षणयेति*-यन्मुख्यं प्रवृत्तिनिमित्तं शब्दस्य तत्प्रत्यासत्त्या तदुपलक्षितं धर्मान्तरमुपादाय प्रवृतिर्लक्षणा तया। गच्छतीति-``गमेर्जं च वा'' 13 (उणादि) इत्यऽप्रत्यये वा जमादेशे च।

गॄ-लुप सद-चर-जप-जभ-दश-दहो गर्ह्ये ॥ 3. 4. 12. ॥

गर्ह्य एवार्थे वर्तमानेभ्यो गॄप्रभृतिभ्यो धातुभ्यो यङ्प्रत्ययो भवति न भृशादिषु। गर्हितं निगिरति निजेगिल्यते। एवं लोलुप्यते, सासद्यते, चञ्चूर्यते, जञ्जप्यते, जञ्जभ्यते, दन्दश्यते, दंदह्यते। दंशेः कृतनलोपस्य निर्देशो यङ्लुप्यपि नलोपार्थः तेन दंदशीति। गर्ह्येति किम् ? साधु जपति। धात्वर्थविशेषणं किम् ? साधने गर्ह्ये माभूत् जपति वृषलः। नियमः किम् ? भृशं पुनःपुनर्वा निगिरति कुटिलं चरतीत्यत्र न भवति ॥12॥

न्या०स०—गॄलुप-लोलुप्यते इति-लुप्लृंती युपरुपलुपचित्यस्य वा। *चंचूर्यते इति*—``अडे हिहुन०'' (4-1-34) इत्यतः पूर्वादित्यधिकारात् द्वित्वे सति ``ति चोपान्त्यातः'' (4-1-54) इति उत्,—

तेन दंदशीतीति:—अन्तरङ्गानपि इति न्यायात् प्रथममेव यङो लुपि ङित्वाभावात् न लोपो न स्यात्।

न गृणाशुभरुचः ॥ 3. 4. 13. ॥

गृणातिशुभिरुचिभ्यो भृशाभीक्ष्ण्यादौ यङ् न भवति । गर्हितं गृणाति, भृशं शोभते, भृशं रोचते ।।13।।

न्या०स०—न गृणा० :—भृशाभीक्ष्ण्यादाविति-आदिपदात् गृणातेगृह्येऽर्थे ।

बहुलं लुप् ।। 3. 4. 14. ।।

यङो लुप् बहुलं भवति । बोभूयते, बोभवीति, बोभोति; रोरूयते, रोरवीति, रोरोति; लालप्यते, लालपीति, लालप्ति; चंक्रम्यते, चंक्रमीति, चंक्रन्ति; जंजप्यते, जंजपीति, जंजप्ति । बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम् । तेन क्वचिन्न भवति ? लोलूया, पोपूया ।।14।।

अचि ।। 3. 4. 15. ।।

अचि प्रत्यये परे यङो लुप् भवति । लोलुवः, पोपुवः, सनीस्त्रंसः, दनीध्वंसः, चेच्यः, नेन्यः । नित्यार्थं वचनम् ।।15।।

न्या०स०—अचिः—लोलुव इति- ❉ अन्तरङ्गानपि ❉ इति न्यायात् अत इति अन्तरङ्गमपि अलुकं बाधित्वा स्वरान्तस्यैव यङो लुप् । ननु यङो लुपि ``नामिनः'' (4-3-1) इति कथं न गुणः ? ``न वृद्धिश्चाविति'' (4-3-11) इति निषेधात् ।

नोतः ।। 3. 4. 16. ।।

उकारान्ताद्विहितस्य यङोऽचि परे लुप् न भवति । योयूयः, रोरूयः ।।16।।

न्या०स०—नोतः-योयूप इति-अत्र पृथग्योगात् बहुलमित्यनेनापि न, अन्यथा चिनोत इत्येकमेव कुर्यात् ।

चुरादिभ्यो णिच् ।। 3. 4. 17. ।।

णितश्चुरादयः—तेभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे णिच् प्रत्ययो भवति । चोरयति, नाटयति, पदयते,-णकारो वृद्ध्यर्थः । णिग्रहणेषु सामान्यग्रहणार्थश्च । चकारः सामान्यग्रहणाविघातार्थः । चुरण्, पृण्, घृण्, श्वल्कवल्कण्, नक्कधक्कण्, चक्कचुक्कण्, टकुण्, अर्कण्, पिव्वण्, पचुण्, म्लेच्छण्, ऊर्जण्, तुजपिजुण्, क्षजुण्, पूजण्, गजमार्जण्, तिजण्, वजव्रजण्, रुजण्, नटण्, चटचुटचुटुलुटण्, कुट्टण्, पुट्टचुट्टपुट्टण्, पुटमुटण्, अट्टस्मिट्टण्,

लुण्टण्, स्निटण्, घट्टण्, खट्टण्, पट्टस्फिटण्, स्फुटण्, कीटण्, बटुण्, रुटण्, शठश्वठश्वटुण्, शुठण्, शुटुण्, गुटुण् लडण्, स्फुडूण्, ओलडुण्, पीडण्, तडण्, खड, खडुण्, कडुण्, कुडुण्, गुडुण्, वुडुण्, मडुण्, भडुण्, पिडुण्, ईडण्, चडुण्, जुडचूर्णवर्णण्, चूणतूणण्, श्रणण्, पूणण्, चितुण्, पुस्तवुस्तण्, मुस्तण्, कृतण्, स्वर्त-पथुण् श्रथण्, पृथण्, प्रथण्, छदण्, चुदण्, मिदुण्, दुर्दण्, गुर्दण्, छर्दण्, बर्धण्, वर्धण्, गर्धण, बन्धवधण्, मानण्, छपुण्, क्षपुण्, ष्टूपण्, डिपण्, ह्रपण्, डपुडिपुण, शूर्पण, शुल्वण, डबुडिबुण्, सम्बण्, कुबुण्, लुबु, तुबुण, पुर्वण्, यमण्, व्ययण्, यवुण्, कुद्रुण्, श्वभ्रण्, तिलण्, जलण्, क्षलण्, पुलण्, बिलण्, तलण्, तुलण्, दुलण्, बुलण्, मूलण्, कलकिलपिलण्, पलण्, इलण्, चलण्, सान्त्वण्, धूशण्, श्लिपण्, लूषण्, रुषण्, प्युषण्, पसुण्, जसुण्, पुसण्, ब्रूस्, पिसजसबर्हण्, ष्णिहण्, भ्रक्षण्, भक्षण्, पक्षण्, लक्षीण् इतोऽर्थविशेषे आलक्षिणः ।

ज्ञाण् मारणादिनियोजनेषु, च्युण् महने, भूण् अवकल्कने, वुक्कण भाषणे, रक लक रग लगण् आस्वादने, लिगुण् चित्रीकरणे, चर्चण् अध्ययने, अंचण् विशेषणे, मुचण् प्रमोचने, अर्जण्, प्रतियत्ने, भजण् विश्राणने, चट स्फुटण् भेदे, घटण् संघाते हन्त्यर्थाश्च । कणण् निमीलने, यतण् निकारोपस्कारयोः निरश्च प्रतिदाने, शब्दण् उपसर्गाद्भाषाविष्कारयोः, ष्वदण् आश्रवणे, आङः क्रन्दण् सातत्ये, स्वदण् आस्वादने, आस्वदं सकर्मकात्, मुदण् संसर्गे, शृधण् प्रहसने, कृपण् अवकल्कने, जभुण् नाशने, अमण् रोगे, चरण् असंशये, पूरण् आप्यायने, दलण् विदारणे, दिवण् अर्दने, पश पषण् बन्धने, पुषण् धारणे, घुषृण्, विशब्दने आङः क्रन्दे, भूष् तसुण् अलंकारे, जसण् ताडने, त्रसण् वारणे, वसुण् स्नेहच्छेदावहरणेषु, ध्रसण् उत्क्षेपे, ग्रसण् ग्रहणे, लसण् शिल्पयोगे, अर्हण् पूजायाम्, मोक्षण् असने, लोकृतर्क रघु, लघु, लोचू, विच्छ, अजु, तुजु, पिजु, लजु, लुजु, भजु, पट, पुट, लुट, घट, घटु, वृत, पुथ, नद, वृध, गुप, धूप, कुप, चीव, दशु कृसु, त्रसु, पिसु, कुसु, दसु बर्ह बृहु, वल्ह, अहु बहु, महुण् भासार्थाः, युणि जुगुप्सायाम्, गृृणि विज्ञाने, वञ्चिण् प्रलम्भने, कुटिण् प्रतापने, मदिण् तृप्तियोगे, विदिण् चेतनाख्याननिवासेषु, मनिण् स्तम्भे, बलिभलिण् आभण्डने, दिविण् परिकूजने, वृषिण् शक्तिबन्धे, कुत्सिण अवक्षेपे, लक्षिण् आलोचने, हिष्कि, किष्किण्, निष्किण्, तर्जिण्, कूटिण्, त्रुटिण्, शठिण्, कूणिण्, तृणिण्, भ्रूणिण्, चितिण्, वस्तिगन्धिण्, डपडिपि, डम्पि, डिम्पि, डम्भि, डिम्भिण्, स्यमिण्, शमिण्, कुस्मिण्, गूरिण्, तन्त्रिण्, मन्त्रिण्, ललिण्, स्पशिण्, दंशिण्, दंसिण्, भर्स्तिण् यक्षिण्
॥ इतोऽदन्ताः ॥

अङ्कण्, ब्लेष्कण्, सुखदु:खण्, अङ्गण्, अघण्, रचण्, सूचण्, भाजण्, समाजण्, लजलजुण्, कूटण्, पटवटण्, खेटण्, खोटण्, पुटण्, बटुण्, रुटण्, शठश्वठण्, दण्डण्, व्रणण्, वर्णण्, पर्णण्, कर्णण्, तूणण्, गणण्, कुलगुणकेतण्, पतण्, वातण्, कथण्, श्रथण्, छेवण्, गदण्, अन्धण्, स्तनण्, ध्वनण्, स्तेनण्, ऊनण्, कृपण्, रूपण्, क्षपलाभण्, भामण्, गोमण्, सामण्, श्रामण्, स्तोमण्, व्ययण्, सूत्रण्, मूत्रष्पारतीरण्, कत्र गोत्रण्, चित्रण्, छिद्रण्, मिश्रण्, चरण्, स्वरण्, शारण्, कुमारण्, कलण्, शीलण्, बेलकालण्, पल्यूलण्, अंशण्, पषण्, गवेषण्, मुषण्, रसण्, वासण्, निवासण्, चहण्, महण्, रहण्, रहुण्, स्पृहण्, रूक्षण्, मुगणि, अर्थणि, पदणि, संग्रामणि, शूरवीरणि, सत्रणि, स्थूलणि, गर्वणि, गृहणि, कुहणि इति चुरादयः ।

आदन्तत्वं च सुखादीनां णिच्संनियोगे एव द्रष्टव्यम्, तेन णिजभावे जगणतुः जगणिथेत्यत्र अनेकस्वरत्वाभावादाम् न भवति । अनित्यो हि णिच् चुरादीनाम्, ''घुषेरविशब्दे'' (4-4-69) इत्यत्र ज्ञापयिष्यते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन संवाहयतीति सिद्धम् ।।17।।

न्या०स०–चुरादिभ्यो: चकार इति–चकारे तु सति निरनुबन्धस्य णेरऽभावात् सामान्येन ग्रहणं भवति । *ज्ञाण्*-मारणादीनां निर्दिष्टार्थानामिह दर्शनमर्थान्तरेऽमीषां तु चुरादिपाठो नेष्यते इति ज्ञापनार्थम् । *हन्त्यर्थाश्चेति*-सर्वे हन्त्यर्था धातवोऽत्र पठितव्याः, तेन णिज्शवादिकं च कार्यं भवति । *सुखादीनामिति*-अङ्कादीनामिति वक्तव्येङ्कब्लेष्कयोः फलाभावात् सुखादीनामित्युक्तम् । पूर्वाचार्यानुरोधेन त्वऽदंतमध्ये पठति । *अनेकस्वरत्वाभावादिति*-द्वित्वे सत्येकस्वरत्वेऽपि सन्निपातन्यायान्न भवति । संनिपातनिमित्तं ह्यनेकस्वरत्वम् । *संवाहयतीति*-अङ्गानि मुद्नाति इत्यर्थः ।

युजादेर्नवा ।। 3. 4. 18. ।।

चुराद्यन्तर्गणो युजादिः, युजादिभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे णिच् प्रत्ययो भवति वा । योजयति, योजति, साहयति, सहति, सहति, कलभेभ्यः, परिभवम् । युजण्, लीण्, मीण्, प्रीग्ण्, धूग्ण्, वृग्ण्, जॄण्, चीक्, शीकण्, मार्गण्, पृचण्, रिचण्, बचण्, अचिण्, वृजैण्, मृजौण्, कठण्, श्रन्य, ग्रन्थण्, क्रथ, अर्दिण्, श्रथण्, वदिण्, छदण्, आङः सदण् गतौ । छृदण्, शुन्धिण्, तनूण् उपसर्गाद्देर्ध्ये, मानण् पूजायाम्, तपण्, तृपिण्, आप्लृण्, दृभिण्, ईरण्, मृषिण्, 'शिषण्, विपूर्वोऽतिशये' जुषण्, घृषण्, हिसुण्, गर्हण्, षहण्, हति युजादिः ।।18।।

भूङः प्राप्तौ णिङ् ।। 3. 4. 19. ।।

भुवो धातोः प्राप्तावर्थे वर्तमानात् णिङ् प्रत्ययो वा भवति । भावयते, भवते प्राप्नोतीत्यर्थः । भवतीत्येवान्यत्र, णिङिति ङकार आत्मनेपदार्थः । भूङ इति ङकारनिर्देशो णिङभावेऽप्यात्मनेपदार्थः । प्राप्त्यभावेऽपि क्वचिदात्मनेपदमिष्यते यथा–

'याचितारश्च नः सन्तु, दातारश्च भवामहे ।
आक्रोष्टारश्च नः सन्तु, क्षन्तारश्च भवामहे' ।।1।। इति

प्राप्तावपि परस्मैपदमित्यन्ये, सर्वं भवति प्राप्नोतीत्यर्थः, अवकल्कने तु भावयतीत्येव । भूण् अवकल्कने इति चुरादौ पाठात् ।।19।।

प्रयोक्तृव्यापारे णिग् ।। 3. 4. 20. ।।

कर्तारं यः प्रयुङ्क्ते स प्रयोक्ता, तद्व्यापारेऽभिधेये धातोर्णिग् प्रत्ययो वा भवति । व्यापारश्च प्रेषणाध्येषण-निमित्त-भावाख्यानाभिनय-ज्ञानप्राप्तिभेदैरनेकधा भवति । तत्र तिरस्कारपूर्वको व्यापारः प्रेषणम्, सत्कारपूर्वकस्त्वध्येषणम् ।

कुर्वन्तं प्रयुङ्क्ते कारयति, पचन्तं प्रयुङ्क्ते पाचयति-अत्र प्रेषणेनाध्येषणेन वा यथासंभवं प्रयोक्तृत्वम्, वसन्तं प्रयुङ्क्ते वासयति भिक्षा, कारीषाग्निरध्यापयति–अत्र निमित्तभावेन, राजानमागच्छन्तं प्रयुङ्क्ते राजानमागमयति, मृगान् रमयति, रात्रिं विवासयति कथकः, अत्राख्यानेन, आख्यानेन हि बुद्ध्यारुढा राजादयः प्रयुक्ताः प्रतीयन्ते, कंसं घ्नन्तं प्रयुङ्क्ते कंसं घातयति, बलिं बन्धयति नटः,–अत्राभिनयेन । पुष्येण युञ्जन्तं प्रयुङ्क्ते पुष्येण योजयति चन्द्रम्, मघाभिर्योजयति गणकः–अत्र कालज्ञानेन, उज्जयिन्याः प्रदोषे प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गच्छन्तं प्रयुङ्क्ते माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गमयति, रैवतकात् प्रस्थितः शत्रुञ्जये सूर्यं पातयति, अत्र प्राप्त्या । ननु च कर्तापि करणादीनां प्रयोजक इति तद्- व्यापारेऽपि णिग् प्राप्नोति ? नैवम्, प्रयोक्तृग्रहणसामर्थ्यात्, तथा क्रियां कुर्वन्नेव-कर्ताभि- धीयते, तेन तूष्णीमासीने प्रयोज्ये मा पृच्छतु भवान् अनुयुङक्तां मा भवानित्यत्र णिग् न भवति, पञ्चम्या बाधितत्वाद्वा । वाधिकार आ बहुलवचनात् पक्षे वाक्यार्थः ।।20।।

न्या०स०–प्रयोक्तृव्या०:–मृगान् रमयतीति-रममाणान् मृगान् कथयन् तेषां प्रयोजको भवति । कथनेन यदारण्यस्थो रममाणान् मृगान् प्रतिपाद्यमाचष्टे एतस्मिन्नवकाश एव मृगा रमन्ते इति तदास्य प्रतिपाद्यदर्शनार्थी प्रवृत्तिर्भवति, तस्यां च णिग् वक्तव्यः । *बुद्ध्यारुढा*

इति-बुद्धिषु श्रोतॄणां चित्तेषु आरूढाः सत्तामापन्नाः प्रयुक्ताः प्रवर्तिताः प्रतीयन्ते। राजादीनां हि उभयत्र भावो बहिरन्तश्च। तत्राख्यात्रा बहिर्भावस्य कर्तुमशक्यत्वेऽपि अन्तर्भावस्य सुशकत्वाद् बहिःप्रयोगाभावेऽप्यन्तःप्रयोगात्प्रयोक्तृत्वमिति। *कंसं घातयतीति*-अयं नटः कौशलात्तथा सरसमभिनयति यथा कंसवधाय बलिबन्धनाय चायमेव नारायणं प्रयुङ्क्ते इति परेषां प्रतिपत्तिर्भवतीति।

माहिष्मत्यामिति-महिषा अत्र सन्ति ``नडकुमुद'' (6-2-74) इति डिति मतौ अन्त्यलोपे ``धुटस्तृतीय'' (2-1-76) इति डत्वं प्राप्तं ❁ असिद्धं बहिरङ्गम् ❁ इत्यनेन व्युदस्यते, न च ``स्वरस्य'' (7-4-110) इति स्थानित्वेऽकारेण व्यवधानमिति वाच्य, ``न सन्धि'' (7-4-111) इत्यस्य असद्विधावस्थानात्। महिष्मति भवा ``भवे'' 6-3-123 (इति) अण्। *रैवतकादिति*-राया द्रव्येण वन्यन्ते स्म क्ते रेवृङ् रेवत इति ``पुतपित्त'' 204 (उणादि) निपातो वा रैवता वृक्षास्ते सन्त्यत्र ``अरीहणादेरकण्'' (6-2-83)। *ननु च कर्तापि करणादीनामिति*—अयमर्थः,—कटं करोतीत्यादौ मुख्यकर्तृ व्यापारेऽपि णिग् प्राप्नोति, अत्रापि प्रयोक्तृव्यापारस्य विद्यमानत्वात्। तथाहि कट करोतीति कोऽर्थः ? जायमानं जनयतीत्यर्थः, इत्याशङ्कायामाह *प्रयोक्तृग्रहणसामर्थ्यादिति*-कर्त्तारं यः प्रयुङ्क्ते स हि प्रयोक्ता, यदि च व्यापारमात्रे णिग् स्यात्तदा व्यापारे णिगित्येवोच्येत। *तेन तूष्णीमासीने इति*-प्रयोज्ये प्रच्छ्ये तूष्णीमासीने प्रयोजकः प्रच्छिक्रियायाः कारयिताह मां पृच्छतु भवानिति। *पञ्चम्या बाधिताद्वेति*-अथवा सव्यापारेऽपि प्रयोज्ये परत्वात् ``प्रैषानुज्ञावसरे'' (5-4-29) इति विहितया पञ्चम्या णिग् बाध्यते, प्रैषरूपे प्रयोक्तृव्यापारे णिग् पञ्चमी प्रैषविशिष्टे कर्त्तरि वाच्ये भवति, इति समानविषयत्वं ततो णिग् बाध्यते। तर्हि मूलोदाहरणेष्वपि पञ्चमी प्राप्नोति ? न, प्रेषणमात्रे णिगुक्तः पञ्चमी तु प्रेषणविशिष्टे कर्त्रादौ, यदा तु प्रेषणमात्रं विवक्ष्यते तदा णिग् तद्विशिष्टे तु कर्त्रादौ पञ्चमी, कारयित्वित्यादौ प्रेषणस्यापि प्रेषणविवक्षा।

तुमर्हादिच्छायां सन्नतत्सनः ॥ 3. 4. 21. ॥

यो धातुरिषेः कर्म इषिणैव च समानकर्तृकः स तुमर्हः, तस्मादिच्छायामर्थे सन् प्रत्ययो वा भवति, न चेत्स इच्छासन्नन्तो भवति। कर्तुमिच्छति चिकीर्षति, गन्तुमिच्छति जिगमिषति। तुमर्हादिति किम् ? अकर्मणोऽसमानकर्तृकाच्च माभूत्, गमनेनेच्छति। भोजनमिच्छति देवदत्तस्य। इच्छायामिति किम् ? भोक्तुं व्रजति। अतत्सन इति किम् ? चिकीर्षितुमिच्छति। तद्ग्रहणं किम् ? जुगुप्सिषते। सनोऽकारः किम् ? अर्थान् प्रतीषिषति, नकारः सन्ग्रहणेषु विशेषणार्थः। कथं नदीकूलं पिपतिषति, श्वा मुमूर्षति, पतितुमिच्छति मर्तुमिच्छति इति वाक्यवदुपमानाद्भविष्यति ॥21॥

न्या०स०–तुमर्हा० :–भोजनमिच्छतीति-अत्र ``शकधृष'' (5-4-90) इति न तुम् तुल्यकर्तृकत्वाभावात् । चिकीर्षितुमिच्छतीति-चिकीर्षणं ``शकधृष'' (5-4-90) इति तुम् ।

द्वितीयायाः काम्यः ।। 3. 4. 22. ।।

द्वितीयान्तान्नाम्न इच्छायामर्थे काम्यप्रत्ययो वा भवति । पुत्रमिच्छति पुत्रकाम्यति, इदंकाम्यति, स्वःकाम्यति,–काम्येनैव कर्मण उक्तत्वाद्भावकर्त्रोरेव प्रयोगः । पुत्रकाम्यते- ऽनेन, पुत्रकाम्यत्यसौ । द्वितीयाया इति किम् ? इष्टः पुत्रः, इष्यते पुत्रः । इह कस्मान्न भवति भ्रातुः पुत्रमिच्छति आत्मनः पुत्रमिच्छति महान्तं पुत्रमिच्छति पुत्रमिच्छति स्थूलं दर्शनीयं वा ? सापेक्षत्वात्,–नह्यन्यमपेक्षमाणोऽन्येन सहैकार्थीभावमनुभवितुं शक्नोति । भ्रातुष्पुत्रकाम्यतीत्यादि तु समर्थत्वात्, अधमिच्छति, दुःखमिच्छतीत्यत्रापि परस्येत्यपेक्षितत्वात् सापेक्षत्वम् । कथं तर्हि पुत्रकाम्यति ? इत्यत्र पुत्रस्यात्मीयता गम्यतेऽन्यस्याश्रुतेः इच्छायाश्चात्मविषयत्वात् ।।22।।

न्या०स०–द्वितीया०-सस्वरस्य काम्यस्य फलमजघटकाम्यत् काम्यांचकारेत्यादौ । *परस्येत्यपेक्षितत्वादिति:*– न हि कोप्यात्मनोऽधादीच्छति ।

अमाव्ययात् क्यन् च ।। 3. 4. 23. ।।

अमकारान्तादनव्ययाच्च द्वितीयान्तान्नाम्न इच्छायामर्थे क्यन् प्रत्ययो वा भवति काम्यश्च । पुत्रमिच्छति पुत्रीयति, एवं नाव्यति, वाच्यति,-चकारः काम्यार्थोऽन्यथा मान्ताव्यययोः सावकाशः स क्यना बाध्येत । अमाव्ययादिति किम् ? इदमिच्छति, स्वरिच्छति । गोशब्दसंध्यक्षरवर्जस्वरनान्तेभ्य एव क्यनमिच्छन्त्यन्ये–गव्यति, पुत्रीयति, राजीयति । अन्यत्र न भवति । यमिच्छति, कमिच्छति । नकारः क्यनीत्यत्र विशेषणार्थः, ककारः क्यग्रहणे सामान्यग्रहणार्थः ।।23।।

न्या०स०–अमाव्यः–कीयांचकारेत्यादौ क्यनः सस्वरत्वे आम् सिद्धः ।

आधाराच्चोपमानादाचारे ।। 3. 4. 24. ।।

अमाव्ययादुपमानभूताद् द्वितीयान्तादाधाराच्चाचारार्थे क्यन् प्रत्ययो भवति वा । पुत्रामिवाचरति पुत्रीयति छात्त्रम्, वस्त्रीयति कम्बलम्, पुत्रीयति स्थूलं दर्शनीयं वा, आधारात्-

प्रासाद इवाचरति प्रासादायति कुट्याम्, पर्यङ्कीयति मञ्चके । उपमानादिति किम् ? छात्त्रादेर्माभूत् । आधाराच्चेति किम् ? परशूना दात्रेणेवाचरति । अमाव्ययादिति किम् ? इदमिवाचरति, स्वरिवाचरति । उपमानस्य नित्यमुपमेयापेक्षत्वात् सापेक्षत्वेऽप्यसामर्थ्यं न भवति ।।24।।

कर्तुः क्विप् गल्भ-क्लीब-होडात्तु ङित् ।। 3. 4. 25. ।।

कर्तुरुपमानान्नाम्न आचारेऽर्थे क्विप् प्रत्ययो वा भवति गल्भक्लीबहोडेभ्यः पुनः स एव ङित् । अश्व इवाचरति अश्वति, एवं गर्दभति, दधयति, गवा, नावा, अः प्रत्ययः । राजेवाचरति राजनति, मधुलिडिवाचरति-मधुलेहति, गोधुगिवाचरति गोदोहति ।

गल्भक्लीबहोडात्तु ङित्-गल्भते, अवगल्भते, क्लीबते, विक्लीबते, होडते, विहोडते, गल्भांचक्रे, अवगल्भांचक्रे, ङित्त्वादात्मनेपदं भवति । एके तु कर्तुः संबन्धिन उपमानात् द्वितीयान्तात् क्विप्क्यङाविच्छन्ति । अश्वमिवात्मानमाचरति गर्दभः अश्वति, श्येनमिवात्मानमाचरति काकः श्येनायते, तन्मतसंग्रहार्थं कर्तुरिति षष्ठी व्याख्येया । द्वितीयाया इति चानुवर्तनीयम्, क्विबिति पूर्वप्रसिद्ध्यनुवादः ।।25।।

*न्या०स०–कर्तुः क्विप्-गवेति–*गौरिवाचरति क्विपि लुपि गवनं ''शंसिप्रत्ययादयः'' (5-3-105) एवं नावेत्यत्र । *राजनतीति-*अस्य क्विपो व्यञ्जनादिफलं नेष्यते, तेन नाम सिदिति पदसंज्ञाया अभावे न लोपाभावः सिद्धः । *गल्भांचक्रे इति-*गल्भि धाष्ट्र्ये इत्यादिभिर्मूलोदाहरणानि सिध्यन्ति, परं गल्भाचक्रे इत्यादिष्वाम् न स्यात् ।

*एके त्विति-*ते हि मन्यन्ते द्वितीयाया इत्यनुवृत्तावपि कर्त्तुरिति विशेषणं संबन्धषष्ठ्यामुपपद्यते, तेनाऽयमर्थः कर्तुर्यत् कर्मोपमानभूतं ततः क्विप्क्यङाविति ।

*द्वितीयान्तादिति–*कर्म्मण इत्यर्थः, ननु कर्त्ता कारकं कर्म च तयोश्चाय:शलाकाकल्पयोरनभिसंबन्धो न हि कर्तुः कर्म भवति अपि तु क्रियायाः कर्त्ता कर्म च संपद्यते तत्र साध्यसाधनभावलक्षणसंबन्धोऽस्ति न तु परस्परम् ? सत्यं, न कर्त्तुरित्यनेन कर्मकारकशक्तिविशिष्यते अपि तूपमानादितीहानुवर्त्तते, तेन कर्मणो योऽसावुपमानमश्वादिरस्ति स कर्तुरित्यनेन विशिष्यते कर्तुर्यदुपमादानं कर्म्म तस्मात् क्विबिति, नन्विदमप्यचारु, कर्तुः किल कर्म्म कथमुपमानमस्तु अत्यन्तवैलक्षण्यात् ? सत्यं, एवं कर्तुः कर्म उपमानं भवति, यदि स एव कर्त्ता आचरणक्रियायाः कर्म्म भवति, यथा अश्वमिवात्मानमाचरति गर्द्दभः अत्र आचरण क्रियायाः गर्द्दभः कर्त्ता स एवात्मभेदेन कर्म्म, एकस्यैवात्मभेदाद् अनेककारकशक्त्या वेशो दृश्यते, यथोच्यते हन्त्यात्मानमात्मनेति । श्येन इवाचरति काको मत्स्यमित्यत्र न भवति,

मत्स्यमित्यनेन बाह्यकर्मणाऽसंबन्धात् । *पूर्वप्रसिद्ध्यनुवाद इति*-तेनास्मिन् स्वमते कित्पित् कार्यं न भवति, परमते तु कितः फलमाचारक्विपि ``अहन्पञ्चम०'' (4-1-107) इति दीर्घे इदामति कीमतीत्यादौ ।

क्यङ् ॥ 3. 4. 26. ॥

कर्तुरुपमानादाचारेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । श्येन इवाचरति श्येनायते, हंसायते, अश्वायते, गर्दभायते, गल्भायते, क्लीबायते, होडायते । क्विप्क्यङोस्तुल्यविषयत्वादसत्युत्सर्गापवादत्वे पर्यायेण प्रयोगः । ककारः सामान्यग्रहणार्थः, ङकार आत्मनेपदार्थः ॥26॥

न्या०स०—क्यङ्-क इवाचरति इति कृते कायांचक्रे इत्यत्र सस्वरस्य क्यङः फलम् ।

सो वा लुक् च ॥ 3. 4. 27. ॥

स इति आवृत्त्या पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं चाभिसंबध्यते । सकारान्तात्कर्तुरुपमानादाचारेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति अन्त्यसकारस्य च लुग्वा भवति । पय इवाचरति पयायते, पयस्यते, सरायते, सरस्यते, अन्ये त्वप्सरस एव सलोपो नान्यस्य अप्सरायते, अन्यत्र पयस्यते इत्याद्येवेत्याहुः । क्यङ् सिद्धो लुगर्थं वचनम्, चकारो लुचः क्यङ्संनियोगार्थः ॥27॥

न्या०स०—सोवा०:—क्यङ्सन्नियोगार्थ इति-समुच्चये तु स्वतन्त्रौ लुक्क्यङौ स्याताम् । *अप्सरायते इति*-अप्सरस्यते इत्यपि ।

ओजोऽप्सरसः ॥ 3. 4. 28. ॥

ओजःशब्दो वृत्तिविषये स्वभावात्तद्वति वर्तते, ओजःशब्दादप्सरस्शब्दाच्च कर्तुरुपमानभूतादाचारेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति सलोपश्च । ओजस्वीवाचरति ओजायते, अप्सरायते । अन्ये त्वोजःशब्दे सलोपविकल्पमिच्छन्ति,—ओजायते, ओजस्यते ॥28॥

*न्या०स०—ओजोप्सर०—*पूर्वेणसिद्धे नित्यसलोपार्थं वचनम् ।

च्व्यर्थे भृशादेः स्तोः ॥ 3. 4. 29. ॥

भृशादिभ्यः कर्तृभ्यः च्व्यर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति सकारतकारयोर्यथासंभवं लुक् च,

च्व्यर्थे इत्यनेन लक्षणया भवत्यर्थविशिष्टं प्रागतत्तत्त्वमुच्यते, करोतिस्तु कर्तुरित्येनन व्युदस्तः। भवत्यर्थे च विधानात् क्यङन्तस्य क्रियार्थत्वम् भवत्यर्थशब्दाप्रयोगश्च-अभृशो भृशो भवति भृशायते, उन्मनायते, वेहायते, अनोजस्वी ओजस्वी (ओजः) भवति ओजायते,– अत्र तद्वद्वृत्तेरेव च्व्यर्थ इति धर्ममात्रवृत्तेर्न भवति-अनोज ओजो भवति। कर्तुरित्येव ? अभृशं भृशं करोति। च्व्यर्थ इति किम् ? भृशो भवति। प्रागतत्तत्त्वमात्रे च्वेर्विधानात्क्यङा च्विर्न बाध्यते भृशीभवति। भृश, उत्सुक, शीघ्र, चपल, पण्डित, अण्डर, कण्डर, फेन, शुचि, नील, हरित, मन्द, मद्र, भद्र, संश्चत्, तृपत्, रेफत्, रेहत्, वेहत्, वर्चस्, उन्मनस्, सुमनस्, दुर्मनस्, अभिमनस् ॥29॥

न्या०स०–च्व्यर्थे भृशार्थे०–च्व्यर्थ इत्यनेनेति–ननु भृशादेश्च्व्यर्थे क्यङ्विधानात् च्व्यर्थस्य चाऽक्रियारूपत्वात् (अधातुत्वात्) कथं क्यङन्तात्तिवादिरित्याह-*लक्षणयेति*उपचारेणेत्यर्थः, मुख्यवृत्त्या हि च्व्यर्थ इत्यनेन प्रागऽतत्तत्वं केवलमेवाभिधीयते, न भवत्यर्थविशिष्टं, लक्षणया तु तद्विशिष्टमपि, यद्येवं च्व्यर्थ इत्यनेन प्रागतत्तस्वं लक्ष्यते तर्हि करोत्यर्थविशिष्टेऽपि प्रागतत्तत्त्वं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह–

करोतिस्त्वित्यादि-अयमर्थः करोत्यर्थविशिष्टे प्रागऽतत्तत्त्वे भृशादीनां कर्तृत्वं न संभवत्यपि तु कर्मत्वमेवेत्याह–*कर्तृरित्यनेन व्युदस्त इति*–ननु च्व्यर्थे च्वेः क्यङश्च विधानात् क्यङा च्विबाधा प्राप्नोति ? इत्याशङ्क्याह-*प्रागतत्तत्त्वमात्रे इति*-अयमर्थः भवत्यर्थविशिष्टे च्व्यर्थे क्यङ् विहितः, च्विस्तु तद्योगमात्रेऽत एव च्वियोगे करोति भवत्योः प्रयोगो भवत्यऽनुक्तार्थत्वात् क्रियार्थत्वाभावाद् धातुत्वं च न भवति।

डाच्लोहितादिभ्यः षित् ॥ 3. 4. 30. ॥

डाच्प्रत्ययान्तेभ्यो लोहितादिभ्यश्च कर्तृभ्यश्च्व्यर्थे क्यङ् प्रत्ययः षिद्भवति वा। डाच् अपटत् पटद्भवति पटपटायति, पटपटायते एवं दमदमायति, दमदमायते। डाजन्तात्क्यङ्ष्विधानात् कृभ्वस्तिभिरिव क्यङ्षापि योगे डाज् भवति। अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति, लोहितायते।

कर्तुरित्येव ? अपटपटा पटपटा करोति, अलोहितं लोहितं करोति। च्व्यर्थ इत्येव ? लोहितो भवति। लोहित, जिह्म, श्याम, धूम, चर्मन्, हर्ष, गर्व, सुख, दुःख, मूर्च्छा, निद्रा, कृपा, करुणा। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। लोहितादिषु लोहितशब्दादेवेच्छन्त्यन्ये। षकारः ``क्यङषो नवा'' (3-3-43) इति विशेषणार्थः। धूमादीनां स्वतन्त्रार्थवृत्तीनां

प्रकृतिविकारभावाप्रतीतेश्च्व्यर्थो नास्तीति तद्वद्वृत्तिभ्यः प्रत्ययो भवति । अधूमवान् धूमवान् भवति धूमायति, धूमायते ॥30॥

*न्या०स०—डाच्लोहिता०-डाजन्तात् क्यङ्ष्विधानादिति-*ननु भवत्यर्थविशिष्टे च्व्यर्थे क्यङ्ष् विहितः, ततश्च क्यङ्षा भवत्यर्थस्योक्तत्वात् तदभावे निमित्ताभावे इति न्यायात् डाचोऽपि निवृत्तिः प्राप्नोति इत्याशङ्क्याह-*डाजन्तात् क्यङ्ष्विधानात्-डाच् भवतीति-*विधानसामर्थ्यात् कृभ्वस्त्यभावे न निवर्त्तते इत्यर्थः, अन्यथा क्यङ्षा भवत्यर्थस्योक्तत्वाद् भवतियोगाऽभावात् डाच् न स्यात् ।

*बहुवचनमिति-*तेनामृतं यस्य विषायतीति सिद्धं, यद्वा विषस्यायो लाभः स इवाचरतीति क्विप् ।

कष्ट-कक्ष-कृच्छ्र-सत्र-गहनाय पापे क्रमणे ॥ 3. 4. 31. ॥

कष्टादिभ्यो निर्देशादेव चतुर्थ्यन्तेभ्यः पापे वर्तमानेभ्यः क्रमणेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । कष्टाय कर्मणे क्रामति कष्टायते, एवं कक्षायते, कृच्छ्रायते, सत्रायते गहनायते । कष्टादिभ्य इति किम् ? कुटिलाय कर्मणे क्रामति । चतुर्थीनिर्देशः किम् ? रिपुः कष्टं क्रामति । पाप इति किम् ? कष्टाय तपसे क्रामति, क्रमणमत्र न पादविक्षेपः किन्तु प्रवृत्तिमात्रम्, द्वितीयान्तेभ्यः पापचिकीर्षायामित्यन्ये, कष्टं चिकीर्षति कष्टायते इत्यादि ॥31॥

*न्या०स०—कष्टकक्ष०—कष्टायते इति-*कष्टाय पापभूताय पुरुषाय प्रवर्त्तते इत्यादावपि । *कष्टाय तपसे क्रामतीति-*पापमनार्जवाचारः स इह नास्तीति न भवति, अथ यथेह पापं नास्ति तथा क्रामणमपि पादविक्षेपो नास्तीति व्द्यङ्गवैकल्यमित्याशङ् क्याह*क्रमणमत्रेति—*

रोमन्थाद् व्याप्यादुच्चर्वणे ॥ 3. 4. 32. ॥

रोमन्थात्कर्मणः पर उच्चर्वणेऽर्थे क्यङः प्रत्ययो वा भवति । अभ्यवहृतं द्रव्यं रोमन्थः, उद्गीर्य चर्वणमुच्चर्वणम् । रोमन्थम् उच्चर्वयति रोमन्थायते गौः—उद्गीर्य चर्वयतीत्यर्थः । उच्चर्वण इति किम् ? कीटो रोमन्थं वर्तयति, उद्गीर्य बहिस्त्यक्तं पृष्ठान्तेन निर्गतं वा द्रव्यं गुटिकां करोतीत्यर्थः ॥32॥

*न्या०स०—रोमन्थ-उच्चर्वयतीति-*बहुलमेतन्निदर्शनमिति चुरादित्वम् ।

फेनोष्म-बाष्प-धूमादुद्वमने ॥ 3. 4. 33. ॥

फेनादिभ्यः कर्मभ्य उद्वमनेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । फेनमुद्वमति फेनायते, एवमूष्मायते, बाष्पायते, धूमायते ॥33॥

सुखादेरनुभवे ॥ 3. 4. 34. ॥

साक्षात्कारोऽनुभवस्तस्मिन्नर्थे सुखादिभ्यः कर्मभ्यः क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । सुखमनुभवति सुखायते, दुःखायते । अनुभव इति किम् ? सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य, मुखादिविकारेणानुमानतो निश्चिनोतीत्यर्थः । सुख, दुःख, तृप्र, कृच्छ्र, आस्त्र, अलीक, करण, कृपण, सोढ, प्रतीप ॥34॥

शब्दादेः कृतौ वा ॥ 3. 4. 35. ॥

शब्दादिभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति, णिजपवादः । शब्दं करोति शब्दायते, वैरायते, कलहायते, वाशब्दो व्यवस्थितविभाषार्थः, तेन यथादर्शनं णिजपि भवति,— शब्दयति, वैरयति । वाधिकारस्तु वाक्यार्थः । शब्द, वैर, कलह, ओघ, वेग, युद्ध, अभ्र, कण्व, मम, मेघ, अट, अट्या, अटाट्या, सीका, सोटा, कोटा, पोटा, प्लुष्टा, सुदिन, दुर्दिन, नीहार ॥35॥

*न्या०स०—शब्दादे-व्यवस्थितविभाषेति-*व्यवस्थितं प्रयोगारूढं विधिप्रतिषेधादिकार्यं विशेषेण भाषते इति व्यवस्थितविभाषा तदर्थ इत्यर्थः ।

तपसः क्यन् ॥ 3. 4. 36. ॥

तपःशब्दात् कर्मणः करोत्यर्थे क्यन् प्रत्ययो वा भवति । तपः करोति-तपस्यति । अत्र यदा व्रतपर्यायः तपःशब्दस्तदा क्यन्कर्मणो वृत्तावन्तर्भूतत्वादकर्मकत्वम्, यदा तु संतापक्रियावचनस्तदा क्यन्कर्मणो वृत्तावन्तर्भावेऽपि, स्वकर्मणा सकर्मक एव, शत्रूणां तपः करोति-तपस्यति शत्रूनिति, यथा व्याकरणस्य सूत्रं करोति व्याकरणं सूत्रयति ॥36॥

*न्या०स०—तपस-*अतपसस्यदित्यत्राऽन्यस्येति तृतीयावयवस्य द्वित्वेऽदन्तक्यनः फलम् ।

नमो-वरिवश्चित्रङोऽर्चा-सेवाश्चर्ये ।। 3. 4. 37. ।।

नमस्, वरिवस्, चित्रङ् शब्देभ्यः कर्मभ्यो यथासंख्यं पूजासेवाश्चर्येष्वर्थेषु करोत्यर्थे क्यन् प्रत्ययो वा भवति । देवेभ्यो नमस्करोति-नमस्यति देवान्, गुरूणां वरियः करोति वरिवस्यति गुरून्, चित्रं करोति-चित्रीयते, ङकार आत्मनेपदार्थः । अर्चादिष्विति किम् ? नमः करोति, वरिवः करोति,–नमोवरिवःशब्दमुच्चारयतीत्यर्थः, चित्रं करोति, नानात्व-मालेख्यं वा करोतीत्यर्थः । ननु च नमस्यति देवानित्यत्र नमःशब्दसंयोगनिबन्धना चतुर्थी कस्मान्न भवति ? उच्यते, नामधातूनामविवक्षितप्रकृतिप्रत्ययभेदानां धातुत्वादनर्थकोऽत्र नमःशब्द, उपपदविभक्तेर्वा कारकविभक्तिर्बलीयसी, एवं च नमस्करोति देवानिति वाक्येऽपि द्वितीया सिद्धा । यद्येवं नमस्करोति देवेभ्य इति न भवितव्यम् ? नैवम्, करोतेः नमःशब्दसंबन्धेन देवपदेनासंबन्धात् । कस्मै इति त्वाकाङ्क्षायां देवेभ्य इति संबन्धाच्चतुर्थी संप्रदाने वा इत्यदोषः ।।37।।

न्या०स०–नमोवरि०–चित्रीयते इति–कस्य चित्रीयते न धीः इत्यकर्मकः चित्रमाश्चर्यं करोति जनस्येति विवक्षायां चित्रीयते जनं व्याकरणं सूत्रयतीतिवद् भवति ।

देवेभ्यो नमस्करोतीति-व्युत्पत्त्युपायभूतमवयवार्थप्रदर्शकं वाक्यं समुदायस्तु क्यन्न-न्तोऽविद्यमानावयवार्थ एवाऽर्चालक्षणेऽर्थे वर्त्तते, एवं *गुरूणां वरिवः करोती*त्यादावपि द्रष्टव्यम् । वृणीते ``स्वरेभ्यः'' (1-3-30) इप्रत्यये वरिः सेवकस्तत्र वसतीति विचि वरिवः । *नमः करोतीति*-अत्र नमःशब्दरूपापेक्षया नपुंसकत्वे ``अनतो लुप्'' (1-4-59) अर्थप्रधानो ह्यऽव्ययमत्र तु शब्दप्रधानः । *उपपदविभक्तेर्वेति*-समुदायिन एव समुदाय इति विवक्षायां समुदायिनौ च द्वौ नमस् प्रकृतिः क्यङ् च प्रत्यय, इति नमः शब्दो भिन्नोऽस्तीति प्राप्तिरस्तीत्याह-*नमः शब्दसंबन्धेनेति*-करोतेरसंबन्धात् केन सह ? देवपदेन, किं भूतेन ? नमः शब्देन सह संबन्धो यस्य तेनानया युक्त्या कारकविभक्तेः प्राप्तिर्नास्ति ।

अङ्गान्निरसने णिङ् ।। 3. 4. 38. ।।

अङ्गवाचिनः शब्दात् कर्मणो निरसनेऽर्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति । हस्तौ निरस्यति हस्तयते, पादयते, ग्रीवयते । निरसने इति किम् ? हस्तं करोति हस्तयति । कर्मण इति किम् ? हस्तेन निरस्यति । ङकार आत्मनेपदार्थः ।।38।।

न्या०स०–अङ्गान्निर०–कर्मण इति–``रोमन्थाद्व्याप्यात्'' (3-4-32) इत्यतो व्याप्यादित्यनु-वर्त्तते तत्पर्यायतया च प्रसिद्धं सत् कर्मण इत्येव लिखितम् । *हस्तयतीति*-णिजपवादस्य णिङोऽभावादत्र णिजेव ।

पुच्छादुत्परिव्यसने ॥ 3. 4. 39. ॥

पुच्छशब्दात्कर्मण उदसने, पर्यसने, व्यसने, असने चार्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति । पुच्छम् उदस्यति उत्पुच्छयते, पर्यस्यते परिपुच्छयते, व्यस्यति विपुच्छयते, अस्यति पुच्छयते ॥39॥

भाण्डात् समाचितौ ॥ 3. 4. 40. ॥

भाण्डशब्दात्कर्मणः समाचयनेऽर्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति । समाचयनं च समा परिणा च द्योत्यते, भाण्डानि समाचिनोति संभाण्डयते, परिभाण्डयते ॥40॥

चीवरात् परिधानार्जने ॥ 3. 4. 41. ॥

चीवरशब्दात्कर्मणः परिधानेऽर्जने चार्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति । चीवरं परिधत्ते परिचीवरयते,–समाच्छादनमपि परिधानम्, चीवरं समाच्छादयति संचीवरयते, चीवरमर्जयति चीवरयते । संमार्जनेऽप्यन्ये । चीवरं संमार्जयति संचीवरयते ॥41॥

णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु ॥ 3. 4. 42. ॥

कृगादीनां धातूनामर्थे नाम्नो णिच् प्रत्ययो भवति बहुलम्, बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम्, तेन यस्मान्नाम्नो यद्विभक्तयन्ताद्यस्मिन् धात्वर्थे दृश्यते तस्मात्तद्विभक्तयन्तात्तद्धात्वर्थे एव भवतीति नियमो लभ्यते ।

मुण्डं करोति मुण्डयति छात्रम्, एवं मिश्रयत्योदनम्, श्लक्ष्णयति वस्त्रम्, लवण-यति सूपम्, एभ्यश्च्व्यर्थे एवेति कश्चित् । अमुण्डं मुण्डं करोति मुण्डयतीत्यादि, लघुं करोति लघयति, एवं छिद्रयति, कर्णयति, दण्डयति, अन्धयति, अङ्कयति, व्याकरणस्य सूत्रं करोति व्याकरणं सूत्रयति, द्वारस्योद्घाटनं करोति द्वारमुद्घाटयति ।

ननु व्याकरणशब्दात् वाक्ये षष्ठी दृश्यते उत्पन्ने च प्रत्यये कथं द्वितीया ? उच्यते, योऽसौ सूत्रव्याकरणयोः संबन्धः, स उत्पन्ने प्रत्यये निवर्तते सूत्रयातिक्रियासंबन्धाच्च द्वितीयैव, एवं द्वारमुद्घाटयति, पाप्मिन उल्लाघयति, त्रिलोकी तिलकयतीत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । अथ तपः करोति तपस्यतीत्यादिवत् कर्मणो वृत्तावन्तर्भूतत्वान्मुण्डिरकर्मकः प्राप्नोति ? नैवम्,

सामान्यकर्मान्तर्भूतं विशेषकर्मणा तु सकर्मक एव, मुण्डयति कं छात्त्रमिति, यद्येवं पुत्रीयतिरपि विशेषकर्मणा सकर्मकः प्राप्नोति पुत्रीयति कं छात्त्रमिति ? सत्यम्,—आचारक्यना तु बुद्धेरपहृतत्वात् इच्छाक्यन्नन्तस्य विद्यमानमपि विशेषकर्म न प्रयुज्यते । तथाहि—पुत्रीयति छात्त्रमित्युक्ते पुत्रमिवाचरति छात्त्रमिति प्रतीतिर्भवति न तु पुत्रमिच्छतीति । तदुक्तम्—

सदपीच्छाक्यनः कर्म, तदाचारक्यना हृतम् ।
कौटिल्येनैव गत्यर्थाभ्यासो वृत्तौ न गम्यते ॥1॥

मुण्डं बलीवर्दं करोतीति उभयधर्मविधाने मुण्डं शुक्लं करोतीत्यनुवादे वानभिधानान्न भवति । पटुमाचष्टे करोति वा पटयति, एवं स्थूलं स्थवयति, दूरं दवयति, युवानं यवयति, क्षिप्रं क्षेपयति, क्षुद्रं क्षोदयति, प्रियं प्रापयति, स्थिरं स्थापयति, स्फिरं स्फापयति, पुच्छं पुच्छयति, वृक्षमाचष्टे रोपयति वा वृक्षयति, कृतं गृह्णाति कृतयति, एवं वर्णयति, त्वचयति त्वचशब्दोऽकारान्तस्त्वक्पर्यायः, रूपं दर्शयति रूपयति-रूपं निध्यायति-निरूपयति, लोमान्यनुमार्ष्टि-अनुलोमयति, तूस्तानि विहन्ति उद्वहति वा-वितूस्तयति, उत्तूस्तयति केशान्-विजटीकरोतीत्यर्थः ।

वस्त्रं वस्त्रेण वा समाच्छादयति सवस्त्रयति, वस्त्रं परिदधाति परिवस्त्रयति, तृणान्युत्प्लुत्य शातयति उत्तृणयति, हस्तिमातिक्रामति अतिहस्तयति, एवमत्यश्वयति, वर्मणा संनह्यति संवर्मयति, वीणया उपगायति उपवीणयति, सेनया अभियाति अभिषेणयति, चूर्णैरवध्वंसयति, अवकिरति वा अवचूर्णयति, तूलैरनुकुष्णाति अवकुष्णाति अनुगृह्णाति वा अनुतूलयति अवत्तूलयति, वास्या छिनत्ति वासयति, एवं परशुना परशयति, असिना असयति, वास्या परिच्छिनत्ति परिवासयति, वाससा उन्मोचयति, उद्वासयति, श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति, हस्तेनापक्षिपति अपहस्तयति, अश्वेन संयुनक्ति समश्वयति, गन्धेनार्चयति गन्धयति, एवं पुष्पयति । बलेन सहते बलयति, शीलेनाचरति शीलयति, एवं सामयति, सान्त्वयति, छन्दसोपचरति उपमन्त्रयते वा उपच्छन्दयति, पाशेन संयच्छति संपाशयति, पाशं पाशाद्वा विमोचयति विपाशयति, शूरो भवति शूरयति, वीर उत्सहते वीरयति, कूलमुल्लङ्घ-यति उत्कूलयति, कूलं प्रतीपं गच्छति प्रतिकूलयति, कूलमनुगच्छति अनुकूलयति, लोष्टानवमर्दयति अवलोष्टयति, पुत्रं सूते पुत्रयति इत्यादि ।

आख्यानं नलोपाख्यानं कंसवधं, सीताहरणं, रामप्रव्रजनं, राजागमनं, मृगरमणम्, आरात्रिविवासमाचष्टे इत्यादिषु इन्द्रियाणां जयं, क्षीरस्य पानं, देवानां यागं, धान्यस्य क्रयं, धनस्य त्यागम्, ओदनस्य पाकं करोतीत्यादिषु च बहुलवचनान्न भवति ।

अथ हस्तौ निरस्यति, हस्तयते, पादयते इत्यादिवदुत्पुच्छयते इत्यादावप्युपसर्गस्याप्रयोगः प्राप्नोति ? नैवम्, यत्रानेकविशेषणविशिष्टा क्रिया प्रत्ययार्थस्तत्र क्रियाविशेषाभि- व्यक्तये युक्त उपसर्गप्रयोगः, यथा-विपाशयति संपाशयतीति। यत्र त्वेकविशेषणविशिष्टा क्रिया प्रत्ययार्थस्तत्र संदेहाभावादुपसर्गो न प्रयुज्यते, यथा श्येन इवाचरति श्येनायते, बाष्पमुद्वमति बाष्पायते, हस्तौ निरस्यति हस्तयते, पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति । यद्येवमतिहस्तयति, उपवीणयति इत्यादावेकैकविशेषणविशिष्टत्वादुपसर्गप्रयोगो न प्राप्नोति ? मैवं, अत्र णिच्प्रत्ययस्य करोत्याचष्टेऽतिक्रामति इत्याद्यनेकार्थत्वात् संदेहे तदभिव्यक्त्यर्थमुपसर्गप्रयोगः,—यत्र पुनरनेकोपसर्गविशिष्टा क्रिया प्रत्ययार्थस्तत्र शब्दशक्तिस्वाभाव्यादेक एवोपसर्गार्थः प्रत्ययार्थेऽन्तर्भवति द्वितीयस्तुपसर्गेणैव प्रत्याय्यते यथा-भाण्डं समाचिनोति-संभाण्डयते, वस्त्रं वस्त्रेण वा समाच्छादयति संवस्त्रयतीति ॥42॥

न्या०स०—णिज्बहुलं०-व्याकरणं सूत्रयतीत्यादौ-सापेक्षत्वेऽपि गणपाठाण्णिजिष्यते ।

पाप्मिन उल्लाघयतीति-पाप्मा पापमस्त्येषां शिखादित्वादिन् पाप्मिनामुल्लाघं करोति । *त्रिलोकीमिति*-त्रिभुवनीति तु न तस्य पात्रादौ दर्शनात् । *तदुक्तं सदपीच्छाक्यन इति*-यथा जंगम्यते इत्यादौ यद्यपि भृशं गच्छति, तथापि कुटिलं गच्छति इत्येव प्रतीयते न भृशार्थस्तथाऽत्रापि इच्छाक्यनः कर्म विद्यमानमपि आचारक्यना हृतं सद्वृत्तौ आख्यातवृत्तौ न प्रतीयते ।

उभयधर्मविधाने इति-कश्चिन्मृन्मयं बलीवर्दं करोति, तत्र च मुण्डत्वं बलीवर्दत्वं च धर्मद्वयं विधत्ते, तत्र न भवति, मुण्डं प्रसिद्धमनूद्याप्रसिद्धं शुक्लं करोतीत्यनुवादे च न भवत्यनभिधानात् । पटयतीति-अत्र वार्तिककारो वृद्धिमनिच्छन्नपपटदिति मन्यते, स्वमते तु वृद्धावसमानस्यौकारस्य लोपे सन्वद्भावादपीपटदिति भवति । *त्वचयतीति*-नन्वत्र ``नैकस्वरस्य'' (7-4-44) इत्यन्त्यस्वरादिलोपनिषेधे वृद्ध्यां त्वाचयततीति प्राप्नोति तत्कथमित्याह-त्वचशब्द इत्यादि अत्र व्यञ्जनान्तं त्वक्शब्दं परित्यज्य स्वरान्तपाठेन ज्ञाप्यते क्वचिन्नाम्नोऽप्यतो ``ञ्णिति'' (4-3-50) इति वृद्धिर्भवति, यथा त्वापयति मापयतीति । ततश्चात्र व्यञ्जनान्तस्य वृद्धौ त्वाचयतीत्यनिष्टं रूपमापाद्येत ।

तुलैरनुकृष्णातीति-तुलैः कृत्वा अनुकूलं, अवाक् च यथा भवति, एवमन्तरवयवान् बहिर्निकासति-निःसारयतीत्यर्थः । अनुकुष्णात्यवकुष्णात्यनयोरुभयोः साधरणोऽर्थोऽनुगृह्णातीति, यतोऽत्रान्वर्थेऽवः । *इन्द्रियाणां जयमिति*-इन्द्रियजयं करोतीत्येवमपि कृते न भवति बाहुलकादेव, यथा विपाशयतीति-पाशिक्रिया हि विमोचनसंयमाद्यनेकविशेषणविशिष्टा सती प्रत्ययवाच्या ततश्चोपसर्गप्रयोगाभावे एकतरेणापि विशेषणेन वैशिष्ट्यं न प्रतीयते ।

संभांडयते इति-शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् प्रत्ययेनाऽर्थः प्रतिपाद्यते न समर्थ इत्याभाण्डयते इत्यादि न भवति ।

व्रताद् भुजि-तन्निवृत्त्योः ।। 3. 4. 43. ।।

व्रतं शास्त्रविहितो नियमः– व्रतशब्दाद्भोजने तन्निवृत्तौ च वर्तमानात्कृगादिष्वर्थेषु णिच् प्रत्ययो भवति बहुलम् । पय एव मया भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्णाति वा पयो व्रतयति, सावद्यान्नं मया न भोक्तव्यमिति व्रतं करोति, गृह्णाति वा सावद्यान्नं व्रतयति । अर्थनियमार्थ आरम्भः ।।43।।

न्या०स०–व्रताद् भुजि०-अर्थनियमार्थ आरम्भ इति-यदि बहुलग्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वात् अर्थनियमो भविष्यतीत्युच्यते तदा तत्प्रपञ्चार्थोऽयमित्यदोषः, उक्तं हि–

'ते वै विधयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च ।'

सत्यार्थवेदस्याः ।। 3. 4. 44. ।।

सत्यार्थवेद इत्येतेषां णिच्संनियोगे आकारोऽन्तादेशो भवति । सत्यमाचष्टे करोति वा सत्यापयति, एवमर्थापयति, वेदापयति । ''त्रन्त्यस्वरादेः'' (7-4-43) इत्याकारस्य लुग्न भवति विधानसामर्थ्यात् ।।44।।

न्या०स०–सत्यार्थ०–णिज्संनियोगविधानादाकारेण णिच् न बाध्यते । *त्रन्त्यस्वरादेरिति* येन नाप्राप्त इति न्यायेनान्तलोपस्य बाधकत्वेन आकारविधानात् अकारस्यैव प्रथमं ''त्रन्त्यस्वरादेः'' (7-4-43) इत्यन्त्यलोपो न भवति ।

श्वेताश्वाश्वतर-गालोडिताऽऽह्वर-कस्याश्वतरेतक-लुक् ।। 3. 4. 45. ।।

श्वेताश्व, अश्वतर, गालोडित, आह्वरक इत्येतेषां णिच्संनियोगे यथासंख्यमश्वतरेतक इत्येतेषां लुग्भवति । श्वेताश्वमाचष्टे करोति वा श्वेताश्वेनातिक्रामतीति वा श्वेतयति, एवमश्वयति, गालोडितमाचष्टे करोति वा गालोडयति एवमाह्वरयति । लुगर्थं वचनं णिच् तु सर्वत्र पूर्वेण सिद्ध एव ।।45।।

न्या०स०–श्वेताश्व०–श्वेतयतीत्यादिष्वनेन सस्वराणामेवाश्वादीनां लुक्, न तु त्रन्त्यस्वरादेरित्यकारलोपे सति विशेषविधानात् अश्वादिलोपात्पश्चादपि त्रन्त्यस्वरादेरित्यन्त्यस्वरादेर्न लुक्, 'सकृत् बाधित' इति न्यायात्, श्वेतयीत्यादिषु अन्त्यस्वरादेर्लोपेऽपि न किंचिद् विनश्यति। गालोडयतीत्यत्र तु अनेन इतलोपे ''त्रन्त्यस्वरादेः'' (7-4-43) इत्योडलोपे सति गालयतीति स्यात्, 'लोडुङ उन्मादे', लोडनं क्लीबे क्तः गोर्लोडितम्, अथवा गुप्तं लोडितं क्षीरस्वामिना पृषोदरादिः। नन्वतिहस्तयतीतिवत् श्वेतयतीत्यत्राप्यतिशब्द- प्रयोगः प्राप्नोति ? न, अत्र शब्दशक्तिस्वाभाव्यादतिशब्दमन्तरेणापि तदर्थप्रतीतिः।

धातोरनेकस्वरादाम् परोक्षायाः कृभ्वस्ति चानु तदन्तम् ॥ 3. 4. 46. ॥

अनेकस्वराद्धातोः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो भवति, आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयो धातवः परोक्षान्ता अनु पश्चादनन्तरं प्रयुज्यन्ते। चकासांचकार, चकासांबभूव, चकासामास, चुलुम्पांचकार, चुलुम्पांबभूव, चुलुम्पामास, लोलूयांचक्रे, लोलूयांबभूव, लोलूयामास। अस्तेर्भूर्न भवति विधानबलात्। अनेकस्वरादिति किम् ? पपाच। कश्चित्तु प्रत्ययान्तादेकस्वरादपीच्छति,– गौरिवाचचार गवांचकार, गवांबभूव, गवामास, एवं स्वांचकारेत्यादि। अनुग्रहणं विपर्यासव्यवहितनिवृत्त्यर्थम्, तेन चकारचकासाम् ईहांदेवदत्तश्चक्रे इत्यादि न भवति। उपसर्गस्य तु क्रियाविशेषकत्वात् व्यवधायकत्वं नास्ति। तेन उक्षां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्' इत्यादि भवत्येव ॥46॥

न्या०स०–धातोर०–धातुग्रहणाभावे उपसर्गपूर्वाददेरपि स्यात्। लोलूयांचक्रे इति-''आमः कृगः'' (3-3-75) इति नियमादामः परात् कृग एवात्मनेपदं न भ्वस्तिभ्याम्। *पपाचेति*-द्विर्वचने कृते त्वनेकस्वरत्वेऽपि संनिपातेति न्यायान्न भवति, विहितविशेषणाद् वा, यद्यनेकस्वराद् विहितो भवति। *उपसर्गस्य त्विति*-ननु कर्त्राद्यपि क्रियाया विशेषकं भवतीति तस्याप्यव्यवधायकत्वं प्राप्नोति ? नैवं, क्रियाया एव विशेषकमित्यवधारणस्य विवक्षितत्वात्, कर्त्रादि च यथा क्रियाया विशेषकं तथा द्रव्यस्यापीति, तथा तं पातयां प्रथममासेति कथंचित्समर्थ्यते, प्रथममित्यस्य क्रियाविशेषणत्वात्। प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकारेति त्वतिदुष्टम्।

दयायास्कासः ॥ 3. 4. 47. ॥

दय्, अय्, आस्, कास्, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो

भवति आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते । दयांचक्रे, दयांबभूव, दयामास, पलायांचक्रे, पलायांबभूव, पलायामास, आसांचक्रे, आसांबभूव, आसामास, कासांचक्रे, कासांबभूव, कासामास ॥47॥

गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः ॥ 3. 4. 48. ॥

गुरुर्नामी आदिर्यस्य तस्माद्धातोर्ऋच्छूर्णु-वर्जितात् परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो भवति, आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते । ईहांचक्रे, ईहांबभूव, ईहामास, उञ्छांचकार, व्युछांचकार, उब्जांचकार । गुरुग्रहणं किम् ? इयेष । नामिग्रहणं किम् ? आनर्च । आदिग्रहणं किम् ? निनाय । ईङस्तु व्यपदेशिवद्भावाद्भवति-अयांचक्रे, अयांबभूव, अयामास, ईषतुः ईषुः इत्यत्र ❊ *संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य* ❊ इति न भवति । अनुच्छूर्णोरिति किम् ? आनर्च्छ, प्रोर्णुनाव । अत एव ऋच्छप्रतिषेधा- त्संयोगे परे पूर्वो गुरुरिति विज्ञायते ॥48॥

न्या०स०—गुरुनाम्यादे०-गुरुग्रहणं नामिनो विशेषणं न धातोः, धातुविशेषणे हि इयेष इत्यत्रापि स्यात् । *व्यपदेशिवद्भावादिति*-धातुपारायणकृता तु व्यपदेशिवद्भावो नेष्टस्तन्मते ईये इत्येव भवति ।

जागृुषसमिन्धेर्नवा ॥ 3. 4. 49. ॥

जागृ, उष, सम्पूर्व इन्ध इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो वा भवति, आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते । जागरांचकार, जागरांबभूव, जागरामास, जजागार, ओषांचकार, उवोष, समिन्धांचक्रे, समीध । सम्ग्रहणं किम् ? इन्धांचक्रे, प्रेन्धांचक्रे । सोपसर्गादिन्धेराम् न भवत्येवेति कश्चित्, अन्ये तु परोक्षायामिन्धेरामन्तस्यैव प्रयोग इत्याहुः । समोऽन्यत्रापि इन्धेराम्विकल्प इत्यन्यः । इन्धांचक्रे ईधे इति ॥49॥

भी-ह्री-भृ-होस्तिव्वत् ॥ 3. 4. 50. ॥

भी, ह्री, भृ हु इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो वा भवति, स च तिव्वत् आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते । बिभयांचकार, बिभयांबभूव, बिभायमास, बिभाय, जिह्रयांचकार, जिह्राय, बिभरांचकार, बभार, जुहवांचकार, जुहाव, जुहवांचक्रे, जुहुवे । तिव्वद्भावाद् द्वित्वमित्वं चेति ॥50॥

न्या०स०—भीह्री०-जुहवांचक्रे इति-अत्र ``क्य: शिति'' (3-4-70) इति क्यो न भवति, शितीति सामान्योक्तेऽपि क्यस्य भावे कर्मणि च विधानाच्छित् प्रत्ययोऽपि भावकर्म विहितो गृह्यते, अत्र तिव्वदित्युक्तं । तिव् च भावेकर्मणि न भवति, ग्रन्थकृता च तिव्वद्भावाच्छित्वे द्वित्वमित्वं चेत्येवोक्तम् ।

वेत्ते: कित् ॥ 3. 4. 51. ॥

'विदक् ज्ञाने' इत्यतो धातो: परस्या: परोक्षाया: स्थाने आमादेशो वा भवति, स च कित् आमन्ताच्च कृभ्वस्तयोऽनु प्रयुज्यन्ते । विदांचकार, विदांबभूव, विदामास । कित्त्वाद्गुणो न भवति । पक्षे, विवेद, वेत्तेरविदिति कृते इन्ध्यसंयोगात्परोक्षा किद्वदित्याम: स्थानिवद्भावेन कित्त्वे सिद्धेऽपि कित्त्वविधानमाम: परोक्षावद्भावनिवृत्तिज्ञापनार्थम्, तेन परोक्षावद्भावेन हि कित्त्वद्विर्वचनादिकं न भवति । तिव्निर्देश आदादिकपरिग्रहार्थ: ॥51॥

न्या०स०—वेत्ते: कित्-कित्त्वद्विर्वचनादिकं न भवतीति-तेन जुहवांचक्रे कित्त्वाऽभावाद्गुण: । विदांचकार अपरोक्षत्वात् द्विर्वचनाभाव:, आदि शब्दाद्दयांचक्रे इत्यादौ एत्वाभाव: सिद्ध: । *आदादिकपरिग्रहार्थ इति*-अन्यथा विद इति सामान्योक्तौ चतुर्ण्णाम- ऽदाद्यनदाद्योरित्यतोऽदादिवर्जितानां त्रयाणां वा ग्रह: स्यात्, यङ्लुब्निवृत्त्यर्थश्च तिव्-निर्द्देश:, तेन यङ्लुपि वेवेदांचकारेति सिद्धम्, ``धातोरनेकस्वरात्'' (3-4-46) इत्यामि नाऽनेन विकल्प: ।

पञ्चम्या: कृग् ॥ 3. 4. 52. ॥

वेत्ते: परस्या: पञ्चम्या: स्थाने किदामादेशो वा भवति, आमन्ताच्च पर: पञ्चम्यन्त: कृगनु प्रयुज्यते । विदांकरोतु-वेत्तु, विदांकुरु-विद्धि, विदांकरवाणि-वेदानि । कृग्ग्रहणं भ्वस्तिव्युदासार्थम् ॥52॥

*न्या०स०—पञ्चम्या०—*भ्वस्तिसंबद्ध एव कृगऽनूद्यते, तेन कृंग्ट् इत्यस्य न ग्रह: ।

सिजद्यतन्याम् ॥ 3. 4. 53. ॥

धातोरद्यतन्यां परभूतायां सिच् प्रत्ययो भवति, वेति निवृत्तम् । अनैषीत्, अपाक्षीत्, अकृषाताम् कटौ चैत्रेण । इकारचकारौ विशेषणार्थौ ॥53॥

न्या०स०–सिजद्य०–``चजः कगम्'' (2-1-86) इति कृते कित्त्वाशङ्का स्यात् । *वेति निवृत्तमिति*-आम्निवृत्तौ तत्संबन्धत्वात्, *विशेषणार्थाविति*-अन्यथा ``हनः सिज्'' (4-3-38) इत्यादौ सिरिति कृते वर्त्तमाना-`सि'-प्रत्यये स इति च कृते सकारादिमात्रे प्रसङ्गः स्यात् ।

स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपो वा ।। 3. 4. 54. ।।

स्पृशादिभ्यो धातुभ्योऽद्यतन्यां सिज्वा भवति । अस्प्राक्षीत्, अस्पार्क्षीत्, अस्पृक्षत्; अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत्, अमृक्षत्; अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत्, अकृक्षत्; अत्राप्सीत्, अतार्प्सीत्, अतृपत्; अद्राप्सीत्, अदार्प्सीत्, अदृपत् । तृपदृपोः पुष्यादित्वादङि शेषाणां तु सकि प्राप्ते वचनम् ।।54।।

न्या०स०–स्पृश०-दृपः साहचर्यात् तृपौच् इत्यस्य ग्रहणं, कृषस्तु स्पृशमृशाभ्यां न साहचर्यमनिष्टेः । *सकि प्राप्ते वचनमिति*–ननु यथाऽयमङि सकि च प्राप्ते विधीयमानस्तयोः पक्षे बाधको भवत्येवं ञिचोऽपि बाधकः प्राप्नोत्यस्मिन्नपि प्राप्तेऽस्य विधीयमानत्वादिति ? नैवं, ❈ पूर्वे अपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❈ इति न्यायात् ।

हशिटो नाम्युपान्त्याददृशोऽनिटः सक् ।। 3. 4. 55. ।।

हशिडन्तान्नाम्युपान्त्याद् दृशिवर्जितात् अनिटो धातोरद्यतन्यां परतः सक् प्रत्ययो भवति, सिचोऽपवादः । दुह्–अधुक्षत्, विश्-अविक्षत्, लिहलिशोः, अलिक्षत्, द्विष्-अद्विक्षत् । हशिट इति किम् ? अभैत्सीत् । नाम्युपान्त्यादिति किम् ? अधाक्षीत् । अदृश इति किम् ? अद्राक्षीत् । अनिट इति किम् ? अकोषीत् । विकल्पितेटोऽपि पक्षेऽनिट्त्वाद्भवति,–न्यधुक्षत् । अन्यत्र न भवति-न्यगूहीत् ।।55।।

न्या०स०–हशिटो०:–सिचोऽपवाद इति-तस्मिन् प्राप्तेऽस्य विधानात् । अदृश *इति किम् ?* ननु परत्वात् पूर्वमकारागमे नाम्युपान्त्यभावात् सको न प्राप्तिस्तत्किं वर्जनेन ? नैवं, ``नशो धुटि'' (4-4-109) इत्यतो धुटीत्यधिकारात् स्वरादिप्रत्यये ``अः सृजि'' (4-4-111) इत्यकारागमो नास्ति, ततो नाम्युपान्त्यत्वात् सकि व्यत्यदृक्षन्त इत्यनिष्टं स्यात् । सिचस्तु व्यञ्जनान्तत्वेनाऽनका-रान्तत्वात्, ``अनतोऽन्तो'' (4-2-114) लुपि व्यत्यदृक्षत इति, अमादौ च अदृक्षं व्यत्यदृक्षेतामित्यादि स्यात्, सिचि तु अद्राक्षं व्यत्यदृक्षातामिति भवति ।

श्लिषः ।। 3. 4. 56. ।।

श्लिषो धातोरनिटोऽद्यतन्यां सक् प्रत्ययो भवति । आश्लिक्षत्कन्यां देवदत्तः, पुष्यादित्वादङिप्राप्ते वचनम् ❁ पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❁ इत्यङ एव बाधो न ञिचः । आश्लेषि कन्या देवदत्तेन । अनिट इत्येव ? श्लिषू, दाह इत्यस्मात्सेटो माभूत्-अश्लेषीत्, अधाक्षीदित्यर्थः ।।56।।

नासत्त्वाऽऽश्लेषे ।। 3. 4. 57. ।।

श्लिषो धातोरप्राण्याश्लेषे वर्तमानात् सक् प्रत्ययो न भवति,–उपाश्लिषज्जतु च काष्ठं च, समाश्लिषद् गुरुकुलम् । पृथग्योगात्पूर्वेणापि प्राप्तः प्रतिषिध्यते, व्यत्यश्लिक्षत काष्ठानि । असत्वाश्लेष इति किम् ? व्यत्यश्लिक्षन्त मिथुनानि ।।57।।

न्या०स०–नाऽसत्त्वा०:–❁ नन्वनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा ❁ इति न्यायादनन्तरस्य सकोऽङ् बाधकत्वात् परस्मैपदविषयस्यैव प्रतिषेधः प्राप्नोति, न तु क्रियाव्यतिहारे कर्त्तर्यात्मनेपदे प्रवर्त्तमानस्य ``हशिट०'' (3-4-57) इत्यस्येत्याशङ् क्याह–*पृथग्योगादिति*-यदि ह्यनन्तरविहितस्यैव प्रतिषेधः स्यात्तदा श्लिषोऽसत्त्वाश्लेषे इत्येकमेव योगं कुर्यात् ।

व्यत्यश्लिक्षन्त मिथुनानीति-अत्र प्राचः पूर्वस्मात् परो विधिः प्राग्विधिरित्यकारस्य स्थानित्वात् ``अनतोऽन्तो०'' (4-2-114) इत्यनेनादेशो न भवति ।

णि-श्रिद्रु-सु-कमः कर्तरि ङः ।। 3. 4. 58. ।।

ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च कर्तरि अद्यतन्यां ङः प्रत्ययो भवति । णि-अचीकरत्, अचूचुरत्, औजढत्, अचीकमत । कर्मकर्तापि कर्तैव । अचीकरत कटः स्वयमेव, श्रि-अशिश्रियत्, द्रुं-अदुद्रुवत्, स्रुं गतौ-असुस्रुवत्, कम्-अचकमत ।

कर्तरीति किम् ? अकारयिषातां कटौ देवदत्तेन । कमिग्रहणम् ``अशवि ते वा'' (3-4-4) इति यदा णिङ् नास्ति तदार्थवत् । ङकारो ङित्कार्यार्थः ।।58।।

न्या०स०–णिश्रि०–अचीकरदिति–ननु ``स्वरस्य परे'' (7-4-110) इति ह्रस्वत्वस्य स्थानित्वे लघोऽभावात् सन्वद्भावो न प्राप्नोति ? न, एतत्सूत्रसामर्थ्याद् भवति, यत ओणेर्ऋदनुबन्धकरण-व्याख्यानात् पूर्वं ह्रस्वत्वे कृते स्थानिवद्भावो न, प्राग्विधावित्यस्य प्राचि पूर्वस्मिन् काले विधिः प्राग्विधिरिति व्याख्यानात् वा ।

औजढदिति–अत्र परे द्वित्वे ``हो धुट्पदान्ते'' (2-1-82) इत्यस्याऽसत्त्वे तदाश्रितत्वात् ``अधश्चतुर्थात्तथो०'' (2-1-79) इत्यस्याप्यऽसत्त्वे ❈ णौ यत् कृतम् ❈ इति न्यायादऽकारस्य स्थानित्वे ``नाम्नो द्वितीयात्'' (4-1-7) इत्यनेन ह्तेति द्विर्वचनं तत्र यदा परे द्वित्वे ``हो धुट्पदान्ते'' (2-1-82) इत्यस्य शास्त्रस्यासिद्धिराश्रीयते तदा पुनरपि ``हो धुट् पदान्ते'' (2-1-82) इत्यादि प्रक्रिया क्रियते ततो ``ढस्तड्डे'' (1-3-43) इति ढलोपे पूर्वजकाराऽकारस्य दीर्घत्वे ``ह्रस्वः'' (4-1-39) इत्यनेन ह्रस्वः ।

अकारयिषातामिति–क्रियेते कटौ देवदत्तेन, तो देवदत्तेन क्रियमाणौ यज्ञदत्तेन प्रयुज्येते स्म, यद्वा करोति कटौ देवदत्तः, स एवं विवक्षते नाहं करोमि, अपि तु क्रियेते कटौ स्वयमेव, तौ क्रियमाणौ कटौ यज्ञदत्तेन प्रायुक्षाताम् ।

ट्धेश्वेर्वा ।। 3. 4. 59. ।।

ट्धेश्विभ्यां कर्तर्यद्यतन्यां ङः प्रत्ययो वा भवति । अदधत्, अधात्, अधासीत्, अशिश्वियत्, अश्वयीत्, अश्वत् । कर्तरीत्येव ? अधिषाताम् गावौ वत्सेन ।।59।।

शास्त्यसू-वक्ति-ख्यातेरङ् ।। 3. 4. 60. ।।

एभ्यो धातुभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामङ् प्रत्ययो भवति । शासूक्-अशिषत्, व्यत्यशिषत, अन्वशिषत स्वयमेव । असूच्-आस्थत्, अपास्थत्, वचंक् ब्रूग्क् वा, अवोचत्, अवोचत, ख्यांक् चक्षिक् वा-आख्यत्, आख्यत ।

कर्तरीत्येव ? अशासिषाताम् शिष्यौ गुरुणा । तिव्निर्देशो यङ्लुबन्तनिवृत्त्यर्थः । अशाशासीत्, अवावाचीत्, अचाख्यासीत् । असू इत्यूकारः किम् ? असक् भुवि, असी गत्यादौ-आभ्यां माभूत्-अभूत्, आसीत् । अस्यतेः पुष्यादित्वादङि सिद्धे वचनम् आत्मनेपदार्थम्, शास्तेरात्मनेपदे नेच्छन्त्येके, तन्मते व्यत्यशासिष्ट ।।60।।

न्या०स०–शास्त्य०–वक्तिख्यातीत्युक्ते चक्षिक्ब्रू गोरपि ग्रहणं, यतः ``इकिस्तिव्'' (5-3-138) इति इकि विषये वचः ख्यादेशे पश्चात्तिव् उत्पन्नः । *आत्मनेपदार्थमिति*तर्हि आत्मनेपदपरस्मैपदयोरनेनैव सिध्यति किं पुष्यादिपाठेन ? सत्यं, अस्य पुष्यादिपाठो द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति ज्ञापनार्थः, तेनास्मादऽङोऽव्यभिचारः, अन्येषां तु क्वचिद्व्यभिचारोऽपि, तेन भगवन्मा कोपीरित्यादि बालरामायणोक्तं सिद्धम् ।

सर्त्यर्तेर्वा ॥ 3. 4. 61. ॥

'सृऋृ' आभ्यां धातुभ्यां कर्तर्यद्यतन्यामङ् प्रत्ययो वा भवति । ऋृ-अदादिर्भ्वादिर्वा । असरत्, असार्षीत् । सर्तेः कर्तरि आत्मनेपदे न दृश्यते इति नोदाह्रियते । ऋआरत्, आर्षीत्, समारत, समार्ष्ट । आत्मनेपदे न भवति परस्मैपदे नित्यमित्येके, परस्मैपदे नित्यमात्मनेपदेऽर्तेर्वा सर्तेर्नेत्यन्ये । उभयत्र नित्यमित्यपरे, तिव्निर्देशो यङ्लुबन्तनिवृत्त्यर्थः– असरिसारीत्, आरारीत् ॥61॥

न्या०स०–सर्त्यर्त्ते-अदादिर्भ्वादिर्वेति–निर्देशादेव शवऽभावे तिव्निर्देशस्य समानत्वादुभयोर्ग्रहणमित्यर्थः । *आत्मनेपदं न दृश्यत इति*–''क्रियाव्यतिहार'' (3-3-23) इत्यत्र गत्यर्थवर्जनात्, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति ज्ञानार्थस्यापि नेष्यते । *समार्ष्ट इति*–अत्र नित्यत्वात् सिज्लोपात् प्रागेव ''स्वरादेस्तासु'' (4-4-31) इति वृद्धिरिति न्यासः, ''एत्यस्तेर्वृद्धिः'' (4-4-30) इति ❈ ज्ञापकज्ञा-पिता विधयो ह्यनित्या इति ❈ न्यायाद् वा प्रागेव वृद्धिः । *सर्त्तनेत्यन्य इति*-ते हि सर्त्तेरात्मनेपदमिच्छन्ति नाऽङम् । *आरारीत्*– भृशं पुनः पुनर्वा इयर्त्ति ऋच्छति वा ''अट्यर्ति'' (4-4-30) इति यङ् तस्य लुप् ततो द्विर्वचनम्, ''ऋतोऽत्'' (4-1-38) ''रिरौ च लुपि'' (4-1-56) इति रागमस्ततोऽद्यतनीदि, सिच्, ''सःसिजस्तेर्दिस्योः'' (4-3-65) ईत्, इट् ''इट ईति'' (4-3-71) सिच्लोपस्ततः ''सिचिपरस्मै०'' (4-3-44) इति धातोर्वृद्धिरार्, ततः ''स्वरादेस्तासु'' (4-4-31) इति पूर्वस्याकारस्य आकारः ।

ह्वा-लिप्-सिचः ॥ 3. 4. 62. ॥

एभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामङ् प्रत्ययो भवति । आह्वत्, अलिपत्, असिचत् ॥62॥

वात्मने ॥ 3. 4. 63. ॥

ह्वादिभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामात्मनेपदे वाङ् भवति । आह्वत, आह्वास्त, अलिपत, अलिप्त, असिचत, असिक्त ॥63॥

न्या०स०–वात्मने०ः–आह्वतेति–स्पर्द्धापूर्वके आकारणे ''ह्वः स्पर्द्धे'' (3-3-56) इत्यनेनात्मनेपदं, सामान्याकारणे ''ईगितः'' (2-3-95) इत्यनेनात्मनेपदम् ।

लुदिद्-द्यु तादि-पुष्यादेः परस्मै ॥ 3. 4. 64. ॥

लुदितो धातोर्द्युतादिभ्यः पुष्यत्यादिभ्यश्च कर्तर्यद्यतन्यां परस्मैपदे अङ् प्रत्ययो भवति । लृदित्-अगमत्, असृपत्, अशकत् । द्युतादि-अद्युतत् अरुचत् । द्युतादयो ``द्युद्भ्योऽद्यतन्याम्'' (3-3-44) इत्यत्र परिगणिताः । पुष्यादिः—अपुषत्, औचत्, अश्लिषत् जतु च काष्ठं च, पुष्यादयो दिवाद्यन्तर्गताः ``दिवादेः श्यः'' (3-4-72) इत्यत्र परिगणिष्यन्ते । श्यनिर्देशः किम् ? पोषतिपुष्णात्यादिभ्यो माभूत्-अपोषीत्, अभूषीत्, अपोषीत्, अकोषीत् । परस्मैपद इति किम् ? समगंस्त, व्यद्योतिष्ट, व्यत्यपुक्षत ।।64।।

*न्या०स०—लृदिद्द्युतादि-*आगन्तुनाऽकारेण द्युतेति कृत्वा तृतीयत्वाप्रसङ्गात् द्युतादीति निर्देशः । अश्लिषत् जतु च काष्ठं चेति-जतु च कर्तृ, काष्ठं च कर्तृ अश्लिषत् कर्म किमपि न विवक्षितं ``श्लिषः'' (3-4-53) इति सक् प्राप्तो ``नाऽसत्त्वाश्लेषे'' (3-4-57) इति निषेधः । ननु द्युतादयः पुष्यादयश्च लृदितः कृत्वा लृदितः परस्मै इत्येतावदेव सूत्रं विधेयम् ? नैवं, द्युतादयः पुष्यादयश्च बहव आदित उदितश्च ततस्तेषां लुदितामुच्चारयितुमऽशक्यत्वाददोषः ।

ऋदिच्छ्वि-स्तन्भू-स्तुम्भू-म्रु चूम्लु-चू-ग्रु-चूग्लु-चुग्लुश्चूज्रो वा ।। 3. 4. 65. ।।

ऋदितो धातोः श्विप्रभृतिभ्यश्च कर्तर्यद्यतन्यां परस्मैपदे वाङ् प्रत्ययो भवति । अरुधत्, अरौत्सीत्, अभिदत्, अभैत्सीत्, अश्वत्, अश्वयीत्, अशिश्वियत्, अस्तमत्, अस्तम्भीत् अस्तुभत्, अस्तुभवत्, अस्तुम्भीत् अम्रुचत्, अम्रोचीत्, अम्लूचत्, अम्लोचीत्, अग्रुचत्, अग्रोचीत्, ग्रुचो नेच्छन्त्यन्ये-अग्लुचत्, अग्लोचीत्, अग्लुचत्, अग्लुश्चीत् । ग्लुचूग्लुश्चोरेकतरोपा-दानेऽपि रूपत्रयं सिध्यति अर्थभेदात्तु द्वयोरुपादानम्, अन्येत्वङ्विधानसामर्थ्यात् ग्लुश्चेर्नलोपं-नेच्छन्ति, तेनाग्लुश्चत् । जॄश्जॄष्वा अजरत्, अजारीत् । परस्मैपद इत्येव ? अरुद्ध, अभित्त ।।65।।

ञिच् ते पदस्तलुक् च ।। 3. 4. 66. ।।

पदिंच् गतावित्यस्माद्धातोः कर्तर्यद्यतन्यास्ते परे ञिच् प्रत्ययो भवति निमित्तभूतस्य तकारस्य लुक् च । उदपादि भिक्षा, समपादि विद्या । त इति किम् ? उदपत्साताम्,—पदेरात्मनेपदित्वात्त इति आत्मनेपदप्रथमत्रिकैकवचनं तकारो गृह्यते न परस्मैपदमध्यमत्रि-कबहुवचनम्, एवमुत्तरत्र-ञकारो ``ञ्णिति'' (4-3-50) इति विशेषणार्थः । चकारो ``न कर्मणा ञिच्'' (3-4-88) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।66।।

न्या०स०–ञिच् ते०-न परस्मैपदमध्यमत्रिकबहुवचनमिति ❊ ननु प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ❊ इति यङ् लुक् च इति परस्मैपदित्वे च परस्मैपदस्यापि संभवः ? न, श्रुतानुमितयोः श्रौतसंबन्धो बलीयान्, यङ्लोपोऽपि च न दृश्यते, अत एव सिद्धमऽन्ववादि ।

दीप-जन-बुधि-पूरितायप्यायो वा ।। 3. 4. 67. ।।

एभ्यः कर्तर्यद्यतन्यास्ते परे ञिच् प्रत्ययो वा भवति निमित्तभूततलुक् च । अदीपि, अदीपिष्ट, अजनि, अजनिष्ट, अबोधि, अबुद्ध, अपूरि, अपूरिष्ट, अतायि, अतायिष्ट, अप्यायि, अप्यायिष्ट । त इत्येव ? अदीपिषाताम् । कर्तरीत्येव ? अदीपि भवता, उत्तरेण नित्यमेव । बुधीति इकारो दैवादिकस्यात्मनेपदिनः परिग्रहार्थः, तेन बुधृग् अबोधिष्टेत्यत्र न भवति ।

न्या०स०–दीपजन०– अजनीति–``न जनवध'' (4-3-54) इति वृद्ध्यभावः ।

भाव-कर्मणोः ।। 3. 4. 68. ।।

सर्वस्माद्धातोः भावकर्मविहितेऽद्यतन्यास्ते ञिच् प्रत्ययो भवति तलुक् च । आसि भवता, अशायि भवता, अकारि कटः । अपाच्योदनश्चैत्रेण ।।68।।

स्वर-ग्रह-दृश-हन्भ्यः स्य-सिजाशीः श्वस्तन्यां ञिट् वा ।। 3. 4. 69. ।।

स्वरान्ताद्धातोः ग्रहादिभ्यश्च विहितासु भावकर्मविषयासु स्यसिजाशीः श्वस्तनीषु ञिद् प्रत्ययो वा भवति । स्वर-दायिष्यते, दास्यते, अवायिस्यत, अदास्यत, अदायिषाताम्, अदिषाताम्, दायिषीष्ट, दासीष्ट, दायिता, दाता, शमिष्यते, शामिष्यते, शमयिष्यते, अशमिष्यत, अशामिष्यत, अशमयिष्यत, अशमिषाताम्, अशामिषाताम्, अशमयिषाताम्, शमिषीष्ट, शामिषीष्ट, शमयिषीष्ट, शमिता, शामिता, शमयिता, एवं चायिष्यते, चेष्यते, शायिष्यते, शयिष्यते, स्ताविष्यते, स्तोष्यते, लाविष्यते, लविष्यते, कारिष्यते, करिष्यते, तारिष्यते, तरिष्यते, तरीष्यते । ग्रह-ग्राहिष्यते, ग्रहीष्यते, अग्राहिषाताम्, अग्रहीषाताम् ग्राहिषीष्ट, ग्रहीषीष्ट, ग्राहिता ग्रहीता ।

दृश्-दर्शिष्यते, द्रक्ष्यते, अशिषाताम्, अदृक्षाताम् दर्शिषीष्ट, दृक्षीष्ट, दशिता, द्रष्टा ।

हन्-धानिष्यते, हनिष्यते, अधानिषाताम्, अवधिषाताम्, अहसाताम्, घानिषीष्ट, वधिषीष्ट, घानिता, हन्ता । एभ्य इति किम् ? पठिष्यते । स्यादिष्विति किम् ? चीयते । भावकर्मणोरित्येव ? दास्यति, चेष्यति । प्रकृतिप्रत्यययोर्वचनवैषम्यान्न यथासंख्यम् ।।69।।

न्या०स०–स्वरग्रह०–अदधिषातामिति–``अद्यतन्यां वा'' (4-4-22) इति वधस्तत इटि ``अतः'' (4-3-82) इत्यलोपः । *अहसातामिति–*``हनः सिच्'' (4-3-38) इति कित्त्वे ``यमिरमि'' (4-2-55) इति न लोपः ।

क्यः शिति ।। 3. 4. 70. ।।

सर्वस्माद्धातोर्भावकर्मविहिते शिति क्यः प्रत्ययो भवति । शय्यते भवता, शय्येत भवता, शय्यतां भवता, अशय्यत भवता, भिद्यते कुसूलेन । कर्मणि, क्रियते कटः, क्रियते कटः, क्रियतां कटः, अक्रियत कटः, अक्रियेतां कटौ, अक्रियन्त कटाः, क्रिया । शितीति किम् ? अभावि, बभूवे, भविषीष्ट, भविता, भविष्यते, अभविष्यत भवता, एवमकारि कटो भवता । भावकर्मणोरित्येव ? आस्ते, पचति ।।70।।

न्या०स०–क्यः शिति०-बभूवे इति–``धातोरिवर्णोवर्ण्ण०'' (7-1-50) इति उवादेशे ``भुवो वः'' (4-2-43) इत्यूकारः ।

कर्तर्यनद्भ्यः शव् ।। 3. 4. 71. ।।

धातोरदादिवर्जितात् कर्तरि विहिते शिति शव् प्रत्ययो भवति । शकारवकारौ शिद्वित्कार्यार्थौ, भवति चोरयति, पचन्, पचमानः, धारयः, पारयः, जनमेजयः । कर्तरीति किम् ? पच्यते । अनद्भ्य इति किम् ? अत्ति, अदती अदंप्सांक्-भक्षणे, भांक्, यांक्, वांक्, ष्णांक्, श्रांक्, द्रांक्, पांक्, लांक्, रांक्, दांव्क्, ख्यांक्, प्रांक्, मांक्, इंक्, इंणक्, वींक्, द्युंक्, षुंक्, तुंक्, युंक्, णुक्, क्ष्णुक्, स्नुक्, टुक्षुरुकुंक्, रुदृक्, ञिष्वपंक्, अनश्वसक्, जक्षक्, दरिद्राक्, जागृक्, चकासृक्, शासूक्, वचंक्, मृजौक्, सस्तुक्, विदक्, हनंक्, वशक्, असक्, षसक्, यङ्लुप्क्, इंङ्क्, शीङ्क्, न्हुंङ्क्, षूङौक्, पृचैङ्, पृजुङ्, पिजुकि, वृजैकि, णिजुकि शिजुकि, ईडिक्, ईरिक्, ईशिक्, वसिक्, आङः, शासूकि, आसिक्, कसुकि, णिसुकि, चक्षिक्, ऊर्णुग्क्, ष्टुंग्क्, ब्रूग्क्, द्विषींक्, दुहींक्, दिहींक्, लिहींक्, हुंक्, ओहांक्, ञिभींक्, हींक्, पृंक्, ऋृक्, ओहांङ्क् मांङ्क् डुदांग्क्, डुधांग्क्, टुडुभृंग्क्,

णिजृंकी, विजृंकी, विष्लृकी इति कितोऽदादयः । शितीत्येव ? पपाच ॥71॥

न्या०स०—कर्त्तर्यनद्भ्य—एकस्माद् बहुवचनानुपपत्तेः सर्वेषामप्यभेदोपचारात् अच्छब्देनाभिधानात् बहुत्वादनद्भ्य इति बहुवचनं, न विद्यते अद्येषामिति बहुव्रीहिस्तु नाशङ्कनीयो 'हवः शवि' (?) इत्यकरणात्, विशेषेसति सामान्योपादानस्याधिकत्वात् । *जनमेजय इति*-एजन्तमेजमानं प्रयुङ्क्ते णिग् जनमेजयतीति ''एजेः'' (5-1-118) इति खश् ।

दिवादेः श्यः ॥ 3. 4. 72. ॥

दिवादेर्गणात्कर्तृविहिते शिति श्यः प्रत्ययो भवति । शकारः शित्कार्यार्थः, दीव्यति, दीव्यन्,—श्यादयः शवोऽपवादाः । दिवूच्, जॄष्च्, झॄषच्, शोंच्, दोंच्, छोंच्, षोंच्, व्रीडच्, नृतैच्, कुथच्, पुथ्च्, गुधच्, राधंच्, व्यधंच्, क्षिपंच्, पुष्पच्, तिमतीमष्टिमष्टीमच्, षिवूच्, स्त्रिबूच् (श्रिवूच्) ष्टिवूच्, क्षिवूच्, इषच्, ष्णसूच्, क्नसूच्, त्रसैच्, बुसच्, षहषुहच्, पुषंच्, उचच्, लुटच्, ष्विदांच्, क्लिदौच्, ञिमिदाच्, जिक्ष्विदाच्, क्षुधंच्, श्रुन्धच्, क्रुधंच्, षिधूंच्, ऋधूच्, गृधूच्, रधौच्, तृपौच्, दृपोच्, कुपच, गुपच्, युपरुपलुपच्, डिपच्, ष्टूपच्, लुभंच्, क्षुभंच्, णभतुभच्, नशौच्, कुशच्, भृशुभ्रं शूच्, वृशच्, कृशच, शुषंच्, दुषंच्, श्लिषंच्, प्लुषूच्, ञितृषच्, तुषं हृषंच्, ऋृषच्, पुसपुसच्, विसच्, कुसच्, असूच्, यसूच्, जसूच्, तसूदसूच्, वसूच्, वुसच्, मुसच्, मसैच्, शमूदमूच्, तमूच्, श्रमूच्, भ्रमुच्, क्षमौच्, मदैच्, क्लमूच्, मुहौच्, द्रुहौच्, स्नुहौच्, ष्णिहौच्, वृत्पुष्यादिः ।

षूङौच्, दूङ्च्, दींङ्च्, धींङ्च्, मींङ्च्, रींङ्च्, लींङ्च्, व्रींङ्च्, डींङ्च् । वृत् स्वादिः । पींङ्च्, ईंङ्च्, प्रींङ्च्, युजिंच्, सृजिंच्, वृतूङ्च्, पदिंच्, विदिंच्, खिदिंच्, युधिंच्, अनोरुधिंच्, बुधिं मनिंच, अनिंच्, जनैचि, दीपैचि, तपिंच्, पूरैचि, घूरैचि, जूरैचि, धूरचि, गुरैचि, शूरैचि, तूरैचि इति घूरादयः । चूरैचि, क्लिशिंच्, लिशिंच्, काशिच्, वाशिच्, शकींच्, शुचृ गैच्, रञींच्, शपींच्, मृषींच्, णहींच् । इति चितो दिवादयः ॥72॥

भ्राश-भ्लाश-भ्रम-क्रम-क्लम-त्रसि-त्रुटि-लषि-यसिसंयसेर्वा ॥ 3. 4. 73. ॥

एभ्यः कर्तरि विहिते शिति श्यः प्रत्ययो भवति वा, प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । भ्राश्यते, भ्राशते, भ्लाश्यते, भ्लाशते, भ्राम्यति, भ्रमति, भौवादिकस्य भ्रम्यति । क्राम्यति, क्रामति,

क्लाम्यति, क्लामति, त्रस्यति, त्रसति, त्रुट्यति, त्रुटति, लष्यति, लषति, यस्यति, यसति, संयस्यति, संयसति। यसिग्रहणेनैव सिद्धे संयसिग्रहणमुपसर्गान्तरपूर्वकस्य यसेर्निवृत्त्यर्थम्, तेन आयस्यति प्रयस्यति इति नित्यं श्यः ॥73॥

कुषि-रञ्जे-र्व्याप्ये वा परस्मै च ॥ 3. 4. 74. ॥

कुषिरञ्जिभ्यां व्याप्ये कर्तरि शिद्विषये परस्मैपदं वा भवति तत्संनियोगे श्यश्च, क्यात्मनेपदापवादौ। कुष्णाति पादं देवदत्तः, कुष्यति पादः स्वयमेव, कुष्यते पादः स्वयमेव, कुष्यन् पादः स्वयमेव, कुष्यमाणः पादः स्वयमेव, रजति वस्त्रं रजकः, रज्यति वस्त्रं स्वयमेव, रज्यते वस्त्रं स्वयमेव, रज्यद्वस्त्रं स्वयमेव, रज्यमानं वस्त्रं स्वयमेव।

व्याप्ये कर्तरीति किम् ? कुष्णाति पादं रोगः, रज्यति वस्त्रं शिल्पी। शितीत्येव ? अकोषि, चुकुषे, कोषिष्यमाणः, अरञ्जि, ररञ्जे, रङ्क्ष्यमाणं स्वयमेव, परस्मैपदसंनियोग-विज्ञानादिह न भवति-कतीह कुष्णानाः पादाः, कतीह रजमानानि वस्त्राणि, ``वयःशक्तिशीले'' (5-2-24) इति शानः। क्यात्परस्मैपदविकल्पविधानेनैव सिद्धे श्यविधानं कुष्यन्ती रज्यन्तीत्यत्र ``श्यशवः'' (2-1-115) इत्यनेन नित्यमन्तादेशार्थम् ॥74॥

न्या०स०—कुषिरञ्जे०—कुष्णाति पादं देवदत्त इति—बहिर्निकृष्टान्तरवयवं करोति देशान्तरं प्रापयति वा। *कोषिष्यमाण इति*—कोषिष्यति पादं देवदत्तः, स एवं विवक्षते, नाहं कोषिष्यामि, स्वयमेव कोषिष्यते आनश्। *अरञ्जीति*-आराङ्क्षीत् वस्त्रं शिल्पी, नाऽहमराङ्क्षं स्वयमेवाऽरञ्जि। *कतीह कुष्णाना इति*-कुष्यन्ते स्वयमेवेत्येवंशीलाः ततः शाने ``क्र्यादेः'' (3-4-79) श्ना ``श्नश्चातः'' (4-2-69) इति आलोपः। एकधाताविवत्यत्र तथेत्याश्रयणात् आत्मनेपदविषये शिति क्यस्य प्रवर्तनादत्र क्यो न, शान्प्रत्ययो हि न परस्मैपदी, नाप्यात्मनेपदी, एवं रज्यन्ते इत्येवंशीलानि *रजमानानि*। *क्यात्परस्मैपदविकल्पेति*-कुषिरञ्जेर्व्याप्ये क्याद् वा परस्मै इति क्रियतामित्याशयः।

स्वादेः श्नुः ॥ 3. 4. 75. ॥

स्वादेर्गणात्कर्तरि विहिते शिति श्नुः प्रत्ययो भवति, शकारः शित्कार्यार्थः। सुनोति, सुनुते, सुन्वन्, सुन्वानः, सिनोति, सिनुते, सिन्वन्, सिन्वानः, षुंग्ट्, षिंग्ट्, शिंग्ट्, डुमिंग्ट्, चिंगट्, धूग्ट्, स्तृंग्ट्, कृंग्ट्, वृग्ट्, हिंट्, श्रुंट्, टुदुंट्, पृंट्, स्पृंट्, शक्लृंट्, तिकतिगषघट्, राधंसाधंट्, ऋधूट्, आप्लृंट् तृपट्, दम्भूट्, कृवुट्, धिवुट्, ञिधृषाट्, ष्टिघिट्, अशौटि, इति टित्ः स्वादयः ॥75॥

वाक्षः ॥ 3. 4. 76. ॥

अक्षौ इत्येतस्मात्कर्तरि विहिते शिति श्नुः प्रत्ययो भवति वा । अक्ष्णोति, अक्षति ॥76॥

तक्षः स्वार्थे वा ॥ 3. 4. 77. ॥

स्वार्थस्तनूकरणं तस्मिन्वर्तमानात्तक्षौ इत्येतस्मात् कर्तरि विहिते शिति श्नुः प्रत्ययो वा भवति । तक्ष्णोति तक्षति काष्ठम्, शाने तक्ष्णुवानः, तक्षमाणः । स्वार्थे इति किम् ? संतक्षति वाग्भिः शिष्यं निर्भत्सयतीत्यर्थः ॥77॥

स्तम्भू-स्तुम्भू-स्कम्भू-स्कुम्भूस्कोः श्ना च ॥ 3. 4. 78. ॥

स्तम्भ्वादिभ्यः सौत्रेभ्यो धातुभ्यः स्कुगश्च कर्तरि विहिते शिति श्नाः श्नुश्च प्रत्ययो भवति, शकारः शित्कार्यार्थः । स्तभ्नाति, स्तभ्नोति, स्तभ्नानः, स्तभ्नुवानः, स्तुभ्नाति, स्तुभ्नोति, स्कभ्नाति, स्कभ्नोति, स्कुभ्नाति, स्कुभ्नोति, स्कुनाति, स्कुनीते, स्कुनोति, स्कुनुते । स्तम्भ्वादीनामूदित्करणं क्त्वाक्तयोरिड्विकल्पनित्यप्रतिषेधौ यथा स्याताम्,—स्तब्ध्वा, स्तम्भित्वा, स्तब्धः, स्तब्धवान् ॥78॥

न्या०स०—स्तम्भू०-स्तुभ्नान इति-अनिर्दिष्टानुबन्धानां सौत्राणां धातूनां परस्मैपदित्वात् अत्र ``वयः शक्तिशील०'' (5-2-24) इति शानः । *स्तम्भित्वेति*—``क्त्वा'' (4-3-29) इति किद्वद्भावः ।

क्रयादेः ॥ 3. 4. 79. ॥

क्रयादेर्गणात्कर्तरि विहिते शिति श्नाः प्रत्ययो भवति । क्रीणाति, प्रीणाति ।

डुक्रींग्श्, षिंग्श्, प्रींग्श्, श्रींगश्, मींग्श्, युंग्श्, स्कुंगश्, क्नूग्श्, द्रुग्श्, ग्रहीश्, पूग्श्, धूग्श्, लूग्श्, स्तृंग्श्, कृग्श्, वृग्श् ज्यांश्, रींश्, लींश्, क्लींश्, ब्लींश्, कॄमॄशॄश्, पॄश्, वॄश्, भॄश्, दॄश्, जॄश्, नॄश्, गॄश्, ऋॄश्, ज्ञांश्, क्षिष्श्, व्रींश्, भ्रींश्, हेठश्, मृडश्, श्रन्थश्, मन्थश्, ग्रन्थश्, कुथश्, मृदश्, गुधश्, बन्धंश्, क्षुभश्, णभतुभश्, खव्श्, क्लिशौश्, अशश्, इषश्, विषश्, प्रुष्, प्लुषश्, मुषश्, पुषश्, कुषश्, ध्रसूश्, वृङ्श्, इति शितः क्र्यादयः ॥79॥

व्यञ्जनाच्छ्नाहेरानः ॥ 3. 4. 80. ॥

व्यञ्जनान्ताद्धातोः परस्य श्नायुक्तस्य हेः स्थाने आन आदेशो भवति। पुषाण, मुषाण, उत्तभान, विष्कभांण। व्यञ्जनादिति किम् ? लुनीहि। श्नाहेरिति किम् ? अश्नाति, उत्तभ्नुहि, विस्कभ्नुहि ।।80।।

तुदादेः शः ।। 3. 4. 81. ।।

तुदादेर्गणात्कर्तरि विहिते शिति शः प्रत्ययो भवति, शकारः शित्कार्यार्थः। तुदति, तुदते, तुदन्, तुदमानः। तुदींत् भ्रस्जींत् क्षिपींत्, दिशींत्, कृषींत्, 'मुच्लृंती, षिचींत्, विद्लृंती, लुप्लृंती, लिपींत्, कृतैत्, खिदंत्, पिशत्'। रिंपिंत्, धिंत्, क्षिंत्, षूत्, मृंत् कृत्, गृत्, लिखत्, जर्चझर्चत्, त्वचत्, ऋचत्, ओव्रश्चौत्, ऋच्छत्, विच्छत, उच्छैत्, मिच्छत्, उच्छत्, प्रच्छंत्, उब्जत्, सृजंत्, रुजोंत्, भुजोंत्, टुमस्जोंत्, जर्जझर्झत् उज्झत् जुडत् पृडमृडत् कडत् पृणत् तृणत् मृणत् द्रुणत्, पुणत्, मुणत्, कुणत् घुणघूर्णत्, चृतैत्, णुदंत्, षद्लृंत्, विधत्, जुनशुनत्, छुपंत्, रिफत्, तृफतृम्फत्, ऋफऋम्फत्, दृफदृम्फत्, गुफगुम्फत्, उभउम्भत्, शुभशुम्भत्, दृभैत्, लुभत्, कुरत्, क्षुरत्, खुरत्, घुरत्, पुरत्, मुरत्, सुरत्, स्फरस्फलत्, किलत्, इलत्, हिलत्, शिलसिलत्, तिलत्, चलत्, चिलत्, विलत्, णिलत्, मिलत्, स्पृशंत्, रुशंरिशंत्, विशंत्, मृशंत्, लिशं, कृषैत्, इषत्, मिषत्, वृहौत्, तृहौ, तृन्हौ, स्तृहौ, स्तन्हौत्, कुटत्, गुंत्, धुंत्, णूत्, धूत्, कुचत्, व्यचत्, गुञत्, घुटत्, चुट, छुट, त्रुटत्, तुटत्, मुटत्, स्फुटत्, पुटलुठत्, कृडत्, कुडत्, गुडत्, जुडत्, तुडत्, लुडथुडस्थुडत्, बुडत्, ब्रुड, भ्रुडत्, द्रुडहुडत्रुडत्, वुणत्, डिपत्, छुरत्, स्फुरत्, स्फुलत्, कुंङ्, कूङ्त्, गुरैति, पृंङ्त्, दृंङ्त्, धृंङ्त्, ओविजैति, ओलजैङ्, ओलस्जैति, ष्वञ्जित्, जुषैति; इति तितस्तुदादयः ।।81।।

रुधां स्वराच्श्नो नलुक् च ।। 3. 4. 82. ।।

रुधादेर्गणस्य स्वरात्परः कर्तरि विहिते शिति श्नः प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च प्रकृतिनकारस्य लुगन्वाचीयते, प्रत्ययनकारस्य तु विधानसामर्थ्यान्न भवति। शकारः ''श्नास्त्योर्लुक्'' (4-2-90) इत्यत्र विशेषणार्थः। रुणद्धि, रुन्धे भिनत्ति, भिन्ते, भनक्ति, हिनस्ति, हिंसन्, रुधृंपी, रिचृंपी, विचृंपी, युजृंपो, भिदृंपी, छिदृंपी, क्षुदृंपी, ऊछंदृंपी, ऊतृदृंपी, पृचैप्, वृचैप्, तञ्च्, तञ्जूप्, भञ्जोप्, भुजंप्, अञ्जोप्, ओविजैप्, कृतैप्, उन्दैप्, शिष्लृंप्, पिष्लृप्, हिसुतृहप्, खिदिंप् विदिंप्, ञि इन्धैपि इति पितो रुधादयः ।।82।।

कृग्तनादेरुः ॥ 3. 4. 83. ॥

कृगस्तनादेश्च गणात्कर्तरि विहिते शिति उः प्रत्ययो भवति। करोति, कुरुते, कुर्वन्, कुर्वाणः, तनोति, तनुते, तन्वन्, तन्वानः। तनूयी, षणूयी, क्षणूग्क्षिणूयी, ऋृणूयी तृणूयी घृणूयी, वनूयि, मनूयि, इति यितस्तनादयः ॥83॥

न्या०स०—कृग्तनादे-तनादावऽपठित्वा भ्वादिपाठोऽस्य करतीत्यत्र शवर्थः, येषां मते तनादौ पाठस्तन्मते ``तन्भ्यो वा तथासि'' (4-3-68) इति रूपद्वयं प्राप्येत शव् च न सिध्येत्। स्वमते तु अकृत, अकृथा इति नित्यमेव ``धुट्ह्रस्वात्'' (4-3-70) इति लुक्। अन्यैः कृग्तनादौ पठितस्तत्साहचर्यात् कृग् गृह्यते न तु कृग्ट्।

सृजः श्राद्धे ञिक्यात्मने तथा ॥ 3. 4. 84. ॥

सृजो धातोः श्रद्धावति कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति तथा यथा विहितानि। असर्जि मालां धार्मिकः, सृज्यते मालां धार्मिकः, स्त्रक्ष्यते मालां धार्मिकः। श्राद्ध इति किम्? व्यत्यसृष्ट माले मिथुनम्, सृजति,—स्त्रक्ष्यति मालां मालिकः। तथेति वचनादद्यतन्यामा-त्मनेपदे ते ञिच् तलुक्च शिति च क्य इति सिद्धम् ॥84॥

न्या०स०—सृजः श्राद्धे-अत्र ञिक्यौ तथा विधीयेते। आत्मनेपदं तु मुख्यमेव विधीयते।

तपेस्तपःकर्मकात् ॥ 3. 4. 85. ॥

तपेर्धातोरर्थान्तरवृत्तित्वेन तपःकर्मकात् कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति तथा। तप्यते तपः साधुः, तेपे तपांसि साधुः, तपिरत्र करोत्यर्थः, ञिच् तु ``तपः कर्त्रनुतापे च'' (3-4-91) इति प्रतिषेधान्न भवति, अन्वतप्त तपः साधुः। तपेरिति किम्? कुरुते तपांसि साधुः। तप इति किम्? उत्तपति सुवर्ण सुवर्णकारः। कर्मेति किम्? तपांसि साधुं तपन्ति, दुःखयन्तीत्यर्थः॥85॥

न्या०स०—तपेस्तप-अर्थान्तरवृत्तित्वेनेति-करोत्यर्थेनेत्यर्थः।

एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये ॥ 3. 4. 86. ॥

एकस्मिन्धातौ कर्मस्थक्रियया पूर्वदृष्टया एका अभिन्ना संप्रत्यकर्मिका क्रिया यस्य तस्मिन्कर्तरि कर्मकर्तृरूपे धातोर्ञिक्यात्मनेपदानि तथा भवन्ति। अकारि कटः स्वयमेव, करिष्यते कटः

स्वयमेव, क्रियते कटः स्वयमेव, क्रियमाणः कटः स्वयमेव, चक्रे कटः स्वयमेव, अभेदि कुशूलः स्वयमेव, भिद्यते कुशूलः स्वयमेव, बिभिदे कुशूलः स्वयमेव, अत्र करोति कटम्, भिनत्ति कुशुलमित्यादौ यैव कटादिकर्मणां निर्वृत्तिद्विधाभवनादिका क्रिया सैव सौकर्यादविवक्षिते कर्तृव्यापारे स्वातन्त्र्यविवक्षायां तस्मिन्नेव धातावकर्मिका च, एवं चाकर्मत्वाद्भावेऽप्यात्मनेपदं भवति। क्रियते कटेन, भिद्यते कुशूलेन। एकधाताविति किम् ? पचत्योदनं चैत्रः, सिध्यत्योदनः स्वयमेव। कर्मक्रिययेति किम् ? साध्वसिश्छिनत्ति, साधु स्थाली पचति इति करणाधिकरण-क्रिययैकक्रिये माभूत्। एकक्रिययेति किम् ? स्रवत्युदकं कुण्डिका, स्रवत्युदकं कुण्डिकायाः। अत्र विसृजति, निष्क्रामतीति क्रियाभेदात्, गलन्त्युदकं वलीकानि, गलत्युदकं वलीकेभ्य इति। अत्रापि मुञ्चतीति, पततीति, क्रियाभेदात् नैकक्रियत्वम्।

अकर्मक्रिय इति किम् ? भिद्यमानः कुशूलः पात्राणि भिनत्ति। अन्योन्यमाश्लिष्यतः, हन्त्यात्मानमात्मा। एकस्य कर्मत्वं कर्तृत्वं च कथमिति चेत् ? उच्यते-सर्वमपि हि कर्म स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यमनुभूय कर्तृव्यापारेण न्यक्कृतं सत् कर्मतामनुभवति। कर्तृव्यापाराविवक्षायां तु स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वमस्याव्यावृत्तमेव। यदाहुः–

निर्वृत्त्यादिषु तत्पूर्वमनुभूय स्वतन्त्रताम्।
कर्त्रन्तराणां व्यापारे, कर्म संपद्यते ततः ॥1॥
निवृत्तप्रेषणं चैतत्स्वक्रियावयवे स्थितम्।
निवर्तमाने कर्मत्वे स्वे कर्तृत्वेऽवतिष्ठते ॥2॥ इति ॥86॥

न्या०स०–एकधातौ०-पूर्वदृष्टयेति–पूर्वस्मिन् काले दृष्टा तया सहार्थे तृतीया। *अकारि कटः स्वयमेवेति*-अकार्षीत् कटं देवदत्तः, स एवं विवक्षते-नाहमकार्षम्, अकारि कटः स्वयमेव, स्वयं शब्दस्तृतीयार्थे करणे कारके वर्त्तते। *अभेदि कुशूलः स्वयमेवेति*–अभैत्सीत् अभिदद्वा कुशूलं देवदत्तः द्विधा भवन्तं द्वेधा अबीभवत्, स एवं विवक्षते नाहमभिदम् अभैत्सं वा किंतु स्वयमेवाऽभेदि। *सिध्यत्योदनः स्वयमेवेति*-नन्वत्र यथा धातुभेदस्तथा धातुभेदे क्रियाभेदोऽपि ? नैवं, एकाभिन्ना क्रियेत्येकधाताविति स्थिते द्रष्टव्यमिति न द्व्यङ्गवैकल्यम्।

निष्क्रामतीति क्रियाभेदादिति विसर्गः विसर्जनमात्रं, निष्क्रमणं तु विसर्गानन्तरं गमनमिति विसर्जननिष्क्रमणयोर्भेदः, अत्र विसृजति उदकं कुण्डिका, सा एवं विवक्षते, नाहं विसृजामि किन्तु स्वयमेव निष्क्रामतीति विवक्षायां न भवति, यदा तु स्वयमेव विसृज्यते इति विवक्ष्यते तदा क्यादयो भवन्ति वा नवा ? उच्यते, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् स्वयमेव विसृज्यत इत्यर्थो न प्रतीयते किन्तु निष्क्रामतीत्येव। *भिद्यमानः कुशूलः पात्राणि भिनत्तीति*-नन्वत्र द्व्यङ्गविकलत्वं

व्यावृत्तेर्यतः प्रथमो देवदत्तकर्तृको द्वितीयस्तु कुशूलकर्तृक इतिसाधनभेदात् क्रियाभेदे धातुभेदः ? न, स्याद्वादादत्र धातुभेदो नाश्रीयते, अन्यथा सूत्रमिदं निरर्थकं स्यात् । यतोऽकारि कटः स्वयमेवेत्यत्रापि इत्थं धातुभेदसद्भावात्, तथाहि-प्रथमं देवदत्तकर्तृकः कृग्, पश्चात् कटकर्तृकः । *स्वातन्त्र्यमनुभूयेति*—यतः कटं करोतीत्यादिषु स्वव्यापारे जननादिलक्षणे कटादि कर्म स्वातन्त्र्यमनुभवति स्वातन्त्र्याच्च कर्तृत्वम् । *कर्त्रन्तराणां व्यापारे इति*—स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् कटादिकर्मणः कर्तृ रूपादऽन्यो वरुटादिः कर्त्ता कर्त्रन्तरं तस्य ।

निवृत्तप्रेषणमिति-निवृत्तकर्तृव्यापारमित्यर्थः ।

पचिदुहेः ॥ 3. 4. 87.॥

पचिदुहिभ्यामेकधातौ कर्मस्थक्रियया पूर्वदृष्टयाऽकर्मिकया सकर्मिकया वा, एकक्रिये कर्तरि कर्मकर्तृ रूपे ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति अपवादविषयं मुक्त्वा ।

अपाच्योदनः स्वयमेव, पच्यते ओदनः स्वयमेव, पक्ष्यते ओदनः स्वयमेव, अदोहि गौः स्वयमेव, दुग्धे गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव । उदुम्बरं फलं पचति वायुः, उदुम्बरः फलं पच्यते स्वयमेव, अपक्तोदुम्बरः फलं स्वयमेव । गां दोग्धि पयो गोपालकः, दुग्धे गौः पयः स्वयमेव, अदुग्ध गौः पयः स्वयमेव, अधुक्षत गौः पयः स्वयमेव, दुहिपच्योः कर्मणि ञिचः प्रतिषेधं वक्ष्यति । तथा अविशेषेण दुहेर्ञिचो विकल्पं क्यस्य च प्रतिषेधं वक्ष्यति, अकर्मकस्येह पूर्वेणैव सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम् ॥87॥

न्या०स०—पचिदुहेः-अकर्मिकयेति—अकर्म्मकत्वे पूर्वेण सिद्धमऽप्यनूद्यते सूत्रारम्भात्, अनेन तु कर्मणि विधीयते तर्ह्यत्र कर्म्मणीत्युच्यताम् ? न, एवं कृते पचिदुह्योः ❊ तक्र-कौण्डिन्यन्यायेन ❊ सत्येव कर्म्मणि स्यात् कर्मण्यऽसति पूर्वेणापि न स्यात् । *उदुम्बरं फलं पचति वायुरिति*-अयमन्तर्भूतण्यर्थो द्विकर्मकः, उदुम्बरात् फलं पाचयति वायुरित्यर्थः । *अविशेषेणेति*-कर्मणि सत्यऽसति वेत्यर्थः, अविशेषेणेत्युक्तेऽपि कर्मणि ``न कर्मणा ञिच्'' (3-4-88) इति नित्यं प्रतिषेधः अकर्मणि तु विकल्पः ।

न कर्मणा ञिच् ॥ 3. 4. 88. ॥

पचिदुहेः कर्मणा योगेऽनन्तरोक्ते कर्तरि ञिच् न भवति । अपक्तोदुम्बरः फलं स्वयमेव, अदुग्ध गौः पयः स्वयमेव । कर्मणेति किम् ? अपाच्योदनः स्वयमेव, अदोहि गौः स्वयमेव । अनन्तरोक्ते कर्तरीत्येव,—अपाचि उदुम्बरः फलं वायुना, अदोहि गौः पयो गोपालकेन ॥88॥

रुधः ।। 3. 4. 89. ।।

रुधो धातोरनन्तरोक्ते कर्तरि ञिच् न भवति । अरुद्ध गौः स्वयमेव, अनन्तरोक्ते कर्तरीत्येव, अरोधि गौर्गोपालकेन ।।89।।

स्वर-दुहो वा ।। 3. 4. 90. ।।

स्वरान्ताद्धातोर्दुहेश्चानन्तरोक्ते कर्तरि ञिच् वा न भवति । अकृत अकारि कटः स्वयमेव, अलविष्ट अलावि केदारः स्वयमेव अदुग्ध अदोहि गौः स्वयमेव । स्वरदुह इति किम् ? अभेदि कुशूलः स्वयमेव । अनन्तरोक्ते कर्तरीत्येव, अकारि कटश्चेत्रेण, अदोहि गौर्बल्लवेन ।।90।।

तपः कर्त्रनुतापे च ।। 3. 4. 91. ।।

तपेर्धातोः कर्मकर्तरि कर्तरि अनुतापे चार्थे ञिच् न भवति । अनुतापग्रहणाद्भावे कर्मणि च । अन्ववातप्त कितवः स्वयमेव । कर्तरि, अतप्त तपासि साधुः, अन्वतप्त चैत्रेण, अन्ववातप्त पापः पापेन कर्मणा । कर्त्रनुतापे चेति किम् ? अतापि पृथिवी राज्ञा ।।91।।

न्या०स०—तपकर्त्र-नन्वनेन सामान्येन सानुतापेऽननुतापे च कर्त्तरि कर्मकर्त्तरि च भविष्यति किमनुतापग्रहणेनेत्याशङ्क्याह-*अनुतापग्रहणादिति* । *अन्वतप्त चैत्रेणेति*-पश्चात्तपनं कृतमित्यर्थः, अग्रेतने तु पश्चात्तापं कारित इत्यर्थः ।

णि-स्नु-श्र्यात्मनेपदाकर्मकात् ।। 3. 4. 92. ।।

ण्यन्ताद्धातोः स्नुश्रिभ्यां चात्मनेपदविधावकर्मकेभ्यश्च कर्मकर्तरि ञिच् न भवति । येभ्यः कर्मण्यसति आत्मनेपदं विधीयते, ते आत्मनेपदाकर्मकाः । णि-पचति ओदनं चैत्रः, तं मैत्रः प्रायुक्त, अपीपचत् ओदनं चैत्रेण मैत्रः । पुनरोदनस्य सुकरत्वेन कर्तृत्वे अपीपचतौदनः स्वयमेव । यदि वा स्वयमेव पच्यमानः ओदनः स्वं प्रायुक्त अपीपचतौदनः स्वयमेव, उभयत्र स्वयमेवापाचीत्येवार्थः ।

अचूचुरत् गां चैत्र, अचुचूरत गौः स्वयमेव । पुच्छमुत्क्षिपति उत्पुच्छयते गौः । अन्तर्भूतण्यर्थत्वात्सकर्मकत्वे उदपुपुच्छत गां देवदत्तः, उदपुपुच्छत गौः स्वयमेव । यद्वा उत्पुच्छामकार्षीदिति णिचि उदपुपुच्छद्गां देवदत्तः, उवपुपुच्छतः गौः स्वयमेव । स्नुप्रास्नावीत्

गां देवदत्तः, प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव । श्रि-उदशिश्रियत् दण्डं दण्डी, उदशिश्रियत दण्डः स्वयमेव, आत्मनेपदाकर्मक, व्यकार्षीत् सैन्धवं चैत्रः, वल्गयति स्मेत्यर्थः ।

व्यकृत सैन्धवः स्वयमेव, विकरोतिर्वल्गनेऽन्तर्भू तण्यर्थः कर्मस्थक्रियः, व्यकार्षीत् कटं चैत्रः, व्यकृत कटः स्वयमेव, अवधीत् गां गोपः, आहत गौः स्वयमेव । व्यताप्सीत् पृथिवीं रविः । व्यतप्त पृथ्वी स्वयमेव, ञिच्निषेधात् ञिट् भवत्येव । पाचिता, पाचिषीष्ट ओदनः स्वयमेव, प्रास्नाविष्ट प्रस्नाविषीष्ट गौः स्वयमेव, उच्छ्रायिता उच्छ्रायिषीष्ट दण्डः स्वयमेव । आघानिष्ट आघानिषीष्ट गौः स्वयमेव । पृथग्योगात् उत्तरेण ञिटः प्रतिषेधो न भवति ।।92।।

न्या०स०—णिस्नु०-अपीपचतौदनः स्वयमेवेति-अत्र प्रयोजकव्यापाराविवक्षायां णिग् न निवर्त्तते, ण्यन्तानां ञिच्प्रतिषेधात् । स्वयं पच्यमान ओदनः स्वं प्रायुक्तेति ततोऽपीपचदोदनः स्वमात्मानमित्यर्थः । स ओदनः विवक्षते-नाहमात्मानमपीपचम्, नाहमात्मानं सिध्यन्तमऽसीसधं किं तर्हि ? स्वयमोदनोऽपीपचत असीसधत इत्यर्थः, *प्रास्नोष्ट गौरिति*—अत्र पूर्वमेव नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च गुणः ।

आत्मनेपदाकर्मकेति-येषामकर्मकाणामात्मनेपदं व्यवधायि तेषामित्यर्थः ।

भूषार्थ-सन्-कियादिभ्यश्च ञिक्यौ ।। 3. 4. 93. ।।

भूषार्थेभ्यः सन्नन्तेभ्यः किरादिभ्यश्चकाराण्णिश्नुश्र्यात्मनेपदाकर्मकेभ्यश्च धातुभ्यः कर्मकर्तरि ञिक्यौ न भवतः । ञिरुत्सृष्टानुबन्धो ञिच्ञिटोर्ग्रहणार्थः । भूषार्थ-अलमकार्षीत् कन्यां चैत्रः, अलमकृत कन्या स्वयमेव, एवमलंकरिष्यते अलंकुरुते कन्या स्वयमेव, पर्यस्कार्षीत्कन्यां चैत्रः, पर्यस्कृत परिष्करिष्यते परिष्कुरुते कन्या स्वयमेव, अबूभुषत् कन्यां छात्रः, अबूभुषत भूषयिष्यते भूषयते कन्या स्वयमेव, अममण्डत् कन्या छात्रः अममण्डत मण्डयिष्यते मण्डयते कन्या स्वयमेव, भूषिमण्ड्योर्ण्यन्तत्वेनैव निषेधे सिद्धे ञिट्प्रतिषेधार्थं भूषार्थेषूदाहरणम् ।

सन्नन्त-अचिकीर्षीत् कटं चैत्रः । अचिकीर्षिष्ट, चिकीर्षिष्यते, चिकीर्षते कटः स्वयमेव, अबिभित्सीत् कुशूलं चैत्रः, अबिभित्सिष्ट बिभित्सिष्यते बिभित्सते कुशूलः स्वयमेव, किरादि-अकारीत्पांसुं करी, अकीर्ष्ट कीर्षीष्ट किरते पांसुः स्वयमेव, एवमवाकीर्ष्ट अवकीर्षीष्ट अवकिरते पांसुः स्वयमेव, अगारीत् ग्रासं चैत्रः, अगीर्ष्ट गीर्षीष्ट गिरते ग्रासः स्वयमेव, एवं न्यगीर्ष्ट निगीर्षीष्ट निगिरते यासः स्वयमेव, दोग्धि गां पयो गोपः, दुग्धे गौः स्वयमेव, दुग्धे गौः पयः स्वयमेव, कथमदोहि गौः स्वयमेव, दुहेञिज्विकल्प उक्तः । अवोचत्कथां चैत्रः ।

अवोचत ब्रूते कथा स्वयमेव । अश्रन्थीत् मालां मालिकः । अश्रन्थिष्ट श्रथ्नीते श्रन्थते माला स्वयमेव । अग्रन्थीत् ग्रन्थं विद्वान् । अग्रन्थिष्ट ग्रथ्नीते ग्रन्थते ग्रन्थः स्वयमेव । श्रन्थिग्रन्थी क्रियादौ युजादौ वा, अनंसीत् दण्डं दण्डी, अनंस्त नमते दण्डः स्वयमेव, परिणमति मृदं कुलालः, परिणमते मृत् स्वयमेव, कॄ, गॄ, दुह, ब्रू, श्रन्थ्, ग्रन्थ्, नम् इति किरादयः, बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् ।

णिस्नुश्र्यात्मनेपदाकर्मकाणां ञिच्प्रतिषेधः पूर्वसूत्रे उदाहृतः ञिट्त्वेषां पृथग्योगा- द्भवत्येवेति चोक्तम् । क्यनिषेध उदाह्रियते । ण्यन्त–कारयते कटः स्वयमेव, चोरयते गौः स्वयमेव, उत्पुच्छयते गौः स्वयमेव, स्नु, प्रस्नुते गौः स्वयमेव श्रि, उच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव, आत्मनेपदाकर्मकः–विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव, आहते गौः स्वयमेव । अन्ये तु णिस्नु-श्र्यात्मनेपदाकर्मकेभ्यो ञिटोऽपि प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते पाचयिता पाचयिष्यते ओदनः, प्रस्नोता प्रस्नोष्यते गौः, उच्छ्रयिता उच्छ्रयिष्यते दण्डः, आहन्ता आहनिष्यते गौः स्वयमेवेत्येव भवति । स्तुनमोः अन्तर्भूतण्यर्थत्वेन सकर्मकत्वाद्गवादेः कर्मकर्तृत्वम् ।

यत्र तुण्यर्थो नास्ति तत्र कर्तृनैव । यथा प्रस्नौति गौर्दोग्धुः कौशलेन, नमति पल्लवो वातेन । ननु कर्मस्थया क्रियया एकाकर्मक्रिये कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति अत्र तु ण्यन्तानां प्रयोजकव्यापारः सन्नन्तानां चेच्छाकर्तृस्थैव क्रियेति, ञिक्ययोः प्राप्तिरेव नास्ति किं प्रतिषेधेन ? उच्यते,–प्रयोजकव्यापारस्येच्छायाश्च तदर्थत्वात् करणादिक्रियारूपस्य प्रकृत्यर्थस्य प्राधान्यम्, तस्य च कर्मस्थत्वात् णिसन्नन्तानामपि कर्मस्थक्रियत्वम्, तथा ब्रूते कथेत्यत्र वचनं शब्दप्रकाशनफलत्वात् उपाध्यायेनोक्तः करोतीतिवत् प्रेरणार्थत्वात् वा कर्मस्थक्रियारूपम् । भूषाक्रियाणां च भूषाफलं शोभाख्यं कर्मणि दृश्यत इति कर्मस्थक्रियत्वम्, एवमन्यत्रापि भावनीयम् ।।93।।

न्या०स०–भूषार्थः–ञिट् प्रतिषेधार्थमिति-अन्यथा पृथग्योगात् ण्यन्तद्वारात् ञिट् प्रतिषेधो न स्यात्, किंतु पूर्वेण ञिच एव । *क्रियादौ युजादौ चेति*-धातुपारायणे तु भ्वादिसत्कावपि *स्नुनमोरिति*-ननु स्नुनमावकर्मकौ तत्कथमनयोः कर्मस्थक्रियत्वमित्याह-*अन्तर्भूतण्यर्थत्वेनेति । अत्र तु ण्यन्तानामिति*-यथा कुर्वन्तं प्रयुङ्क्ते इति अत्र हि प्रयोजकक्रिया देवदत्तादौ स्थिता यतो देवदत्तः कटादि कुर्वन् चैत्रेण प्रयुक्तः स च कर्त्तैव । *सन्नन्तानां चेति*-इच्छायाः प्राणिधर्मत्वात्, यश्च इच्छति स कर्त्तैव । ब्रूते कथेत्यत्रेति ननु वचनक्रिया देवदत्ते कत्तरि स्थिता, न तु कथाकर्मणि तत्कथं कर्मस्थक्रियत्वमित्याह-*शब्दप्रकाशनफलत्वादिति*-अस्यां ये शब्दास्ते प्रकाशमाना

वचनेन प्रकाश्यन्ते इति वचनं कर्मस्थक्रियारूपम् । *प्रेरणार्थत्वाद्वेति*-अयमर्थः प्रेरणार्थो वा अत्र ब्रूग्, ततश्च ब्रूत इति कोऽर्थः ? शिष्येण बुध्यमानां बोधयतीत्यर्थः ।

करणक्रियया क्वचित् ॥ 3. 4. 94. ॥

एकधातौ पूर्वदृष्टया करणस्थया क्रियया एकाकर्मक्रिये कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि क्वचिद्भवन्ति । परिवारयन्ति कण्टकैः पुरुषा वृक्षम्, परिवारयन्ते कण्टका वृक्षं स्वयमेव क्वचिन्न भवति साध्वसिश्छिनत्ति ॥94॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु-शासनबृहद्वृत्तौ तृतीयोऽध्यायः ॥3॥

प्रतापतपनः कोपि मौलराजेर्नवोऽभवत् ॥
रिपुस्त्रीमुखपद्मानां न सेहे यः किल श्रियम् ॥1॥

करणक्रियया–एकाकर्म्मक्रियेति-एतदधिकारायातत्वात् योजितं क्वचिद्ग्रहणात्तु सकर्म्मकत्वेऽपि भवति । परिवारयन्ति-क्वचिदित्युक्त्यापि न भवति ।

इत्याचार्य० तृतीयाध्यायः समाप्तः ॥3॥

चतुर्थोऽध्यायः प्रथमः पादः

द्विर्धातुः परोक्षाङे प्राक्तु स्वरे स्वरविधेः ॥ 4. 1. 1. ॥

परोक्षायां ङे च प्रत्यये परे धातुर्द्विर्भवति, धातोरवस्थितस्य द्वितीयमुच्चारणं क्रियते इत्यर्थः । स्वरादौ तु द्विर्वचननिमित्ते प्रत्यये स्वरस्य कार्यात् प्रागेव द्वित्वं भवति । पपाच, पपाठ, इयाज, आर, अचकमत । धातुरिति किम् ? प्राशिश्रियत् । ``वेत्तेः कित्'' (3-4-51) इति वचनादामि परोक्षाकार्यं न भवति । दयांचक्रे, विदांचकार । परोक्षाङ इति किम् ? अदात् । प्रागिति किम् ? निनाय, निनयिथ, निन्यतुः, चक्रतुः, पपौ, पपतुः, जग्मतुः, अदधत् । एवमादिषु वृद्ध्यादेः स्वरविधेः पूर्वमेव द्वित्वं सिद्धं भवति । स्वर इति किम् ? दिदीर्वान्, शिशीर्वान्, जेघ्रीयते, देध्मीयते, जेगीयते । स्वरविधेरिति किम् ? शिव, शुशाव । तितवनीयिषतीत्यत्र तु स्वरविधेर्द्विर्वचननिमित्तप्रत्ययाजन्यत्वान्न ततः प्राग् द्वित्वम् । जग्ले, मम्ले इति अनिमित्तकमात्वम् । अधिजगे इति विषये आदेशः । प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरिति आद्विर्वचनमधिकारः, अन्यथा हि आटिटत् इत्यादि न सिध्यति ॥1॥

न्या०स०—द्विर्धातु०ः—पपाचेति-अत्र पुनरपि द्विर्वचनं न भवति, द्विरिति वचनात् । *निनायेति*—``स्वरस्य परे'' (7-4-110) इत्यनेनापि सिद्धम् ? नैवं, कालापेक्षायां स्थानित्याऽभावः । *शुशावेति*-अत्र हि स्वरव्यञ्जनकार्यं ``वा परोक्षायाङि'' (4-1-90) इति य्वृत् ``दीर्घमवोऽन्त्यम्'' (4-1-103) । *तितवनीयिषतीति*-तुंक् वृत्तीत्यतोऽनडन्तात् क्यनि सनि ``अन्यस्य'' (4-1-8) इति द्वित्वम् । *स्वरविधेरिति*-गुणरूपस्येत्यर्थः ।

आटिटदित्यादि न सिध्यतीति-प्रागेव णेर्लोपे सति ।

आद्योंऽश एकस्वरः ॥ 4. 1. 2. ॥

अनेकस्वरस्य धातोराद्य एकस्वरोऽवयवः परोक्षाङे प्रत्यये द्विर्भवति । जजागार, अचकाणत् । पूर्वेण सर्वस्य द्वित्वे प्राप्ते वचनम् ॥2॥

न्या०स०—आद्योंश-अनेकस्वरस्येति-एकस्वरस्यैकस्वरेंऽशे द्विरुक्ते न किञ्चिदऽस्य फलं, यद्वा ``एकस्वर'' (4-4-57) इति संबन्धिशब्दः सामर्थ्यादऽनेकस्वरं धातुमाक्षिपति । एतत्सूत्रं

विना अचकाणदित्ययं विनश्यति, तथा अजूघुणदित्यपि न तु जजागार इति ।

सन्यङश्च ॥ 4. 1. 3. ॥

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोराद्य एकस्वरोऽवयवो द्विर्भवति । तितिक्षते, चिकीर्षति, पापच्यते, लोलूयते । षष्ठीनिर्देश उत्तरार्थः । चकारः पूर्वोक्तनिमित्तसमुच्चयार्थ उत्तरार्थ एव, तेनोत्तरत्र परोक्षाङे सन्नन्तयङन्तानां च यथासंभवं द्वित्वं सिद्धम् ॥3॥

न्या०स०–सन्यङश्च-षष्ठीनिर्देश इति-नन्वत्र सनि यङि च निमित्तभूते एकस्वरस्य द्वित्वं ततः कथं सप्तमी नादायि ? इत्याह-*उत्तरार्थ इति*, तेनोत्तरेण प्रतीषिषतीत्यादि सिद्धं, दर्शितोदाहरणाऽपेक्षया चेदमुक्तं यावता यङ्लुपि बोभवतीत्यादिष्विहापि फलमस्ति । किञ्च चकार उत्तरार्थ एवेत्यत्रैवकारेण षष्ठीतिनिर्देशस्य इहार्थत्वमपि ज्ञायते ।

स्वरादेर्द्वितीयः ॥ 4. 1. 4. ॥

स्वरादेर्धातोर्द्विर्वचनभाजो द्वितीयांश एकस्वरो द्विर्भवति न त्वाद्यः । अटिटिषति, अशिशिषति, अटाट्यते, अशाश्यते । प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरित्येव,–आटिटत्, आशिशत प्रोर्णुनाव, प्रोर्णुनविषति, अरिरिषति, अरिरिषतीत्यत्र तु इटः कार्यित्वं न निमित्तत्वम् । ततो द्वित्वनिमित्तस्य स्वरादिप्रत्ययस्याभावात् प्राक् स्वरविधिरेव ॥4॥

न्या०स०–स्वरादे०-प्रोर्णुनावेति-अत्र द्वित्वरूपे परे कार्ये णत्वशास्त्रस्याऽसत्त्वात् द्वित्वे कृते णत्व । *अरिरिषतीति*-ऋंक् ऋं प्रापणे ऋश् वा, अर्तु मऽरितुमरीतुं वा इच्छतीति सनि आद्याभ्यां ``ऋस्मिपूङ'' (4-4-48) इति ऋशस्तु ``इवृध'' (4-4-47) इत्यनेनेट् । अरिरीषतीत्येतत्तु ऋश एव, अन्यथा ``वृतो नवा'' (4-4-35) इति दीर्घो न स्यात् ।

इटः कार्यित्वमिति-स्वरादित्वाद्धातोर्द्वितीयांशस्य इट्रूपस्य द्वित्वे चिकीर्षिते इटः कार्यित्वमेवेत्यर्थः । *स्वरविधेरेवेति*-गुणरूप इत्यर्थः ।

न बदनं संयोगादिः ॥ 4. 1. 5. ॥

स्वरादेर्धातोर्द्वितीयस्यावयवस्यैकस्वरस्य बकारदकारनकाराः संयोगस्यादयो न द्विर्भवन्ति । उब्जिजिषति, अड्डिटिषते, अड्डिडिषति, उन्दिदिषति, इन्द्रिद्रीयिषति, औब्जिजत्, आड्डिटत्, आड्डिडत्, औन्दिदत् । बदनमिति किम् ? ईचिक्षिषते । संयोगादिरिति किम ?

प्राणिणिषति ।।5।।

न्या०स०—न बदनं-संयोगादिरित्यस्य दः किर्भावे इति पुंस्त्वम् ।

अयि रः ।। 4. 1. 6. ।।

स्वरादेर्धातोर्द्वितीयस्यावयवस्यैकस्वरस्य रेफः संयोगादिर्द्विर्न भवति, 'अयि' रेफात्पर आनन्तर्येण यकारश्चेन्न भवति । अर्चिचिषति, प्रोर्णुनविषति, प्रोर्णोनूयते, प्रोर्णुनाव, प्रोणं-नवत्, आर्चिचत् । अयीति किम् ? अरार्यते । अर्यमाख्यातवान्, आरर्यत् । संयोगादि-रित्येव, अरिरिषति ।।6।।

न्या०स०—अयि रः—आनन्तर्येणेति-❊ सप्तम्या निर्द्दिष्टे पूर्वस्य ❊ तच्चानन्तरस्यैवेति । *आरर्यदिति*-अत्र स्वरादेशोन्त्यस्वरलोपरूपो द्वित्वे कार्य स्थानी निमित्तापेक्षयापि प्राग्विधिरिष्यते ।

नाम्नो द्वितीयाद्यथेष्टम् ।। 4. 1. 7. ।।

स्वरादेर्नाम्नो धातोः द्विर्वचनभाजो द्वितीयादारभ्यैकस्वरोऽवयवो यथेष्टं द्विरुच्यते । अशिश्वीयिषति, अश्वीयियिषति, अश्वीयिषिषति ।।7।।

न्या०स०—नाम्नो द्वि०—"गम्ययप०" (2-2-74) इति पञ्चमी । *यथेष्टमिति*-यो य इष्टो "योग्यतावीप्सा" (3-1-40) इत्यनेनाव्ययीभावः ।

अन्यस्य ।। 4. 1. 8. ।।

स्वरादेरन्यस्य व्यञ्जनादेर्नाम्नो धातोर्द्विर्वचनभाजो एकस्वरोऽवयवो यथेष्टं प्रथमो द्वितीयस्तृतीयादिर्वाऽन्यतमो द्विरुच्यते । पुपुत्रीयिषति, पुतित्रीयिषति, पुत्रियियीषति, पुत्री-यिषिषति । पुत्रीयन्तं प्रायुक्त अपुपुत्रीयत्, अपुतित्रीयत् अपुत्रीयियत् ।।8।।

न्या०स०—अन्यस्य द्वितीयादित्यधिकारो नेष्ट इति प्रथमो द्वितीय इत्याद्युक्तम् । *अपुत्रीयियदिति*-अत्र "अतः" (4-3-82) इत्यनेन विषयेऽप्यकारलोपात् परनिमित्तत्वाभावे "स्वरस्य परे" (7-4-110) इति स्थानित्वाभावात् यि इत्यस्य द्वित्वं, न तु य इत्यस्य, एवं आसूयियदित्यादिष्वपि ।

कण्ड्वादेस्तृतीयः ॥ 4. 1. 9. ॥

कण्ड्वादेर्धातोर्द्विवचनभाज एकस्वरस्तृतीय एवावयवो द्विर्भवति । कण्डूयियिषति, असूयियिषति आसूयियत् ॥9॥

पुनरेकेषाम् ॥ 4. 1. 10. ॥

एकेषामाचार्याणां मते द्वित्वे कृते पुनर्द्वित्वं भवति । सुसोषुपिषते, प्राणिणिनिषत्, बुबोभूयिषते । एकेषामिति किम् ? सोषुपिषते, प्राणिणिषत्, बोभूयिषते ॥10॥

न्या०स०–पुनरे० *सुसोषुपिषते इति*-भूशार्थे यङ् ''स्वपेर्यङ्डे च'' (4-4-80) इति य्वृद् द्वित्वं सोषुपितुमिच्छति सन्, ''अतः'' (4-3-82) इत्यनेन विषयेऽस्य लोपात् ''स्वरस्य परे'' (7-4-110) इति स्थानित्वाऽभावे यो लुक् सिद्धः । *प्राणिणिनिषदिति*–''द्वित्वेऽप्यन्ते'' (2-3-81) इत्यत्र द्वित्वे इति वचनात् द्वयोरेव णत्वं न तृतीयस्यापि ।

यिः सन्वेर्ष्यः ॥ 4. 1. 11. ॥

ईर्ष्यतेर्द्विर्वचनभाजो यिः सन् वा द्विर्भवति । ईर्ष्यियिषति, ईर्ष्यिषिषति ॥11॥

हवः शिति ॥ 4. 1. 12. ॥

जुहोत्यादयः शिति द्विर्भवन्ति । जुहोति, जुह्वत् । प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरित्येव, जुहवानि ॥12॥

चराचर-चलाचल-पतापत-वदावद-घनाघन-पाटूपटं वा ॥ 4. 1. 13. ॥

एते शब्दा अचि कृतद्विर्वचना वा निपात्यन्ते । चरिचलिपतिवविहन्तीनामजन्तानां द्वित्वं हन्तेर्हस्य घत्वं पूर्वस्य च दीर्घः । चरतीति चराचरः, चलाचलः, पतापतः, बदावदः, घनाघनः । पाटयतेरजन्तस्य द्वित्वम् ह्रस्वत्वं पूर्वस्य च ऊदस्तो निपात्यते-पाटयतीति पाटू-पटः । पक्षे, चरः, चलः, पतः, वदः, हनः, पाटः । केचित्तु पटूपट इति निपातयन्ति ॥13॥

न्या०स०–चराचरघनाघन इति-प्रथमस्य निपातनात् घत्वं द्वितीयस्य तु ``अङे हिहन'' (4-1-34) इति सिद्धमेव ।

चिक्लिद-चक्नसम् ॥ 4. 1. 14. ॥

चिक्लिदचक्नसशब्दौ निपात्येते । क्लिद्यतेः के क्नस्यतेरचि उभयत्र घञर्थे वा के द्वित्वं निपात्यते । चिक्लिदः, चक्नसः । चक्रुः ययुः बभ्रुः इत्यौणादिकाः ॥14॥

न्या०स०–चिक्लिद०–क्लिदौच् क्लिद्यतीति ``नाम्युपान्त्य'' (5-1-54) इति कः क्नस्यतीत्यऽच् क्लेदनं क्लसनं वा स्थादित्वात्के । चक्रुः वैकुण्ठः कर्मठश्च, ययुः अश्वः यायावरः स्वर्गमार्गश्च, बभ्रुः ऋषिः नकुलः राजा वर्णश्च, ``हनिया'' 733 (उणादि) इति त्रयोऽपि साधवः ।

दाश्वत् साह्वत् मीढ्वत् ॥ 4. 1. 15. ॥

एते शब्दाः क्वसुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । दाशृग् दाने इत्यस्य क्वसावद्वित्वमनिट्त्वं च निपात्यते । दाश्वान्, दाश्वांसौ, दाशुषी । षहि मर्षणे इत्यस्य परस्मैपदमद्वित्वमुपान्त्य-दीर्घत्वमनिट्त्वं च निपात्यते । साह्वान्, 'मिह सेचने' इत्यस्याद्वित्वमनिट्त्वमुपान्त्यदीर्घत्वं ढत्वं च निपात्यते, मीढ्वान् ॥15॥

न्या०स०–दाश्वत्साह्वत्-'षहण् मर्षणे' इत्यस्य न निपातनमिष्टिवशात् ।

ज्ञप्यापो ज्ञीपीप् न च द्विः सि सनि ॥ 4. 1. 16. ॥

ज्ञपेरापेश्च सकारादौ सनि परे यथासंख्यं ज्ञीपीप् इत्येतावादेशौ भवतो न चानयोरे-कस्वरोंऽशो द्विर्भवति । आदेशे कृते द्वित्वं प्राप्नोतीति निषिध्यते । आदेशसंनियोगे च निषेधात् अन्यत्र द्वित्वं भवत्येव । ज्ञीप्सति, ईप्सति । सीति किम् ? जिज्ञपयिषति । ``इवृध'' (4-4-47) इत्यादिना विकल्पेट् । सनीति किम् । आप्स्यति ॥16॥

न्या०स०–ज्ञप्यापो०–आदेशे कृते इति-परत्वात् प्रथममेवेत्यर्थः । *ज्ञीप्सतीति*-ज्ञांश्, जानन्तं प्रयुङ्क्ते णिग्, ``अर्त्तिरी'' (4-2-21) इति पोऽन्तः, ``मारणतोषण'' (4-1-30) इति ह्रस्वत्वं, ज्ञपयितुमिच्छति ``तुमर्हात्'' (3-4-21) इति सन् । *ईप्सतीति*-आप्लृण् लम्भने इत्यस्य

णिजभावेऽपि नित्यमिटि सादिस्सन् नास्ति ।

ॠध ईर्त् ।। 4. 1. 17. ।।

ॠधः सकारादौ सनि परे ईर्त् इत्यादेशो भवति न चास्य द्विः । ईर्त्सति । सीत्येव ? अर्दिधिषति ।।17।।

न्या०स०–ॠध ईर्त्-ईर्त्सतीति-``इवृध'' (4-4-47) इति वेट् ।

दम्भो धिप् धीप् ।। 4. 1. 18. ।।

दम्भेः सकारादौ सनि परे धिप् धीप् इत्येतावादेशौ भवतो न चास्य द्विः । धिप्सति, धीप्सति । सीत्येव, दिदम्भिषति ।।18।।

अव्याप्यस्य मुचेर्मोग्वा ।। 4. 1. 19. ।।

मुचेरकर्मकस्य सकारादौ सनि परे मोक् इत्ययमादेशो वा भवति न चास्य द्विः । मोक्षति मुमुक्षति चैत्रः, मोक्षते मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव । अव्याप्यस्येति किम् ? मुमुक्षति वत्सं चैत्रः ।।19।।

न्या०स०–अव्याप्यस्य-न विद्यते व्याप्यं यस्य, यदा नामनाम्नेत्याश्रयणादविद्यमानं व्याप्यं यस्य तदा मयुरव्यंसकादित्वात् मध्यपदलोपः । *मोक्षते वत्स इति*-वाक्यकाले मुमुक्षति वत्सं चैत्रः स एवं विवक्षते, नाऽहं मुमुक्षामि ``भूषार्थ'' (3-4-93) इति क्याऽभावः ।

मिमीमादामित्स्वरस्य ।। 4. 1. 20. ।।

मिमीमा इत्येतेषां दासंज्ञकानां च स्वरस्य सकारादौ सनि परे इदादेशो भवति, न चैषां द्विः । डुमिंगट्-मित्सति, मित्सते शतम्, मीति मींङ्च्मींग्शोर्ग्रहणम्-मित्सते, प्रमित्सति, प्रमित्सते, शत्रून्, मेति मांक्मांङ्क्मेंङां ग्रहणम्-मित्सति, प्रमित्सते भूमिम्, अपमित्सते यवान् । मातेर्नेच्छन्त्येके-मिमासति । दासंज्ञ, दाम्,–प्रदित्सति दानम्, देङ्–दित्सते पुत्रम्, डुदांग्क्-दित्सति दित्सते वस्त्रम्, दोंच् दित्सति दण्डम्, ट्धें धित्सति स्तनम्, डुधांग्क् धित्सतिधित्सते श्रुतम् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थं, ❊ तेन 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' ❊ इत्यादि नाश्रीयते । स्वरस्येति किम् ? सर्वस्य माभूत् ।।20।।

न्या०स०—मिमीमादा०-``मिग्मीगोऽखलचलि'' (4-2-8) इत्यात्वे माद्वारेणैव सिध्यति किं मिग्रहणेनेति ? सत्यं, ``नामिनोऽनिट्'' (4-3-33) इति सनः कित्वादात्वं न प्राप्नोति । *मीति मींङ्च्मींग्शोरिति*-मीण् गताविति यौजादिकस्यापि ग्रहः, यतः मींङ्च्मींग्शावेव गतौ वर्त्तमानौ युजादी तेन ❇ निरनुबन्धग्रहणे ❇ इति यद्यऽयं न्यायः स्यात्तदा मांक् माने इत्यस्य मतान्तरेण ककारानुस्वारयोरनित्यत्वात् निरनुबन्धग्रहणे सति मांङ्क् इत्येतस्य ग्रहणं न स्यात्, आदिशब्दात् एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य लक्षणप्रतिपदोक्तयोरित्यादयोऽपि नाश्रीयन्ते तेन डुमिंग्ट्मेंङोरपि ग्रहणम् ।

रभ-लभ-शक-पत-पदामिः ॥ 4. 1. 21. ॥

एषां स्वरस्य सकारादौ सनि परे इकार आदेशो भवति न चैषां द्विः । रभ्,—आरिप्सते, लभ् लिप्सते, शक्-शिक्षति, पत् पित्सति, पद्-पित्सते । सीत्येव,—पिपतिषति । बहुवचनं शकीच्शक्लृंटोरुभयोरपि परिग्रहार्थम् ॥21॥

न्या०स०—रभलभ०—शिक्षतीति-शकीच् शिक्षते इत्यपि । *बहुवचनमिति*-अन्यथा निरनुबन्धत्वाद्दैवादिकस्यैव स्यात् ।

राधेर्वधे ॥ 4. 1. 22. ॥

राधेर्हिंसायां वर्तमानस्य सकारादौ सनि परे स्वरस्येकारादेशो भवति, न चास्य द्विः । प्रतिरित्सति, अपरित्सति । वध इति किम् ? आरिरात्सति गुरून् ॥22॥

अवित्परोक्षा-सेट्थवोरेः ॥ 4. 1. 23. ॥

राधेर्हिंसायां वर्तमानस्य अविति परोक्षायां थवि च सेटि स्वरस्यैकारो भवति, न चास्य द्विर्भवति । रेधतुः, रेधुः, रेधिथ, अपरेधतुः, अपरेधुः, अपरेधिथ, प्रतिरेधतुः, प्रतिरेधुः, प्रतिरेधिथ, परिरेधतुः, परिरेधुः, परिरेधिथ, अपरेधिव, अपरेधिम । अविदिति किम् ? अपरराध । परोक्षासेट्थवोरिति किम् ? अपराध्यते । वध इत्येव, आरराधतुः । आरराधिथ ॥23॥

अनादेशादेरेकव्यञ्जनमध्येऽतः ॥ 4. 1. 24. ॥

अवित्परोक्षासेट्थवोः परयोर्योऽनादेशादिर्धातुस्तत्संबन्धिनः स्वरस्यातोऽकाररूप-स्यासहायव्यञ्जनयोर्मध्ये वर्तमानस्य स्थाने एकारादेशो भवति, न च धातुर्द्विर्भवति । पेचतुः,

पेचुः, पेचिवान्, पेचुषी, पेचिव, पेचिम, पेचिथ, रेणतु, रेणिथ। अविदित्येव ? अहं पपच। परोक्षायामित्येव, पच्यते। सेट्थवीत्येव, पपक्थ। अनादेशादेरिति किम् ? बभणतुः, बभणिथ, चकणतुः, चकणिथ। एकव्यञ्जनमध्ये इति किम् ? ततक्षतुः, ततक्षिथ। अत इति किम् ? दिदिवतुः। दिदेविथ। अवित्परोक्षासेट्थव्भ्यामादेशादित्वस्य विशेषणं किम् ? इहापि यथा स्यात्। णम्-नेमतुः, नेमुः, नेमिथ, सेहे, सेहाते सेहिरे, युजादौषहण् सेहिथ। अत्र हि अनिमित्ते नत्वसत्वे न तु परोक्षाथव्निमित्ते इति ॥24॥

न्या०स०—अनादेशा०—एके च असहाये च ते व्यञ्जने च तयोर्मध्यं तस्मिन्। अहं *पपचेति*-अन्त्यणवो वा णित्वादऽकारसंभवे द्व्यङ्गवैकल्याऽभाव इत्यन्तणवि दर्शितम्, ममथ्वानित्यत्रैकव्यञ्जनस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति।

तॄ-त्रप-फल-भजाम् ॥ 4. 1. 25. ॥

एषामवित्परोक्षासेट्थवोः स्वरस्यात एत्वं भवति, न चैते द्विर्भवन्ति। तेरतुः, तेरिथ, त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे, फेलतुः, फेलिथ, भेजतुः, भेजिथ। अविदित्येव, अहं ततर, सेटीत्येव, बभक्थ। अत इत्येव, तितीर्वान्। तरतेरतो गुणरूपत्वात् त्रपेरनेकव्यञ्जनमध्यत्वात् फलभजोरादेशादित्वात् न प्राप्नोतीति वचनम्। बहुवचनं तु फलञिफला इत्युभयोरपि ग्रहणार्थम् ॥25॥

न्या०स०—तॄत्रप०-तेरतुरिति-'प्राक्तु स्वरे' (4-1-1) इति भणनात् पूर्वं द्वित्वे ''स्कृच्छ्रृतोकि'' (4-3-8) इति गुणेऽस्य एत्वे न च द्विरिति वचनात् कृतमपि द्वित्वं निबर्त्तते, एवं जॄधातोरपि ज्ञेयं, गुणरूपत्वात् ''न शस'' (4-1-30) इति निषेधः स्यादित्याह-*तरतेरित्यादि। बहुवचनमिति*-अन्यथा निरनुबन्धग्रहण इत्यनेन ञिफला इत्यस्य न स्यात्।

जॄ-भ्रम-वम-त्रस-फण-स्यम-स्वन-राज-भ्राज-भ्रास-भ्लासो वा ॥4. 1. 26. ॥

एषामवित्परोक्षासेट्थवोः स्वरस्यात एत्वं वा भवति, न चैते द्विर्भवन्ति। जेरतुः, जजरतुः, जेरिथ, जजरिथ, भ्रेमतु, बभ्रमतुः, भ्रेमिथ, बभ्रमिथ, वेमतु, ववमतुः, वेमिथ, ववमिथ। 'उद्वेमुस्तत्र रुधिरं रथिनोऽन्योन्यवीक्षिताः'। वमेर्नेच्छन्त्यन्ये त्रेसतुः, तत्रसतुः, त्रेसिथ, तत्रसिथ फेणतुः, पफणतुः, फेणिथ, पफणिथ, स्येमतुः, सस्यमतुः, स्येमिथ,

सस्यमिथ, स्वेनतुः, सस्वनतुः, स्वेनिथ, सस्वनिथ, रेजतुः, रराजतुः, रेजिथ, रराजिथ, भ्रेजे, बभ्राजे, भ्रेसे, बभ्रासे, भ्लेसे, बभ्लासे। अविदित्येव–अहं जजर ॥26॥

न्या०स०–जॄभ्रमवम०-राजसहचरितभ्राजेरेव ग्रहणमिति पारायणे निर्ण्णीतम्।

श्रन्थ-ग्रन्थो न्लुक् च ॥ 4. 1. 27. ॥

अनयोः स्वरस्यावित्परोक्षासेट्थवोरेकारादेशो वा भवति, तत्संनियोगे च नकारस्य लुक्,–न चैतौ द्विर्भवतः। श्रेथतुः, शश्रन्थतुः, श्रेथिथ, शश्रन्थिथ, ग्रेथतुः, जग्रन्थतुः, ग्रेथिथ, जग्रन्थिथ। अविदित्येव,-शश्रन्थ, जग्रन्थ ॥27॥

न्या०स०–श्रन्थग्रन्थ-श्रथुङ् ग्रथुङङ् इत्यनयोर्लाक्षणिकत्वान्न भवति, प्रकृति-प्रत्यययोर्वचनभेदान्न यथासंख्यम्।

दम्भः ॥ 4. 1. 28. ॥

दम्भेरवित्परोक्षायां स्वरस्य एकारादेशो भवति,–तत्संनियोगे नकारस्य लुक्, न चायं द्विर्भवति। देभतुः, देभुः। अविदित्येव,–ददम्भ ॥28॥

न्या०स०–थेवा-वर्तमाना थप्रत्यये स्वादेः श्नुना व्यवधानात् प्राप्त्यभाव इति परोक्षाया एव थप्रत्ययग्रहणम्।

थे वा ॥ 4. 1. 29. ॥

दम्भेः स्वरस्य थे परे एकारादेशो वा भवति, तत्संनियोगे च नकारस्य लुक्, न चायं द्विर्भवति। देभित, ददम्भिथ।

अन्ये तु श्रन्थिग्रन्थिदम्भीनां नलोपे सति नित्यमेत्वमिच्छन्ति नलोपं त्वविति परोक्षायां नित्यमेव, तेन श्रेथतुः, ग्रेथतुः, देभतुः, नलोपाभावे तु शश्रन्थिथ, जग्रन्थिथ ददम्भिथेत्येव भवति। अन्यस्त्ववित्परोक्षासेट्थवोर्नित्यमेत्वमिच्छति नलोपं त्वविति परोक्षायामेव, तेन श्रेथतुः ग्रेथतुः देभतुः नलोपाभावेऽपि श्रेन्थिथ, ग्रेन्थिथ, देम्भिथेत्येवेच्छति ॥29॥

न शस-दद-वादि-गुणिनः ॥ 4. 1. 30. ॥

शसिदद्योर्वकारादीनां गुणिनां च धातूनां स्वरस्यैत्वं न भवति। विशशसतुः, विशशसिथ, दददे, दददाते, दददिरे, ववले, ववलाते, ववलिरे, ववणतुः, ववणिथ, विशशरतुः, विशशरिथ, बिभयिथ, लुलविथ ॥30॥

हौ दः ॥ 4. 1. 31. ॥

दासंज्ञकस्य धातोर्हौ परेऽन्तस्यैकारादेशो भवति, न चायं द्विः। देहि, धेहि। न च द्विरिति वचनात्कृतमपि द्वित्वं निवर्तते, तेन यङ्लुप्यपि देहीति भवति। हाविति व्यक्ति-निर्देशादिह न भवति,—दत्तात्, धत्तात् ॥31॥

न्या०स०—हौदः यङ्लुप्यपीति-प्रत्यासत्तेर्न्यायात् यस्मिन्नेव प्रत्यये द्वित्वमेत्वं च प्राप्तं तस्मिन्नेव प्रत्यये, न च द्विरिति प्रवर्त्तते, अत्र च यङ् निमित्तकं द्वित्वं कथं निवर्त्यते ? उच्यते व्यक्त्या प्रवृत्तेः।

देर्दिगिः परोक्षायाम् ॥ 4. 1. 32. ॥

देङः परोक्षायां दिगिरित्ययमादेशो भवति, न चायं द्विः। दिग्ये, दिग्याते, दिग्यिरे, अवदिग्ये, अवदिग्याते, अवदिग्यिरे ॥32॥

ङे पिब पीप्य् ॥ 4. 1. 33. ॥

ण्यन्तस्य पिबतेर्ङे परे पीप्य् इत्ययमादेशो भवति न चायं द्विः। अपीप्यत्, अपीप्यताम्, अपीप्यन्। पिबतिनिर्देशात्पातेर्न भवति,-अपीपलत्। लुप्ततिव्निर्देशाद्यङ्लुप्यपि न भवति, अपापयत्। ङ इति किम् ? पाययति ॥33॥

न्या०स०—ङे पिबः—लुप्ततिव्निर्द्देशादिति—यतः सूत्रे पिबत्येकदेशः पिबऽनुचक्रे।

अङे हिहनो हो घः पूर्वात् ॥ 4. 1.1 34. ॥

हिहन् इत्येतयोर्धात्वोर्ङवर्जिते प्रत्यये परे द्वित्वे सति पूर्वस्मात् परस्य हस्य घो भवति। प्रजिघाय, प्रजिघीपति, प्रजेघीयते। प्रजेघेति। हन्,—जिघांसति, जंघन्यते, जङ्घनीति। अङ इति किम् ? प्राजीहयत्। अङे द्विर्वचननिमित्तप्रत्ययेऽनन्तरस्य विज्ञानादिह न भवति,

हननीयितुमिच्छति–जिहननीयिषति । ङपर्युदासात्तु णिव्यवधाने भवति,– प्रजिघाययिषति । पूर्वादिति वचनान्न च द्विरिति निवृत्तम् ।।34।।

*न्या०स०–अङे हिहनो-जंघन्यते इति-*कुटिलं हन्ति ``गत्यर्थात्'' (3-4-11) इति यङ, यदि हिंसार्थस्तदा ``हनो घ्नीर्वधे'' (4-3-99) इति स्यात् । *प्रजिघाययिषतीति-*प्रहिण्वन्तं प्रयुङक्ते णिग् वृद्धिः, प्रहाययितुमिच्छति सन् ।

जेर्गिः सन्परोक्षयोः ।। 4. 1. 35. ।।

जयतेः सन्परोक्षयोर्द्वित्वे सति पूर्वस्मात्परस्य गिरादेशो भवति । जिगीषति, विजिगीषते, जिगाय, विजिग्ये । सम्परोक्षयोरिति किम् ? जेजीयते । जिनातेर्जिरूपस्य लाक्षणिकत्वा-ज्जिज्यतुः ।।35।।

*न्या०स०–जेर्गिः सन्-पूर्वस्मादिति-*यदि पूर्वादित्यधिकारो न स्यात्तदा द्वित्वसहितस्यापि धातोरादेशः स्यात्, यद्वा पूर्वस्या भक्तेः स्यात्, न च वाच्यं कृतेऽपि ``गहोर्जः'' (4-1-40) इति स्याद्विधानसामर्थ्यान्न भवतीत्याशङ्का स्यात् एवमुत्तरत्रापि ।

चेः किर्वा ।। 4. 1. 36. ।।

चिनोतेः सन्परोक्षयोर्द्वित्वे सति पूर्वस्मात्परस्य किरादेशो वा भवति । चिकीषति, चिचीषति, चिकाय, चिचाय, चिक्ये, चिच्ये । सन्परोक्षयोरित्येव, चेचीयते ।।36।।

न्या०स०–चेः किर्वा-चिकीषतीति–``स्वरहन्'' (4-1-104) इति दीर्घत्वे द्वित्वे किरूपादेशे पुनः ``स्वरहन्'' (4. 1. 104.) इति दीर्घत्वं यावत्संभव इति न्यायात् ।

पूर्वस्यास्वे स्वरे योरियुव् ।। 4. 1. 37. ।।

धातोर्द्वित्वे सति यः पूर्वस्तस्य संबन्धिनो योरिकारस्योकारस्य चास्वे स्वरे परे आसन्नौ इय् उव् इत्येतावादेशौ भवतः । इयेष, उवोष, इयर्ति, इयृयात् । अर्तेर्यङ्लुपि द्वित्वे पूर्वस्याकारे ``रिरौ च लुपि'' (4-1-56) इत्यनेन रिरीइत्यागमे तदिवर्णस्य चेय्भावे सति अरियर्ति, अरियरीति, एके त्वत्रेयं नेच्छन्ति, अर्यर्ति अर्यरीतीति । तन्मतसंग्रहार्थं पूर्वस्येति योः समानाधिकरणं विशेषणं तेन इकारोकारमात्रस्यैव पूर्वस्येयुवौ भवतः । अस्व इति किम् ? ईषतुः, ऊषतुः ।

स्वर इति किम् ? पिपक्षति, पुपूषति, इयाज, उवाप ।।37।।

न्या०स०—पूर्वस्यास्वे-इयेषेति-अस्वे स्वरे इति भणनात् गुणे कृते इयादेशः, नन्वियादेशेऽपि विधेये ``स्वरस्य परे'' (7-4-110) इत्यनेन गुणस्य स्थानिवद्भावादियुवौ न प्राप्नुतः ? सत्यं, परे इति सप्तमी सप्तम्या च निर्दिष्टे पूर्वस्यानन्तरस्यैव, अत्र तु पकारेण व्यवधानमिति न स्थानित्वं, अस्वे इति नञा निर्दिष्टमनित्यमिति वा, यद्वा स्वे स्वर इति व्याप्तेः । ननु तथापि न प्राप्नोति ❊ *असिद्धं बहिरङ्गम्* ❊ इति न्यायेन गुणस्यासिद्धत्वात् ? न, न स्वरानन्तर्य इति न्यायादयं न्यायो नोपतिष्ठते ।

योः समानाधिकरणमिति—योः किंविशिष्टस्य पूर्वस्य न तु पूर्वसंबन्धिनः, यदि इकार-ईकार-उकाराः स्वातन्त्र्येण पूर्वे भवेयुरऽत्र तु रिरीत्यादेरधिकस्य संबन्धिनः ।

ॠतोऽत् ।। 4. 1. 38. ।।

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य ॠतोऽद्भवति । चकार, ववृधे ।।38।।

ह्रस्वः ।। 4.1. 39. ।।

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य स्वरान्तस्य ह्रस्वो भवति । पपौ, निनाय लुलाव, कॄ, चकार, सिसेके, लुलोके, तुत्रौके ।।39।।

गहोर्जः ।। 4. 1. 40. ।।

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वयोर्गकारहकारयोर्जकारो भवति । जगाम, जघास, ह,—जहौ, जिहीर्षति, जुहोति, जहाति ।।40।।

द्युतेरिः ।। 4. 1. 41. ।।

द्युतेर्द्वित्वे सति पूर्वस्योत इर्भवति । दिद्युते, अदिद्युतत्, देद्युत्यते, विदिद्युतिषते, विदिद्योतिषते ।।41।।

न्या०स०—द्युतेरिः—विदिद्युतिषते इत्यत्र ``वौ व्यञ्जनादेः'' (4-3-25) इति सनो वा कित्त्वम् ।

द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ ।। 4. 1. 42. ।।

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य द्वितीयतुर्ययोः स्थाने यथासंख्यं पूर्वावाद्यतृतीयावासन्नौ भवतः । चखान, चिच्छेद, टिठकारयिषति, तस्थौ, पफाल, जुघोष, जझाम, डुढौके, दधौ, बभार । द्वितीयतुर्ययोरिति किम् ? पपाच ।।42।।

न्या०स०—द्वितीय०—पपाचेति-अत्र सामीप्यात् पूर्वो नकारः स्यात् ।

तिर्वा ष्ठिवः ।। 4. 1. 43. ।।

ष्ठिवेर्द्वित्वे सति पूर्वस्य द्वितीयस्य तिरादेशो वा भवति । तिष्ठेव, टिष्ठेव, तेष्ठीव्यते, टेष्ठीव्यते । तेरिकारोत्रोच्चारणार्थः तेन ``इवृध''–(4-4-47) इत्यादिना वेटि तुष्ठ्यूषति टुष्ठ्यूषति । पूर्वस्येत्यादेशविधानमेव ज्ञापयति ष्ठिवेः षकारः ठकारपरः ष्ठाष्ट्यैप्रभृतीनां तु तवर्गपरः तेन तस्थौ तष्ट्यौ इत्यादि भवति । केचित्तु ``स्वरेभ्यः'' (1- 3- 30) इति द्विरुक्तस्य छकारस्य द्वित्वे सति पूर्वस्य त्यादेशमिच्छन्ति । तन्मते उच्छैत्-उतिच्छिषति, ऋच्छत्-ऋतिच्छिषतीति ।।43।।

*न्या०स०—तिर्वा ष्ठिवः—*ष्ठिवो भ्वादेर्दिवादेश्च ग्रहः, *ठकारपर इति—*यद्यत्र षकारः थकारपरः स्यात् तदाऽनेन तविधानं न कुर्यात् यतः ``अघोषे शिटः'' (4-1-45) इति षलोपे ❉ निमित्ताभावे ❉ इति न्यायेन ठस्य थे ``द्वितीयतुर्ययोः'' (4-1-42) इति थकारस्य च ते तकारः सिद्ध एव, पक्षे टकारविधानार्थं तु टिर्वा ष्ठिव इति सूत्रं कुर्यादित्यर्थः । तष्ट्याविति-अत्र ``अघोषे शिटः'' (4-1-45) इति षलुपि निमित्ताभाव इति टस्य तकारः ।

व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् ।। 4. 1. 44. ।।

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य व्यञ्जनस्यानादेर्लुग् भवति । जग्ले, मम्ले, पपाच, आटतुः, ऋच्छत् ऋचिच्छिषति, उच्छैत् उचिच्छिषति, अटाट्यते । व्यञ्जनस्येति किम् ? स्वरस्य मा भूत् । अनादेरिति किम् ? आदेर्माभूत् पपाच ।।44।।

न्या०स०—व्यञ्जनस्या०-ऋतिच्छिषतीति-अनेनाधस्तनच्छस्य लुकि निमित्ताभाव इति ऊर्ध्वस्थचस्य छः ततो ``द्वितीयतुर्ययोः'' (4-1-42) इत्यनेन छस्य चः ।

अघोषे शिटः ।। 4. 1. 45. ।।

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य शिटस्तत्संबन्धिन्येवाघोषे परे लुग् भवति, अनादिलुगपवादोऽयम् ।

चुश्चोत, टिष्टेव, चस्कन्द । अघोषे इति किम् ? सस्नौ । शिट इति किम् ? पप्सौ ।।45।।

न्या०स०–अघोषे शिटः तत्संबन्धिन्येवेति-अत्र तत्संबन्धिव्याख्याऽभावे सिद्धे सत्यारम्भ इति न्यायात् नियमार्थमेतदित्याशङ्का स्यात्, अघोष एव शिटः ततश्चनीकस्यते इत्यादिष्वेव स्यात्, न तु लालस्यते इत्यादिषु परत्राऽघोषाभावात् । चक्रम्यते इत्यत्र तु अनुस्वारस्य शिट्त्वेऽपि एवकारान्न लुक्, अत्र हि ह्यानन्तर्येण संबन्धमात्रं न तत्संबन्ध्येव म्वागमस्य पूर्वभक्तत्वात् ।

कङश्चञ् ।। 4. 1. 46. ।।

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वयोः ककारङ्कारयोर्यथासंख्यं चकारञकारौ भवतः । चकार, चखान, ञुङ् वे, ञिङ्कारीयिषति ।।46।।

न कवतेर्यङः ।। 4. 1. 47. ।।

यङन्तस्य कवतेर्द्वित्वे सति पूर्वस्य कस्य चो न भवति । कोकूयते खरः, शव्निर्देशः कौतिकुवत्योर्निवृत्त्यर्थः । चोकूयते, कवतिरव्यक्ते शब्दे, कुवतिरार्तस्वरे, कौतिः शब्दमात्रे, एषां पाठे शब्दमात्रार्थत्वेऽपि गत्यर्थत्वाविशेषे धावतिगच्छत्यादीनामिवार्थभेदः । यङ्लुपि च निषेधो न भवति । चोकवीति, अन्ये तु यङ्लुप्यपि प्रतिषेधयन्ति, कोकवीति । यङ इति किम् ? चुकुवे ।।47।।

न्या०स०–न कवते-प्रतिषेधयन्तीति-प्रतिषेधं व्याचक्षते ``णिज्बहुलम्'' (3-4-42) ।

आगुणावन्यादेः ।। 4. 1. 48. ।।

धातोर्यङन्तस्य द्वित्वे सति पूर्वस्यान्यादेर्नीमुरीरिरन्तवर्जितस्याकारो गुणश्चासन्नौ भवतः । पापच्यते, अटाट्यते, चेचीयते, लोलूयते, हांक्-जेहीयते, पापचीति, बेभिदीति, लोलवीति । नैतावाकारगुणौ यङ्निमित्ताविति यङ्लुप्यपि भवतः । अन्यादेरिति किम् ? वनीवच्यते, यंयम्यते, नरीनृत्यते, नरिनर्ति, नर्नर्त्ति । ननु चात्र अपवादत्वान्न्यादय एव बाधका भविष्यन्ति किं न्यादिवर्जनेन ? सत्यम्, द्वित्वे सति पूर्वस्य विकारेषु बाधको न बाधक इति ज्ञापनार्थम्, तेन अचीकरदित्यत्र ``लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः'' (4-1-64) इति सन्वत्कार्यं न बाध्यते ।।48।।

*न्या०स०–आगुणा०–*न भविष्यन्ति न्यादयो यस्य असावऽन्यादि: तस्य । *अपवादत्वान्न्यादय एवेति*-न्यादीनां तु संबन्धिनोऽन्तस्य विधानसामर्थ्यान्न प्राप्ति:, अत पूर्वस्यैव प्राप्नुत आगुणौ । सन्वत्कार्यमिति-सन्वत्कार्यबाधे त्वऽचाकरदित्य निष्टं स्यात् ।

न हाको लुपि ॥ 4. 1. 49. ॥

ओहांक् त्यागे इत्यस्य द्वित्वे सति पूर्वस्य यङो लुप्याकारो न भवति । जहाति, जहेति । लुपीति किम् ? जेहीयते ॥49॥

वञ्च-स्त्रन्स-ध्वन्स-भ्रंश-कस-पत-पद-स्कन्दोऽन्तो नी: ॥ 4. 1. 50. ॥

एषां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य नीरन्तोऽवयवो भवति । वनीवच्यते, वनीवञ्चीति, सनीस्त्रस्यते, सनीस्त्रंसीति, दनीध्वस्यते, दनीध्वंसीति, बनीभ्रश्यते, बनीभ्रंशीति, चनीकस्यते, चनीकसीति, पनीपत्यते, पनीपतीति, पनीपद्यते, पनीपदीति, चनीस्कद्यते, चनीस्कन्दीति । दीर्घविधानाद्ध्रस्वो न भवति ॥50॥

*न्या०स०–वञ्चस्त्रंस०–*द्युतादिध्वंससाहचर्यात् स्त्रंसूङ इत्यस्यैव द्युतादिस्त्रंसो ग्रह:, स्त्रंसूङ् प्रमादे इत्यस्य तु सास्त्रस्यत इति भवति । भ्रंशिरपि भ्रंशूङिति भ्वादिरेव गृह्यते भ्वादिध्वंस् साहचर्यात् । भृशुच् भ्रंशुच् इत्यस्य तु बाभ्रश्यत इत्येव ।

मुरतोऽनुनासिकस्य ॥ 4. 1. 51. ॥

अकारात्परो योऽनुनासिकस्तदन्तस्य धातोर्यङन्तस्य द्वित्वे सति पूर्वस्य मुरन्तो भवति । बम्भण्यते, बम्भणीति, तन्तन्यते, तन्तनीति, जङ्गम्यते, जङ्गमीति । यलवानामनुनासिकत्वे तन्तय्यँते, तन्तयँ, चंचल्यँते, चञ्चलँ, मंमव्वँते, मंमवँ । अननुनासिकत्वे, तातय्यते, तातय:, चाचल्यते, चाचल:, मामव्यते, मामव: । अत इति किम् ? तेतिम्यते, जोघुण्यते, बाभाम्यते । अनुनासिकस्येति किम् ? पापच्यते ॥51॥

*न्या०स०–मुरतो०-बाभाम्यते इति-*भामि क्रोधे इत्यस्य रूपम्, ये त्वनुनासिकान्तस्य धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्याऽत इति विशेषणं मन्यन्ते तन्मते बंभाम्यत इति तन्मतसंग्रहायाऽत इति षष्ठी व्याख्येया ।

जप-जभ-दह-दश-भञ्ज-पशः ॥ 4. 1. 52. ॥

एषां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य मुरन्तो भवति । जंजप्यते, जंजपीति, जंजभ्यते, जंजभीति, दंदह्यते, दंदहीति, दंदश्यते, दंदशीति, बम्भज्यते, बम्भञ्जीति, पशिति सौत्रो धातुः, पंपश्यते, पंपशीति । दशिति लुप्तनकारनिर्देशात् यङो लुप्यपि दंशेर्नलोपो भवति । अन्यस्तु नलोपं नेच्छति तेन दंदंशीति ॥52॥

न्या०स०—जपजभ०-पस इति दन्त्यान्तं न्यासकारादयो मेनिरे, भोजस्तु तालव्यान्तम् । *जंजभीति*-आगमशासनमनित्यमिति ``जभः स्वरे'' (4-4-100) इति नागमाभावः । लुप्तनकारेति- ``गॄलुप'' (3-4-12) इत्यत्रापि ज्ञापितं परं ❆ द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति ❆ इत्यत्रापि ज्ञापितम् ।

चरफलाम् ॥ 4. 1. 53. ॥

चरफलत्रिफला इत्येषां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य मुरन्तो भवति । चंचूर्यते, चञ्चुरीति, पम्फुल्यते, पम्फुलीति । बहुवचनं त्रिफलाविशरणे इत्यस्यापि परिग्रहार्थम् ॥53॥

ति चोपान्त्यातोऽनोदुः ॥ 4. 1. 54. ॥

यङन्तानां चरफलां तकारादौ च प्रत्यये उपान्त्यस्यात उरादेशो भवति 'स चानोत्' तस्य गुणो न भवति । चंचूर्यते, चंचुरीति, पंफुल्यते, पंफुलीति, चूर्त्तिः, ब्रह्मचूर्णिः, प्रफुल्लिः, प्रफुल्लः, प्रफुल्लवान् । अत इति किम् ? चारयतेः फालयतेश्च क्विप्, तत आचारे क्विप्, ततो यङ् चंचार्यते पंफाल्यते । अत्रैकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्प्राप्नोति । अनोदिति किम् ? चंचूर्ति, पंफुल्ति-अत्र गुणो न भवति ॥54॥

न्या०स०—तिचोपान्त्या०-यङन्तानामिति-द्वित्वे सति ज्ञातव्यं न पूर्वस्य उपान्त्याऽकारस्य ग्रहणात् । *चञ्चूर्यते इति*—द्वित्वे सतीत्यधिकारान्न पूर्वमुत्वम् । चूर्त्तिरित्यत्र तु द्वित्वाऽसंभवात् द्वित्वाऽभावेऽपीति दृश्यम् । *चूर्त्तिरिति*-चरणं ``समज'' (5-1-99) इति समावेशार्थत्वात् ``श्रवादिभ्यः'' (5-1-92) क्तिः । *प्रफुल्ल इति*-त्रिफलेत्यस्य यदा फलति स्मेति वाक्ये क्तस्तदा ``आदितः'' (4-4-71) इति नित्यमिडऽभावः, फलितुमारब्ध इति आरम्भे क्ते तु ``नवा भावारम्भे'' (4-4-72) इति वेट्, फलनिष्पत्तावित्यस्य तु नित्यमिट् । चञ्चार्यत इति-चरन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् वृद्धिः चारयतीति क्विप् ``णेरनिटि'' (4-3-83) चारिवाचरति ``कर्तुः क्विप्'' (3-4-25) गर्हितं चारति एवं पंफाल्यते इति ।

ऋमतां रीः ॥ 4. 1. 55. ॥

ऋकारवतां धातूनां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य रीरन्तो भवति। नृतैच्-नरी-नृत्यते, दृशृं-दरीदृश्यते, वृतूङ् वरीवृत्यते, वृधूङ वरीवृध्यते, कृपौङ चलीक्लृप्यते धृज् दरीधृज्यते, प्रच्छंत्-परीपृच्छयते, ओव्रश्चौत् वरीवृश्च्यते, ग्रहीश्-जरीगृह्यते, प्रच्छिव्रश्चिग्रहीणामृकारे कृते ऋमत्त्वम्। ऋमतामिति किम् ? चेक्रीयते, जेह्रीयते। कृग्हृगो रीभावे कृते द्वित्वमिति ऋमत्त्वं नास्ति, बहुवचननिर्देशो लाक्षणिकपरिग्रहार्थः ॥55॥

न्या०स०—ऋमतां-चलीक्लृप्यते-द्वित्वात् प्रागेव ``ऋर लृलम्'' (2-3-99) इत्यस्य प्रवृत्तौ ततो द्वित्वे ❊ *ऋकारोपदिष्टम्* ❊ इति न्यायेन लृकारस्याप्यात्। दरीधृज्यते इतिइकारोपान्त्यमिति केचित्तन्मते भृशं ध्रिजति देध्रिज्यते इति। *चेक्रीयते इति*-``ऋतो रीः'' (4-3-109) ततो द्वित्वम्।

रिरौ च लुपि ॥ 4. 1. 56. ॥

ऋमतां धातूनां यङो लुपि द्वित्वे सति पूर्वस्य रिरौ री चान्तो भवति। कृ-चरिकर्ति, चर्कर्ति, चरीकर्ति, हृ-जरिहर्ति, जर्हर्ति, जरीहर्ति, नरिनृतीति, नरिनर्ति, नर्नृतीति, नर्नर्ति, नरीनृतीति, नरीनर्ति, वरिवृश्चीति, वरिवृष्टि, वर्वृश्चीति, वर्वृष्टि, वरीवृश्चीति, वरीवृष्टि, चलिक्लृपीति, चलिकल्प्ति, चल्क्लृपीति, चल्कल्प्ति, चलीक्लृपीति, चलीकल्प्ति। लृपीति किम् ? नरीनृत्यते। ऋमतामित्येव, कॄ-चाकरीति, चाकर्ति, चाकीर्तः, चाकिरति, गॄ, जागल्ति, तॄ-तातर्ति ॥56॥

न्या०स०—रिरौ च०-वरीवृष्टीति—``संयोगस्यादौ'' (2-1-88) इति शलोपे ``यजसृज'' (2-1-87) इति चस्य षः, परे गुणे विधेये शलोपश्चाऽसन् इति गुणाभावः। *जागल्तीति*- अय्वृल्लेनदित्युक्तेर्यङ्लुप्यपि ``ग्रो यङि'' (2-3-101) इति लत्वम्।

निजां शित्येत् ॥ 4. 1. 57. ॥

निजिविजिविषां त्रयाणां शिति द्वित्वे सति पूर्वस्यैकारादेशो भवति। नेनेक्ति, नेनिक्ते, नेनिज्यात्, नेनेक्तु, अनेनेक्, वेवेक्ति, वेविक्ते, देवेष्टि, वेविष्टे। शितीति किम् ? निनेज, निनिक्षति, अनीनिजत्। निजामिति बहुवचनेन निजिविजिविषस्त्रय एवादादिपर्यन्तपठिता

गृह्यन्ते ॥57॥

पॄ-भृ-माहा-ङामिः ॥ 4. 1. 58. ॥

पॄऋभृ मा हाङ् इत्येतेषां शिति द्वित्वे सति पूर्वस्येकारो भवति । पिपर्ति, पिपृयात्, इयर्ति, इयृयात्, बिभर्ति, बिभृयात्, मिमीते, अमिमीत, जिहीते, अजिहीत । केचित्तु पॄ पालनपूरणयोरिति जुहोत्यादौ दीर्घत्वं पठन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं पॄश्च ऋश्चेति विग्रहोऽऽत एव च बहुवचनम् । पिपर्ति, पिपूर्तः पिपूर्यात् । हाङिति ङकारः किम् ? ओहांक्-जहाति । शितीत्येव, पपार, आर, बभार, ममे, जहे। शितीति द्वित्वस्य विशेषणं किम् ? पर्पर्ति, परीपर्ति । अत्र यङन्तस्य द्वित्वं न शितीति न भवति ॥58॥

*न्या०स०—पॄभृमाहा-*शिति द्वित्वे सति भणनात् पृङ्त् इत्यस्य व्युदासः ।

सन्यस्य ॥ 4. 1. 59. ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्याकारस्य सनि परे इकारो भवति । पिपक्षति, पिपासति, प्रतीषिषति, जिह्वायकीयिषति । सनीति किम् ? पपाच । अस्येति किम् ? लुलूषति, पापचिषते ॥59॥

ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे ॥ 4. 1. 60. ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्योकारान्तस्यावर्णान्ते जान्तस्थापवर्गे परतः सनि परे इकारोऽन्तादेशो भवति । जुं सौत्रो धातुः-जिजावयिषति, यियविषति, यियावयिषति, रिरावयिषति, लिलावयिषति, पिपविषते, पिपावयिषति, बिभावयिषति, मिमावयिषति । ओरिति किम् ? पापचिषते । जान्तस्थापवर्ग इति किम् ? अवतुतावयिषति, जुहावयिषति, शुशावयिषति । अवर्ण इति किम् ? बुभूषति, जुज्यावयिषति । सनीत्येव, लुलाव । ननु ण्यन्तानां वृद्ध्यवादेशयोः कृतयोर्द्वित्वे सति पूर्वस्योकारान्तता न संभवति, तत्र ``सन्यस्य'' (4-1-59) इत्यनेनैव सिद्धे किं गुरुणा सूत्रेण, एतावत्तु विधेयम् `ओः पयेऽवर्णे' इतिपिपविषति, यियविषतीत्यत्र पूर्वस्योकारान्तस्येत्वं यथा स्यात् ? सत्यं, ❉ णौ यत्कृतं कार्यं तत्सर्वं स्थानिवद्भवति ❉ इति न्यायज्ञापनार्थं वचनम्, तेन पुस्फारयिषति चुक्षावयिषति, शुशावयिषतीत्याद्यपि सिद्धम् । एतच्च ज्ञापकं जान्तस्थापवर्गवत् अन्यत्राप्यवर्ण एव द्रष्टव्यम्, तेनाचिकीतदित्यत्रेकारवतो द्विर्वचनं सिद्धम् ॥60॥

न्या०स०—ओर्जान्तस्था०- यियविषतीति-`युंग्श् योतुमिच्छति युक्मिश्रणे यवितुमिच्छति सन् ``इवृध'' (4-4-47) इट् । जुहावयिषतीति-ह्वयन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् ``णौ ङसनि'' (4-1-88) इति णिविषयेऽपि य्वृत्, ह्वाययितुमिच्छति-हुंक् इत्यस्य तु हावयितुमिच्छति सन् । *शुश्रावयिषतीति*-श्वयन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् ``श्वेर्वा'' (4-1-89) इति णिविषये य्वृत्, श्वाययितुमिच्छति । *अन्यत्रापीति* ओर्जान्तस्थापवर्गेऽपीत्यर्थः, *तेनाचिकीर्त्तदिति*-ननु कीर्त्यादेशस्यानिमित्ते एव विधानात् निमित्तत्वाऽभावे कथं ❈ णौ यत्कृतं कार्यम् ❈ इति न्यायेन स्थानित्वप्राप्तिरिति ? सत्यं यद्विना यन्न भवति तत्तस्य निमित्तमिति कृत्वा णिज् निमित्तं कीर्त्तेः, यतश्चुरादीनां णिच् अवश्यमेव भवति, ततो णिच्संनियोगे कीर्त्यादेशोऽतो निमित्तत्वम् ।

श्रु-स्त्रु-द्रु-प्रुप्लुच्योर्वा ॥ 4. 1. 61. ॥

एषां सनि परे द्वित्वे सति पूर्वस्योकारान्तस्यान्तस्थायामवर्णान्तायां परत इकारोऽन्तादेशो वा भवति । शिश्रावयिषति, शुश्रावयिषति, सिस्त्रावयिषति, सुस्त्रावयिषति, दिद्रावयिषति, दुद्रावयिषति, पिप्रावयिषति, पुप्रावयिषति, पिप्लावयिषति, पुप्लावयिषति, चिच्यावयिषति, चुच्यावयिषति । वचनादेकेनावर्णेनान्तस्थाया व्यवधानमाश्रीयते । अवर्ण इत्येव,—शुश्रूषते, सुस्त्रूषति । ओरित्येव, सोस्त्रविषति ॥61॥

न्या०स०—श्रुस्त्रुद्रु०-सोस्त्रविषतीति-कुटिलार्थे यङ् लुबन्तस्य सनि स्त्रवतेः प्रयोगः, यदि श्रृणोतेः स्यात्तदा सनि प्रत्यये परे ``श्रुवोऽनाङ् प्रतेः'' (3-3-71) इत्यात्मनेपदं स्यात्, अतः कारणात् शोधितम् ।

स्वपो णावुः ॥ 4. 1. 62. ॥

सनीति निवृत्तम्, स्वपेर्णौ सति द्वित्वे कृते पूर्वस्योकारोन्तादेशो भवति । सुष्वापयिषति, स्वपेर्णौ णके क्यनि णौ ङे च असुष्वापकीयत् । स्वापेः क्विबन्तात्कर्तुः क्विपि यङ्-सोष्वाप्यते । अन्ये तु णौ सति क्विबनिमित्तानन्तर्ये एवेच्छन्ति । स्वापकीयतेः सनि सिष्वापकीयिषति । णाविति किम् ? णकान्तात्क्यनि सनि च सिष्वापकीयिषति । स्वपो णाविति किम् ? स्वापं चिकीर्षति सिष्वापयिषति,—अत्र न स्वपेर्णिर्घञा व्यवधानात् । स्वपो णौ सत्ति द्वित्व इति किम् ? सोषोपयिषति,—अत्र यङ्लुबन्तात् द्वित्वे सति णिर्न तु णौ सति द्वित्वमिति ॥62॥

न्या०स०—स्वपो०-अनन्तराऽनन्तरिभावसंबन्धे षष्ठी आनन्तर्यषष्ठ्या: फलमसु- ष्वापकीयत्, सनीति निवृत्तं कार्यान्तरविधानात् ।

नन्वऽस्वापपकीय दित्यादौ ``स्वपोणावु:'' (4-1-62) इत्युकार: कथं न ? उच्यते- स्वपे: संबन्धी अकारो नास्ति, किंतु णकसंबन्धी अकार इति ।

सिष्वापकीयिषतीति-स्वपन्तं प्रयुङ्क्ते णिग्, स्वापयतीति णक:, स्वापकमिच्छति क्यन्, स्वापकीयितुमिच्छति सन्, ततो ``णिस्तोरेव'' (2-3-37) इति षत्वम् ।

सोषोपयिषतीति-भृशार्थे यङ् लुप् ``स्वपेयङ्डे च'' (4-1-80) इति यङ्लुप्यपि य्वृत्, ततो द्वित्वं, सोषुपतं प्रयुङ्क्ते णिग् सोषोपयितुमिच्छति सन् ``णिस्तोरेव'' (2-3-37) इति षत्वम् । असमान-प्रयोजितवानिति प्रयुक्तवानित्यर्थ:, यौजादिकस्य प्रयोगात् ।

अवीवदत् वीणामिति-वदति वीणा तां परिवादक: प्रयुक्तवान् तमऽन्य: प्रयुक्तवान् णिग्द्वयं । यद्यप्यत्र णौ णेर्लोपौऽभूत्तथापि न समानलोप:, यतो णाविति जात्या एकवचनं ततश्च य: कश्चित् णिग् स सर्वोऽपि निमित्ततयोपात्त:, अत: स लुप्तोऽपि निमित्तं, एवम-पीपठदित्यत्रापीति ।

असमानलोपे सन्वल्लघुनि ङे ।। 4. 1. 63. ।।

न विद्यते समानस्य लोपो यस्मिन् ङपरे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्य लघुनि धात्वक्षरे परे सनीव कार्यं भवति । सन्यस्येत्वमुक्तमिहापि तथा अचीकरत्, अजीहरत् । ``ओर्जान्तस्था-पवर्गेऽवर्णे'' (4-1-63) इत्युक्तमिहापि तथा-अजीजवत्, अयीयवत्, अरीरवत्, अलीलवत्, अपीपवत्, अबीभवत्, अमीमवत् । ``श्रुस्रु द्रुप्लुच्योर्वा'' (4-1-91) इत्युक्तमिहापि तथा-अशिश्रवत्, अशुश्रवत्, अदिद्रवत्, अदुद्रवत्, अपिप्रवत्, अपुप्रवत्, अपिप्लवत्, अपुप्लवत्, अचिच्यवत्, अचुच्यवत् । अन्यस्य न भवति-अनूनवत्, अजूहवत् । लघुनीति किम् ? अततक्षत्, अबभाणत्, अचिक्रमत्, अचिक्वणत् इत्यादौ अनेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि स्थादीनामित्त्वबाधकस्यात्वस्य शासनात् सन्वद्भावो भवति, न तु स्वरख्यञ्जनव्यवायेऽपि तेन अजजागरत् । णावित्येव, अचकमत । असमानलोप इति किम् ? अचकथत्, दृषदमाख्यात् अददृषद । पटुं लघुं कपिं हरिं वाख्यत् अपीपटत्, अलीलघत्, अचीकपत्, अजीहरत् इत्यादौ तु वृद्धौ कृतायां सन्ध्यक्षरलोप इति असमानलोपत्वात्सन्वद्भाव: । णाविति जात्याश्रयणात् वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवादकेन, अपीपठन्माणवकमुपाध्यायेन,—अत्र णे: समानस्य लोपेऽपि भवति ।।63।।

लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः ॥ 4. 1. 64. ॥

अस्वरादेर्धातोर्ङपरेऽसमानलोपे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्य लघोर्लघुनि धात्वक्षरे परे दीर्घो भवति । अचीचरत्, अलीलवत्, अतूतवत् अबूभुजत् । लघोरिति किम् ? अचिक्षणत् । अस्वरादेरिति किम् ? और्णुनवत् । ऊरुरिवाचरतीति क्विब्लोपे णौ औरिरवत् । लघुनीत्येव, अततक्षत् । णावित्येव, अचकमत । ङ इत्येव, रिरमयिषति । असमानलोपे इत्येव, अचकथत्, अददृषत् । णिजात्याश्रयणात् अवीवदद्वीणां परिवादकेन ॥64॥

न्या०स०–लघोर्दीर्घो०–अचीचरदिति-ननु ''स्वरस्य'' (7-4-110) इति परिभाषया पूर्वस्मिन्नित्वे विधेये स्वरादेशस्य ह्रस्वस्य स्थानित्वेन लघुनीत्यभावादित्वं न प्राप्नोति ? उच्यते, ''स्वरस्य'' (7-4-110) इति पूर्वस्मिन् (कालापेक्षया देशापेक्षया वा) स्थानित्वमत्र तु कालापेक्षया इत्वस्य परत्वं यतः प्रथममुपान्त्यहस्वस्तत इत्वमिति, देशापेक्षया तु परिभाषाया अनित्यता, तथाहि-पूर्वदेशे ह्रस्व इति परिभाषाप्रसक्तिः ।

स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तॄस्पशेरः ॥ 4. 1. 65. ॥

एषां धातूनामसमानलोपे ङपरे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्याकारोऽन्तादेशो भवति, सन्वद्भावापवादः । स्मृ, असस्मरत, दृ, अददरत्, अत्र परत्वाद्दीर्घोऽपि न भवति । त्वर,-अतत्वरत्, प्रथ, अपप्रथत्, म्रद, अमम्रदत्, स्तॄ-अतस्तरत्, स्पश्-अपस्पशत् ॥65॥

न्या०स०–स्मृदृत्वर०–सन्वाद्भावापवाद इति-बहुप्रयोगापेक्षयेदमुक्तं यावता दीर्घस्यापि । *अपस्पशदिति*-स्पशिः सौत्र, स्पशिण् इति णिगन्तो वा, केचित्तु पषीस्थाने स्पशीति पठन्ति तस्य वा ।

वा वेष्टचेष्टः ॥ 4. 1. 66. ॥

वेष्टवेष्टोर्धात्वोरसमानलोपे ङपरे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्य अकारोऽन्तादेशो वा भवति । अववेष्टत्, अविवेष्टत्, अचचेष्टत्, अचिचेष्टत् ॥66॥

ई च गणः ॥ 4. 1. 67. ॥

गणेर्ङपरे णौ द्वित्वे पूर्वस्येकारोऽकारश्चान्तादेशो भवति । अजीगणत्, अजगणत्,

गणेरदन्तत्वेन समानलोपित्वात्सन्वद्भावो दीर्घत्वं च न प्राप्नोतीतीत्वविधिः । 'भूरिदाक्षिण्यसंपन्नं यत्त्वं सान्त्वमचीकथः' इति प्रयोगदर्शनादन्येषामपि यथादर्शनमीत्वमिच्छन्त्येके ॥67॥

न्या०स०–ई च गणः–ननु ई वा गण इति क्रियतामदन्तत्वेन समानलोपित्वादेव पक्षेऽजगणदिति भविष्यति ? सत्यं, चुरादिभ्यो णिच् अनित्यो णिच्सन्नियोगे एवैषामऽदन्तत्वं तदऽभावे तदऽभावादऽजगणदिति न सिध्येत् किंत्वऽजोगणदित्येव ।

अस्यादेशः परोक्षायाम् ॥ 4. 1. 68. ॥

परोक्षायां धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्यादेरकारस्याकारो भवति । आटतुः, आटुः, आटिथ, आदतुः, आदुः, आदिथ । अस्येति किम् ? ईयतुः,–ईयुः । आदेरिति किम् ? पपाच । परोक्षायामिति उत्तरार्थम् ॥68॥

न्या०स०–अस्यादे०–``लुगस्यादेत्यपदे'' (2-1-113) इत्यस्याऽपवादः । *उत्तरार्थमिति*-इह तु परोक्षाया अन्यस्मिन् यङादौ प्रत्यये द्वित्वे सति आदावकारस्याऽसम्भवात् ।

अनातो नश्चान्त ऋदाद्यशौसंयोगस्य ॥ 4. 1. 69. ॥

ऋदादेरश्नोतेः संयोगान्तस्य च धातोः परोक्षायां द्वित्वे पूर्वस्यादेरकारस्यानात आकारस्थानेऽनिष्पन्नस्याकारो भवति कृताकारात्त्वस्मान्नोऽन्तश्च । ऋदादि,-आनृधतुः, आनृधुः आनृजे, आनृजाते, आनृजिरे, अशौ, आनशे, आनशाते, आनशिरे । संयोग, आनर्च, आनचतुः आनञ्ज, आनञ्जतुः, आनङ्ग, आनङ्गतु, आनर्च्छ, आनर्च्छतुः । ऋदादेरिति किम् ? आर, आरतुः । अशावित्यौकारः किम् ? अश्नातेर्माभूत्, आश, आशतुः । संयोगस्येति किम् ? आट, आटतुः । अनात इति किम् ? आछु, आयामे-आञ्छ, आञ्छतुः । कश्चिदत्रापीच्छति । आनाञ्छ, आनाञ्छतुः आनाञ्छुः ॥69॥

न्या०स०–अनातो न-न विद्यते आत् स्थानितयाऽस्य *आनर्च्छेति*-प्रथमं द्वित्वं ततः ``स्वृच्छ्रृतः'' (4-3-8) इति गुणः । आरेति ऋंक् ॠं प्रापणे वा णव् द्वित्वे ``ऋतोऽत्'' (4-1-38) ``अस्यादेः'' (4-1-68) इति आकारस्ततो ``नामिनोऽकलि'' (4-3-51) इति वृद्धिः, आद्यन्तवदेकस्मि-न्नित्यपि न यतो यथाऽन्त्यव्यपदेशे ऋदादित्वं एवमादिव्यपदेशे ऋदन्तत्वमपि तत ऋत् आदिरेव यस्येत्यवधारणेनाऽस्य निरासः ।

भू-स्वपोरदुतौ ।। 4. 1. 70. ।।

भू-स्वप् इत्येतयोः परोक्षायां द्वित्वे सति पूर्वस्य यथासंख्यमकारोकारौ भवतः । बभूव, बभूवतुः, बभूवे चैत्रेण, अनुबभूवे कम्बलः साधुना, सुष्वाप, सुष्वपिथ । परोक्षायामित्येव, बुभूपति, बोभवाचकार । केचित्तु कर्तर्येव भुवोऽकारमिच्छन्ति न भावकर्मणो तेन बुभूवे चैत्रेण, अनुबुभूवे कम्बलः साधुनेत्येव भवति ।।70।।

*न्या०स०—ज्याव्येव्यधि०—*संविव्यायेति—``यजादिवश्वचः'' (4-1-72) इति य्वृद्बाधनार्थमिकारस्यापि इः । *विव्यचिथेति—*``कुटादेङिद्वत्'' (4-3-17) इत्यनेनेटो ङित्वेऽपि ``व्यचोऽनसि'' (4-1-82) इति न य्वृत्, समासान्तागम इति न्यायात् कुटादिगणनिर्दिष्टस्य ङित्वस्याऽनित्यत्वात् ।

ज्या-व्ये-व्यधि-व्यचि-व्यथेरिः ।। 4. 1. 71. ।।

एषां परोक्षायां द्वित्वे सति पूर्वस्येकारो भवति । ज्या, जिज्यौ, जिज्यिथ । व्येग्-संविव्याय, संविव्ययिथ । व्यध्-विव्याध, विव्यधिथ । व्यच्-विव्याच, विव्यचिथ । व्यथ्,-विव्यथे, विव्यथाते, विव्यथिरे परोक्षायामित्येव, वाव्यथ्यते ।।71।।

यजादि-वश्-वचः सस्वरान्तस्था य्वृत् ।। 4. 1. 72. ।।

यजादीनां वश्वचोश्च परोक्षायां द्वित्त्वे सति पूर्वस्य सस्वरान्तस्था य्वृत् इकार-उकारऋकाररूपा प्रत्यासत्त्या भवति । इयाज, इयजिथ, वेंग्-उवाय, उवयिथ, डुवपीं-उवाप, उवपिथ, वहीं-उवाह, उवहिथ, वद-उवाद, उवदिथ, वसं-उवास, उवसिथ, व्येगः पूर्वेणेकारविधानबलात् ह्वेंग्श्वयत्योस्तु पूर्वस्यान्तस्थाया अभावात् न भवति । वश्-उवाश, उवशिथ । वचिति वश्साहचर्यात् वचंक् ब्रूगादेशो वा आदादिको गृह्यते न यौजादिकः । उवाच, उवचिथ । परोक्षायामित्येव,—यायज्यते, वावच्यते ।।72।।

न्या०स०—यजादिवश्०—उवयियेति—``सृजिदृशि'' (4-4-78) इति वेटि ``य्वोःप्वऽय्'' (4-4-121) इति य लुपि उवथ, वहेस्तु उवोढ इति भवति । ह्वें ग्श्वयोस्त्विति—``द्वित्वे ह्वः'' (4-1-89) ``वा परोक्षायङि'' (4-1-90) इत्यनेन च य्वृत्विधानात् विकल्पपक्षेऽपि ``व्यञ्जनस्य'' (4-1-44) इति लुक्प्रवृतेः ।

न वयो य् ॥ 4. 1. 73. ॥

पूर्वस्येति निवृत्तमसंभवात् । वेगावेशस्य वयेर्यकारः परोक्षायां य्वृन्न भवति । ऊयतुः ऊयुः ॥73॥

न्या०स०—न वद्यो यु-ऊयतुरिति—वेंग् ``वेर्वय्'' (4-4-19) ``यजादिवचेः किति'' (4-1-79) वकारस्य य्वृत्, द्वित्वे ``व्यञ्जनस्य'' (4-1-44) इति यलोपे ``समानानाम्'' (1-2-1) इति दीर्घः, अत्र ``यजादिवचेः'' (4-1-79) इत्यनेन यकारस्य वकाराकारेण सह य्वृत्प्राप्नोति ।

वेरयः ॥ 4. 1. 74. ॥

वेगोऽयकारान्तस्य पूर्वस्य परस्य च परोक्षायां य्वृन्न भवति । ववौ, वविथ । अय इति किम् ? उवाय, उवयिथ ॥74॥

न्या०स०—वेरय०-ववाविति—``वेर्वय्'' (4-4-19) इत्यस्य विकल्पप्रवृत्तेर्वयऽभावः, अत्र ``यजादिवश्'' (4-1-72) इति प्रथमस्य न प्राप्नोति । *उवायेति*-अत्र वयादेशे किदऽभावात् ``यजादिवचे'' (4-1-79) इत्यस्याप्रवृत्तौ द्वित्वे ``यजादिवश्'' (4-1-72) इति पूर्ववकारस्य य्वृत् ।

अविति वा ॥ 4. 1. 75. ॥

वेगोऽयकारान्तस्याविति परोक्षायां परतो य्वृद्वा न भवति । ववतुः, ववुः, ऊवतुः, ऊवुः । द्वित्वे कृते परत्वाद्धातोरुवादेशे सति पश्चात् पूर्वस्य समानस्य दीर्घः । अय इति किम् ? ऊयतुः, ऊयुः ॥75॥

न्या०स०—अवितिवा-ववतुरिति-द्वित्वात् प्रागेव ``यजादिवचेः'' (4-1-79) इत्यनेन प्राप्तमनेन विकल्प्यते, द्वित्वे तु कृते पूर्वस्य ``यजादिवश्'' (4-1-72) इति प्राप्तं ``वेरयः'' (4-1-74) इत्यनेन निषिध्यते ।

ऊवतुरिति-अत्र पूर्वं य्वृत्ततो द्वित्वं ❊ य्वृत्सकृत् ❊ इति न्यायात् पश्चात् वकारस्य न य्वृत् ।

ज्यश्च यपि ॥ 4. 1. 76. ॥

ज्या इत्येतस्य वेगश्च यपि परे य्वृन्न भवति । प्रज्याय, उपज्याय, प्रवाय उपवाय ॥76॥

व्यः ॥ 4. 1. 77. ॥

व्येगो यपि परे य्वृन्न भवति । प्रव्याय, उपव्याय । योगविभाग उत्तरार्थः ॥77॥

संपरेर्वा ॥ 4. 1. 78. ॥

संपरिभ्यां परस्य व्येगो यपि परे य्वृद्वा न भवति । संव्याय,–संवीय, परिव्याय, परिवीय । निरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् प्रागेव य्वृतो दीर्घत्वम्, न तु तोऽन्तः । समो नेच्छन्त्येके । तेन नित्यं संव्याय ॥78॥

यजादिवचेः किति ॥ 4. 1. 79. ॥

नेति निवृत्तम्, यजादीनां धातूनां वचेश्च सस्वररान्तस्था किति प्रत्यये परे य्वृत् भवति । यजीं,–ईजतुः, ईजुः, इज्यते, इज्यात्, इष्टः–इष्टवान्, ईजिवान्, इष्ट्वा, इष्टिः, वेंग्,–ऊयतुः, ऊयुः । ``अविति वा'' (4-1-75) इति वचनात् ववतुः, ववुः, ऊवतुः, ऊवुः, ऊयते, ऊयात्, उतः, उतवान् । व्येंग्-संविव्यतुः, संविव्युः,–संवीयते, संवीयात्, संवीतः, संवीतवान् । ह्वेंग्-हूयते, हूयात्, हूतः,–हूतवान् । वपीं, ऊपतुः, उपुः-उप्यते, उप्यात्, उप्तः, उप्तवान् । वहीं–ऊहतुः ऊहुः, उह्यते, उह्यात्, ऊढः, ऊढवान् । श्वि-शुयते, शूयात्, शूनः, शूनवान् । वद-ऊदतुः, ऊदुः, उद्यत्ते, उद्यात्, उदितः, उदितवान् । वसं- ऊषतुः, ऊषुः, उष्यते, उष्यात्, उषितः, उषितवान् । वचिति वचंक् ब्रूगादेशो वा-ऊचतुः, ऊचुः, उच्यते, उच्यात्, उक्तः, उक्तवान् । यौजादिकस्य तु न भवति, वच्यते । कितीति किम् ? इयाज, यक्षीष्ट, वावच्यते, वक्ता ॥79॥

न्या०स०–यजादिवचे०–नेति निवृत्तमिति-प्राप्तेरभावात् । *इष्टिरिति*-``आस्यटि'' (5-3-97) इति क्यप्समावेशार्थं श्र्वादिकत्वात् क्तिः । *उत इति* क्विपि तु उत् उतौ उत इति, परमते तु ऊः उवौ उवः, ते ``दीर्घमवोऽन्त्यम्'' (4-1-103) इत्यत्र अव इति न कुर्वते । *यौजादिकस्य तु न भवतीति*–नित्याणिजन्तैर्यजादिभिः साहचर्यादित्यर्थः ।

स्वपेर्यङ्-ङे च ॥ 4. 1. 80. ॥

स्वपेर्यङि ङे किति च प्रत्यये सस्वरान्तस्था य्वृत् भवति । सोषुप्यते, सोषुपीति ।

यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये-सास्वप्ति । णिमन्तरेण ङस्यासंभवात् स्वपितिर्ण्यन्तो लभ्यते । असुषुपत् । ङे, य्वृत्, गुणो, ह्रस्वत्वं, द्वित्वं, पूर्वस्य दीर्घत्वमित्यत्र,–क्रमः । किति, सुषुपतुः, सुप्यते, सुप्यात्, सुषुप्सति । एष्विति किम् ? स्वपिति । घञन्तादपि केचिदिच्छन्ति । स्वापमकरोत् असुषुपत् ।।80।।

न्या०स०–स्वपेर्यङ्-ङे च-असुषुपदिति-न च वाच्यं ❊ प्राक् तु स्वरे० ❊ इति न्यायात् द्वित्वमेव भविष्यति न णिगाश्रितो गुणः, यतो यदि तेनैव द्वित्वनिमित्तेन प्रत्ययेन जन्यते स्वरविधिस्तदैव न स्यादऽत्र तु द्वित्वनिमित्तप्रत्ययाऽजन्य इति ।

असुषुपदिति-स्वमते तु असस्वापदिति ।

ज्या-व्यधः क्ङिति ।। 4. 1. 81. ।।

जिनातेर्विध्यतेश्च सस्वरान्तस्था किति ङिति च प्रत्यये परे य्वृत् भवति । जिज्यतुः जीयते, जीयात्, जीनः, ङिति-जिनाति, जेजीयते, जेजेति, विविधतुः, विध्यते, विध्यात्, विद्धः, ङिति-विध्यति, वेविध्यते, वेवेद्धि । क्ङिति इति किम् ? ज्याता, व्यद्धा ।।81।।

न्या०स०–ज्याव्यधः–प्रत्यय इति विशेष्यं क्ङितीति विशेषणमतो धातुनिमित्त- योर्यथासंख्यं न भवति । *जिनातीति*-य्वृत् ``दीर्घमवोन्त्यं'' (4-1-103) ``प्वादेर्ह्रस्वः'' (4-2-105) ।

व्यचोऽनसि ।। 4. 1. 82. ।।

व्यचेः सस्वरान्तस्थाऽस्वर्जिते क्ङिति प्रत्यये परे य्वृद्भवति । विचिता, विचितुम्, वेविच्यते, विचति । अनसीति किम् ? उरुव्यचाः ।।82।।

न्या०स०–व्यचोऽनसि-विचितेति-कुटादित्वात् ङित्वे य्वृत् । *उरुव्यचा इति*–उरुविचति असित्यऽसः कुटादित्वात् ङित्वम् ।

वशेरयङि ।। 4. 1. 83. ।।

वशेः सस्वरान्तस्था अयङि क्ङिति प्रत्यये परे य्वृद्भवति । उश्यते, ऊशतुः उशितम्, उष्टः, उशन्ति । अयङीति किम् ? वावश्यते । क्ङितीत्येव,–वष्टि ।।83।।

ग्रह-व्रस्च-भ्रस्ज-प्रच्छः ॥ 4. 1. 84. ॥

ग्रहादीनां सस्वरान्तस्था क्ङिति प्रत्यये परे य्वृद्भवति । जगृहतुः, जगृहुः गृह्यते, गृहीतः, जिघृक्षति, गृह्णाति, जरीगृह्यते, जरीगृहीति, वृश्च्यते, वृक्णः, वृश्चति, वरीवृश्च्यते, भृज्ज्यते, भृष्टः, भृज्जति, बरीभृज्ज्यते, पृच्छ्यते, पिपृच्छिषति पृष्टः, पृच्छतिः, परीपृच्छ्यते, पृच्छा । क्ङितीत्येव,–ग्रहीता, वव्रश्चतुः बभ्रज्जतुः, पप्रच्छतु, प्रश्नः । व्यचिवशि- व्रश्चिभ्रस्जिप्रच्छीनां पश्चानां यङ्लुबन्तानां नेच्छन्त्यन्ये । तस्,–वाव्यक्तः । नाम्नि-तिक्- वाव्यक्तिः, `वावष्टः, वावष्टिः, वाव्रष्टः, वाव्रष्टिः, बाभ्रष्टः, बाभ्रष्टिः, पाप्रष्टः, पाप्रष्टिः । अन्ये तु ❁ 'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम' ❁ इति यङ्लुप्यपि मन्यन्ते तेन वेविक्तः, वेविक्तिः, वरिवृष्टः, बरिवृष्टिः बरिभृष्टः, वरिभृष्टिः, परिपृष्टः, परिपृष्टिः । अपरे तु विचतिवृश्चतिभृज्जतिपृच्छतीनां नित्यं य्वृत् ज्यादीनां त्वनित्यमिति मन्यन्ते तेनेदं सिद्धम् `तस्यास्त्रयस्त्रीनपि विव्यधुः शरैः' इति अन्ये तु विविधुरित्येवाहुः ॥84॥

न्या०स०–ग्रहव्रश्च०–पृच्छ्यते इति-क्यस्य सानुनासिकत्वं नादृतमिति ``अनुनासिके च'' (4-1-108) इति शो न भवति । *वरिवृष्ट इति*-वशस्तु भाष्यकृताप्यनुदाहृतत्वान्न दर्शितं, प्रयोगस्तु वोष्टिः वोष्ट इति टिप्पनकृतः ।

व्ये-स्यमोर्यङि ॥ 4. 1. 85. ॥

व्येस्यमोः सस्वरान्तस्था यङि य्वृद्भवति । वेवीयते, वेवयीति, सेसिम्यते, सेसि-मीति । यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये । वाव्याति, संस्यन्ति । यङीति किम् ? व्ययति ॥85॥

चायः की ॥ 4. 1. 86. ॥

चायृगित्येतस्य यङि की इत्ययमादेशो भवति । चेकीयते । दीर्घनिर्देशो यङ्लुबर्थः- चेकीतः ॥86॥

न्या०स०–चायः की–दीर्घनिर्देशात् यङ् लुप्यप्यादेश इत्यर्थः, अन्यथा हि यदि साक्षात् यङ्यादेशः स्यात्तदा ``दीर्घश्च्वि'' (4-3-108) इति दीर्घः सिद्धः, एवं `प्यायः पी' इत्यत्रापि ।

द्वित्वे ह्वः ॥ 4. 1. 87. ॥

ह्वयतेर्द्वित्वविषये सस्वरान्तस्था य्वृद्भवति । जुहाव, जुहुवतुः, जोहूयते, जोहवीति, जुहुषति । अनेनैव सिद्धे उत्तरसूत्रकरणं णेरन्यस्मिन् द्वित्वनिमित्तप्रत्ययव्यवधायके य्वृन्मा-भूदित्येवमर्थम्, तेनेह न भवति-ह्वायकमिच्छति ह्वायकीयति । ततः सन् जिह्वायकीयिषति ।।87।।

णौ ङसनि ।। 4. 1. 88. ।।

ह्वयतेः सस्वरान्तस्था ङपरे सन्परे च णौ विषये य्वृद्भवति । अजुहवत्, जुहाव-यिषति । णाविति विषयसप्तमीति किम् ? णिविषय एवान्तरङ्गमपि यकारागमं बाधित्वा य्वृद्यथा स्यात् । ङसनीति किम् ? ह्वाययति ।।88।।

न्या०स०—णौङसनि०—यकारागमं बाधित्वेति-उपलक्षणत्वात् ❇ णौ यत्कृतं कार्यम् ❇ इति च य्वृत् यथा स्यादिति, कृते तु य्वृति यो न भवति, ``अर्त्तिरी०'' (4-2-21) इति प्वागमबाधकत्वेन आदन्तेभ्यो यस्य प्रवृत्तेः ।

श्वेर्वा ।। 4. 1. 89. ।।

श्वयतेः सस्वरान्तस्था ङपरे सन्परे च णौ विषये य्वृद्वा भवति । अशुशवत्, अशिश्वयत्, शुशावयिषति, शिश्वाययिषति । विषयविज्ञानादन्तरङ्गमपि वृद्ध्यादिकं य्वृता बाध्यते, कृते च तस्मिन्वृद्धिः, तत आवादेश उपान्त्यह्रस्वत्वम्, ततो णिकृतस्य स्थानित्वात् शोर्द्वित्वम् ततः पूर्वदीर्घ इति क्रमः । णावित्येव,—अशिश्वियत्, शिश्वयिषति ।।89।।

न्या०स०—श्वेर्वा—विषयविज्ञानादित्यादि-ननु विधानसामर्थ्यादेव वृद्ध्यादिकं बाधित्वा य्वृद्भविष्यति किं विषयव्याख्यानेन ? नैवं,—वृद्धौ कृतायामऽपि यस्यापि य्वृत् प्राप्नोति, अतो विधानं चरितार्थम् ।

वा परोक्षायङि ।। 4. 1. 90. ।।

श्वयतेः सस्वरान्तस्था परोक्षायां यङि च परे वा य्वृत् भवति । शुशाव, शिश्वाय, अहं शुशव, शिश्वय, शुशुवतुः, शिश्वियतुः, शुशविथ, शिश्वयिथ, शोशूयते, शोशवीति, शेश्वीयते, शेश्वयीति । अवित्परोक्षायां कित्त्वाद्यजादित्वेन प्राप्ते विति परोक्षायां यङि चाप्राप्ते विभाषा ।।90।।

न्या०स०—वा परोक्षा०-शुशुवतुरिति—``दीर्घमवः'' (4-1-103) इति दीर्घे द्विर्वचनम् ।

प्यायः पी ॥ 4. 1. 91. ॥

प्यायतेः परोक्षायां यङि च पीरादेशो भवति । आपिप्ये, आपिप्याते, आपिप्यिरे, पेपीयते, प्रपेपीयते । दीर्घनिर्देशो यङ्लुबर्थः-आपेपेति, आपेपीतः ॥91॥

न्या०स०—प्यायः पी०—आपेपीत इति-भोजेनैतत् क्तान्तं साधितमिति तिवन्तोदाहरणमग्रेतनवर्त्तमानानिश्चयार्थम् ।

क्तयोरनुपसर्गस्य ॥ 4. 1. 92. ॥

अनुपसर्गस्य प्यायः क्तयोः क्तक्तवत्वोः प्रत्यययोः परयोः पीत्ययमादेशो भवति । पीनं मुखम्, पीनवन्मुखम् । क्तयोरिति किम् ? प्यायते । अनुपसर्गस्येति किम् ? प्रप्यानो मेघः ॥92॥

आङोऽन्धूधसोः ॥ 4.1.93. ॥

आङ उपसर्गात्परस्य प्यायतेरन्धावूधसि चार्थे क्तयोः परतः पीरादेशो भवति । आपीनोऽन्धुः, आपीनमूधः, अन्धुर्व्रणम् ऊधसो वा पर्यायः । आङ इति किम् ? प्रप्यानोऽन्धुः, परिप्यानमूधः । अन्धूधसोरिति किम् ? आप्यानश्चन्द्रः । आङ एवेति नियमात् प्राप्यानमूध इत्यत्राङन्तादुपसर्गान्न भवति । अनुपसर्गस्य तु पूर्वेण भवत्येव । पीनोऽन्धु, पीनवानन्धु, पीनमूधः, पीनवदूधः । अन्ये तु प्यायतेः केवलस्याङ्पूर्वस्याङन्तोपसर्गपूर्वस्यैव च प्रयोगमिच्छन्ति नान्यपूर्वस्य । तन्मते प्रप्यानपरिप्यानादयोऽप्रयोगाः । क्तयोरित्येव, आप्याय्यः ॥93॥

न्या०स०—आङोन्धुधसोः०—ऊधसो वा पर्याय इति-ननु तर्हि आङोन्धाविति सिद्धे ऊधस्ग्रहणं किमर्थम् ? सत्यं, ऊधोग्रहणं बोधयति आपीन इति प्रयोगो व्रणे विशेषणतया ऊधसि च पर्यायेण, यद्वा ऊधोग्रहणमेव ज्ञापयति, अन्धुशब्दः कैश्चिदेव ऊधसि कीर्त्यते अन्यथाऽन्धुनापि साध्यसिद्धिः ।

आङ एवेतीति-अत्राप्यनुपसर्गस्येत्यनुवर्त्तनीयं ततश्च आङ्-पूर्वस्य प्यायः पीः, कथं भूतस्याङः ? अनुपसर्गस्य, किमुक्तं भवति ? केवलस्येत्यर्थ इत्यवधारणान्नियन्त्रणान्न तु ❋ सिद्धे सत्यारम्भोनियमार्थः ❋ इति, यद्वा सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायादेवकारः । *आप्याय्य इति*-``कालाध्व'' (2-2-23) इत्यनेन मासादेः कर्मत्वेऽन्तभूतण्यर्थत्वेन वा सकर्मकत्वे

कर्मणि घ्यण् भावे तु क्लीबत्वं स्यात् ।

स्फायः स्फी वा ।। 4. 1. 94. ।।

स्फायतेः क्तयोः परतः स्फी इत्ययमादेशो वा भवति । स्फीतः, स्फीतवान्, संस्फीतः, संस्फीतवान्, स्फातः, स्फातवान् । क्तयोरिति किम् ? स्फातिः—विकल्पं नेच्छन्त्यन्ये ।।94।।

न्या०स०—स्फायः स्फी वा-स्फातिरिति—तत्कथं स्फीति ? उच्यते, स्फायते स्म क्तः स्फीत इवाचरति ``कर्तुः क्विप्'' (3-4-25) स्फीततीति ``स्वरेभ्य ई'' (1-3-30) ।

प्रसमः स्त्यः स्ती ।। 4. 1. 95. ।।

प्रसम् इत्येवंसमुदायपूर्वस्य स्त्यायतेः क्तयोः परतः स्ती इत्ययमादेशो भवति । प्रसंस्तीतः, प्रसंस्तीतवान् । प्रसम इति किम् ? संप्रस्त्यानः, संप्रस्त्यानवान्, स्त्यानः, संस्त्यानः । प्रसमो नेच्छन्त्यन्ये ।।95।।

न्या०स०—प्रसमः— व्यावृत्तौ केवलात् प्रोपसर्गान्न दर्शितमुत्तरेण विधानात् । नेच्छन्त्यन्ये इति—ते हि ह्येतत्सूत्रं न कुर्वन्ति ।

प्रात्तश्च मो वा ।। 4. 1. 96. ।।

प्रात्केवलात्परस्य स्त्यायतेः क्तयोः परयोः स्ती इत्ययमादेशो भवति, क्तयोस्त-कारस्य च वा मकारो भवति । प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान्, प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् ।।96।।

श्यः शी-द्रवमूर्त्ति-स्पर्शे नश्चास्पर्शे ।। 4. 1. 97. ।।

द्रवस्य मूर्तिः काठिन्यं तस्मिन् स्पर्शे च वर्तमानस्य श्यायतेः क्तयोः परतः शी इत्ययमादेशो भवति, तत्संनियोगे च क्तयोस्तकारस्यास्पर्शे विषये नकारादेशो भवति । शीनं घृतम्, शीनवद् घृतम्, शीनं मेदः शीनवन्मेदः, द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतमित्यर्थः । स्पर्शे-शीतं वर्तते, शीतो वायुः । गुणमात्रे तद्वति वार्थे स्पर्शविषयो भवति । द्रवमूर्तिस्पर्श इति किम् ? संश्यानो वृश्चिकः, शीतेन संकुचित इत्यर्थः । ``व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः'' (4-2-71) इति नत्वम् ।।97।।

न्या०स०–श्य: शी-द्रवमूर्त्तिश्च स्पर्शश्चेति कृते विरोधिनामिति व्यावृत्तेः सूत्रत्वात्समाहारः कर्मधारयो वा, *शीतं वर्त्तते इति* कर्त्तरिक्तः, अत्र शीतस्पर्शो मुख्यभावेन, शीतो वायुरित्यत्र तु गौणभावेन वर्त्तते ।

प्रतेः ॥ 4. 1. 98. ॥

प्रतिपरस्य श्यायतेः क्तयोः परतः शी इत्ययमादेशो भवति तत्संनियोगे च क्तयोस्तकारस्य नकारः । प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् । प्रतिपूर्वोऽयं रोगे वर्तत इति पूर्वेणाप्राप्तौ वचनम् ॥98॥

वाभ्यवाभ्याम् ॥ 4. 1. 99. ॥

अभि, अव इत्येताभ्यां परस्य स्त्यायतेः क्तयोः परतः शी इत्ययमादेशो वा भवति, तत्संनियोगे च क्तयोस्तस्यास्पर्शे नो भवति । अभिशीनः, अभिशीनवान्, अभिश्यानः, अभिश्यानवान्, अवशीनः, अवशीनवान्, अवश्यानः, अवश्यानवान् । द्रवमूर्तिस्पर्शयोरप्यनेन परत्वाद्विकल्पो भवति । अभिशीनं घृतम्, अभिश्यानं घृतम्, अवशीनं हिमम्, अव- श्यानं हिमम्, अभिशीतो वायुः, अवशीतो वायुः, स्पर्शत्वान्न नत्वम् । अभिश्यानो वायुः, अवश्यानो वायुः । ``व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः'' (4-2-71) इति स्पर्शेऽपि नत्वम् । अभ्यवाभ्यामिति किम् ? संश्यानः, संश्यानवान् । केचित्तु समा व्यवधानेऽपीच्छन्ति । अभिसंशीनः, अभिसंशीनवान्, अभिसंश्यानः, अभिसंश्यानवान्, अवसंशीनः, अवसंशीनवान्, अवसंश्यानः, अवसंश्यानवान् । तदाभ्यवाभ्यामिति तृतीया व्याख्येया । समस्ताभ्यामपीत्यन्ये अभ्यवशीनः, अभ्यवश्यानः । विपर्यासे प्रयोगो नास्ति, वा शब्दस्य च व्यवस्थितविभाषार्थादन्योपसर्गान्ताभ्यां न भवति । समभिश्यानः, समभिश्यानवान्, समवश्यानः, समवश्यानवान् ॥99॥

न्या०स०–वाभ्य०-अस्पर्शे नो भवतीति पूर्वसूत्रे अस्पर्श इति नोक्तं रोगेऽसंभवात् ।

श्रः शृतं हविःक्षीरे ॥ 4. 1. 100. ॥

श्रातेः श्रायतेश्च क्तप्रत्यये हविषि क्षीरे चाभिधेये शृभावो निपात्यते । शृतं हविः, शृतं क्षीरम् स्वयमेव । श्रातिश्रायती हि अकर्मकौ कर्मकविषयस्य पचेरर्थे वर्तेते । तयोश्चैतन्निपातनम् । हविःक्षीर इति किम् ? श्राणा यवागूः ॥100॥

न्या०स०–श्रः शृतं–ननु कथं शृतं क्षीरं स्वयमेवेत्युक्तं, शृतं क्षीरं देवदत्तेनेति कथं न भवति ? इत्याशङ्क्याह–*श्राति, श्रायती इति ।*

श्रपेः प्रयोक्त्रैक्ये ।। 4. 1. 101. ।।

श्रायतेः श्रातेर्वा ण्यन्तस्यैकस्मिन् प्रयोक्तरि क्ते परतो हविषि क्षीरे चाभिधेये शृभावो निपात्यते । श्राति, श्रायति वा हविः स्वयमेव तच्चैत्रेण प्रायुज्यत शृतं हविश्चैत्रेण । शृतं क्षीरं चैत्रेण । यदा तु द्वितीये प्रयोक्तरि णिगुत्पद्यते तदा न भवति । श्रपितं हविश्चैत्रेण मैत्रेणेति । हविःक्षीर इत्येव,–श्रपिता यवागूः, अन्ये तु श्रपिं चुरादौ पठन्ति तस्यैव श्रपेर्निपातनम् । प्रयोजकण्यन्तस्य त्वेकस्यापि प्रयोगं नेच्छन्ति । तन्मते कर्मकर्तृहविः श्रातुं चैत्रः प्रयुक्तवान् इति प्रयोजकव्यापारे णिगि श्रपितं हविश्चैत्रेणेत्येव भवति । अपरे तु सकर्मकावपि श्रातिश्रायती इच्छन्ति-तन्मते, तयोरप्यण्यन्तयोर्निपातनं भवति । शृतं हविश्चैत्रेण । ण्यन्तयोस्तु न भवत्येव, श्रपितं हविश्चैत्रेण मैत्रेणेति ।।101।।

न्या०स०–श्रपेः प्रयो०–शृतं हविश्चैत्रेणेति णिगि पान्ते घटादेर्ह्रस्वे श्रप्यते स्मेति वाक्ये कर्म्मणि क्ते निपातनादिडभावः । *श्रपितं हविरित्यादि*-पूर्ववत्प्रथमो णिग्, ततस्तं चैत्रं श्रपयन्तं मैत्रः प्रायुक्त, पाचितमित्यर्थः । *श्रपिं चुरादाविति*-अदन्तं, तस्य च फलं हविः क्षीरादऽन्यत्र दृश्यम् । *तयोरपीति*-न केवलमऽकर्म्मकयोः सकर्म्मकयोरपि तयोः श्रः शृतमिति निपातनं भवति इत्यपेरर्थः ।

य्वृत्सकृत् ।। 4. 1. 102. ।।

य्वृदिति अन्तस्थास्थानानामिकारोकारऋकाराणां शास्त्रेऽस्मिन् व्यवहारः । धातोर्य्वृत्सकृदेकवारमेव भवति । यावत्संभवस्तावद्विधिरिति न्यायात् पुनःप्राप्तं प्रतिषिध्यते । संवीयते, विध्यते, विच्यते, वेवीयते, वेविध्यते, वेविच्यते ।।102।।

न्या०स०–य्वृत्सकृत्०–संवीयते इति-अत्र यकारस्य ``यजादिवचेः'' (4-1-79) इति य्वृति पुनर्वकारस्य प्राप्तमनेन निषिध्यते ।

दीर्घमवोऽन्त्यम् ।। 4. 1. 103. ।।

वेग्वर्जितस्य धातोर्य्वृदन्त्यं दीर्घ भवति । जीनः, जीनवान्, जिनाति संवीतः, हूतः,

शूनः । अव इति किम् ? उतः, उतवान् । अन्त्यमिति किम् ? सुप्तः, उप्तः ॥103॥

*न्या०स०—दीर्घमवो०-उत इति-*क्विपि उत् उतौ उत इति भाष्यम् । *सुप्त इति-* ``ज्ञानेच्छार्चार्थ०'' (5-3-92) इति क्तः ।

स्वर-हन-गमोः सनि धुटि ॥ 4. 1. 104. ॥

स्वरान्तस्य धातोर्हन्तेर्गमोश्च धुडादौ सनि परे स्वरस्य दीर्घो भवति । स्वर-चिचीषति, तुतूषति, चिकीर्षति, हन्-जिघांसति, गमु-जिगांस्यते, संजिगांसते, अधिजिगांस्यते माता, अधिजिगांसते सूत्रम् । गम्विति इणिकिङादेशस्य गमेर्ग्रहणाद्गच्छतेर्न भवति । संजिगंसते वत्सो मात्रा । इङादेशस्यैव गमोरिच्छन्त्येके-तन्मते इण जिगंस्यते, संजिगंसते । इक्-अधिजिगंस्यते मातेत्येव भवति । सनीति किम् ? स्तुतः । धुटीति किम् ? यियविषति ॥104॥

*न्या०स०—स्वरहन०-संजिगांसते इति-*समेतुमिच्छति सन्, ``सनीङश्च'' (4-4-25) इति गमुः, गम्लृं गतावित्यनेन सह इणादेशस्य गमेऽरभेदोपचाराद् गम्लृकार्यमात्मनेपदं प्राग्वदित्यनेन, अन्यथा सनः प्राग् आत्मनेपदाऽदर्शनान्नस्यात्, उपचारे तु ``समो गमृच्छि'' (3-2-84) इति प्राक् दृष्टम् । *यियविषतीति-*प्रथमं गुणं बाधित्वा दीर्घे सकृद्गते इति प्रवर्त्तते ।

तनो वा ॥ 4. 1. 105. ॥

तनोतेधुडादौ सनि परे स्वरस्य दीर्घो वा भवति । तितांसति, तितंसति । धुटीत्येव, वितितनिषति । यङ्लुपि, तंतनिषति ॥105॥

न्या०स०—तनो वा-तंतनिषतीति—``इवृध'' (4-4-47) इतीटि विकल्पात्तितांसति तितंसतीत्यपि ।

क्रमः क्त्वि वा ॥ 4. 1. 106. ॥

क्रमः स्वरस्य धुडादौ क्त्वाप्रत्यये वा दीर्घो भवति । क्रान्त्वा, क्रन्त्वा । धुटि इत्येव,—क्रमित्वा । ``ऊदितो वा'' (4-4-42) इति वेट् । प्रकम्येत्यत्र त्वन्तरङ्गमपि दीर्घत्वं बाधित्वा प्रागेव यप्, एतच्च ``यपि चादो जग्ध्'' (4-4-16) इत्यत्र ज्ञापयिष्यते ॥106॥

अहन्-पञ्चमस्य क्वि-क्ङिति ॥ 4. 1. 107. ॥

हन्वर्जितस्य पञ्चमान्तस्य धातोः स्वरस्य क्वौ धुडादौ च क्ङिति प्रत्यये दीर्घो भवति। प्रशान्, प्रतान्, प्रदान्, प्रशामौ, प्रतामौ, प्रदामौ। किति-शान्तः, शान्तवान्, शान्त्वा, शान्ति, एवं तान्तः, दान्तः। ङिति शंशान्तः, तन्तान्तः, दंदान्तः। पञ्चमस्येति किम् ? ओदनपक्, पक्त्वा। अहन्निति किम् ? वृत्रहणि, भ्रूणहनि। क्विक्ङिति इति किम् ? गन्ता, रन्ता। धुटीत्येव,—यम्यते, यंयम्यते। कश्चित्त्वाचारक्वावपि दीर्घत्वमिच्छति। कमिवाचरति कामति, एवं शम्-शामति, किम् कीमति, इदम्-इदामति ॥107॥

न्या०स०—अहन्पञ्चम०—प्रशानिति-नादेशस्य परेऽसत्त्वान्नलोपाभावः, हन्वर्जनात् उपदेशावस्थायां पञ्चमो गृह्यते, तेन सुगणित्यत्र दीर्घो न। *वृत्रहणीति*-संज्ञायां ``पूर्वपदस्था'' (2-3-64) इति असंज्ञायां तु ``कवर्गैक'' (2-3-76) इति णत्वं, *कश्चित्तु आचारकाविति*-स्वमते तु तस्मिन् धातुत्वाऽभावान्न दीर्घः।

अनुनासिके च च्छ्वः शूट् ॥ 4. 1. 108. ॥

अनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ प्रत्यये च धातोश्च्छकारवकारयोर्यथासंख्यं श् ऊट् इत्येतावादेशौ भवतः। प्रश्नः, विश्नः, छस्य द्विःपाठात् द्वयोरपि शकारः। क्वि-शब्दप्राट्, शब्दप्राशौ, गोविट्, गोविशौ, धुट्-पृष्टः, पृष्टवान्, प्रष्टा, प्रष्टुम्, स्योमा, स्योनः। सिवेर्मनि प्रत्यये औणादिके च ने लघूपान्त्यगुणात्पूर्वमूट् क्रियते नित्यत्वात्-तत्र कृतेऽल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गत्वाद्यत्वं न तु गुणः। अक्षद्यूः, हिरण्यद्यूः। ❉ `असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ❉ इति स्वरानन्तर्ये नेष्यते तेन यत्वं भवति। द्यूतः, द्यूतवान्, दुद्यूषति। वकारस्य विकल्पेनानुनासिकत्वाद्वन्क्वनिपोः सुस्योवा, सुस्यूवा, पक्षे, सुसेवा, सुसित्वेत्यपि सिद्धम्। धातोरित्येव,— दिवेरौणादिकडिव्प्रत्ययान्तस्य द्युभ्याम्, द्युभिः, यदा तु दिवेः क्विप् तदा धातुत्वात् द्यूभ्यां द्यूभिरिति। यङ्लुपि तु देद्योति देद्योषि, सेष्योति, सेष्योषि, देद्यूतः, सेष्यूतः। अन्ये तु देदेति, देदेषि, सेसेति, सेषेषीत्येवेच्छन्ति, तन्मतपरिग्रहार्थं क्ङितीत्यनुवर्तनीयम्। यजादिसूत्रे च च्छग्रहणं विधेयम्। टकार ``ऊटा'' (1-2-13) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥108॥

न्या०स०—अनुनासिके च०—द्विः पाठादिति द्वित्वापन्नस्य छस्येत्यर्थः। *द्वयोरपीति*-अपि शब्दात् केवलस्य, तेन वाछु इच्छायामित्यस्य वान् वांशौ वांश इति सिद्धं, न च वाच्यं

सूत्रे द्विच्छकारपाठात् केवलस्य न प्राप्नोतीति छ् च च्छ् चेति कृते ``पदस्य'' (2-1-89) इत्येकललोपे निमित्ताभाव इत्यनेन चस्य छत्वे ``अघोषप्रथम०'' (4-1-45) इति पूर्वछस्य चत्वे च च् छ् इति साधितत्वात्, यद्वा पूर्वं द्विः च्छकारः द्वितीयस्तु लघु ततः च्छ् च छ् चेति कृते ``पदस्य'' (2-1-89) इति लघुछकारस्य लुक्, तदा निमित्ताभाव इत्यादि न क्रियते। *अक्षद्यूरिति*-साऽनुबन्धत्वादूटि कृते ``उः पदान्तेऽनूत्'' (2-1-118) इति न भवति। *विकल्पेनाऽनुनासिकत्वा-दिति*—म्लेच्छेर्यङ्लुपि वसि ``अनुनासिके च'' (4-1-108) इति छस्य शत्वे मेम्लेश्वः, निरनुनासिकत्वे तु मेम्लेच्छ्व इति। *क्ङितीत्यनुवर्त्तनीयमिति* तर्हि प्रष्टेत्येतत् छस्य शत्वाऽभावे ``यजसृज'' (2-1-87) इति षत्वाभावे न सेत्स्यतीत्याह-*यजादीत्यादि*।

मव्यवि-श्रिवि-ज्वरि-त्वरेरुपान्त्येन ॥ 4-1-109 ॥

शकारस्य स्थानी छ इह न संभवतीत्यूडेवानुवर्तते। मव्यादीनामनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ च प्रत्यये वकारस्योपान्त्येन सहोड् भवति। मव्-मोमा, मूः, मुवौ, मुवः, मूतिः। यङ्लुपि-मामोति, मामूतः। अव्-ओम्, औणादिको म्-ओमा ऊः-उवौ उवः, ऊतिः। श्रिव्-श्रोमा, श्रूः, श्रुवौ, श्रुवः, श्रूतः, श्रूतवान्, श्रूतिः, शेश्रोति, शेश्रूतः। ज्वर्,—जूर्मा, जूः, जूरौ, जूरः जूर्तिः, जाजूर्ति, जाजूर्तः। त्वर्- तूर्मा, तूः, तूरौ, तूरः, तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्तिः, तातूर्ति, तातूर्तः। ज्वरत्वरोरुपान्त्यो वकारात्परः। श्रिव्यविमवां तु पूर्वः ॥109॥

राल्लुक् ॥ 4. 1. 110. ॥

रेफात्परयोर्धातोश्छकारवकारयोरनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ च प्रत्यये लुग्भवति शूटोऽपवादः। मुर्छा, हुर्छा, मोर्मा, होर्मा, मूः मुरौ, मुरः, हूः, हुरौ, हुर, मूर्तः, मूर्तवान्, मूर्तिः हूर्णः, हूणवान्, हूर्तिः, मोमोर्ति, जोहोर्ति, तुर्वै, धुर्वै, तोर्मा, धोर्मा, तूः तुरौ, तुरः, धूः धुरौ, धुरः, तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्तिः, धूर्णः, धूर्णवान्, धूर्तिः। धूर्त इति त्वौणादिकः। अनुनासिकादावित्येव, मूर्छा, तूर्विता ॥110॥

न्या०स०—राल्लुक्—मोमेर्ति-अत्र गुणे कर्त्तव्ये ``भ्वादेर्नामिनः'' (2-1-63) इति शास्त्रमसदिति गुणः, एवं धोर्मेत्यत्रापि। *धूर्ण इति* यद्यत्र णकारस्तत्कथं धूर्त्त इत्याह—*धूर्त्त इतीति*।

क्तेऽनिटश्च-जोः क-गौ घिति ॥ 4. 1. 111. ॥

क्तेऽनिटो धातोश्चकारजकारयोः स्थाने घिति प्रत्यये यथासख्यं कगौ भवतः। पाकः,

सेकः, पाक्यम्, सेक्यम्, त्यागः, रागः, भोग्यम्, योग्यम्, संपर्की, संसर्गी । क्तेऽनिट इति किम् ? संकोचः, कूजः, खर्ज्यः, गर्ज्यः, परिव्राज्यम्, उदाजः, समाजः, नन्वजेः क्तेऽनिट्त्वात् गत्वं प्राप्नोति ? नैवम्, क्तेऽनिट इति विद्यमानस्य विशेषणम्, अजेस्तु वींभावेन असत्त्वाद् गत्वं न भवति । क्त इति किम् ? अर्चः, अर्च्यम्, याच्यम्, रोच्यम् । अर्चादयो हि अर्कः याश्चा रुक्ममिति प्रयोगेष्वनिटोऽपि क्ते सेट इति कत्वं न भवति । घितीति किम् ? पचनम्, त्यजनम् ॥111॥

न्या०स०–क्तेऽनिटः–असत्त्वादिति–अविद्यमानत्वात्, यदि क्तकालेऽविकृतत्वात् धातोर्विद्यमानस्याऽनिट्त्वं भवति तदेत्यर्थः ।

न्यङ्कूद्ग-मेघाऽऽदयः ॥ 4. 1. 112. ॥

न्यङ्क्वादयः कृतकत्वा उद्गादयः कृतगत्वा मेघादयः कृतघत्वा निपात्यन्ते । न्यश्चे रुप्रत्यये न्यङ्कुः । तश्चिवश्चिशुचीनां रकि तक्रम्, वक्रम्, शुक्रः, शुचिरुच्योर्घञि शोकः, रोकः । वते सेट्त्वान्न प्राप्नोति । घञोऽन्यत्र शोच्यम्, रोच्यम्, श्वपाकः, मांसपाकः, पिण्डपाकः, कपोतपाकः, उलूकपाकः । पचेः ``कर्मणोऽण्'' (5-1-72) इत्यणि सति, अण- भावे श्वपच इत्यादि । नीचेपाकः, दूरेपाकः, फलेपाकः, क्षणेपाकः । पचेर्नीचे पच्यते नीचे पच्यते स्वयमेवेति कर्मकर्तर्यचि दीर्घत्वं च निपातनात् । ``तत्पुरुषे कृति'' (3-2-20) इति बहुलाधिकारात् सप्तम्या अलुप् । उकारान्ता अपि गणे पठ्यन्ते । नीचेपाकुः, फलेपाकुः, दूरेपाकुः, क्षणेपाकुः, अत एव निपातनादुकारः । नीचेपाका, दूरेपाका, फलेपाका, क्षणेपाका इत्यावन्ता अपि । अनुब्रवीतीत्यच्-अनुवाकः, सोमं प्रवक्तीत्यण्-सोमप्रवाकः, उचेः न्युच्यति समवैतीति लिहाद्यचि न्योको वृक्षः शकुन्तो वा । उब्जेर्घञि-उद्गः, समुद्गः, न्युद्गः, अभ्युद्गः । क्ते सेट्त्वाद्गत्वमुपान्त्यस्य च दत्वं निपात्यते । सृजेः कर्तर्यचि-सर्गः, विसर्गः, अवसर्गः, उपसर्गः । षञ्जेरचि-व्यतिषङ्गः, अनुषङ्गः मस्जेरुः मद्गुः, भ्रस्जेः कुःसलोपश्च । भृगुः, युजेः ``कर्मणोऽण्'' (5-1-72) इत्यणि गोयोगः मिहेरचि संज्ञायां हस्य घत्वम्-मेघः, अन्यत्र मेहः । वहेरनुपर्सगस्य वस्यौकारश्च । वहतीत्योघः प्रवाहः । अनुपसर्गस्येत्येव,– प्रवहः, विवहः, परिवहः संवहः, उद्वहः, अभिवहः निवहः । संज्ञायामित्येव,–वहः । दहेर्न्यवाभ्यां घञि निदाघः ऋतुविशेषः । अवदाघः केवलपानीयपक्वोऽपूपः । संज्ञायामित्येव,–निदाहः, अवदाहः । अर्हतेर्घञि अर्घो मूल्यम् पूजाद्रव्यं च । संज्ञायामित्येव,– अर्हः एवमवि हितलक्षणानि कत्वगत्वघत्वानि द्रष्टव्यानि ॥112॥

न्या०स०—न्यङ्कूद्०—अनुवाक इति—पाठविशेषः गणपाठाद्दीर्घत्वम् । *व्यतिषङ्ग इति*-व्यतिषजतीति क्रियाव्यतिहारे व्यतिषजते इति वाऽच्, ``स्थासेनि'' (2-3-40) इति षत्वम् ।

मद्गुरिति-अत्र जस्य गत्वे कृते निमित्ताऽभाव इति दन्त्यसकारभावे दन्त्यसकार- स्थाने ``तृतीयस्तृतीय'' (1-3-49) इति दन्त्यसस्य तृतीयो दकारः ।

न वञ्चेर्गतौ ॥ 4. 1. 113. ॥

वञ्चेर्गतौ वर्तमानस्य कत्वं न भवति, वञ्चेर्घञ् । वञ्चं वञ्चति, गन्तव्यं गच्छतीत्यर्थः ।
पर्य्येते व्याधवार्केण्यसंकुलं वित्तवत्तमाः ।
रात्रावपि महारण्ये वञ्चं वञ्चन्ति वाणिजाः ॥1॥
गताविति किम् ? वङ्कं काष्टं कुटिलमित्यर्थ ॥113॥

न्या०स०—न वञ्चेर्ग०—व्याधवार्केण्यसंकुले इति-वृक एव ``वृकाट्टेण्याण्'' (7-3-64), व्याधश्च वार्केण्यश्च समासे कृते ``वान्येन'' (6-1-133) इति विभाषया न लुप् वार्केण्य बहुत्वात् ।

यजेर्यज्ञाङ्गे ॥ 4. 1. 114. ॥

यज्ञाङ्गे वर्तमानस्य यजेर्जस्य गत्वं न भवति । पञ्च प्रयाजाः, त्रयोऽनुयाजाः, एकादशोपयाजाः, उपांशुयाजाः, पत्नीसंयाजाः, ऋतुयाजाः । घञ् याज इत्यप्यन्ये । यज्ञाङ्ग इति किम् ? प्रयागः, अनुयागः, यागः ॥114॥

न्या०स०—यजेर्यज्ञा०-पञ्च प्रयाजा इति-प्रेज्यन्ते एभिः ``व्यञ्जनाद् घञ'' (5-3-132) प्रयजनानि भावे घञि वा, एवं सर्वत्र भावेन बहुवचनेन च वाक्यानि ।

उपांशुयाजा इति-उपांशु एकान्ते यजनानि ``सप्तमी शौण्डाद्यैः'' (3-1-88) ``नाम्नि'' (3-1-94) वा समासः ।

घ्यण्यावश्यके ॥ 4. 1. 115. ॥

आवश्यकोपाधिके घ्याण प्रत्यये परतो धातोश्चजोः कगौ न भवतः । अवश्यपाच्यम्, अवश्यरेच्यम्, अवश्यरञ्ज्यम्, अवश्यभञ्ज्यम् । आवश्यके इति किम् ? पाक्यम्, रेक्यम्, रङ्ग्यम्, भङ्ग्यम् ॥115॥

न्या०स०–घ्यण्यावश्य०- अवश्यपाच्यमित्यादिषु–``मयूरव्यंसक'' (3-1-116) इति सः, ``णिन् चावश्यक'' (5-4-36) इति घ्यण् ।

नि-प्राद् युजः शक्ये ॥ 4. 1. 116. ॥

निप्राभ्यां परस्य युजः शक्येऽर्थे गम्यमाने घ्यणि परे गो न भवति । नियोक्तुं शक्यः, नियोज्यः, प्रयोज्यः । शक्य इति किम् ? नियोग्यः, प्रयोग्यः ॥116॥

भुजो भक्ष्ये ॥ 4. 1. 117. ॥

भुजो भक्ष्येऽर्थे घ्यणि परे गो न भवति । भोज्यमन्नम् भोज्या यवागूः भोज्यं पयः । भक्ष्य इति किम् ? भोग्यः कम्बलः प्रावरणीय इत्यर्थः । भोग्या अपूपाः पालनीया इत्यर्थः । भक्ष्यमभ्यवहार्यमात्रम् न खरविशदमेव । यथा अब्भक्ष्यो वायुभक्ष्य इति ॥117॥

*न्या०स०–भूजो भ०–*न खरविशदमेवेति कठोरप्रत्यक्षमित्यर्थः, अखरविशदमपि भक्ष्यं दृष्टमिति दृष्टान्तमाह–*अब्भक्ष्येति-*आपो द्रवं रूपं न कठिनं प्रत्यक्षं त्वऽस्ति वायुस्तु कठिनो न प्रत्यक्षस्तस्यानुमानेन गम्यत्वात् तेन भोज्यं पय इत्यादि सिद्धम् ।

त्यज-यज-प्रवचः ॥ 4. 1. 118. ॥

एषां घ्यणि कगौ न भवतः । त्याज्यम्, याज्यम् । अत एव प्रतिषेधाद्यजेर्घ्यणपि । प्रवचिग्रहणं शब्दसंज्ञार्थम्, प्रवाच्यो नाम पाठविशेषः, तदुपलक्षितो ग्रन्थोऽप्युच्यते, उपसर्ग-नियमार्थं वा । प्रपूर्वस्यैव वचेरशब्दसंज्ञायां प्रतिषेधो भवति नान्योपसर्गपूर्वस्य । अधिवाक्यं नाम दशरात्रस्य यज्ञस्य यदृशममहः । यस्मिन्याज्ञिका अधिब्रुवते तस्मिन्नेवाभिधानम् । अधिवाच्यमन्यत्र ॥118॥

*न्या०स०–त्यजयजप्र०–अधिवाक्यं नामेति-*नानिष्टार्थेति न्यायादधिवाक्यप्रयोगाय नियमो नाऽन्यत्र तेनाधिवाच्यमित्यत्रोत्तरेण प्रतिषेधः । *दशरात्रस्येति-*दशानां रात्रीणां समाहारो दशरात्रः दशरात्रनिष्पाद्यो यज्ञोऽपि दशरात्र उपचारात्, दशरात्रमस्यास्तीति अभ्रादित्वाद् वा अः । *तस्मिन्नेवाऽभिधानमिति-*तत्रैव प्रपूर्वस्यैवेत्युपसर्गनियमस्येष्टिरित्यर्थः ।

वचोऽशब्दनाम्नि ॥ 4. 1. 119. ॥

अशब्दसंज्ञायां गम्यमानायां वचेर्घ्यणि को न भवति । वाच्यमाह, अवाच्यमाह । अशब्दनाम्नीति किम् ? वाक्यं, विशिष्टः पदसमुदायः ।।119।।

भुज-न्युब्जं पाणि-रोगे ।। 4. 1. 120. ।।

भुजेर्निपूर्वस्योब्जेश्च घञन्तस्य पाणौ रोगे चार्थे यथासंख्यं भुजन्युब्जौ निपात्येते । भुज्यतेऽनेनेति भुजः पाणिः, न्युब्जिताः शेरतेऽस्मिन् इति न्युब्जो नाम रोगविशेषः । व्यञ्जनाद् घञिति गत्वाभावो भुजेर्गुणाभावश्च निपात्यते । पाणिरोग इति किम् ? भोगः, न्युद्गः ।।120।।

*न्या०स०–भुजन्यु०–*न्युद्ग-इत्यत्र न्यङ्क्वादित्वाद्गत्वं दत्वं च ।

वीरुन्न्यग्रोधौ ।। 4. 1. 121. ।।

विपूर्वस्य रुहेः क्विपि न्यक्पूर्वस्य चाचि वीरुध्न्यग्रोधशब्दौ धकारान्तौ निपात्येते । विरोहतीति वीरुत्, न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः, अवरोध इत्यप्यन्ये ।। ।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

कुर्वन् कुन्तलशैथिल्यं मध्यदेशं निपीडयन् ।
अङ्गेषु विलसन् भूमेर्भर्ताभूद्भीमपार्थिवः ।।1।।

*न्या०स०–वीरुन्न्यग्रो–*वीरुदित्यत्र निपाताद्दीर्घः ।

इत्याचार्य श्री चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः सम्पूर्णः ।

अथ द्वितीयः पादः

आत्-संध्यक्षरस्य ॥ 4. 2. 1. ॥

धातोः सन्ध्यक्षरान्तस्याकारो भवति निर्निमित्तः । व्येंग्-संव्याता, देंङ्-दाता, म्लैं-म्लाता, शों निशाता । अनैमित्तिकत्वादात्वस्य प्रागेव कृतत्वादाकारान्तलक्षणः प्रत्ययो भवति । सुग्लः, सुम्लः, सुग्लानम्, सुम्लानम् । धातोरित्येव,–गोभ्याम्, नौभ्याम् । संध्यक्षरस्येति किम् ? कर्ता । इह लाक्षणिकत्वान्न भवति-चेता, स्तोता ॥1॥

न्या०स०–आत् संध्यक्ष०-निर्निमित्त इति-उत्तरेण सह पृथग्योगात् ।

न शिति ॥ 4. 2. 2. ॥

धातोः संध्यक्षरान्तस्य शिति प्रत्यये विषयभूते आकारो न भवति । ग्लायति, म्लायति, संव्ययति ॥2॥

न्या०स०–न शिति–ग्लायतीति-गुण इति सान्वय संज्ञा समाश्रयणादऽत्र गुणाभावः, यतः सतो विशेषाधानं गुणः, अत्र त्वैकारस्य एकारे कर्त्तव्ये न तथा, समासान्तागमेति न्यायाद् वा न गुणः । गुण इति हि संज्ञा ।

व्यस्थव्णवि ॥ 4. 2. 3. ॥

व्ययतेस्थवि णवि च विषयभूते आकारो न भवति । संविव्ययिथ, संविव्याय, अहं संविव्यय । थव्णवीति किम् ? संव्याता, संव्यातुम् । केचित्तु परोक्षा मात्रे आत्वप्रतिषेध-मिच्छन्तो व्येगो य्वृद्विधिं विकल्पयन्ति । तेन त्वक्त्रैः संविव्ययुर्देहान् इति सिद्धम् । तदपरे पाठभ्रम एवायमिति मन्यन्ते, त्वक्त्रैः संविव्युरङ्गानि इति तु सम्यक्पाठः । एवं

'संविव्ययुर्वसनचारु चमूसमुत्थं, पृथ्वीरजः करभकण्ठकडारमाशाः' । इत्यत्रापि संविव्यु-रम्बरविकासि चमूसमुत्थमिति सत्पाठः ॥3॥

स्फुर-स्फुलोर्घञि ॥ 4. 2. 4. ॥

स्फुर्स्फुलोर्घञि संध्यक्षरस्याकारो भवति । विस्फारः, विस्फालः, विष्फारः, विष्फालः । ``वेः'' (2-3-55) इति वा षत्वम् । घञीति किम् ? विस्फोरकः ।।4।।

वाऽपगुरो णमि ।। 4. 2. 5. ।।

अपपूर्वस्य गुरैति इत्यस्य धातोः संध्यक्षरस्य स्थाने णमि प्रत्यये परे आकारादेशो वा भवति । अपगारमपगारम्, अपगोरमपगोरम् । आभीक्ष्ण्ये ख्णम् द्वित्वं च । अस्यपगारं युध्यन्ते । अस्यपगोरं युध्यन्ते । ``द्वितीयया'' (5-4-78) इति णम् ।।5।।

न्या०स०–वापगु०-अपगारमपगारमिति–अभीक्ष्णमपगूय अपगुरणं पूर्वं वा । ननु ख्णम् प्रत्ययेनैव आभीक्ष्ण्यस्योक्तत्वात् द्वित्वं न प्राप्नोति ? न, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् केवल-ख्णम् आभीक्ष्ण्यं न द्योतयतीति द्वित्वमपेक्षते ।

दीङः सनि वा ।। 4. 2. 6. ।।

दीङः सनि परे आत्वं वा भवति । दिदासते, दिदीपते, उपदिदासते, उपदिदीपते ।।6।।

यबक्ङिति ।। 4. 2. 7. ।।

दीङो यपि अक्ङिति च प्रत्यये विषयभूते आकारोऽन्तादेशो भवति । उपदाय, उपदाता, अवदाय, उपदातुम्, उपदातव्यम्, उपादास्त । विषयसप्तमीनिर्देशात्पूर्वमेवात्वे सति ईषदुपादानः उपादायो वर्तते इत्यत्र आकारान्तलक्षणोऽनः घञ् च भवति ।

यबक्ङितीति किम् ? दीनः, उपदीयते, उपदेदीयते, सानुबन्धनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति, उपदेदेति ।।7।।

न्या०स०–यबक्ङिति-ईषदुपादान इति-ईषदऽनायासेनोपादीयते ``शासयुधि'' (5-3-141) इत्यनः । *उपदायो वर्त्तत इति*-यदा उपादानमिति भावविवक्षा तदा ``युवर्ण'' (5-3-28) इत्यऽल्विषये आत्वे भावाऽकर्त्रोर्घञ्, यदा तु उपदीयते इति कर्तृविवक्षा तदाऽपि णकविषये आत्वे ``तन्व्यधी'' (5-1-64) इति णः, एतदपि विषयव्याख्याफलम् । ननु णं बाधित्वा उपसर्गाद् विशेषेण ``उपसर्गादातः'' (5-3-110) इति डो भविष्यतीति वाच्यं ? न, यतस्तस्मिन् कर्त्तव्ये बाहुलकादात्वं नेष्यते इति महाभाष्येऽभाषिष्ट ।

*घञ्च भवतीति-*ननु घञः कथमाकारान्तलक्षणत्वमादन्तेभ्योऽप्यन्यत्रापि सामान्येन तस्य विधानात् ? उच्यते, घञोप्याकारान्तलक्षणत्वं सामान्यमऽस्ति, यतः आकाराऽभावे ईदन्तत्वादऽल् स्यात् ।

मिग् मीगोऽखलचलि ॥ 4. 2. 8. ॥

मिनोतिमीनात्योर्यपि खलचल्वर्जितेऽक्ङिति च प्रत्यये विषयभूत आकारान्तादेशो भवति । निमाय, निमाता, निमातुम्, निमातव्यम्, न्यमासीत् । मीग्-प्रमाय, प्रमाता, प्रमातुम्, प्रमातव्यम्, प्रामासीत् । अखलचलीति किम् ? ईषन्निमयः, दुष्प्रमयः। अचि-मयः, आमयः । अलि-निमयः, प्रमयः । सानुबन्धनिर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । निमेमेति, प्रमेमेति ।

यबक्ङितीत्येव,—निमितः, प्रमीतः, निमेमीयते, प्रमेमीयते । मिग्मीग इति किम् ? मीङ्च् हिंसायामिति दैवादिकस्य माभूत । मेता, मेतुम् । अस्याप्यात्वमिच्छन्त्यन्ये । माता, मातुम् ॥8॥

*न्या०स०—मिग्मीगो०-निमायेति-*तृच्विषये आत्वे ``तन्व्यधी'' (5-1-64) इति णे निमाय इति विसर्गान्तमपि, तर्हि निमातेति कथम् ? उच्यते, असरूपत्वात्तृचपि । *देवादिकस्येति-*उपलक्षणत्वान्मीण्गतावित्यस्यापि ।

लीङ्-लिनोर्वा ॥ 4. 2. 9. ॥

लीयतेर्लिनातेश्च यपि खलचल्वर्जितेऽक्ङिति प्रत्यये च विषयभूते आकारोऽन्तादेशो वा भवति ।

विलाय, विलीय, विलाता, विलेता, विलास्यते, विलेष्यते, विलास्यति, विलेष्यति, व्यलासीत्, व्यलैषीत् । अखलचलीत्येव,—ईषद्विलयः, विलयः, विलयो वर्तते । यबक्ङिती-त्येव,—लीनः, विलीनः, लीयते, लेलीयते, लिनाति । ङिल्लुप्ततिवोर्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति-लेलेति । ली द्रवीकरण इति यौजादिकस्य च न भवति-विलयति ॥9॥

*न्या०स०—लीङ्लिनोर्वा-*णे विलाय इत्यपि सिद्धम् । *लीन इति—*``ऋल्वादेः'' (4-2-68) इति क्रैयादिकस्य दैवादिकस्य ``सूयत्याद्यो'' (4-2-70) इति नत्वम् ।

णौ क्री-जीङः ॥ 4. 2. 10. ॥

क्रींग, जि, इङ् इत्येतेषां णौ परे आकारोऽन्तादेशो भवति । क्रापयति, जापयति, अध्यापयति ॥10॥

सिध्यतेरज्ञाने ॥ 4. 2. 11. ॥

षिधूच् संराद्धावित्यस्याज्ञाने वर्तमानस्य णौ परतः स्वरस्याकारो भवति । मन्त्रं साधयति, तपः साधयति, अन्नं साधयति साधर्मिकेभ्यो दातुम् ।

अज्ञान इति किम् ? तपस्तपस्विनं सेधयति, सिध्यति जानीते तपस्वी ज्ञानविशेषमासादयति तं तपः प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः । स्वान्येवैनं कर्माणि सेधयन्ति । अस्य अनुभवविशेषमुत्पादयन्तीत्यर्थः । सिध्यतेरिति किम् ? षिधू गत्यामिति भौवादिकस्य मा भूत् । अन्नं सेधयति, तपः सेधयति । साधिनैव सिद्धे सिध्यतेरज्ञाने सेधयतीति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥11॥

न्या०स०—सिध्यतेर०-स्वरस्याकार इति—संध्यक्षरप्रस्तावात् स्वरस्येति लभ्यतेऽन्यथा ``षष्ठ्या अन्त्यस्य'' (7-4-106) इति न्यायात् धकारस्यैव स्यात् ।

साधर्मिकेभ्य इति—समानो धर्मः सधर्म्मः स प्रयोजनमेषां ``प्रयोजनम्'' (6-4-117) इतीकण्, समानो धर्मोऽस्येति बहुव्रीहौ तु ``द्विपदाद्धर्मादऽन्'' (7-3-141) स्यात् । *कर्माणि सेधयन्तीति*-सिध्यति अनुभवविशेषमासादयति तमेनं तपस्विनं कर्माणि प्रयुञ्जते । *अनुभवविशेषमिति*-अनुभवः साक्षात्कारः स च ज्ञानमेव ।

चि-स्फुरोर्नवा ॥ 4. 2. 12. ॥

चिनोतेः स्फुरतेश्च णौ परे स्वरस्यात्वं वा भवति । चापयति, चाययति, स्फारयति, स्फोरयति ॥12॥

न्या०स०—चिस्फुरो०-स्फरस्फलत् स्फुरणे इत्यनेनैव सिद्धे स्फुरेरात्ववचनं ण्यन्तात्सनि पुस्फारयिषतीत्येवमऽर्थम् ।

वियः प्रजने ॥ 4. 2. 13. ॥

प्रजनो जन्मन उपक्रमो गर्भग्रहणम् । तस्मिन् वर्तमानस्य वी इत्येतस्य णौ परे आत्वमन्तादेशो वा भवति । पुरो वातो गा प्रवापयति, प्रवाययति गर्भं ग्राहयतीत्यर्थः । वातेः प्रजने वृत्तिर्नास्तीत्यारम्भः ॥13॥

न्या०स०–विय-प्र०-प्रजननं घञ्, ``न जनवधः'' (4-3-54) इति वृद्धिनिषेधः ।

पुर इति–पूर्वस्या दिश आगतः, ``पूर्वावराधरेभ्योऽस्'' (7-2-115) *प्रवापयतीति*प्रवियतीः प्रयुङ्क्ते ।

रुहः पः ॥ 4. 2. 14. ॥

रुहेणौ परतः पकारोऽन्तादेशो वा भवति । रोपयति व्रीहीन्, रोहयति व्रीहीन्, रोहत्यर्थे रुप्यतिर्न दृश्यते इति योगारम्भः ॥14॥

लियो नोऽन्तः स्नेहद्रवे ॥ 4. 2. 15. ॥

ली इति लीग्लीङोः सामान्येन ग्रहणम्, लियः स्नेहद्रवेऽर्थे गम्यमाने णौ परे नोऽन्तोऽवयवो वा भवति । घृतं विलीनयति, घृतं विलाययति, णौ वद्धावायादेशः । लिय ई ली इति ईकारप्रश्लेषात् ईकारान्तस्यैव भवति । कृतात्वस्य तु वक्ष्यमाणौ लकारपकारौ भवतः ।

घृतं विलालयति, विलापयति । स्नेहद्रव इति किम् ? अयो विलाययति । पूर्वान्त-करणात् व्यलीलिनादित्यत्रोपान्त्यह्रस्वो भवति । एवमुत्तरेष्वपि ॥15॥

न्या०स०–लियो नोन्तः–लिय ईः लीस्तस्य उभयोः स्थाने इति न्यायात् समाना-नामिति दीर्घेऽपि इयादेशः । *लीग्लीङोरिति*-उपलक्षणत्वाल्लीण् इत्यस्यापि ।

लोलः ॥ 4. 2. 16. ॥

लातेर्लो इत्यस्य च कृतात्वस्य स्नेहद्रवेऽर्थे णौ परे लोऽन्तो वा भवति । घृतं विला-लयति, घृतं विलापयति, घृतं व्यलीललत् । स्नेहद्रव इत्येव,–जटाभिरालापयते, श्येनो वर्तिकामुल्लापयते । ``लोङ्लिनोऽर्चाभिभवे चाच्चाकर्तर्यपि'' (3-3-90) इत्यनेनात्वमात्मने-पदं च ॥16॥

पातेः ॥ 4. 2. 17. ॥

पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम्, पांक् रक्षणे इत्येतस्य णौ परे लोऽन्तो भवति । पालयति, अपीपलत् । 'पलण् रक्षणे' इति चौरादिकेनैव सिद्धे पातेर्योऽन्तः स्यादिति वचनम् । तिव्-निर्देशो धात्वन्तरनिवृत्त्यर्थः । पा पाने, पैं शोषणे वा, पाययति । यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च । पापाययति ॥17॥

न्या०स०—पातेः-पापाययतीति-भृशं पाति यङ् लुप् द्वित्वं पापतं प्रयुङ्क्ते ।

धूग्-प्रीगोर्न ॥ 4. 2. 18. ॥

धूग् प्रीग्इत्येतयोर्णौ परे नोऽन्तो भवति धूगट् धूगश् धूग्ण् वा धूनयति, अदूधुनत् । प्रींश् प्रीग्ण् वा, प्रीणयति अपिप्रिणत् । यौजादिकयोर्नेच्छन्त्येके । धावयति, प्राययति । अनुबन्धनिर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः । दोधावयति, पेप्राययति । धुवति-प्रोयति-निवृत्त्यर्थश्च-धावयति, प्राययति ॥18॥

वो विधूनने जः ॥ 4. 2. 19. ॥

वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे णौ परे जोऽन्तो भवति । पक्षकेण उपवाजयति, पुष्पाणि प्रवाजयति, अवीवजत् । विधूनन इति किम् ? ओवैं, केशानावापयति-शोषयतीत्यर्थः । वजिनैव सिद्धे वाते रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥19॥

न्या०स०—वो विधूनने-उपवाजयतीति-वांक् इत्यऽस्य न तु पैं ओवैं इत्यस्य विधूनने वृत्त्यऽभावात्, न च वाच्यं विधूनन इति व्यावृत्तेर्द्वयङ्गवैकल्यं सूत्रे व इति सामान्यभणितैः ।

प्रा-शा-छा-सावेव्याह्वो यः ॥ 4. 2. 20. ॥

एषां णौ परे योऽन्तो भवति । पां पाने, पैं शोषणे वा पाययति । पातेस्तु लकार उक्तः । शोंच्-शाययति, छोंच् अवच्छाययति, सों सै वा-अवसाययति, वेंग् वाययति, वे इत्यनात्वेन निर्देशो वांक्-गतिगन्धनयोः, ओवैं शोषणे इत्यनयोर्निवृत्त्यर्थः—वापयति, व्येंग्-व्याययति,—ह्वेंग्-ह्वाययति । अपीपयत्, अशीशयत् इत्यादि । एषां कृतात्वानां ग्रहणादिह प्रकरणे लाक्षणिकस्यापि ग्रहणं भवति । तेन क्रापयतीत्यादि सिद्धम्, पोरपवादो योगः ॥20॥

न्या०स०—पाशाच्छा०-अपिपयदिति-पैं शोषणे इत्यस्येदं पिबतेस्तु ``ङे पिबः'' (4-1-33) इत्यनेन पीप्यादेशेऽपीप्यदिति भवति ।

अर्ति-री-व्ली-ह्री-क्नू-यिक्ष्माय्यातां पुः ॥ 4. 2. 21. ॥

एषामाकारान्तानां च धातूनां णौ परे पुरन्तो भवति । अर्तीति `ऋं गतौ' `ऋं प्रापणे चेत्यनयोर्ग्रहणं सामान्यनिर्देशात् । अर्पयति, तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अरारयति,

अरियारयति ।

रीति रीयतिरिणात्योर्ग्रहणम्-रेपयति, क्लीं-ब्लेपयति, ह्रीं, हेषयति, क्नूयि क्नोपयति, क्ष्मायि-क्ष्मापयति, आदन्त, –दापयति, धापयति, जापयति, क्रापयति, अध्यापयति अदीदपत् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम् । तेन नाम्नोऽपि, सत्यापयति, अर्थापयति, वेदापयति, प्रिय,–प्रापयति, स्थिर-स्थापयति, स्फिर-स्फापयति, पोरुकारः ``पुष्पौ'' (4-3-3) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।21।।

न्या०स०–अर्त्तिरी०-अरारयतीति-आरतं प्रयुङ्क्ते, *अरियारयतीति*-यङलुप् ``रिरौ च लुपि'' (4-1-56) इति रिः रीर्वा ततोऽरियृतं, मतेनाऽर्यत वा प्रयुङ्क्ते । *अदीदपदिति*- ``मिमीमादामित्स्वरस्य'' (4-1-20) इत्यनेन मूलधातोरित्कार्यमऽद्वित्वं च भवति, तेनाऽत्र ``असमानलोपे'' (4-1-63) इत्यनेन पूर्वस्य इल्लक्षणं सन्वत्कार्यं न भवति ।

स्फाय् स्फाव् ।। 4. 2. 22. ।।

स्फायतिणौ परे स्फाव् इत्ययमादेशो भवति । स्फावयति । अभेदनिर्देशोऽन्ताधिकारनिवृत्त्यर्थः ।।22।।

शदिरगतौ शात् ।। 4. 2. 23. ।।

शीयतेरगतावर्थे णौ परे शात् इत्ययमादेशो भवति । पुष्पाणि शातयति । अगताविति किम् ? गोपालको गाः शादयति, गमयतीत्यर्थः ।।23।।

घटादेर्ह्रस्वो दीर्घस्तु वा ञिणम्परे ।। 4. 2. 24. ।।

घटादीनां धातूनां णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ दीर्घो वा भवति । घटयति, अघाटि, अघटि, घाटंघाटं, घटंघटम्, व्यथयति, अव्याथि, अव्यथि, व्याथंव्याथम्, व्याथंव्यथम्, हिडयति, अहीडि, अहिडि, हीडंहीडम्, हिडंहिडम्, अक्षाञ्जि, अक्षञ्जि, क्षाञंक्षाञं, क्षञंक्षञम्, अदाक्षि, अदक्षि, दाक्षंदाक्षम्, दक्षंदक्षम्, क्षञ्जिदक्ष्यादीनां घटादिपाठबलादनुपान्त्यस्यापि वा दीर्घः ।

वा जिणम्पर इत्येव, ह्रस्वविकल्पेन सिद्धे दीर्घग्रहणं हेडेरिकारस्य दीर्घत्वार्थम्, ह्रस्वविकल्पे हि पक्षे एकारश्रुतिः स्यात्, णिग्यङ्व्यवहितेऽपि णौ ञिणम्परे दीर्घत्वार्थं च । णिग्व्यवाये, शमयन्तं प्रयुङ्क्ते, णिग् तदन्तात् ञौ णमि, अशामि, अशमि, शामंशामम्, शमंशमम् । यङ्व्यवाये,–शंशमयतेञौं णमि च अशंशामि, अशंशमि, शंशामंशंशामम्,

शंशमंशंशमम् । अत्र योऽसौ णौ णिर्लुप्यते यश्च यङोऽकारस्तस्य स्थानिवद्भावेन घटादीनां व्यवहितत्वात् आनन्तर्यं नास्तीति । ञिणम्परे णौ न स्याद् ह्रस्वविकल्पः । दीर्घग्रहणे तु दीर्घविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादानन्तर्यमेवेति सिध्यति ।

घटिष् चेष्टायाम्, क्षजुङ् गतिदानयोः, व्यथिष् भयचलनयोः, प्रथिष् प्रख्याने, भ्रदिष् मर्दने, स्खदिष् खदने, कदुङ् क्रदुङ् क्लदुङ् वैक्लव्ये, क्रपिष् कृपायाम्, ञित्वरिष् संभ्रमे, प्रसिष् विस्तारे, दक्षि हिंसागत्योः, श्रां पाके, स्मृं आध्याने, दॄ भये, नॄ नये, ष्टकस्तक प्रतीघाते, चक तृप्तौ च, अंक कुटिलायां गतौ, कखे हसने, अग् अक्वत्, रगे शङ्कायाम्, लगे सङ्गे, ह्गे, ह्लगे, षगे, सगे, ष्टगे, स्थगे संवरणे, वटभट परिभाषणे, णट नृत्तौ, गड सेचने, हेड वेष्टने, लड जिह्वोन्मथने, फणकणरण गतौ, चण हिंसादानयोश्च, शणश्रण दाने, स्नथ, क्नथ, क्रथ, क्लथ हिंसार्थाः, छद ऊर्जने, मदै हर्षग्लपनयोः, ष्टनस्तध्वन शब्दे, स्वन अवतंसने, चन हिंसायाम्, ज्वर रोगे, चल कम्पने, ह्वल ह्मल चलने, ज्वल दीप्तौ चेति घटादयः, फणिमेके घटादिमनिच्छन्तो गतावपि फाणयतीत्याहुः ।।24।।

न्या०स०–घटादेर्ह्रस्वो०–हेडेरिकारस्य दीर्घत्वार्थमिति-न च वाच्यं क्षञ्जेरपि दीर्घत्वार्थं यतस्तस्याऽनेन ह्रस्वविकल्पसामर्थ्यादेव अनुपान्त्यस्यापि ''ञ्णिति'' (4-3-50) इति दीर्घः स्यात् । *शंशामंशंशाममिति*-कश्चिद्व्यावहरिष्यति नात्र शमः संबन्धी णिः किन्तु संशंशमः ? न, तत्संबन्धिव्याख्यानाभावात्, यथा ''स्त्रिया ङितां वा'' (1-4-28) ।

कगे-वनू-जनै-जॄष्-क्न-स्रञ्जः ।। 4. 2. 25. ।।

एषां णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ वा दीर्घो भवति । कगे-कगयति, अकागि, अकगि, कागंकागम्, कगंकगम् । वन्-उपवनयति, उपावानि, उपावनि, अवानि, अवनि, उपवानमुपवानम्, उपवनमुपवनम्, वानंवानम्, वनवनम् । जनै-जनयति, अजानि, अजनि, जानंजानम्, जनंजनम्, जॄष् जरयति, अजारि, अजरि, जारंजारम्, जरंजरम् । क्नस्-क्नसयति, अक्नासि, अक्नसि, क्नासंक्नासम्, सक्नसम्, रञ्जि-रजयति मृगान्व्याधः, अराजि, अरजि, राजंराजम्, रंजरजम् ।

''णौ मृगरमणे'' (4-2-61) इति नलोपः । नलोपे वचनस्य चरितार्थत्वात् नलोपाभावे, अरञ्जि, रञ्जंरञ्जम् इत्यत्र वा दीर्घो न भवति । केचित्तु 'ष्णसूच् निरसने' इत्यस्यापीच्छन्ति । स्नसयति, कगे इति सौत्रो धातुः । एकारश्चैदित्कार्यार्थः । अकगीत् वनू इत्युकारनिर्देशात् वन भक्तौ इत्यस्य न भवति । वानयति, अवानि, वानंवानम् इह घटादयः पठितार्था एव

गृह्यन्ते । अर्थान्तरे तूद्घाटयति, श्रापयति, स्मारयति, दारयति, नाटयति, लाडयति, फाणयति, छादयति, प्रमादयति, ध्वानयति, स्वानयति, चालयतीत्यादि । कगादीनां तु अर्थविशेषो नोपादीयते ।।25।।

न्या०स०—कगेवनू-अकगीदिति—``व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यात:'' (4-3-47) इत्यनेन वृद्धिः प्राप्ता ``न श्वि जागृ'' (4-3-49) इति एदित्वान्न भवति । एके कगे धातुं सर्वधात्वर्थेषु मेनिरे, यथा कगति याति भुङ्क्ते सरतीत्यादि । अन्ये कगे नोच्यते इत्यर्थे जगुः, यथा कगति न वक्तीत्यर्थः । *न लोपाभावे इति*-मृगरमणाऽभावे न लोपाऽप्रवृत्तेरित्यर्थः । *अर्थ-विशेषो नोपादीयते इति*-पूर्वेण पृथग्योगादित्यर्थः ।

अमोऽकम्यमि-चमः ।। 4. 2. 26. ।।

कम्यमिचमिवर्जितस्यामन्तस्य धातोर्णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ वा दीर्घो भवति । रमयति, अरामि, अरमि, रामरामम्, रमंरमम्, दमयति अदामि, अदमि, दामंदामम्, दमंदमम् । कथं संक्रामयति, संक्रामन्तं करोतीति ? शत्रन्ताण्णिचि भविष्यति ।

अकम्यमिचम इति किम् ? कामयते, अकामि, कामंकामम्, आमयति, आममामम्, आचामयति, आचामि, आचाममाचामम् ।।26।।

पर्यपात्स्खदः ।। 4. 2. 27. ।।

पर्यपाभ्यामेव परस्य स्खदेणौ परे ह्रस्वो भवति, जिणम्परे तु वा दीर्घः । परिस्खदयति, पर्यस्खादि, पर्यस्खदि, परिस्खादंपरिस्खादम्, परिस्खदंपरिस्खदम्, अपस्खदयति, अपास्खादि, अपास्खदि, अपस्खादमपस्खादम्, अपस्खदमपस्खदम्, अवादप्यन्ये अवस्खदयति ।

स्खदेर्घटादिपाठेन सिद्धे नियमार्थं वचनम् । अन्योपसर्गपूर्वस्य माभूत्,—प्रस्खादयति । अन्ये तु निषेधाधिकारे `अपपरिस्खदः' इति पठित्वा पर्यपपूर्वस्य स्खदेर्निषेध-मिछन्ति-तन्मते परिस्खादयति, पर्यस्खादि, परिस्वादंपरिस्वादम्, एवमपस्खादयतीत्यादि । पर्यपाभ्यामन्यत्र प्रस्खदयति, प्रास्खादि, प्रास्खदि, इत्यादि भवति ।।27।।

न्या०स०—पर्यपात्स्खद०:-अन्योपसर्गपूर्वस्येति-अत्र विपरीतनियमो न भवति, ``एकोपसर्गस्य'' (4-2-34) इत्यत्र व्याप्त्या एकोपसर्गग्रहणेन परिच्छद इत्यत्र ह्रस्वविधान-सामर्थ्यात् ।

शमोऽदर्शने ।। 4. 2. 28. ।।

अदर्शनेऽर्थे वर्तमानस्य शमेर्णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु वा दीर्घः । शमयति रोगम्, निशमयति श्लोकान्, अशामि, अशमि, शामंशामम्, शमंशमम् । अदर्शन इति किम् ? निशामयति रूपम्, दर्शन एव केचिदिच्छन्ति, तेषामुदाहरणप्रत्युदाहरणयोविपर्ययः ।।28।।

यमोऽपरिवेषणे णिचि च ।। 4. 2. 29. ।।

अपरिवेषणे वर्तमानस्य यमेर्णिच्यणिचि च णौ परे वा ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ वा दीर्घः । यमयति, अयामि, अयमि, यामंयामम्, यमंयमम् । अपरिवेषण इति किम् ? यामयति अतिथीन्, यामयति चन्द्रमसम् । यमः परिवेषण इत्यन्ये-तन्मते उदाहरणप्रत्यु-दाहरणयोर्व्यत्यासः ।

णाविति सिद्धे अस्य णिचि चेति वचनात् अन्येषां णिचि न भवति । स्यमिण् वितर्के, स्यामयते, अस्यामि, स्यामंस्यामम्, शमिण्-आलोचने, निशामयते, न्यशामि, निशामंनि-शामम् ।।29।।

न्या०स०—यमोऽपरिवेषणे-परिवेषणे इति-परिवेषणमिह भोजनविषयि परिवेषणं सूर्यादिवेष्टनं च गृह्यते । *यामयत्यतिथीनिति*-परिवेषणक्रियया तान् व्याप्नोतीत्यर्थः ।

णाविति सिद्धे इति-अधिकारानुमिते इत्यर्थः ।

मारण-तोषण-निशाने ज्ञश्च ।। 4. 2. 30. ।।

एष्वर्थेषु वर्तमानस्य जानातेर्णिचि अणिचि च णौ ह्रस्वो भवति, जिणम्परे तु वा दीर्घः, चकारो णिचि चेत्यस्यानुकर्षणार्थः ।

मारणे-संज्ञपयति पशून्,—तोषणे, ज्ञपयति गुरून्, विज्ञपयति राजानम्, निशाने—ज्ञपयति शरान्, प्रज्ञपयति शस्त्रम् । अज्ञापि, अज्ञपि, ज्ञापंज्ञापं, ज्ञपंज्ञपम् । निशानं तेजनं तीक्ष्णीकरणम्-अन्ये तु निशामन इच्छन्ति । निशामनम् आलोचनं प्रणिधानमाहुः, इह पूर्वत्र च सूत्रे णिचि अणिचि च णौ रूपसाम्येऽप्यर्थभेदः । एकत्र स्वार्थोऽन्यत्र प्रयोक्तृव्यापारः ।।30।।

न्या०स०—मारणतोषण०-चकारो णिचि चेत्यस्येति-धात्वाकर्षणे पूर्वेण सिद्धेः फलाऽभावात् प्रकृतेरपि स्थितः प्रत्ययमाकर्षति, स्वरूपव्याख्यानमिदं यावताऽधिकारायातमेव चकारेणानुमीयते,

अन्यथा चानुकृष्टं नोत्तरत्रेति स्यात् । *संज्ञपयतीति*-❊ आदेशादागमः ❊ इति न्यायात् ह्रस्वात् प्रागेव प्वागमः । *एकत्र स्वार्थ इति*-स्वार्थे प्रथममेव मारणे वर्त्तते, अन्यत्र मरणे ततो मारणे इत्यर्थः ।

चहणः शाठ्ये नन्वदन्तस्य चहणः भौवादिकस्य च चहेः सर्वाण्यपि सेत्स्यन्ति किमनेन ? सत्यं, सूत्रं विना चाहिष्यते इति न सिध्यति, तथाहि-भौवादिकस्य स्वरान्तत्वाभावात् ``स्वरग्रह'' 3-4-69 इति ञिट् नायाति, चौरादिकस्य तु ञिटि सत्यपि अदन्तत्वाद् वृद्ध्यऽभावे न सिध्यति, अथ णिगि सति भौवादिकस्य साध्यते, तर्हि प्रयोक्तृव्यापार आयातस्तस्मिन् सति अर्थभेदः स्यात्, अतः सूत्रं कार्यम् ।

चहणः शाठ्ये ।। 4. 2. 31. ।।

चहेश्चौरादिकस्य शाठ्येऽर्थे वर्तमानस्य णिचि णौ परे ह्रस्वो भवति ञिणम्परे तु वा दीर्घः । चहयति, चाहिष्यते, चहिष्यते, चाहंचाहम् ।

णित्करणाद्भौवादिकस्य न भवति । चाहयति, अचाहि, चाहंचाहम् । शाठ्य इति किम् ? अचहि, चहंचहम् । चहयतीत्येतददन्तत्वात्सिद्धम्, दीर्घार्थं वचनम् ।।31।।

ज्वल-ह्वल-ह्मल-ग्ला-स्ना-वनू-वम-नमोऽनुपसर्गस्य वा ।। 4. 2. 32. ।।

एषामनुपसर्गाणां णौ परे ह्रस्वो वा भवति । ज्वलयति, ज्वालयति, ह्वलयति, ह्वालयति, ह्मलयति, ह्मालयति, ग्लपयति, ग्लापयति, स्नपयति, स्नापयति, वनयति, वानयति, वमयति, वामयति, नमयति, नामयति, अज्वालि, अज्वलि, ज्वालंज्वालम्, ज्वलंज्वलम् । इत्यादिषु दीर्घविकल्पः सिद्ध एव ।

अनुपसर्गस्येति किम् ? प्रज्वलयति, प्रह्वलयति, प्रह्मलयति, प्रग्लापयति, प्रस्नापयति, प्रवनयति, प्रवमयति, प्रणमयति ग्लास्नोरप्राप्ते शेषाणां तु प्राप्ते विभाषा ।।32।।

न्या०स०–ज्वलह्वल०-दीर्घविकल्पः सिद्ध एवेति अनेन वा ह्रस्वविधानात्तेन ञिणम्परे इति नाऽनूद्यते ।

छदेरिस्मन्त्रट्क्वौ ।। 4. 2. 33. ।।

छदेरिस्मन्त्रट्क्विप्परे णौ ह्रस्वो भवति । इसि-छदिः, मनि-छद्म, त्रटि, छत्त्रम्, छत्त्री । क्विपि-उपच्छत्, धामच्छत् । त्रडिति किम् ? त्रे माभूत् । छात्त्रः ॥33॥

एकोपसर्गस्य च घे ॥ 4. 2. 34. ॥

एकोपसर्गस्यानुपसर्गस्थ च छदेर्घपरे णौ ह्रस्वो भवति । प्रच्छाद्यतेऽनेनेति प्रच्छदः, परिच्छदः, उपच्छदः, छाद्यतेऽनेनेति छदः, सप्त छदा अस्य सप्तच्छदः, उरसश्छदः उरश्छदः, एवं दन्तच्छदः । एकोपसर्गस्य चेति किम् ? समुपच्छादः, समुपामिच्छादः । घ इति किम् ? प्रच्छादनम्, तनुच्छादनम् ॥34॥

उपान्त्यस्यासमान-लोपिशास्वृदितो ङे ॥ 4. 2. 35. ॥

समानलोपिशासूकृदनुबन्धवर्जितस्य धातोरुपान्त्यस्य ङपरे णौ ह्रस्वो भवति । अपीपचत्, अदीदपत्, अचीकरत्, अलीलवत् । अत्र नित्यमपि द्विर्वचनं बाधित्वा प्रागेव ह्रस्वो भवति श्रोणेर्ऋदित्करणज्ञापकात् । तद्धि मा भवानोणिणत् इत्यत्र ऋदित्त्वादुपान्त्य- ह्रस्वत्वप्रतिषेधो यथा स्यादित्येवमर्थं क्रियते ।

यदि चात्र नित्यत्वात्पूर्वमेव द्वितीयद्वित्वं स्यात्तदानुपान्त्यत्वादेव ह्रस्वत्वस्याप्राप्तिरिति किं तन्निवृत्त्यर्थेन ऋदित्करणेन । एवं माभवानटिटत् मा भवानशिशत् इत्यादि सिद्धं भवति, ङपरे णौ इति च न धातुर्विशिष्यते किं तर्हि तदुपान्त्य इति णेः पूर्वस्याधातुत्वेऽपि ह्रस्वो भवति, तेन गोनावमाख्यत् अजूगुनत् ।

केचिदौतः स्थानिवद्भावेनोपान्त्यत्वाभावाद् ह्रस्वं नेच्छन्ति-तेनाजुगोनत् । णावित्येव, ङे उपान्त्यस्यैतावत्युच्यमाने अलीलवदित्यादावन्तरङ्गावपि वृद्ध्यावादेशावदीदपदित्यादौ च प्वागमं च बाधित्वा वचनसामर्थ्यात् ण्युपान्त्यस्य स्वरस्य ह्रस्वः प्रसज्ज्येत । अपीपचदित्यादौ ण्युपान्त्यस्वराभावान्न स्यात् । णिग्रहणानुवृत्तौ तु ङपरे णावुपान्त्यस्य ह्रस्व इति सर्वत्र ह्रस्वः सिद्धो भवति ।

ङ इति किम् ? कारयति पाचयति । उपान्त्यस्येति किम् ? अचकाङ्क्षत्-येन नाव्यवधानमिति न्यायेनैव सिद्धे उपान्त्यग्रहणम् उत्तरार्थम् । असमानलोपिशास्वृदित इति किम् ? राजानमतिक्रान्तवानत्यरराजत् । लोमान्यनुमृष्टवान् अन्वलुलोमत्, स्वामिनमाख्यत् असस्वामत्, तादृशमाख्यत् अततादत्, मातरमाख्यत् अममातत्, यत्रान्त्यस्वरादिलोपस्तत्र स्थानिवद्भावेन न सिध्यतीति वचनम् । यत्र तु स्वरस्यैव लोपस्तत्र स्वरादेशत्वात् स्थानिवद्भावेनैव सिध्यति । मालामाख्यत् अममालत्, मातरमाख्यत् अममातत्, अशशारत्, अशुशूरत् ।

ननु यत्रापि स्वरव्यञ्जनलोपस्तत्रापि अवयवावयविनोरभेदनयेन स्वरादेश एवेति स्थानिवद्भावेनैव सिध्यति किमसमानलोपिवचनेन ? सत्यम्,–स्थानिवद्भावस्य अनित्यत्वख्यापनार्थं वचनम्-तेन वास्या परिच्छिन्नवान् पर्यवीवसत्, स्वादु कृतवान् असिस्वददित्यादि सिद्धम् । अत्रेकारोकारयोः ``नामिनोऽकलिहलेः'' (4-3-51) इति वृद्धौ कृतायामन्त्यस्वरादिलोपादसमानलोपित्वम् ।

ननु च परत्वात् प्रथमं लोपेनैव भवितव्यम् ? नैवम्, कलिहलिवर्जनात् परमपि लोपं वृद्धिर्बाधते-अत एव तत्र कलिहलिवर्जनमर्थवत् । शासू, अशशासत्, आशासोऽपीच्छत्यन्यः-आशशासत् । ऋदिति, ओणृ-मा भवानोणिणत्, ओखृ-मा भवानोखिखत्, एजृमा भवानेजिजत्, याचृ, अययाचत् । सेकृ-असिसेकत्, लोकृ-अलुलोकत्, ढौकृ-अडुढौकत्, शासेरूदित्करणं यङ्लुप्निवृत्त्यर्थम्-अशाशसत । अन्ये त्वशाशासत् इत्यपीच्छन्ति । वदति स्म वीणा तां प्रायुक्त परिवादकः तमप्यन्यः प्रायुक्त अवीवदद्वीणां परिवादकेनेति तु णिजात्याश्रयणात् सिद्धम् ॥35॥

न्या०स०–उपान्त्यस्या०-नित्यमपीति–❈ *कृताकृता* ❈ इति न्यायान्नित्यत्वं यथा मा भवानऽटिटदित्यादौ ह्रस्वत्वे कृतेऽकृते च द्वित्वं प्राप्नोतीति नित्यं ह्रस्वस्तु द्वित्वे कृते न प्राप्नोतीत्यऽनित्यः, न केवलं प्राक्तु स्वर इत्यपेरर्थः ।

गोनावमाख्यादिति-गौर्नौर्यद्वा गोसहिता नौः गोनौः, ``मयूरव्यंसक'' (3-1-116) इति मध्यपदलोपी समासः । *स्थानिवद्भावेनेति*-स्वमते तु ``स्वरस्य परे'' (7-4-110) इति परिभाषाया अनित्यत्वमाश्रितमिति सूत्रपर्यन्ते वक्ष्यति ।

वचनसामर्थ्यादिति-अन्यथा यदि वृद्ध्यावादेशौ स्यातां, तदा उपान्त्यत्वाभावेन ह्रस्वत्वाभावात् वचननैरर्थक्यं प्राप्नोति ।

ण्युपान्त्यस्येति-णेरुपान्त्यस्तस्य तथाहि-णिङ इति स्थिते ऊकार उपान्त्यः ।

अचकाङ्क्षदिति-वचनादेकेन वर्णेन व्यवधानं न त्वऽनेकेन ।

उपान्त्यग्रहणमिति-येन नाव्यवधानमिति न्यायादेकेन वर्णेन व्यवहितोऽपि स्वरो ह्रस्वस्य स्थानी भविष्यति किमुपान्त्यग्रहणेनेत्याह *उत्तरार्थमिति* । ``ऋदृवर्णस्य'' (4-2-37) इत्यत्रेत्यर्थः, अन्यथा तत्रान्त्यस्यापि ऋकारस्य ऋत् स्यात्, न केवलमुत्तरार्थमिहार्थं, च, अन्यथा लीलवदित्यत्र वचनसामर्थ्यादऽकृतायां वृद्धौ ह्रस्वः स्यात्, न चान्तरङ्गत्वाद्वृद्धिः, निरवकाशत्वादस्य, वृद्धौ सावकाशत्वमिति न वाच्यं यतो मुख्याऽभावे येन नाव्यवधानमाश्रीयेतेति ।

स्थानिवद्भावेन न सिध्यतीति-अयमर्थः ``स्वरस्य परे'' (7-4-110 इति स्वरादेशः

स्थानी, अत्र तु स्वरव्यञ्जनादेशः ।

अशशारत्-शारण् दो अस्मादऽदन्तात् णिच् ।

अशुशूरत्-शूरणि वि० अस्मादजन्तात् ``णिज् बहुलं'' (3-4-42) णिच् ततोऽद्यतनी, अन्यथा आत्मनेपदित्वादऽचं विना परस्मैपदं न स्यात् ।

अनित्यत्वख्यापनार्थं वचनमिति-कलिहलिवर्जनादेव सन्वदादिकार्येऽस्याऽनित्यत्वं सिद्धं तर्हि अत्यरराजदित्यादौ भेदपक्षे फलम् । *प्रथमं लोपेनैवेति*-ततश्च समानलोपित्वात् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोतीति भावः ।

असिसेकदिति—येषां मते षोपदेशस्तन्मते असिषेदिति ।

भ्राज-भास-भाष-दीप-पीड-जीव-मील-कण-रण-बण-भण-श्रण-ह्वे-हेठ-लुट-लुप-लपां नवा ॥ 4. 2. 36. ॥

एषां ङपरे णौ उपान्त्यस्य ह्रस्वो वा भवति ।

भ्राज्,—अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्, भास्-अबीभसत्, अबभासत्, भाष्-अबीभषत्, अबभाषत्, दीप्-अदोदिपत्, अदिदीपत्, पीड्-अपीपिडत्, अपिपीडत्, जीव्-अजीजिवत्, अजिजीवत्, मील-अमीमिलत्, अमिमीलत्, कण्-अचीकणत्, अचकाणत्, रण-अरीरणत्, अरराणत्, बण्-अबीबणत्, अबबाणत्, भण्-अबीभणत्, अबभाणत्, श्रण्-अशिश्रणत्, अशश्राणत्, ह्वेंग्-अजूहवत्, अजुहावत्, हेठ-अजीहिठत्, अजिहेठत्, लुट्- अलूलुटत्, अलुलोटत्, लुप्लृ अलूलुपत् अलुलोपत्, लप्-अलीलपत्, अललापत् बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसारेण अन्येषामपि परिग्रहार्थम् ॥36॥

न्या०स०—भ्राजभास०—अशिश्रणदिति-शण श्रण दाने इत्यस्य दानेऽर्थे ह्रस्वत्वं घटादित्वात् सिद्धं पाकरूपेऽर्थान्तरे त्वऽनेन विकल्पः, `श्रणण् दाने' इत्यस्य तु ``यमोऽपरि- वेषणे णिचि च'' (4-2-9) इत्यनेन णिचि यम एवेति नियमादऽप्राप्तं विकल्प्यते ।

अन्येषामपीति—तेन अबिभ्रसत् अबभ्रासदित्यादि सिद्धम् ।

ऋदृवर्णस्य ॥ 4. 2. 37. ॥

धातोरुपान्त्यस्य ऋवर्णस्य ङपरे णौ वा ऋकारो भवति । अवीवृतत्, अववर्तत्, अवीवृधत्, अववर्धत्, अमीमृजत्, श्रममार्जत्, अदीदृशत्, अददर्शत्, अवीकृतत्, अचिकीर्तत् । वचनसामर्थ्यादर्कीर्त्यादेशौ बाध्येते । उपान्त्यस्येत्येव—अचीकरत् ॥37॥

न्या०स०—ऋृदृवर्णस्य०-ननु किमर्थं वर्णग्रहणं ऋदृत इत्येतावदास्ताम् ? न, यद्येवं क्रियते तदाऽचीकृतदित्ययं प्रयोगो न निष्पद्यते, अथ पाठकालेऽपि कृतण् इति पठिष्यते, न, तदा ऋदृत इत्येतस्याऽन्यत्र ऋकारे चरितार्थत्वात् अत्र कीर्त्यादेश एव स्यात्, अथ कीर्त्तण् इत्यऽपठनादेवाऽस्यापि ॠृद्भविष्यति, तदा यदाऽनित्यो हि णिच्चुरादीनामिति न्यायेन णिजऽभावस्तदा कृतण् इति पाठे कॄततीति न स्यात् किन्तु कर्त्ततीत्यनिष्टं स्यादिति वर्ण-ग्रहणं, ह्रस्वाधिकारेणैव सिद्धे ऋत्करणमचीकृतदित्यत्र गुणनिषेधार्थं, ह्रस्वकरणसामर्थ्याद् गुणो न भविष्यतीति न वाच्यं गुणकरणे ह्रस्वस्य चरितार्थत्वात् ।

जिघ्रतेरिः ॥ 4. 2. 38. ॥

जिघ्रतेरुपान्त्यस्य ङपरे णाविकारो वा भवति । अजिघ्रिपत्, अजिघ्रिपत्, अजिघ्रपत् । तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अजाघ्रपत् ॥38॥

तिष्ठतेः ॥ 4. 2. 39. ॥

तिष्ठतेरुपान्त्यस्य ङपरे णाविकारो भवति । अतिष्ठिपत्, अतिष्ठिपताम्, अतिष्ठिपन् । तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अतास्थपत्, योगविभागो नित्यार्थः ॥ 39 ॥

ऊद्दुषो णौ ॥ 4. 2. 40. ॥

दुषेरुपान्त्यस्य णौ परे ऊकारादेशो भवति—दुष्यन्तं प्रयुङ्क्ते दूषयति, प्रदूष्य गतः । णाविति किम् ? दोषो वर्तते, धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्ययविज्ञानादिह न भवति । दोषणं दुट् क्विप्-दुषमाचष्टे दुषयति, पुनर्णिग्रहणं ङनिवृत्त्यर्थम्, ङे ह्रस्वो न भवतीत्यन्ये, अदुदूषत् ॥40॥

न्या०स०—ऊद्गुषो०-*तत्प्रत्ययविज्ञानादिति*-तस्य दुषेर्धातोः संबन्धी प्रत्ययस्तत्प्रत्ययः, दुषयतीत्यत्र तु न दुषिधातोः संबन्धी प्रत्ययः किं तर्हि ``णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु'' (3-4-42) णिज् नाम्नः परतो विहितत्वान्नामसंबन्धी, यद्वा तत्प्रत्ययस्येत्थं व्याख्यानात्तस्माद्धातोरनन्तरः प्रत्ययः ।

ङनिवृत्त्यर्थमिति-तेन सामान्येन णौ भवतीति न तु ङः पर एवेत्यर्थः । *न भवती- त्यन्ये इति*-तन्मतसंग्रहार्थमूकारप्रश्लेषो विधेयः ।

अदुदूषदिति-दुष्यन्तं प्रायुक्त णिग् गुण अद्दुषों णौ ऊकारः ।

चित्ते वा ॥ 4. 2. 41. ॥

चित्तविषयस्य चित्तकर्तृकस्य दुषेरुपान्त्यस्य णौ परे उद्वा भवति । चित्तं दुष्यति तदन्यः प्रयुङ्क्ते चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति, मनो दूषयति, मनो दोषयति । चित्तग्रहणेन प्रज्ञाया अपि ग्रहणात् प्रज्ञां दूषयति, प्रज्ञां दोषयति ॥41॥

न्या०स०–चित्ते वा-प्रज्ञाया अपीति-चित्तसहचरितत्वात् प्रज्ञाऽपि चित्तमित्यर्थः ।

गोहः स्वरे ॥ 4. 2. 42. ॥

कृतगुणस्य गुहेः स्वरादौ प्रत्यये परे उपान्त्यस्योद्भवति । निगूहति, निगूहयति, निगूहकः, साधुनिगूही, निगूहंनिगूहम्, निजुगूह गोह इति किम् ? निजुगुहतुः, निजुगुहुः । स्वर इति किम् ? निगोढा, निगोढुम् ॥42॥

भुवो वः परोक्षाद्यतन्योः ॥ 4. 2. 43. ॥

भुवो वकारान्तस्य परोक्षाद्यतन्योः परतः उपान्त्यस्योद्भवति । बभूव, बभूवतुः, बभूवु, बभूविथ, बभूवुषः, बभूवुषा, अभूवन्, अभूवम् । वृद्धिगुणोवादेशेषु कृतेषु भुवो वकारान्तत्वम् । व इति किम् ? बभूवान्, अभूत् । अत्र भस्य माभूत् । परोक्षाद्यतन्योरिति किम् ? भविष्यति ॥43॥

न्या०स०–भुवो व० :-भुवो वकारान्तस्येति अत्र पूर्वसूत्रात्स्वरऽनुवर्त्त्य ततश्च परो- क्षाद्यतन्योः स्वरे परे इति व्याख्याने स्वयमेव वकारान्तत्वं लप्स्यते किं वग्रहणेन ? उच्यते, यदि स्वरोऽनुवर्त्यते तदा उत्तरसूत्रेऽनवर्त्तमानो दुर्निवारः स्यात्तथा च स्रस्त इत्यादौ ``नो व्यञ्जनस्य'' (4-2-45) इति न लोपो न स्यात्, अत एव ``गमहन'' (4-2-44) इति सूत्रे स्वरग्रहणं, किं च वग्रहणाऽभावे बभूवेत्यादौ नित्यत्वादऽपवादत्वाच्च वृद्ध्यादिबाधया ऊकारोपान्त्यस्य भस्य ऊत्वप्रसङ्गः स्यादिति वग्रहणम् ।

अत्र भस्येति-उपान्त्यस्येत्यधिकारादित्यर्थः ।

गम-हन-जन-खन-घसः स्वरेऽनङि क्ङिति लुक् ॥ 4-2-44 ॥

एषामुपान्त्यस्याङ्वर्जिते स्वरादौ क्ङिति प्रत्यये परे लुग् भवति । किति-गम्, जग्मतुः,

जग्मुः । हन्-जघ्नतुः, जघ्नुः । जन्-जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे । खन्-चख्नतुः, चख्नुः । घस्-जक्षतुः, जक्षुः, जक्षिवान्, ङिति-घ्नन्ति । कतीह निघ्नानाः। कथं जज्ञतुः जज्ञुः इति छान्दसावेतौ । स्वर इति किम् ? गम्यते, हन्यते । अनङीति किम् ? अगमत्, अघसत् । क्ङितीति किम् ? गमनम्, हननम् ॥44॥

न्या०स०—गमहन०-कथं जज्ञतुरिति धातोरात्मनेपदित्वात् कथं परस्मैपदमित्याशयः । *छान्दसाविति*-जुहोत्यादौ जन जनने परस्मैपदिनं छान्दसं पठन्ति तस्याऽयं प्रयोग इष्यते ।

नो व्यञ्जनस्यानुदितः ॥ 4. 2. 45. ॥

व्यञ्जनान्तस्यानुदितो धातोरुपान्त्यस्य नकारस्य क्ङिति प्रत्यये परे लुग्भवति । स्रस्तः, स्रस्तवान्, स्रस्यते, सनीस्रस्यते, ध्वस्तः, ध्वस्तवान्, ध्वस्यते, दनीध्वस्यते, अस्तभत्, अग्लुचत्, परिष्वजते, परिष्वजेते ।

व्यञ्जनस्येति किम् ? नीयते, नेनीयते । अनुदित इति किम् ? टुनदु नन्द्यते, नानन्द्यते, क्ङन्तीत्येव, स्रंसिता, ध्वंसिता । उपान्त्यस्येत्येव, नह्यते, नानह्यते ॥45॥

अञ्चेरनर्चायाम् ॥ 4. 2. 46. ॥

अञ्चेरनर्चायामेव वर्तमानस्योपान्त्यनकारस्य लुग् भवति । उदक्तमुदकं कूपात्, अनर्चायामिति किम् ? अञ्चिता गुरवः, पूर्वेण सिद्धे नियमार्थो योगः ॥46॥

लङ्गि-कम्प्योरुपतापाङ्ग-विकृत्योः ॥ 4. 2. 47. ॥

लङ्गिकम्प्योरुपान्त्यनकारस्य यथासंख्यमुपतापेऽङ्गविकारे चार्थे क्ङिति प्रत्यये लुग्भवति ।

विलगितः, विकपितः । उपतापाङ्गविकृत्योरिति किम् ? विलङ्गितः, विकम्पितः । लङ्गिकम्प्योरुदित्त्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् । द्विवचनं क्ङितीत्यनेन यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥47॥

न्या०स०—लङ्गिकम्प्यो०-विलगित इति—विलग्यते स्म, रोगादिनोपतापितः । *विलङ्गित इति*-विलङ्गति स्म केनचिदङ्गेन हीन इत्यर्थः । । *विकम्पित इति*-विकम्पते स्म मनसि कम्पितः, चित्ते भीत इत्यर्थ इति नाऽङ्गविकृतिः ।

भञ्जेर्ञौ वा ॥ 4. 2. 48. ॥

भञ्जेरुपान्त्यनकारस्य ञौ परे लुग्वा भवति । अभाजि । अभञ्जि ।।48।।

दंश-सञ्जः शवि ।। 4. 2. 49. ।।

अनयोरुपान्त्यनकारस्य शवि परे लुग्भवति । दशति, सजति । तुदादावपठित्वानयोर्भ्वादौ पाठः शवर्थः तेन ``श्यशवः'' (2-1-115) इति नित्यमन्तादेशः सिद्धो भवति । दशन्ती, सजन्ती ।।49।।

अकट्घिनोश्च रञ्जेः ।। 4. 2. 50. ।।

रञ्जेरकटि घिनणि शवि च प्रत्यये उपान्त्यनकारस्य लुग् भवति । रजकः, रागी, रजति । रजः, रजनिः, रजनम् रजतमित्यौणादिककित्प्रत्ययान्ताः ।।50।।

णौ मृगरमणे ।। 4. 2. 51. ।।

रञ्जेरुपान्त्यनकारस्य णौ परे मृगाणां रमणे क्रीडायामर्थे लुग्भवति । *रजयति* मृगान्व्याधः । मृगरमण इति किम् ? रञ्जयति रजको वस्त्रम्, रञ्जयति सभां नटः ।।51।।

*न्या०स०–णौ मृग०–*मृगरमणादन्यत्रापि कश्चिदिच्छति, यथा राजर्षिकल्पो रज- यति मनुष्यान् । *रञ्जयति रजको वस्त्रमिति*-रजति वस्त्रं रजकः, स एवं विवक्षते-नाऽहं रजामि, रज्यते वस्त्रं स्वयमेव तद्रज्यमानं प्रयुङ्क्ते, यद्वा रजति वर्णान्तरमापद्यते वस्त्रं कर्तृ तद्रजत् रजकः प्रयुङ्क्ते णिग् ।

घञि भावकरणे ।। 4. 2. 52. ।।

रञ्जेरुपान्त्यनकारस्य भावकरणार्थे घञि परे लुग् भवति । रञ्जनं रजत्यनेनेति वा रागः । घञि इति किम् ? रञ्जनम् । भावकरणे इति किम् ? रजन्त्यस्मिन्निति रङ्ग ।।52।।

स्यदो जवे ।। 4. 2. 53. ।।

स्यद इति स्यन्देर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते, जवे वेगेऽभिधेये । गोस्यदः, अश्वस्यदः । जव इति किम् ? घृतस्यन्दः तैलस्यन्दः ।।53।।

दश-नावोदैधौद्म-प्रश्रथ-हिमश्रथम् ।। 4. 2. 54. ।।

एते शब्दाः कृतनलोपादयो निपात्यन्ते । दन्शेरनटि अवपूर्वस्य उन्देः इन्धेश्च घञि उन्देर्मनि नलोपः प्रहिमपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि वृद्ध्यभावश्च निपात्यते । दशनम्, अवोदः, एधः, ओद्म, प्रश्रथः, हिमश्रथः ॥54॥

न्या०स०—दशनावो०-अवोद इति- अत्र गुणे कृते ``उपसर्गस्यानिणे०'' (1-2-19) इत्यऽकारलोपः ।

यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मनि-वनति-तनादेर्धुटि क्ङिति ॥ 4. 2. 55. ॥

यमिरमिनमिगमिहनिमनीनां वनतेस्तनादीनां च धुडादौ क्ङिति प्रत्यये परेऽन्तस्य लुग्भवति ।

यदः, यतवान्, यत्वा, यतिः, रतः, रतवान्, रत्वा, रतिः, नतः, नतवान्, नत्वा, नतिः, गतः, गतवान्, गत्वा, गतिः, हतः, हतवान्, हत्वा, हतिः, आहत, आहथाः । मनीति मन्यतेर्ग्रहणम् मनोतेस्तनादित्वेन सिद्धत्वात् । मतः, मतवान्, मत्वा, मतिः वतिः, क्तिः, तिकि तु प्रतिषेधं वक्ष्यति । तनादि-तनूयी-ततः, ततवान्, तत्वा, ततिः, सनोतेरात्वं वक्ष्यति । क्षणूग्-क्षतः, क्षतवान्, क्षत्वा क्षतिः, ऋणूयी-ऋतः, ऋतवान्, तृणूयी-तृतः, तृतवान्, घृणूयी-घृतः, घृतवान्, वनूयि-वतः, वतवान्, मनूयि-मतः, मतवान् ।

एषामिति किम् ? शान्तः, दान्तः । तिव्गणनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । वंवान्तः, तंतान्तः । अन्यत्र भवति, यंयतः, रंरतः, नंनतः, जंगतः, जंघतः, मंमतः । धुटीति किम् ? यम्यते, यंयम्यते । क्ङितीति किम् ? यन्ता, रन्ता ॥55॥

न्या०स०—यमिरमि०-हतिरिति—``सातिहेति'' (5-3-94) इति बाधनार्थं श्रवादिभ्यः क्तिः । *वतिरिति-*क्तक्तवतू न दर्शितौ इट् प्राप्तेः, क्तौ तु नियमान्नेट् । *जंघत इति-*कुटिलं हतः, यङ्लुप् द्वित्वं मुरन्तः, ``अङे हिहनः'' (4-1-34) इति घः, गत्यर्थत्वाद् घ्नीर्न भवति, केचित्तु यङ्लुपि घ्नीं नेच्छन्ति तन्मते वधार्थोऽपि ।

यपि ॥ 4. 2. 56. ॥

एषां धातूनामन्तस्य यपि परे लुग्भवति । ``वामः'' (4-2-57) इति वचनान्नान्तानामेवायं विधिः । हन्-प्रहत्य, मन्-प्रमत्य, वनति-प्रवत्य, तनादि-प्रतत्य, प्रसत्य, प्रक्षत्य । यपीति

किम् ? हन्यते, वन्यते, तन्यते ।।56।।

वामः ।। 4. 2. 57. ।।

एषां मकारान्तानां यपि प्रत्ययेऽन्तस्य वा लुग्भवति । प्रयत्य, प्रयम्य, विरत्य, विरम्य, प्रणत्य, प्रणम्य, आगत्य, आगम्य । एषामित्येव, उपशम्य ।।57।।

गमां क्वौ ।। 4. 2. 58. ।।

एषां गमादीनां यथादर्शनं क्वौ क्ङिति प्रत्ययेऽन्तस्य लुग्भवति । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।

जनं गच्छति जनंगत्, कलिङ्गगत्, यम्-संयत्, वियत्, तन्-परीतत्, उपातत्, सन् सुसत्, मन्-सुमत्, वन्-सुवत्, क्षण-सुक्षत्, विक्षत् । अग्रेगूरित्यौणादिको ड्रः ।।57।।

*न्या०स०—गमांक्वौ-गमादीनामिति-*गमादयोऽन्येऽपि बहुलं ज्ञेया, न तु ``यमिरमि'' (4-2-55) इति सूत्रोक्ता एव गमादिगणस्य तेभ्यः पृथग्भूतत्वात्, अत एव सूत्रे यमामित्येव नोक्तं, रमिनमिहनीनामुदाहरणानि च न दर्शितानि ।

न तिकि दीर्घश्च ।। 4. 2. 59. ।।

एषां तिकि प्रत्यये लुग् दीर्घश्च न भवति । यन्तिः, रन्तिः, नन्तिः, गन्तिः, हन्तिः, मन्तिः, वन्तिः, तन्तिः । क्षणिति लाक्षणिकोऽयं णकारः-तेन क्षन्तिरिति भवति । अन्यस्त्वौपदेशिकोऽयमिति मन्यते तन्मते क्षण्टिः । अन्तलोपे प्रतिषिद्धे ``अहन्पञ्चम'' (4-1-107) इत्यादिना दीर्घत्वं प्राप्तं तदपि प्रतिषिध्यते । एषामित्येव, शान्तिर्भगवान् । तिकीति किम् ? यतिः, रतिः, ततिः ।।59।।

*न्या०स०—न तिकि०—तेनक्षन्तिरितोति-*नान्तप्रकृतेर्णत्वबाधनाय म्नामिति बहुवचनात् प्रथममेव नकार, म्नामिति बहुवचनाण्णत्वं कृतमपि वर्गान्ते कर्त्तव्ये निवर्त्तते वा, अत्र सूत्रे यमादयो गमादयश्च गृह्यन्ते, न त्वनन्तरसूत्रोक्ताः द्वयोरपि प्राप्तेः संभवात् ।

आः खनि-सनि-जनः ।। 4. 2. 60. ।।

खनादीनां धुडादौ क्ङिति प्रत्यये परेऽन्तस्याकारादेशो भवति ।

खातः, खातवान्, खात्वा, खातिः, सन्–`षणूयी दाने वनषण भक्तौ वा । सातः, सातवान्, सात्वा, सातिः, जन्-जातः, जातवान्, जात्वा, जातिः । क्ङितीत्येव,–चंखन्ति, संसन्ति, जंजन्ति ।।60।।

न्या०स०–आः खनि-खात इति-खायते स्म खन्यते स्मेति वा ``क्त'' (5-1-174) इति वा क्ते ``वेटोऽपतः'' (4-4-62) इडऽभावः । सात्वेति-षणूयी दान इत्यस्यैवायं प्रयोगः, षण भक्ता-वित्यस्य सनित्वैव । *चंखन्तीत्यादि*-तसि च चङ्खातः संसातः जंजातः, सनि*सिसनिषतीति*, सनोतेः सनतेर्वा ``णिस्तोरेव'' (2-3-37) इति नियमान्न षत्वम् ।

सनि ।। 4. 2. 61. ।।

खनादीनां धुडादौ सनि परतोऽन्तस्यात्वं भवति । सिषासति, खनिजनोरिटा भवितव्यमिति धुडादिः सन्न भवति । धुटीत्येव, सिसनिषति–``इवृध'' (4-4-49) इत्यादिना वेट् । क्ङितीत्यसंभवादिह न संबध्यते ।।61।।

ये नवा ।। 4. 2. 62. ।।

खनादीनां ये क्ङिति प्रत्ययेऽन्तस्याकारो वा भवति । खायते, खन्यते, चाखायते, चंखन्यते, प्रखाय, प्रखन्य, सायते, सन्यते, सासायते, संसन्यते, प्रसाय, प्रसन्य, प्रसत्य, जायते, जन्यते, जाजायते, जंजन्यते, प्रजाय, प्रजन्य । श्ये तु ``जा ज्ञाजनोऽत्यादौ'' (4-2-14) इति नित्यं जादेशः जायते ।

य इत्यकारान्तनिर्देशादिह न भवति । खन्यात्, सन्यात्-अन्यथा योति क्रियेत । केचिदत्रापीच्छन्ति खायात्, सायात् । क्ङितीत्येव, सान्यम्, जन्यम् ।।62।।

न्या०स०–ये नवा–प्रसायेत्युभयोः प्रसन्येति भक्त्यर्थस्य प्रसत्येति तु दानार्थस्य तनादित्वेन न लोपात् ।

तनः क्ये ।। 4. 2. 63. ।।

तनोतेरन्तस्य क्य परे आकारो वा भवति । तायते, तन्यते । क्य इति किम् ? तन्तन्यते ।।63।।

तौ सनस्तिकि ॥ 4-2-64 ॥

सनित्येतस्य तिकि प्रत्यये परे तौ लुगाकारौ वा भवतः । षणू, सतिः, सातिः, सन्तिः, षण् भक्तौ सतिः, सातिः, सान्तिः । ``अहन्पञ्चम–'' (4-1-107) इत्यादिना दीर्घः ॥64॥

वन्याङ्पञ्चमस्य ॥ 4. 2. 65. ॥

धातोः पञ्चमस्य वनि प्रत्यये परे आकारो भवति । आङिति आकारान्तरप्रश्लेषादननुनासिकोऽनुनासिकश्चायमादेशः। अन्यथा ``लि लौ'' (1-3-66) इति ज्ञापकादननुनासिक एव स्यात् ।

जन् विजावा, खन् विखावा, क्रम् दधिक्रावा, गम् अग्रेगावा, घुण् ध्वावा, घूर्ण घूरावा, ओणृ अवावा, इवु व्याप्तौ च । वनि–``य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक्'' (4-4-122) इति वलोपे नकारस्यात्वे यावा । पुनराग्रहणं ताविति नवेति च निवृत्त्यर्थम् । ङित्करणं ध्वावेत्यादौ गुणनिषेधार्थम् ॥65॥

न्या०स०–वन्याङ्०–आकारान्तरप्रश्लेषादिति-आश्चाऽसावाङ् च यद्वा आश्च आश्च तयोरनुबन्धी ङ् इति ।

अपाच्चायश्चिः क्तौ ॥ 4. 2. 66. ॥

अपपूर्वस्य चायतेः क्तिप्रत्यये चिरादेशो भवति । अपचितिः ॥66॥

ह्लादो ह्रद् क्तयोश्च ॥ 4. 2. 67. ॥

ह्लादतेः क्तक्तवत्वोः क्तौ च परतो ह्लद् आदेशो भवति । ह्लन्न, ह्लन्नवान्, प्रह्लन्नः प्रह्लन्नवान्, हलत्तिः, प्रह्लत्तिः । क्तयोश्चेति किम् ? ह्लादित्वा ॥67॥

ऋल्वादेरेषां तो नोऽप्रः ॥ 4. 2. 68. ॥

पृवर्जितादॄकारान्ताद्धातोर्ल्वादिभ्यश्च परेषामेषां क्तिक्तक्तवतूनां तकारस्य नकार आदेशो भवति ।

तॄ-तीर्णिः तीर्णः, तीर्णवान्, कॄ-कीर्णिः, कीर्णः, कीर्णवान्, गॄ-गीर्णिः, गीर्णः,

गीर्णवान्, ल्वादि-लूनिः, लूनः, लूनवान्, धूनिः धूनः, धूनवान्, लीनिः, लीनः, लीनवान्। अप्र इति किम् ? पूर्तिः । पूर्णिरित्यपि कश्चित्,–पूर्तः, पूर्तवान् । ल्वादिषु ये ॠकारान्ता स्तॄदॄप्रभृतयस्तेषामॄग्रहणेनैव सिद्धे तत्र पाठः प्वादिकार्यार्थः । क्राद्यन्तर्गणो ल्वादिः ॥68॥

न्या०स०–ॠल्वादे०-पूर्णिरित्यपीति-ते ह्युत्तरसूत्रेऽप्र इति कुर्वन्ति, तत्र च सूत्रे क्तयोरेव नत्वनिषेधः, क्तौ तु ``ॠल्वादेः'' (4-2-68) इति भवत्येव । ननु ॠकारान्तानामिरादेशे रेफान्तत्वादुत्तरेण भविष्यति किं ॠग्रहणेन ? सत्यं, उत्तरेण क्तयोर्भवति, अनेन तु क्तिक्त-क्तवतुषु, अथ क्त्यर्थं ॠतां क्तावित्युच्येत, तर्हि ॠतां क्तावेव स्यात् क्तयोस्तूत्तरेणापि न स्यात् ।

रदादमूर्च्छमदः क्तयोर्दस्य च ॥ 4. 2. 69. ॥

मूर्च्छिमदिवर्जिताद्रेफदकारान्ताद्धातोः परस्य क्तयोः क्तक्तवत्वोस्तकारस्य तत्संनि-योगे धातुदकारस्य च नकारो भवति ।

पूरै-पूर्णः, पूर्णवान्, गुरै-गूर्णः, गुर्णवान्, भिद्-भिन्नः, भिन्नवान्, छिद्-छिन्नः, छिन्नवान् । रदादिति किम् ? चितः, चितवान् । अमूर्च्छमद इति किम् ? मूर्तः, मूर्तवान्, मत्तः, मत्तवान् । कृतस्यापत्यं कातिरित्यत्र ❈ *'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'* ❈ इति न भवति । क्तयोरिति किम् ? पूर्तिः, भित्तिः । कथं चूर्णिः ? चुरेरौणादिको णिः ।

रदस्येति किम् ? चरितम्, उदितम् । इटा व्यवधाने न स्यात् । कृतः कृतवानित्यत्र तु वर्णैकदेशानां वर्णग्रहणेनाग्रहणान्न भवति । रेफात्परेण स्वरभागेण व्यवधानाद्वा, ॠकारस्य हि मध्येऽर्धमात्रो रेफः अग्रेपश्चाच्च तुरीयः स्वरभागः प्रतिज्ञायते । भिन्नवद्भ्यामित्यत्र प्रत्ययदकारस्य परेऽसत्त्वात् सूत्रे चाश्रुतत्वान्न भवति । कथं चीर्णः चीर्णवानिति ? चॄ इति धात्वन्तरं चरतिसमानार्थम् क्तक्तवतुविषयमामनन्ति ॥69॥

न्या०स०–रदादमूर्छ०–असिद्धं बहिरङ्गमिति-आर्रूपमित्यर्थः । वर्णग्रहणेनाऽग्रहणा-दिति-ॠकारलक्षणो वर्णः तस्य एकदेशो रेफो वर्णग्रहणेन न गृह्यते, कस्मात् ? असन्निधानात्, यतो दकारः स्वतन्त्र एव वर्णोऽत्राऽस्त्यऽतो रेफोऽपि स्वतन्त्र एव ग्राह्यः ।

प्रतिज्ञायते इति-पूर्वाचार्यैर्निश्चीयते न तु लेखितुं शक्यते ।

प्रत्ययदकारस्येति–``धुटस्तृतीयः'' (2-1-76) इति विहितस्य । *सूत्रे चाऽश्रुतत्वादिति*-रदादिति धातुदकारस्यैव भणनादित्यर्थः ।

क्तक्तवतुविषयमिति—तेन चर्यते स्मेति धात्वन्तरेण वाक्यम् ।

सूयत्याद्योदितः ॥ 4. 2. 70. ॥

सूयत्यादिभ्यो नवभ्यो धातुभ्य ओकार इद्येषां तेभ्यश्च परस्य क्तयोस्तकारस्य नकारादेशो भवति ।

षूङौच्-सून: सूनवान्, दृङ्च्-दून:, दूनवान्, दीङ्च्-दीन:, दीनवान्, धीङ्च्- धीन:, धीनवान्, मीङ्च्-मीन:, मीनवान्, रीङ्च्–रीण:, रीणवान्, लींङ्च्-लीन:, लीनवान्, डीङ्च्-डीन:, डीनवान्, व्रीङ्च्-व्रीण: व्रीणवान् इति सूयत्यादय: । ओदित्ओ लजैङ् ओलस्जैति वा लग्न:, लग्नवान्, ओविजैति, उद्विग्न:, उद्विग्नवान् । ओप्यायैङ् पीन:, पीनवान्, ट्वोश्वि-शून:, शूनवान्, ओव्रश्चौत्-वृक्ण:, वृक्णवान् । एभ्य इति किम् ? पीत:, पीतवान्, सूयतीति श्यनिर्देश: सूतिसुवत्योर्निवृत्त्यर्थ: ॥70॥

व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्य: ॥ 4. 2. 71. ॥

ख्याध्यावर्जितस्य धातोर्यद्व्यञ्जनं तस्मात्परा याऽन्तस्था तस्या: परो य आकारस्त-स्मात्परस्य क्तयोस्तकारस्य नो भवति ।

स्त्यान:, स्त्यानवान्, निद्राण:, निद्राणवान्, ग्लान: ग्लानवान् । व्यञ्जनेति किम् ? यात:, यातवान् । अन्तस्थेति किम् ? स्नात:, स्नातवान् । आत इति किम् ? च्युत: च्युतवान्, द्रुत:, द्रुतवान्, प्लुत:, प्लुतवान् । धातुना व्यञ्जनस्य विशेषणादिह न भवति । निर्यात:, निर्यातवान् । द्विर्भावेप्यन्तस्थेत्यभेदाश्रयणाद्बहिरङ्गत्वेनासिद्धेश्च न भवति । अख्याध्य इति किम् ? ख्यात: ख्यातवान्, ध्यात:, ध्यातवान् । आत: परस्येति किम् ? दरिद्रित:, दरिद्रितवान् ॥71॥

न्या०स०—व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्य:—ख्याश्च ध्याश्चेति कृते यदा क्लीबे ह्रस्वस्तदा ङसोऽत: सूत्रत्वाल्लुप् । *बहिरङ्गत्वेनेति*-उपसर्गद्विपदाश्रयत्वाद् बहिरङ्गं यकारस्य द्वित्वं । *आत: परस्येति किमिति* ननु आत इति किमित्यऽनयापि व्यावृत्त्या सिद्धं किमनया ? सत्यं, तत्राकारात् विहित एव नास्ति, अत्र त्वाकाराद्विहित: परमिटा व्यवहित: ।

पूदिव्यञ्चेर्नाशाद्यूतानपादाने ॥ 4. 2. 72. ॥

पू दिव् अञ्च् इत्यतेभ्यो यथासंख्यं नाशेऽद्यूते अनपादाने चार्थे परस्य क्तयोस्तकारस्य

नकारादेशो भवति । पूना यवा विनष्टा इत्यर्थः ।

आद्यूनः, परिद्यूनः, समक्नौ शकुनेः पक्षौ संगतावित्यर्थः नाशाद्यूतानपादान इति किम् ? पूतं धान्यम्, द्यूतं वर्तते उदक्तमुदकं कूपात्, कथं व्यक्तम् ? अञ्जेर्भविष्यति ।।72।।

*न्या०स०—पूदिव्य०—*अनपादाने चार्थे इति-कोऽर्थः ? अश्विवाच्या क्रिया यद्यप्य-पादानसाधनिका न भवतीत्यर्थः ।

सेर्ग्रासे कर्मकर्तरि ।। 4. 2. 73. ।।

सिनोतेः सिनातेर्वा परस्य क्तयोस्तकारस्य ग्रासे कर्मणि कर्तृत्वेन विवक्षिते नकारो भवति । सिनो ग्रासः स्वयमेव । ग्रास इति किम् ? सितं कर्म स्वयमेव । कर्मकर्तरीति किम् ? सितो ग्रासो मैत्रेण, सितो गलो ग्रासेन ।।73।।

क्षेः क्षी चाध्यार्थे ।। 4. 2. 74. ।।

घ्यणर्थो भावकर्मणी ततोऽन्यस्मिन्नर्थे विहितयोः क्तयोस्तकारस्य क्षि इत्येतस्मा-त्परस्य नकारो भवति तत्संनियोगे चास्य क्षी इत्ययमादेशो भवति ।

कर्तरि-क्षीणः क्षीणवान् मैत्रः । अधिकरणे, 'इदमेषां क्षीणम्' । अध्यार्थ इति किम् ? क्षितमस्य' भावे क्तः क्षिंष्श् हिंसायामित्यस्य सानुबन्धत्वान्न ग्रहणम्, अन्यस्तु तस्यापि ग्रहणमिच्छति ।।74।।

वाक्रोशदैन्ये ।। 4. 2. 75. ।।

आक्रोशे दैन्ये च गम्यमाने क्षेः परस्याघ्यार्थे क्तयोस्तकारस्य वा नकारादेशो भवति, तत्संनियोगे च क्षी इत्ययमादेशो भवति ।

आक्रोशे क्षीणायुः क्षितायुर्वा जाल्मः, दैन्ये क्षीणकः, क्षितकः तपस्वी । अघ्यार्थ इत्येव, —'क्षितं जाल्मस्य' क्षितं तपस्विनः । कश्चित्तु भावेऽपि विकल्पमिच्छति । क्षीणमनेन, क्षितमनेन-क्षेर्भावकर्मणोर्भाषायां क्त एव नास्तीति कश्चित् ।।75।।

*न्या०स०—वाक्रोशदैन्ये—*आक्रोशश्च दैन्यं चेति कृते विरोधिनामेव अद्रव्याणामेवेति समाहाराऽप्राप्तौ सूत्रत्वात् समाहारः, विशेषणसमासो वा ।

क्षितं जाल्मस्येति ``वा क्लीबे'' (2-2-92) इति षष्ठी । *भाषायामिति*-लक्षणशास्त्रे न

भवति, किन्तु छन्दस्येवेत्यर्थः ।

ऋ-ही-घ्रा-ध्रा-त्रोन्द-नुद विन्तेर्वा ॥ 4. 2. 76. ॥

एभ्यः परस्य क्तयोस्तकारस्य नकारो वा भवति ।

ऋ—ऋणम्, ऋतम्, ही,—ह्रीणः, ह्रीणवान्, ह्रीतः, ह्रीतवान् । घ्रा, घ्राणः, घ्राणवान्, घ्रातः, घ्रातवान् । ध्रा, ध्राणः, ध्राणवान्, ध्रातः. ध्रातवान् । त्राः त्राणः, त्राणवान्, त्रातः, त्रातवान् । उन्द, समुन्नः समुन्नवान्, समुत्तः, समुत्तवान् । नुद्, नुन्नः, नुन्नवान्, नुत्तः नुत्तवान् । विदिष् विचारणे विन्नः, विन्नवान्, वित्तः, वित्तवान् । विदः श्नर्निर्देशाद्विद्यतेविन्दतेश्च नित्यं नकारः । विन्नः विन्नवान् । प्रथमाभ्यामप्राप्ते घ्रादिभ्यस्तु प्राप्ते विकल्पः । तेन दकारान्तानां दस्यापि पूर्वेण नत्वं भवति । तकारनत्वाभावपक्षे च संनियोगशिष्टत्वाद्दस्यापि नकारो न भवति । व्यवस्थितविभाषेयम्, तेन ऋणमित्युत्तमर्णाधमर्णयोरेव । अन्यत्र ऋतं सत्यम्, त्रायतेस्तु संज्ञायां न भवति । त्रातः, देवत्रातः, अन्यत्र तु नत्वम्, त्राणः, उभयमित्येके ॥76॥

न्या०स०—ऋह्रोघ्राध्रा०-तेप्रत्ययान्तमाख्यातपदमनुक्रियते, ``इकिस्तिव्'' (5-3-138) इति श्तिव्प्रत्ययान्तस्य तु न विनत्तीति रूपं स्यात् । *देवत्रात इति*-त्रासीष्ट देवता एनं त्रासीरन्निति वा ``तिक्कृतौ नाम्नि'' (5-1-71) इति क्तः । *उभयमित्येके इति*-असंज्ञायां नत्वं नाऽभावश्च संज्ञायां तु नत्वाभाव एवेत्यर्थः ।

दुगोरू च ॥ 4. 2. 77. ॥

दुगु इत्येताभ्यां परस्य क्तयोस्तकारस्य नकारादेशो भवति तत्संनियोगे च अनयोरूकारश्चान्तादेशो भवति । दूनः, दूनवान्, गूनः गूनवान् ॥77॥

दौ-शुषि-पचो म-क-वम् ॥ 4. 2. 78. ॥

क्षैशुषिपचिभ्यः परस्य क्तयोस्तकारस्य यथासंख्यं म क व इत्येते आदेशा भवन्ति । क्षामः, क्षामवान्, शुष्कः, शुष्कवान्, पक्वः, पक्ववान् ॥78॥

निर्वाणमवाते ॥ 4. 2. 79. ॥

निर्वाणमिति निर्पूर्वाद्वाधातोः परस्य क्ततकारस्य नकारो निपात्यते, अवाते कर्तरि वातश्चेन्निर्वातिक्रियायाः कर्ता न भवति । निर्वाणो मुनिः, निर्वाणो दीपः ।

अवाते इति किम् ? निर्वातो वातः, निर्वातं वातेन भावेऽपि वात एव कर्ता, निर्वाणः प्रदीपो वातेनेत्यत्र तु प्रदीपः कर्ता । वातस्तु हेतुः करणं वेति प्रतिषेधो न भवति । केचित्तु निर्वाणं वातेनेतीच्छन्ति, तेषां वाते कर्तरि प्रत्यये सति प्रतिषेध इति द्रष्टव्यम् ।।78।।

न्या०स०–निर्वाणमवाते-अवाते कर्त्तरीति-अकर्म्मकत्वात्कर्त्ता लभ्यते । *कर्त्तरिप्रत्यये सतीति*-अत्र तु भावे क्तः ।

अनुपसर्गाः क्षीबोल्लाघ-कृश-परिकृश-फुल्लोत्फुल्ल-संफुल्लाः ।। 4. 2. 80. ।।

अनुपसर्गाः क्तप्रत्ययान्ता एते शब्दा निपात्यन्ते । क्षीबृङ् मदे, उत्पूर्वो लाघृङ सामर्थ्ये, कृशच् तनुत्वे केवलः परिपूर्वश्च, एभ्यः परस्य क्ततकारस्य लोप इडभावश्च निपात्यते ।

क्षीबः, उल्लाघः, कृशः, परिकृशः, 'ञिफला विशरणे' इत्यस्मात्केवलादुत्संपूर्वाच्च परस्य क्तस्य लादेशो भावारम्भविवक्षायामिडभावश्च निपात्यते । फुल्लः, उत्फुल्लः, संफुल्लः । केचित्तु क्षीबवान्, उल्लाघवान्, कृशवान्, परिकृशवान्, फुल्लवान्, उत्फुल्लवान्, संफुल्लवान् इति क्तवतावपि रूपमिच्छन्ति तदर्थं क्तक्तवत्वोस्तशब्दावधि निपातनं द्रष्टव्यम्, एतदर्थमेव बहुवचनम् ।

अनुपसर्गाः इति किम् ? प्रक्षीबितः, प्रोल्लाघितः, प्रकृशितः, संपरिकृशितः, प्रफुल्लः । निपातनस्येष्टविषयत्वात् फलनिष्पत्तौ फलितः, फलितवान् । क्षीबादयः शब्दाः केनाचापि च सिध्यन्ति, क्षीबित इत्यादिरूपनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् । कथं प्रक्षीबः ? प्रगतः क्षीबः इति ? प्रादिसमासाद्भविष्यति ।।80।।

न्या०स०–अनुपसर्गाः०–भावारंम्भविवक्षायामिति-अयमर्थः, यदा भावारम्भाविवक्षा तदा ''आदितः'' (4-4-71) इति नित्यमिडऽभावः, यदा तु भावारम्भविवक्षा तदा ''नवा भावारम्भे'' (4-4-72) इति विकल्पेनेट् स्यात् निपातसामर्थ्याच्च नित्यं निषिध्यते ।

फलनिष्पत्ताविति– उपलक्षणत्वात् फल गतावित्यस्यापि ।

भित्तं शकलम् ।। 4. 2. 81. ।।

भिदेः परस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते शकलम् शकलपर्यायश्चेद्भित्तशब्दो भवति । भित्तम् शकलमित्यर्थः । शकलमिति किम् ? भिन्नम् । शकलमिति पर्यायनिर्देशः किम् ?

भिदिक्रियाविवक्षायां शकले विषये भिन्नमित्येव यथा स्यात् । भिन्नं शकलम् भिन्नं भितम् ।।81।।

न्या०स०—भित्तं शकलम्-भिन्नं शकलमिति-वर्त्तते किं तत् शकलं ? किं विशिष्टं भिन्नं ? द्विधाकृतमिति विशेषणशब्दोऽत्र भिन्नशब्दः, यदि पुनः पर्यायशब्दः स्यात्तदा शकलस्याप्रयोगः स्यात्, पर्यायाणां हि प्रयोगो यौगपद्येन नेष्यते इति वचनात् ।

भिन्नं भित्तमिति-भित्तं शकलमित्यर्थः ।

वित्तं धनप्रतीतम् ।। 4. 2. 82. ।।

विन्दतेः परस्यक्तस्य नत्वाभावो निपात्यते, धनप्रतीतम् धनपर्यायः प्रतीतपर्यायश्च चेद्वित्तशब्दो भवति । विद्यते लभ्यते इति वित्तम् धनम्, विद्यते उपलभ्यतेऽसाविति वित्तः प्रतीतः । धनप्रतीतमिति किम् ? विन्नः, वेत्तेर्विदितम् । विन्तेर्विन्नं वित्तं च, विद्यतेर्विन्नम् । वित्तं धने प्रतीते च विन्दतेविन्नमन्यत्र ।।82।।

हुधुटो हेर्धिः ।। 4. 2. 83. ।।

जुहोतेर्धु डन्ताच्च धातोः परस्य हेधिरादेशो भवति । जुहुधि, धुट् छिन्धि, भिन्धि, अद्धि, विद्धि । हुधुट इति किम् ? क्रीणीहि । हुधुड्भ्यां परत्वेन हेर्विशेषणादिह न भवति । रुदिहि, स्वपिहि । हेरिति किम ? जुहोतु, अत्तु । जुहुतात्त्वम् भित्तात्त्वमित्यत्र नित्यत्वा-त्प्रकृत्यनपेक्षणेनान्तरङ्गत्वाच्च तातङ् । तस्य च न पुनर्धिभावो हेरिति शब्दाश्रयणात् । केचित्तु 'हिंसेर्हेरत्' हिंस, 'भुजिभञ्जिभ्यां तु वा' भुञ्ज भृङ्ग्धि, भञ्ज भङ्ग्धि इतीच्छन्तिनैतद्वैयाकरण-रूपसंमतम् । हिन्धि इत्याद्येव तु भवति ।।83।।

न्या०स०—हुधुटोहे०-हुधुड्भ्यां परत्वेनेति-एतत्तु न कृतं हुधुड्भ्यां विहितस्य हेः । *रुदिहीति*-आगमा यद्गुणीभूता इति न्यायादिट्सहितस्य हेरादेशः प्राप्तः स न भवति, हेरिति व्यक्त्याश्रयणात्, केवलस्य तु हुधुट्भ्यां परत्वेनेति भणनात् न भवति । *हिन्धीति*-अत्र ''सोधि वा'' (4-3-72) इति वा सलुक्, तद्विकल्पे च ''तृतीयस्तृतीय'' (1-3-49) इति सस्य तु दः, तस्य च ''धुटो धुटि'' (1-3-48) इति वा लुप् तेन हिन्द्धीत्यपि ।

शासस्-हनः शाध्येधि-जहि ।। 4. 2. 84. ।।

शास् अस् हन् इत्येतेषां हिप्रत्ययान्तानां शाध्येधि जहि इत्येते आदेशा यथासंख्यं

भवन्ति । शाधि, एधि, जहि । शास्हनोः यङ्लुप्यपि शाधि, जहि, हनेस्तु यङ्लुपि नेच्छ-न्त्यन्ये ? जङ्घहि ।।84।।

*न्या०स०—शास्हन:०—*शास्हन्साहचर्यात् असिति आदादिकस्य ग्रहणम् ।

यङ्लुप्यपीति-अस्तेस्तु स्वरादित्वात् यङ् नास्ति, अथ णकादिविषये भू आदेशे यङ्लुप्संभवस्तदाप्यस्तीति व्यक्तिनिर्देशान्न भवति, यद्वा यदा हिप्रदानविवक्षा तदा बाहु-लकान्न यङ्लुप् ।

जंघहीति-गत्यर्थेऽत्र यङ् हिंसार्थे तु ``हनो घ्नी'' (4-3-99) इति स्यात्, ये तु ❁ तिवा शवा ❁ इति न्यायस्य सूत्रगणनिर्दिष्टेऽपि प्रवृत्तिमभ्युपगच्छन्ति ``यमिरमि'' (4-2-55) इति लुगभावं क्ङिति ``अहन्पञ्चम'' (4-1-107) इति हन्तेर्दीर्घत्वं चेच्छन्ति, तेषां हि जंघांहि तन्मते केवलस्यैव हनेर्वर्जनं न यङ्लुबन्तस्य ।

अतः प्रत्ययाल्लुक् ।। 4. 2. 85. ।।

धातोः परो योऽकारान्तः प्रत्ययस्तस्मात्परस्य हेर्लुग्भवति । दीव्य, पच, पठ, तुद, चोरय । अत इति किम् ? राघ्नुहि, प्राप्नुहि । प्रत्ययादिति किम् ? पयि वयि गतौ पापहि, वावहि ।।85।।

असंयोगादोः ।। 4. 2. 86. ।।

असंयोगात्परो य उकारस्तदन्तात्प्रत्ययात्परस्य हेर्लुग् भवति । सुनु, चिनु, कुरु । असंयोगादिति किम् ? अर्णुहि, अक्ष्णुहि । असंयोगादित्योर्विशेषणादिहापि न भवति आप्नुहि, राध्नुहि । ओरिति किम् ? क्रीणीहि । प्रत्ययादित्येव, —युहि, रुहि ।।86।।

न्या०स०—असंयो०-विशेषणादिति-यदि वा संयोगाद्य उकारान्तः प्रत्यय इति विशेषणं स्यात्तदाऽत्रापि भवेत् ।

वम्यविति वा ।। 4. 2. 87. ।।

प्रत्ययादिति ओरिति च पञ्चम्यन्तमपि व्यधिकरणषष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । असंयोगात्परो य उकारस्तस्य प्रत्ययसंबन्धिनो लुग् वा भवति, वकारादौ मकारादौ चाविति प्रत्यये ।

सुन्वः, सुनुवः, सुन्मः, सुनुमः, सुन्वहे, सुनुवहे, सुन्महे, सुनुमहे, तन्वः, तनुवः, तन्मः, तनुमः, तन्वहे, तनुवहे, तन्महे, तनुमहे । वमीति किम् ? सुनुतः, तनुतः । अवितीति किम् ? सुनोमि, तनोमि । ओरित्येव,–क्रीणीवः, प्रीणीमः । प्रत्ययस्येत्येव, युवः युमः । असंयोगादित्येव, –तक्ष्णुवः, तक्ष्णुमः, अर्णुवः, अर्णुमः । असंयोगादित्योर्विशेषणादिहापि न भवति । आप्नुवः, आप्नुमः ॥87॥

कृगो यि च ॥ 4. 2. 88. ॥

कृगः परस्याकारस्य यकारादौ वमि चाविति प्रत्यये लुग्भवति । कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः, कुर्वः, कुर्मः कुर्वहे, कुर्महे । यि वेति किम् ? तनु, कुरुतः । अवितीत्येव, करोमि । कुर्मीत्यपि कश्चित्तदसंमतम् । कृंगृ हिंसायामित्यस्मात्तु नकारव्यवधानात् उः परो न संभवतीति न भवति । कृणुयात्, कृणुवः, कृणुमः ॥88॥

न्या०स०–कृगोयि च-अव्यभिचारात् प्रत्यय इति नाधिचक्रे ।
उः परो न संभवतीति-न चैतद् वाच्यं येन नाव्यवधानं यतःकुर्यादित्यादावव्यवहितोऽस्ति ।

अतः शित्युत् ॥ 4. 2. 89. ॥

शित्यविति प्रत्यये य उकारः तन्निमितो यः कृगोऽकारस्तस्योकारो भवति ।

कुरुतः, कुर्वन्ति, कुरु, कुरुताम्, कुर्यात्, अकुरुताम्, कुर्वन्, कुर्वाणः । उविधानबलाद् गुणो न भवति-ओकार एवान्यथा विधीयेत । उकारनिमित्तत्वेनाकारविज्ञानात्, कुर्यादित्यादावुकारलोपेऽपि भवति, अडागमस्य च न भवति-अकुरुत । शितीत्युकारस्य विशेषणं किम् ? कुरुत इत्यादौ शिति व्यवहितेऽपि यथा स्यात् । अवितीत्येव, करोति ॥89॥

न्या०स०–अतः शि०-तन्निमित्त इति एवं सति कुरु इत्यादौ विभक्तिलोपेऽपि भवति । *गुणो न भवतीति*-उकारे निमित्ते ``लघोरुपान्त्यस्य'' (4-3-4) इति प्राप्तः । *व्यवहितेऽपीति*-अन्यथा कुर्यादित्यादावेव स्यात्, न च ``स्वरस्य'' (7-4-110) इति स्थानित्वे व्यवधायकत्वं वाच्यमस्या अनित्यत्वात् ।

श्नास्त्योर्लुक् ॥ 4. 2. 90. ॥

श्नस्य प्रत्ययस्यास्तेश्च धातोः संबन्धिनोऽकारस्य शित्यविति प्रत्यये लुग्भवति । रुन्धः,

रुन्धन्ति, रुन्ध्यात्, रुन्धन्, रुन्धानः, स्तः सन्ति, स्थः, स्थ, स्वः, स्मः, स्यात्, स्तात्, स्ताम्, सन् ।

अवितीत्येव-रुणद्धि, अस्ति । अत इत्येव, अन्त्यस्य मा भूत् । आस्ताम्, आसन् । तिवनिर्देशः किम् ? अस्यतेर्माभूत् अस्यतः ॥90॥

न्या०स०— श्नास्त्यो०-अन्त्यस्य मा भूदिति-अत इत्यधिकाराभावे षष्ठ्यान्त्यस्येति अस्तेः सस्य लुप् स्यात्, श्नस्य तु प्रत्ययस्येति परिभाषया सर्वस्यापि स्यात् ।

वा द्विषातोऽनः पुम् ॥ 4. 2. 91. ॥

द्विष आकारान्ताच्च धातोः परस्य शितोऽवितोऽनः स्थाने वा पुसादेशो भवति । अद्विषुः, अद्विषन्, अयुः, अयान्, अरुः, अरान्, अलुः, अलान् । अदधुरित्यत्र परत्वान्नित्यमेव, पकारः ``पुस्पौ'' (4-3-3) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥91॥

सिज्विदोऽभुवः ॥ 4. 2. 92. ॥

सिचः प्रत्ययाद्विदश्च धातोः परस्थानः स्थाने पुसादेशो भवति, 'अभुवः' न चेद्भुवः परः सिज्भवति । अकार्षुः, अहार्षुः, अगुः, अदुः, अधुः, अपुः, अस्थुः, विद्-अविदुः । अविदन्नित्यपि कश्चित् । अभुव इति किम् ? अभूवन् ॥92॥

न्या०स०— सिज्विदोऽभुवः—सिचः प्रत्ययादिति-भूवर्जनेन सिच् प्रत्ययो लभ्यते, अन्यथा षिचीत् इत्यस्य ग्रहणं स्यात्, अनः स्थाने इत्यधिकारेऽपि सिजित्युक्तेरद्यतन्या अन् लभ्यते, विदस्तु शिदेव अद्यतन्यां तु सिज् द्वारा अवेदिषुरिति ।

कश्चिदिति-तन्मते पूर्वसूत्रे विद्ग्रहणं ज्ञेयम् । *अभूवन्निति*-यदा यङ्लुबन्तस्तदापि ❊ *प्रकृतिग्रहणे* ❊ इति न्यायात् पुस् न भवति, नाप्युत्तरेण शितोऽभावात्ततोऽबोभूवन्निति भवति ।

द्व्युक्त-जक्षपञ्चतः ॥ 4. 2. 93. ॥

द्वे उक्ते यस्य द्व्युक्तः, पञ्चानां वर्गः पञ्चत्, जक्षाणां पञ्चत् जक्षपञ्चत्, द्व्युक्ताद्धातोर्जक्षपञ्चतश्च परस्य शितोऽवितोऽनः स्थाने पुसादेशो भवति । अजुहवुः, अबिभयुः, अददुः, अनेनिजुः । भुवो यङ्लुपि अबोभवुः । जक्षादि-अजक्षुः, अदरिद्रुः, अजागरुः, अचकासुः, अशासुः ॥93॥

अन्तो नो लुक् ॥ 4. 2. 94. ॥

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः परस्य शितोऽवितोऽन्तः संबन्धिनो नकारस्य लुग्भवति ।

जुह्वति, जुह्वतु, जुह्वत्, जुह्वतौ, जुह्वतः, जुह्वतम्, ददति, ददतु, ददत्, ददती स्त्री कुले वा, जक्षति, जक्षतु, जक्षत् दरिद्रति, दरिद्रतु, दरिद्रत्, दरिद्रती स्त्री कुले वा, जाग्रति, जाग्रतु, जाग्रत्, चकासति, चकासतु, चकासत्, शासति, शासतु, शासत् ॥94॥

न्या०स०—अन्तो नो लुक्-ददती स्त्री कुले वेति-``अवर्णादश्नः'' (2-1-115) इत्यन्तादेशे न लुक् । जुह्वती इति तु नात्र ज्ञेयं नकारासंभवात्, ददती इत्यादौ तु भूतपूर्वकत्वेन स्थानित्वेन वाऽवर्णान्तत्वे संभवः ।

शौ वा ॥ 4. 2. 95. ॥

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः परस्यान्तो नकारस्य शिप्रत्यये वा लुग् भवति । ददति, ददन्ति, जक्षति, जक्षन्ति, दरिद्रति, दरिद्रन्ति, जाग्रति, जाग्रन्ति, चकासति, चकासन्ति, शासति शासन्ति, कुलानि शाविति किम् ? ददती दधती कुले ॥95॥

श्नश्चातः ॥ 4. 2. 96. ॥

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः श्नाप्रत्ययस्य च संबन्धिनः शित्यविति प्रत्यये परे आकारस्य लुग्भवति । मिमते, मिमताम्, अमिमत, संजिहते, संजिहताम्, समजिहत, यायति, यायतु दरिद्रति, दरिद्रतु । श्ना-क्रीणन्ति, क्रीणन्तु, अक्रीणन्, लुनते, लुनताम्, अलुनत, पुनते, पुनताम्, अपुनत । श्नश्चेति किम् ? यान्ति, वान्ति । आत इति किम् ? बिभ्रति, जक्षति अवितीत्येव, अजहाम्, अक्रीणाम् ॥96॥

एषामीर्व्यञ्जनेऽदः ॥ 4. 2. 97. ॥

एषां द्व्युक्तजक्षपञ्चत्श्नाप्रत्ययानामाकारस्य शित्यविति व्यञ्जनादौ परत ईकारो भवति, दासंज्ञं वर्जयित्वा

मिमीते, मिमीताम्, अमिमीत, दाव्दैवोर्यङ्लुपि दादीतः । दादीथः, लुनीतः लुनीहि, लुनीयात् । व्यञ्जने इति किम् ? मिमते, लुनन्ति । अद इति किम् ? दत्तः, धत्तः, दद्वः, दद्मः, दध्वः, दध्मः, दद्यात्, दध्यात् । अवितीत्येव,—जहाति, लुनाति । शितीत्येव,-संजिहासते ॥97॥

इर्दरिद्रः ॥ 4. 2. 98. ॥

दरिद्रतिर्व्यञ्जनादौ शित्यविति प्रत्यये परे आकारस्येकारो भवति । दरिद्रितः, दरिद्रिथः, दरिद्रिथ, दरिद्रिवः, दरिद्रिमः, दरिद्रियात् । व्यञ्जन इत्येव,—दरिद्रति । शितीत्येव,—दिदरिद्रासति, अवितीत्येवं,—दरिद्राति ॥98॥

भियो नवा ॥ 4. 2. 99. ॥

बिभेतेर्व्यञ्जनादौ शित्यविति प्रत्यये परेऽन्तस्येकारो वा भवति । बिभितः, बिभीतः, बिभिथः, बिभीथः, बिभियात्, बिभीयात्, यङ्लुपि,—बेभितः, बेभीतः । व्यञ्जन इत्येव, बिभ्यति, बिभ्यतु । शितीत्येव,—बिभीषति, बेभीयते । अवितीत्येव,—बिभेति, बिभेषि ॥99॥

हाकः ॥ 4. 2. 100. ॥

जहातेद्र्व्युक्तस्य व्यञ्जनादौ शित्यविति प्रत्यये परेऽन्तस्येकारो वा भवति । जहितः, जहीतः, जहिथः, जहीथः, जहिवः, जहीवः, जहिमः, जहीमः । व्यञ्जन इत्येव,—जहति, जहतु । शितीत्येव,—जिहासति, जेहीयेते ।

अवितीत्येव—जहाति, जहासि । अनुबन्धनिर्देश ओहाङ्यङ्लुपोर्निवृत्त्यर्थः । उज्जिजहीते, संजिहीते, जहीतः । योगविभाग उत्तरार्थः ॥100॥

न्या०स०—हाकः-द्व्युक्तस्येति-अत्र द्व्युक्ताधिकृतिं विना द्विर्वचनात् प्रागेव इत्वं स्यात्, यतो हल्निमित्तं ततश्च प्राक्तु स्वर इति नोदेति ।

आ च हौ ॥ 4. 2. 101. ॥

अवितीति निवृत्तम्, वितोऽसंभवात्, शितीति त्वनुवर्तते । द्व्युक्तस्य जहातेहौ परे आकार इकारश्च वा भवति । जहाहि, जहिहि, जहीहि ॥101॥

न्या०स०—आ च हौ-हाक इति सूत्रे जहातिर्द्व्युक्तो गृह्यते, इह उत्तरत्र च स एवानुवर्त्यते । *इकारश्चेति*-चेत्यकृते तत्र कौण्डिन्यन्यायेन ईर्न स्यात् ।

यि लुक् ॥ 4. 2. 102. ॥

यकारादौ शिति प्रत्यये परे जहातेरन्तस्य लुग्भवति । जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः । शितीत्येव,—जेहीयते, हेयात् । वेति निवृत्तम् ॥102॥

न्या०स०–यि लुक् - लुञ्चनं ``क्रुत्संपदा'' (5-3-114) इति क्विपि स्त्र्युक्त इति स्त्रीत्वम् । लवनं ``द्रागादयः'' 870 (उणादि) इति लुक् पुंस्त्वं, एवं लुम्पनं ``क्रुत्संपदा'' (5-3-114) इति क्विपि स्त्रीत्वम् । ``गृपॄदुर्वी'' 943 (उणादि) इति क्विपि पुंस्त्वम् ।

वेति निवृत्तमिति-इकाराधिकारे वाधिकृतः, इह लुग्विधीयते, अतो निवृत्तः ।

ओतः श्ये ।। 4. 2. 103. ।।

धातोरोकारस्य श्ये परे लुग्भवति । दो-अवद्यति, सो-अवस्यति, शो-निश्यति, छो-अवच्छ्यति । श्य इति किम् ? गौरिवाचरति गवति ।।103।।

जा ज्ञाजनोऽत्यादौ ।। 4. 2. 104. ।।

ज्ञा जन् इत्येतयोः शिति प्रत्यये परे जा इत्ययमादेशो भवति `अत्यादौ' तिवादिश्चे-दनन्तरो न भवति । जानाति, जानीते, जानन्, जानानः, जन्-जायते, जायमानः । शितीत्येव, ज्ञायते, जन्यते । अत्यादाविति किम् ? जाज्ञाति, जञ्जन्ति ।।104।।

न्या०स०–जाज्ञाजनो०-जाज्ञातीति-यङ्लुपि रूपं, शतरि तु ज्ञाजनोर्द्वयोरपि जत् इति । कया युक्त्या यङ्लुपि जाज्ञातीति जञ्जन्तीति वाक्ये शतरि ``जाज्ञा'' (4-2-104) इति जादेशे ``श्नचातः'' (4-2-96) इत्याल्लुपि, अत्यर्थं जानन् अत्यर्थं जायमान इत्यर्थः ।

प्वादेर्ह्रस्वः ।। 4. 2. 105. ।।

प्वादेर्गणस्य शिति प्रत्यये परे ह्रस्वो भवति, अत्यादौ । पुनाति, लुनाति, धुनाति । क्रयादिषु `पूग्श् पवने' इत्यारभ्यः वृत्करणपर्यन्ताः प्वादयः । प्वादेरिति किम् ? व्रीणाति, भ्रीणाति । आ गणान्तात् प्वादय इत्यन्ये, वृत्करणं ल्वादिपरिसमाप्त्यर्थम्-तन्मते व्रिणाति, भ्रिणाति इत्येव भवति । जानातीत्यत्र तु विधानसामर्थ्यान्न ह्रस्वः ।।105।।

गमिषद्यमश्छः ।। 4. 2. 106. ।।

गम् इषत् यम् इत्येतेषां शिति प्रत्यये परे छकारादेशो भवति अत्यादौ । गच्छति, संगच्छते, इच्छति, व्यतीच्छन्ते, यच्छति, आयच्छते, इषदिति तकारनिर्देश इष्यतीष्णात्यो-निवृत्त्यर्थः ।

शितीत्येव-गन्ता, एष्टा, यन्ता । अत्यादावित्येव-जंगन्ति, यंयन्ति ।।106।।

न्या०स०—गमिष०-गन्तेत्यादिषु सर्वेषु तृच्, अन्यथा द्व्यङ्गविकलत्वं स्यात् यतो यथात्र न शित् तथा अत्यादिरपि नास्तीति। *जंगन्तीति* - तसि तु जंगतः यंयत इति, शतरि तु गमो जंक्छत् । कथं यङ्लुबन्तात् जंगन्तीति ? वाक्ये शतरि ``गमहन'' (4-2-44) इत्युपान्त (उपान्त्य) लोपेऽनेन ``अघोषे'' (1-3-50) इति गम्य कत्वे, यमस्तु यंयच्छत् ।

वेगे सर्तेर्धाव् ॥ 4. 2. 107. ॥

सरतेर्वेगे गम्यमाने शिति परे धाव् इत्ययमादेशो भवति अत्यादौ । धावति, धाव, कतीह धावमानाः । वेग इति किम् ? प्रियामनुसरति, धाविना सिद्धे सरतेर्वेगे सरतीति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् । तिव्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । सर्स्रत्, सरीस्रत्, सरिस्रत्, ॥107॥

श्रौति-कृवु-धिवु-पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाम्-दृश्यर्त्तिशद-सदः शृ-कृ-धि-पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-शीय-सीदम् ॥ 4. 2. 108 ॥

श्रौत्यादीनां शिति परे यथासंख्यं शृ इत्यादय आदेशा भवन्ति अत्यादौ ।

श्रौतेः श्रृ-श्रृणोति, श्रृण्वन्, कृवोः कृ, कृणोति, कृण्वन्, धिवोर्धिः, धिनोति, धिन्वन्, पः पिबः—पिबति पिबन्, श-उत्पिबः । स्वरान्तत्वादुपान्त्यलक्षणो गुणो न भवति । घ्रो-जिघ्रः, जिघ्रति, जिघ्रन्, उज्जिघ्रः, ध्मो धमः—धमति, धमन्, उद्धमः, स्थः तिष्ठः, तिष्ठति, तिष्ठन्, उत्तिष्ठमानः, म्नो मनः—आमनति, आमनन्, कतीहामनमानाः, दामो यच्छः—प्रयच्छति, प्रयच्छन्, दास्या संप्रयच्छमानः । दृशः—पश्यः, पश्यति, पश्यन्, शे-उत्पश्यः, अर्तेर्ऋच्छः, ऋच्छति, ऋच्छन्, समृच्छमानः, शदेः शीयः— शीयते, शीयमानः, सदेः सीदः— सीदन्, कतीह सीदमानाः, घ्रादिभिः साहचर्यात्पार्योभौवादिकयोरेव ग्रहणम् । लाक्षणिकत्वाच्च पैं इत्येतस्य न ग्रहणम् तेन पान् इग्रत् पायति ।

श्रौत्यर्त्योस्तिव्निर्देशः कृवुधिवुदृशॄदामामनुबन्धश्च यङ्लुप्यादेशनिवृत्त्यर्थः । शोश्रुवत् । अर्तेर्यङ्लुपि द्वित्वे पूर्वस्यात्वे रागमे धातोश्च रत्वे तन्निमित्ते रागमलोपे पूर्वाकारदीर्घत्वे च आरत्, चरीकृण्वत्, देधिन्वत्, दर्दृशत्, दादत् । केचित्तु श्रौतेर्यङ्लुप्यप्यादेशं श्नुप्रत्ययं चेच्छन्ति । श्रृणोति, कृवृधिवोस्तु चरीकृणोति देधिनोति इति रूपं मन्यन्ते—ते हि यङ्लुपि उप्रत्ययं वकारस्याकारन्तस्य 'अतः' इति लोपमकारस्य स्थानिवद्भावादुपान्त्यगुणाभावे मन्यन्ते । दामो मकारस्य निर्देशो दासंज्ञशङ्कानिवृत्त्यर्थश्च ॥108॥

न्या०स०—श्रौतिकृ०—गुणो न भवतीति—न च वाच्यं विधानसामर्थ्याद् गुणो न स्यात् कुतः ? यतो यङ् लुबन्तस्य पापेतीति वाक्ये शतरि गुणप्राप्तिर्नास्ति, तत्र चरितार्थं विधानमतः स्वरान्तत्वेन प्रतिषिध्यते । *आरदिति*-अरर्त्तीति वाक्ये शतृः । *चरीकृण्वदिति*—चरकृणोतीति शतृः, वस्य ऊटि गुणे च वाक्यं, केचिदूटं नेच्छन्ति तन्मते चरीकर्तीति ।

देधिन्वदिति-अत्राप्यूटि गुणे च देधिनोतीति वाक्यं, मतान्तरे तु देधिन्तीति ।

ददृशदिति-दर्दर्ष्टीति शतृः ।

क्रमो दीर्घः परस्मै ॥ 4. 2. 109. ॥

क्रमेः परस्मैपदे शिति परे दीर्घो भवति अत्यादौ—क्रामति, क्राम्यति, क्रामन्, क्राम्यन्, अक्रामन्, परस्मैपद इति किम् ? आक्रमते सूर्यः, आक्रममाणः । परस्मैपदनिमित्तविज्ञानाद्वेर्लुक्यपि भवति । क्राम, संक्राम ॥109॥

ष्ठिवूक्लम्वाचमः ॥ 4. 2. 110. ॥

ष्ठिवेः क्लमेराङ्पूर्वस्य च चमेः शिति परे दीर्घो भवति अत्यादौष्ठीवति, दैवादिकस्य तु ष्ठिवो दीर्घोऽस्त्येव । क्लामति, क्लाम्यति, आचामति । चमेराङ्पूर्वस्य ग्रहणादिह न भवति,—चमति विचमति । ष्ठिवक्लमोरूकारनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति, तेष्ठिवत्, चंक्लमत् । ``अन्तो नो लुक्'' (4-2-94) ॥110॥

शम्सप्तकस्य श्ये ॥ 4. 2. 111. ॥

अत्यादाविति निवृत्तम्,—शमादीनां मदैच्पर्यन्तानां सप्तानां श्ये परे दीर्घो भवति । शाम्यति, दाम्यति, ताम्यति, श्राम्यति, भ्राम्यति, क्षाम्यत्ति, माद्यति ।

शम्सप्तकस्येति किम् ? अस्यति । श्य इति किम् ? भ्रमति ॥111॥

न्या०स०—शम् सप्त०—भ्रमतीति—भ्रमूच् अनवस्थाने इत्यस्य रूपं, अस्य यङ् लुपि न दीर्घः शमादिगणनिर्देशात्, श्यस्तु भवत्येव ``भ्रासभ्लास'' (3-4-73) इति प्रतिपदोक्तत्वात्, तेन बंभ्रम्यतीति भवति ।

ष्ठिवसिवोऽनटि वा ॥ 4. 2. 112. ॥

ष्ठिवः सीव्यतेश्चानटि वा दीर्घो भवति । निष्ठीवनम्, निष्ठेवनम्, सीवनम्, सेवनम् ॥112॥

मव्यस्याः ॥ 4. 2. 113. ॥

धातोर्विहिते मकारादौ वकारादौ च प्रत्ययेऽकारस्याकारो दीर्घो भवति । पचामि, पचावः, पचामः पचावहे, पचामहे । वयो यङ्लुपि-वावामि, वावावः, वावामः । धातोः प्रत्ययेनाभिसंबन्धो नाकारेणेति प्रत्ययाकारस्यापि दीर्घो भवति । अस्येति किम् ? चिनुवः चिनुमः, रुवः, रुमः । आकारास्य दीर्घत्वेन विशेषणमाकारो दीर्घ एव यथा स्यात् न प्लुतः तल्लक्षणयोगेऽपीत्येवमर्थम् ॥113॥

न्या०स०–मव्यस्या०–वावाव इति-यत्र धातोराकारान्तत्वे सति द्व्युक्तत्वं तत्र ``एषामी'' (4-2-97) इति ईत्वं, यत्र द्युक्तत्वे सति आकारान्तत्वं तत्र लाक्षणिकत्वात् आकारस्य न ईत्वं, तेनात्र न ईकारः ।

आकारस्य दीर्घत्वेनेति-वृत्तावाकारो दीर्घो भवतीति किमर्थमुक्तं यत आकारो दीर्घ एवेत्याशङ्क्ा-*न प्लूत इति* । स्वमते तु ``सम्मत्यसूया'' (7-4-89) इत्यतः सूत्रात् अन्त्य इत्यधिकारे ``प्रश्ने च'' (7-4-98) इति प्लुतो न प्राप्नोति; परं केचिदनन्त्यस्यापि इच्छन्ति, तन्मते माभूदित्यर्थः ।

तल्लक्षणयोगेऽपीति-तस्य प्लुतस्य यल्लक्षणं तद्योगेऽपीत्यर्थः ।

अनतोऽन्तोऽदात्मने ॥ 4. 2. 114. ॥

अनकारात्परस्यात्मनेपदसंबन्धिनोऽन्त्रूपस्यावयवस्यात् इत्ययमादेशो भवति । चिन्वते, चिन्वताम्, अचिन्वत, लुनते, लुनताम्, अलुनत । आत्मनेपदस्येति किम् ? चिन्वन्ति लुनन्ति । अनत इति किम् ? पचन्ते पच्यन्ते ॥114॥

न्या०स०–अनतो०-पचन्ते, पच्यन्ते इति–प्राचः परो विधिरिति व्याख्यानेन अकारस्य स्थानित्वं भूतपूर्वकन्यायाद् वा ।

शीङो रत् ॥ 4. 2. 115. ॥

शीङः परस्यात्मनेपदसंबन्धिनोऽन्तो रत् इत्ययमादेशो भवति । शेरते, शेरताम्, अशेरत ॥115॥

न्या०स०–शीङो–यङ् लुपि व्यति शेश्यते ।

वेत्तेर्नवा ॥ 4. 2. 116. ॥

वेत्तेः परस्यात्मनेपदसंबन्धिनोऽन्तो रत् इत्ययमादेशो वा भवति । संविद्रते, संविद्रताम्, समविद्रत, पक्षे,–संविदते, संविदताम्, समविदत । आत्मन इत्येव,–विदन्ति, वेत्तेरिति किम् ? रौधादिकस्य मा भूत्-विन्दते ॥116॥

*न्या०स०–वेत्ते०-*वेत्तेस्तिव्निर्द्देशो यङ्लुपि निवृत्त्यर्थश्च तेन व्यतिवेविदते ।

तिवां णवः परस्मै ॥ 4. 2. 117. ॥

वेत्तेः परेषां परस्मैपदसंबन्धिनां तिवादीनां नवानां प्रत्ययानां स्थाने परस्मैपदसंबन्धिन एव णवादयो नवादेशा यथासंख्यं वा भवन्ति ।

वेद, विदतुः, विदुः, वेत्थ, विदथुः, विद, वेद, विद्व, विद्म, वेत्ति, वित्तः, विदन्ति, वेत्सि, वित्थः, वित्थ, वेद्मि, विद्वः, विद्मः ॥117॥

*न्या०स०–तिवां-णवादय इति-*अमीषां तदादेशेति न्यायात्परोक्षाकार्यं न भवति ।

ब्रूगः पञ्चानां पञ्चाहश्च ॥ 4. 2. 118. ॥

ब्रूगः परेषां तिवादीनां पञ्चानां स्थाने यथासंख्यं पञ्च णवादय आदेशा वा भवन्ति, तत्संनियोगे ब्रूग आह इत्यादेशश्च भवति ।

आह, आहतुः, आहुः आत्थ ``नहाहोर्धतौ'' (2-1-85) इति हकारस्य तकारः । आहथुः, ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति, ब्रवीषि, ब्रूथः । पञ्चानामिति किम् ? ब्रूथ ॥118॥

आशिषि तुह्योस्तातङ् ॥ 4. 2. 119. ॥

आशिषि विहितयोस्तुह्योः स्थाने तातङ् आदेशो वा भवति । जीवताद्भवान्, जीवतु भवान्, जीवतात् त्वम्, जीव त्वम्, आशिषीति किम् ? जीवतु, जीव । ङित्करणं गुणनिषेधार्थम् ॥119॥

*न्या०स०–आशिषि०–गुणनिषेधार्थमिति-*इदं चोपलक्षणं तेन ङित्करणेन तदादेशेति न्यायात् स्थानिनस्तुवो वित्त्वं बाध्यते, तेन युतात् रुतादित्यादौ विद्व्यञ्जनप्रत्ययाभावात् ``उत और्विति'' 4-3-59 इति नौकारः, न तु शित्त्वमपि बाध्यते, यतस्तस्यैव शितो ङित्वं ततो ङित्त्वेन, वित्त्वमेव हन्यते न तु शित्त्वं ततश्च स्तात् इत्यादौ विच्छति प्रत्यये ``श्नास्त्योर्लुक्'' 4-2-90 इति लुक् सिद्धः ।

आतो णव औः ॥ 4. 2. 120. ॥

वेति निवृत्तम्, आकारात्परस्य णवः स्थाने औरित्ययमादेशो भवति । पपौ, तस्थौ सः, सुप्तोऽहं किल ययौ, पपौ । आत इति किम् ? स जगाय, सुप्तोऽहं किल विललाप ॥120॥

न्या०स०—आतो०—वेति निवृत्तमिति-वेति शितीति संबद्धं णव्ग्रहणात्तन्निवृत्तौ निवृत्तं, अत्र ओकारेणैव सिद्धे औकारकरणं ददरिद्राविवत्याद्यर्थं, अन्यथा ``अशित्यस्सन्'' (4-3-77) इत्याल्लोपे इदं न सिध्येत्, नन्वत्रामादेशेन भाव्यं तत्कथमेतदर्थम् ? सत्यं, अत एव औकारकरणादामादेशस्यानित्यत्वम् । *किल ययाविति*—``कृतास्मरणा'' (5-2-11) इति परोक्षा ।

आतामाते-आथामाथे आदिः ॥ 4. 2. 121. ॥

अकारात्परेषामातामातेआथामाथे इत्येतेषाम् आत इर्भवति । पचेताम्, पचेते, पचेथाम्, पचेथे । आदिति किम् ? मिमाताम्, मिमाते, मिमाथाम्, मिमाथे ॥121॥

न्या०स०—आतामा०-आत इति-अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ।

यः सप्तम्याः ॥ 4. 2. 122. ॥

अकारात्परस्य सप्तम्याः संबन्धिनो याशब्दस्येकारादेशो भवति । पचेत्, पचेताम् पचेः, पचेतम्, पचेत, पचेव, पचेम । आदित्येव,—अद्यात् ॥123॥

न्या०स०—यः सप्तम्याः—या शब्दस्येति-नन्वाकारस्याधिकृतत्वात् येन नाव्यवधान- मिति न्यायाद्यव्यवधानेऽपि आत एव, यद्वा प्रत्ययस्येति परिभाषया समस्ताया अप्यादेशः प्राप्तः ? न, समस्ताया अप्यादेशोऽभिप्रेतो यदि स्यात्तदा यादि सप्तम्या इति क्रियेत, स्थिते तु निर्दिश्यमानानामिति न्यायात् या शब्दस्यादेशः ।

इत्याचार्य० चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

याम्-युसोरियमियुसौ ॥ 4. 2. 123. ॥

अकारात्परयोर्याम्युस् इत्येतयोर्यथासंख्यमियमियुसावादेशौ भवतः । पचेयम्, पचेयुः ॥123॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

श्रीभीमपृतनोत्खातरजोभिर्वैरिभूभुजाम् ।
अहो चित्रमवर्धन्त ललाटे जलबिन्दवः ॥1॥

नोट

नोट

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 259 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-1)	210/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-2)	220/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-3)	125/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-4)	135/-
5.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
8.	विवेकी बनो	90/-
9.	प्रवचन-वर्षा	60/-
10.	आओ श्रावक बनें !	25/-
11.	व्यसन-मुक्ति	100/-
12.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
13.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-
14.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-
15.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-
16.	समाधि मृत्यु	80/-
17.	Pearls of Preaching	60/-
18.	New Message for a New Day	600/-
19.	Panch Pratikraman Sootra	100/-
20.	अमृत रस का प्याला	300/-
21.	ध्यान साधना	40/-
22.	जीव विचार विवेचन	100/-
23.	नवतत्त्व विवेचन	110/-
24.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
25.	लघु संग्रहणी	140/-
26.	तीन भाष्य	150/-
27.	पहला कर्मग्रन्थ	160/-
28.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-
29.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-
30.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-
31.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-
32.	छठा-कर्मग्रन्थ	210/-
33.	गणधर-संवाद	80/-
34.	आओ ! उपधान पौषध करें !	130/-
35.	विविध देववंदन	100/-
36.	भव आलोचना	10/-
37.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
38.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
39.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
40.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
41.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
42.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
43.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
44.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
45.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
46.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
47.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
48.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
49.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
50.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
51.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
52.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
53.	मन के जीते जीत है	80/-
54.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
55.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
56.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
57.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
58.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
59.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
60.	वैराग्य-शतक	140/-
61.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
62.	धर्म-बीज	140/-
63.	45 आगम परिचय	200/-
64.	नित्य देववंदन	निशुल्क
65.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
66.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
67.	कोयंबत्तुर-प्रवचन	150/-
68.	दक्षिण भारत प्रवचन	160/-
69.	महावीर-प्रभु की अंतिम देशना	220/-
70.	योग की आठ दृष्टियाँ	430/-
71.	साचा माणस बनीए ! (गुजराती)	300/-
72.	शुभ-संदेश	250/-
73.	भक्ति से मुक्ति	200/-
74.	सहनशील बनों (22 परीषह)	180/-
75.	नवपद आराधना विधि	नवपद आराधना
76.	शत्रुंजय की भाव यात्रा	230/-
77.	नवकार-प्रवचन	180/-
78.	10 श्रमण-धर्म	250/-
79.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (प्रथमो भाग:)	1170/-
80.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (द्वितीयो भाग:)	1040/-
81.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (तृतीयो भाग:)	900/-
82.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (चतुर्थो भाग:)	1270/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299